★ ओ३म् ★

महाभाष्यम्

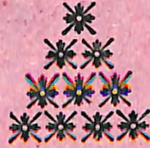
पतञ्जलिमुनि-विरचितम्

हिन्दी-व्याख्या-सहितम्

प्रथमो भागः

(प्रथमः खण्डः)

(प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे १-५ आह्निकपर्यन्तम्)



व्याख्याकारः—

युधिष्ठिरो मीमांसकः

★ ओ३म् ★

महाभाष्यम्

पतञ्जलिमुनि-विरचितम्

हिन्दी-व्याख्या-सहितम्

प्रथमो भागः

[प्रथमः खण्डः]

(प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे १-५ आह्निकपर्यन्तम्)



व्याख्याकारः—

युधिष्ठिरो मीमांसकः

प्रकाशकः—

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)
पिन १३१०२१

द्वितीयं संस्करणम् १०००
वि॰ सं॰ २०४९ (सन् १९९२)
मूल्यम्— 65/-

मुद्रक—
नरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस,
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

प्रकाशकीय

महाभाष्य पाणिनीय अष्टाध्यायी का सर्वश्रेष्ठ व्याख्या ग्रन्थ है, परन्तु पौराणिक जगत् ने इसके सम्बन्ध में एक विचित्र कथा घढ़ रखी है। महाभाष्यकार पतञ्जलि को हमारे पौराणिक भाई शेषनाग का अवतार मानते हैं और कहते हैं कि एक बार महर्षि पाणिनि कुएं पर स्नान कर रहे थे कि भगवान् पतञ्जलि वहां जा पहुंचे। उनको देखकर महर्षि पाणिनि घबरा गए और उनके मुख से **'को भवान्'** के बदले **'कोर् भवान्'** निकल गया। पतञ्जलि ने झट से **'सर्पोऽहम्'** के बदले कहा **'सप्पोऽहम्'**। पाणिनिजी ने आक्षेप किया **'रेफः कुत्र गतः'** तो पतञ्जलि जी ने उत्तर दिया **'तव मुखे'**। कथा यहां समाप्त नहीं होती। कहते हैं कुछ पण्डितों ने भगवान् पतञ्जलि से प्रार्थना की कि अष्टाध्यायी कठिन है, भली-भांति समझ नहीं आती, हमें समझा दीजिए। पतञ्जलि ने कहा कि मेरे चारों ओर परदा कर दो और फिर प्रश्न करते जाओ। पण्डितों ने ऐसा ही किया और प्रश्न करने लगे। परदे के भीतर से पतञ्जलि महाराज एक साथ सभी प्रश्नों का उत्तर देने लगे। पण्डित लोग कुछ देर तो अपने-अपने प्रश्नों का उत्तर लिखते रहे, परन्तु एक साथ अनेकों प्रश्नों का उत्तर सुनकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ और कौतूहलवश उन्होंने जरा सा परदा हटा दिया। अन्दर पतञ्जलि महाराज अपना शेषनाग रूप धारण किए हुए हजार जिह्वाओं से प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे। परदा हटते ही क्रोध से उन्होंने जो फुंकार मारी तो पण्डितों के सारे पतरे जल गए। बचे केवल वह पतरे जो एक यक्ष किसी दूरस्थ वृक्ष पर बैठा लिख रहा था, दूरी के कारण यक्ष सारे प्रश्न उत्तरों को यथावत् न लिख पाया था, परन्तु अन्य पतरे जल जाने के कारण उसी के लिखे पतरों ने महाभाष्य का रूप धारण किया और इसीलिए महाभाष्य का पाठ अस्तव्यस्त पाया जाता है।

यह कथा कितनी बेसिर पैर की है यह बताने की आवश्यकता नहीं। कहना केवल इतना ही है कि किसी समय दुर्भाग्यवश हमारे देश के तथाकथित पण्डितों ने अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य का पढ़ना-पढ़ना सर्वथा छोड़ दिया और कूप के मण्डूक बन बैठे। यही कारण था कि पौराणिक जगत् के गढ़ काशी नगरी के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महर्षि दयानन्द के महाभाष्यसम्बन्धी इस छोटे से प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये कि व्याकरण में कहीं कल्म संज्ञा की है या नहीं। महाभाष्य उन्होंने कभी पढ़ा ही नहीं था। उत्तर देते तो कैसे। 'नाच न जाने आङ्गन टेढ़ा' की लोकोक्ति के अनुसार अपने असामर्थ्य को छिपाने के लिए उन्होंने महाभाष्य की निन्दासूचक यह कथा घड़ रखी थी। अब कोई आकर बताए तो सही कि महाभाष्य का पाठ कहां पर अस्त-व्यस्त है।

महाभाष्य वह दिव्य ग्रन्थ है, जिसने स्वामी दयानन्द को महर्षि दयानन्द बना दिया। महर्षि ने पांच वर्ष की आयु में पढ़ना आरम्भ किया था। छत्तीस वर्ष की आयु तक वह यथाशक्ति पढ़ते रहे, परन्तु उनकी ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं हो पाई। वह पिपासा शान्त हुई गुरु विरजानन्द के चरणों में बैठकर केवल अढ़ाई वर्ष अष्टाध्यायी महाभाष्य पढ़ने से। उस थोड़े से समय के अध्ययन का परिणाम जो निकला, उसको सारा संसार जानता है, हम क्या बताएंगे।

हमारा तो विचार है कि भारत का भाग्य ही अष्टाध्यायी-महाभाष्य के पठन-पाठन के साथ जुड़ा हुआ है। कारण स्पष्ट है। वेदविद्या की प्राप्ति में ये दो ग्रन्थ मुख्य साधन हैं। जहां वेदविद्या का प्रकाश होगा, वहां दुर्भाग्य टिक नहीं सकता और वेदविरुद्ध आचरण से सत्यानाश होना अवश्यम्भावी है। इतिहास हमारे इस कथन का साक्षी है। महाभारत के युद्ध में भारत की महती क्षति हुई परन्तु सिकन्दर से पहले किसी विदेशी आक्रमणकारी ने भारत पर आक्रमण करने का दुःसाहस नहीं किया। सिकन्दर ने आक्रमण तो किया, परन्तु मुंह की खाई क्योंकि उस समय तक भारत में चाणक्य जैसे विद्वान् बैठे थे, अष्टाध्यायी-महाभाष्य का पठन-पाठन छूटा प्रक्रियानुसार ग्रन्थों के बन जाने से, और तभी से फूटा भारत का भाग्य। सबसे पहला प्रक्रियाग्रन्थ रूपावतार बना १०८७ में और उसके लगभग सौ वर्ष पश्चात् महाराज पृथ्वीराज की हार होकर देहली में इस्लामी राज्य की नींव पड़ी। अष्टाध्यायी का पठन-पाठन सर्वथा छुड़ाया सिद्धान्तकौमुदी ने जो सन् १५१० के आस-पास लिखी गई। तो उधर सन् १५२६ में वैदिक संस्कृति के प्रबल नाशक मुगलिया खानदान की हकूमत कायम हुई। उधर सन् १८५० के लगभग अष्टाध्यायी-महाभाष्य का पुनः पठन-पाठन आरम्भ हुआ तो सन् १९४७ में अंग्रेजों का बिस्तरा गोल हुआ।

अष्टाध्यायी-महाभाष्य पढ़े विना वेदों का समझ में आना तो दूर रहा, लौकिक संस्कृत का भी निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं हो पाता। यही कारण है कि सन् १०८७ से लेकर सन् १८६० तक संस्कृत भाषा का कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

वेद का ज्ञान मनुष्यमात्र के लिए परमावश्यक है। तभी तो महर्षि दयानन्द ने वेद का पढ़ना-पढ़ाना आर्यों का परम धर्म बताया था। वैदिक ज्ञान का सहारा लेकर भारत पुनः संसार का गुरु कहला सकता है। परन्तु देश का दुर्भाग्य समझिए या आर्यों का प्रमाद कहिए कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतवासी पुनः गाढ़निद्रा में सो गए और इस अमूल्य निधि को भुला बैठे। आशा तो यह थी कि स्वतन्त्र भारत में वेदाध्ययन और संस्कृत का पठन-पाठन एक क्रान्तिकारी रूप लेगा, परन्तु हुआ इसके उलटा। तथाकथित राजनीति के खिलाड़ियों ने संस्कृत तथा वेदाध्ययन के साधन तो कहां जुटाने थे, उलटे गुरुकुल कांगड़ी जैसी संस्थाओं को भी बरबाद करके रख दिया।

विधि के विधान पर किसी का वश नहीं चलता, परन्तु कर्म करने की तो स्वतन्त्रता है ही। अतः कर्त्तव्य-भावना को चित्त में धरकर हमने महाभाष्य की हिन्दी व्याख्या का यह कार्य आरम्भ करवाया था। क्यों और कैसे यह कार्य प्रारम्भ हुआ, यह हम इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के प्रकाशकीय में बता चुके। हमारी इच्छा थी कि यह कार्य शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो परन्तु पूज्य पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक पर अनेक कार्यों का भार है और अब कई वर्षों से उनका शरीर भी स्वस्थ नहीं रहा। फिर भी उन्होंने अत्यन्त साहस से काम लेकर रुग्णावस्था में भी महाभाष्य के नवाह्निक भाग की व्याख्या का यह कार्य पूर्ण कर ही तो दिया। उनका परिश्रम इतना महान् है कि हमें उनका धन्यवाद करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिल रहे। हम श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के अधिकारियों के भी अत्यन्त आभारी हैं। उन्होंने इस कार्य को अपना ही कार्य समझकर हमें भरपूर सहयोग दिया। अब यह काम विद्याप्रेमी, धर्मप्रेमी, देशभक्त महानुभावों का है कि इस ग्रन्थ की सहायता से देश तथा संसार को अधिक से अधिक लाभ पहुंचाएं।

श्री प्यारेलाल द्राक्षादेवी ट्रस्ट
सी० ४, सी० सी० कालोनी देहली

हरिकृष्ण मलिक

—:o:—

द्वितीय संस्करण

श्री हरिकृष्ण मलिक जी का स्वर्गवास हो जाने के कारण प्रस्तुत संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित किया जा रहा है।

युधिष्ठिर मीमांसक

सम्पादकीय

महाभाष्य के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद अर्थात् नवाह्निक की व्याख्यारूप प्रथम भाग प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि इसे गत वर्ष के आरम्भ तक प्रकाशित हो जाना था (प्रथम छः आह्निक छप भी चुके थे) तथापि कुछ अनावश्यक कारणों से तथा कुछ शारीरिक अस्वस्थता के कारण तीन आह्निकों की व्याख्या लिखने और छपने में विलम्ब हो गया। अब भी मीमांसाशाबर-भाष्य की व्याख्या का कार्य रोक-कर इस अधूरे कार्य को कथंचित् पूरा किया है।

महाभाष्य के इस नवाह्निक भाग पर शिवरामेन्द्र सरस्वती लिखित सिद्धान्त-रत्नाकर नाम्नी व्याख्या का एक हस्तलेख हमारे 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' के पुस्त-कालय में विद्यमान है। यह व्याख्या जहां सरल है वहां इसमें कैयट की प्रदीप व्याख्या का पदे-पदे खण्डन भी है। मैंने अपनी हिन्दी-व्याख्या के लिखने में इसका अनेक स्थानों पर उपयोग किया है। इसमें जहां-कहीं भी रत्नाकर व्याख्या का उल्लेख किया है वहां उक्त पुस्तकालय के हस्तलेख की पृष्ठ-संख्या दी है।[1]

छः आह्निक तक ग्रन्थ मुद्रित हो जाने पर विदित हुआ कि शिवरामेन्द्र सर-स्वती की महाभाष्य व्याख्या कैयटकृत प्रदीप की चार व्याख्याओं के साथ पाण्डि-चेरी से छप चुकी है। अत एव हम इस भाग की व्याख्या में प्रदीप की अन्य मुद्रित व्याख्याओं का उपयोग न कर सके।

महाभाष्य की व्याख्या का कार्य जब आरम्भ किया था, तब इसे पूर्ण करने का ही संकल्प था, उस समय तक पूर्व मीमांसा पर कार्य करने का कोई विचार नहीं था। क्योंकि वैदिक यज्ञों में जो पशुयाग विहित हैं, उनका समाधान तथा उनकी वास्तविकता का पूरा बोध मुझे तब तक नहीं हुआ था। उसके विना मीमांसा पर गतानुगतिकरूप से लिखने का मैं कोई लाभ नहीं समझता था। वैष्णव मता-नुयायी वैदिक पशुयागों में साक्षात् पशु के स्थान में पिष्ट पशु=आटे का पशु बना कर उसके अङ्गों से यजन मानते वा करते हैं। मुझे यह भी उचित नहीं जंचता था। मैं इसे लोकापवाद वा स्वमत की दृष्टि से पलायन से अधिक नहीं समझता था। पशुयाग की समस्या का समाधान हुए विना मैं मीमांसा पर कार्य करना उचित नहीं समझता था।

पशुयाग की समस्या पर निरन्तर वर्षों विचार करते रहने पर लगभग पांच वर्ष पूर्व वैदिक आर्ष ग्रन्थों के आधार पर ही पशुयाग की समस्या का कुछ समाधान

---

१. प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में पाण्डिचेरी-मुद्रित की पृष्ठ-संख्या भी दे दी है।

समझ में आया। इस विषय पर अपने माननीय भ्राता विद्वद्वर श्री पं० विश्वश्रवाः जी से विचार-विनिमय किया। उससे यह निश्चय हुआ कि मैं पशुयाग के सम्बन्ध में जिस पद्धति और प्रमाणों के अनुसार विचार कर रहा हूं, वह मार्ग उचित है। तदनन्तर उस विषय में मैंने गम्भीररूप से संहिता-शाखा-ब्राह्मण-श्रौतसूत्र आदि वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन किया तो मुझे पशुयागसम्बन्धी समाधान का मार्ग मिलता ही गया। अतः मैंने यह निश्चय किया कि महाभाष्य की हिन्दी व्याख्या का नवाह्निक का भाग, जिसे मैंने आरम्भ में किसी कारण से छोड़ रखा था, उसे पूरा करके महाभाष्य की हिन्दी व्याख्या के कार्य को स्थगित करके मीमांसाशास्त्र पर कार्य करना चाहिये। क्योंकि मीमांसाशास्त्र का पठन-पाठन अत्यन्त न्यून है। तथा जिस पशुयाग की समस्या में मैं लगभग ४० वर्ष उलझा रहा, उस समस्या का समाधान हो जाने पर तो मुझे इस पर कार्य करना ही चाहिये, व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन तो चल रहा है। महाभाष्य के अध्येता वा अध्यापक भी अनेक विद्यमान हैं। अतः महाभाष्य के शेष कार्य की पूर्ति तो कोई भी विद्वान् कर सकता है। मीमांसा-शास्त्र का जहां पठन-पाठन अत्यन्त विरल है, वहां इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसका सम्बन्ध चारों वेद, उनकी सभी शाखाओं, सभी ब्राह्मणग्रन्थों, और सभी श्रौतसूत्रों के साथ है। जबतक किसी व्यक्ति का इन सभी ग्रन्थों के साथ ज्ञानपूर्वक सम्पर्क न हो, कर्मकाण्ड की विधियों का ज्ञान न हो, तब तक मीमांसा शास्त्र पर लिखना और वह भी सहस्रों वर्षों की विद्यमान लीक से हटकर लिखना अत्यन्त कठिन है। इस कारण मैंने महाभाष्य की हिन्दी व्याख्या की अपेक्षा मीमांसा शाबरभाष्य की व्याख्या करना अपने लिये तथा इस शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये अधिक श्रेयस्कर समझा। यद्यपि किसी आरम्भ किये गये कार्य को मध्य में छोड़ना आर्यमर्यादा के विपरीत है, तथापि शरीर की निरन्तर गिरती हुई अवस्था को ध्यान में रखकर महाभाष्य की हिन्दी-व्याख्या के कार्य को मध्य में स्थगित करने के लिये मुझे बाधित होना पड़ा।

मैं जानता हूं कि मीमांसा शाबरभाष्य की व्याख्या का कार्य जो लगभग ८-१० भागों में पूर्ण होगा,[1] को भी शारीरिक अस्वस्थता के कारण सम्भव है, पूरा न कर सकूं, पुनरपि

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

---

१. मीमांसा शाबरभाष्य की आर्षमत-विमर्शिनी हिन्दी-व्याख्या के दो भाग छप चुके हैं। तीसरा भाग छप रहा है (सन् १९८० में प्रकाशित होगा)। [सन् १९९२ तक ६ भाग छप चुके हैं, सातवां छप रहा है।]

भगवद्गीता के उक्त वचनानुसार मीमांसाशास्त्र के जितने भी अंश पर अपने जीवन में कार्य कर लूंगा, वही मेरे लिये ऋषि-ऋण से उन्मुक्त होने में सहारा बनेगा और इस शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये मार्ग-दर्शक होगा।

इन शब्दों के साथ महाभाष्य व्याख्या के इस प्रथम भाग के प्रकाशन के साथ मैं इस कार्य से अपने को मुक्त कर रहा हूं। आशा है महाभाष्य के अध्येतागण मेरी स्थिति को समझते हुए मुझे इसके लिये क्षमा करेंगे।[1]

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

विदुषां वशंवदः
युधिष्ठिर मीमांसक

०:——:०

१. नवाह्निक की व्याख्या के बाद दो अध्याय पर्यन्त व्याख्या लिख चुका हूं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा
महाभाष्य का विशेष विनियोग

महाभाष्य केवल संस्कृत-व्याकरण का ही ग्रन्थ नहीं है, अपितु यह अनेक विद्याओं का भण्डार है। महावैयाकरण भर्तृहरि ने लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥ २।४७९॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस सूक्ष्म दृष्टि से महाभाष्य को आत्मसात् करके उसके वचनों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है, उस प्रकार किसी प्राचीन लेखक ने महाभाष्य का उपयोग नहीं किया। बड़े-बड़े विद्वान् महाभाष्य को केवल अष्टाध्यायी की व्याख्या के रूप में व्याकरणमात्र का ग्रन्थ मानते हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती पाणिनीय अष्टाध्यायी की व्याख्या के साथ महाभाष्य को अनेक विद्याओं का आकर ग्रन्थ समझते थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदार्थ एवं लोकव्यवहार को निदर्शित करने में महाभाष्य का किस प्रकार उपयोग किया है, इसका संक्षिप्त निदर्शन कराना हम आवश्यक समझते हैं।

वेदार्थ में महाभाष्य के वचनों का उपयोग—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'व्याकरणनियमविषय' में अष्टाध्यायी के सूत्रों के साथ महाभाष्य के अनेक वचन उद्धृत किये हैं। उनमें से निदर्शनार्थ कुछ वचन उद्धृत करते हैं। यथा—

(१) **अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः, अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते॥१।१।४४॥**

अर्थात्—अर्थ का बोध कराने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थ का बोध कराऊंगा इस विचार से शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस वचन की वैशेषिक दर्शन के **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (६।१) अर्थात्—वेद की रचना बुद्धि-पूर्वक की गई है, के साथ करें।

(२) **प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति। न काञ्चित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। तत्र यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या। १।१।५५॥**

अर्थात्—प्रातिपदिक का निर्देश अर्थ की प्रधानता को लेकर किया जाता है, वे किसी विभक्ति का प्रधानरूप से आश्रय नहीं करते। वहां (व्यवहार में) जिस-जिस विभक्ति को आश्रय करने की बुद्धि उत्पन्न होती है उस-उसका आश्रयण करना चाहिये।

इस वचन की वैयाकरणों के **'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्'** (पा० म०—४।१।९२) अर्थात्—सूत्र में लिङ्ग और वचन गौण हैं, के साथ करें।

उक्त दोनों महाभाष्य के वचनों को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवत् १९३३ में छपवाये अपने ऋग्वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में प्रथम मण्डल के द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में भी पृष्ठ २४ पर उद्धृत किया है।

(३) **अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारो दृश्यते** ॥४।१।२७॥

अर्थात्—अचेतन पदार्थों में भी चेतन के समान व्यवहार देखा जाता है।

इस वचन का निर्देश स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९३२ में प्रकाशित पञ्चमहायज्ञविधि के अन्त में मुद्रित लक्ष्मीसूक्त के ५, ७, १२ संख्याक मन्त्रों के भाष्य में '**अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचाराद् अदोषः**' के रूप में किया है।

लोक में अचेतन में चेतनवद् व्यवहार प्रायः देखा जाता है। वहां उस अचेतन द्रव्य में किसी अधिष्ठात्री आदि देवता की कोई कल्पना नहीं करता, परन्तु वेद में अग्नि, वायु आदि अचेतन द्रव्यों के चेतनवत् सम्बोधनादि को देखकर मध्ययुगीन वेदभाष्यकारों ने **अधिष्ठात्री देवता** की कल्पना कर ली। अचेतन द्रव्य में चेतनवत् व्यवहार—'**कूलं पिपतिषति**' नदी का किनारा गिरना चाहता है। यहां अचेतन में इच्छा का अभाव होने से इसका तात्पर्य होता है—'**किनारा गिरनेवाला है।**' स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मध्ययुगीन अधिष्ठात्रीदेवतावाद से छुटकारा दिलाने के लिये '**वायवा याहि दर्शत**' (ऋ० १।२।१) आदि के भाष्य में इसका चेतनवद् व्यवहार के सम्बोधन के रूप में व्याख्या न करके तात्पर्यनिदर्शक '**वायुरायाति**' (=वायु आता है) के रूप में किया है।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अचेतन पदार्थों के साथ सम्बोधन विभक्ति का प्रथमाविभक्त्यन्त और मध्यमपुरुष के क्रियापद का प्रथम पुरुष के रूप में किया गया अर्थ देखकर अनेक विद्वान् नाक भौं सिकोड़ते हैं और इसे मनमानी कल्पना मानते हैं। ऐसे लोगों को '**कूलं पिपतिषति**' के 'किनारा गिरनेवाला है' इस तात्पर्यार्थ रूप में कोई सन्देह नहीं होता।

सांख्यदर्शनकार ने कहा है—'**लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः**' (=लोकव्यवहार में व्युत्पन्न पुरुष को ही वेद के मूल तात्पर्य की प्रतीति होती है)। इसी बात को ध्यान में रखकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः' में लिखा है—

'व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यम्—जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव [तस्य] प्रयोजनमिति।

इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः।'

अर्थात् व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष अपनी-अपनी जगह होते हैं। अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम ही चेतन में मध्यम वा उत्तम ही होते

हैं। यह लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। वहां यह भी जानना चाहिये कि ईश्वर ने जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे उपकार लेना जनाया है, अन्य प्रयोजन नहीं है।

इस नियम को न जानकर सायणाचार्य आदि भाष्यकारों, तथा उन्हीं के बनाए हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा का अन्यथा वर्णन किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मध्यकाल में आश्रित अन्वयपूर्विका मन्त्र व्याख्या लेखन का परित्याग करके प्राचीन आर्षकालीन परम्परानुसार स्ववेद भाष्य में यथाक्रम मन्त्रपदों की व्याख्या की है। यास्कीय निरुक्त में भी यथाक्रम मन्त्रपदों की व्याख्या मिलती है, परन्तु उसमें दूर पठित उपसर्ग को क्रियापद के साथ जोड़कर ही मन्त्रार्थ दर्शाया है। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रतिमन्त्र पदार्थ में क्रिया से साक्षात् असम्बद्ध व्यवहित उपसर्गों का यथास्थान यथाक्रम व्याख्यान किया है। इस व्याख्या का आधार है पातञ्जलमहाभाष्य का निम्न वचन—

(४) **'उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची पदं श्रूयते तत्र क्रियाविशेषमाहुः। यत्र हि न श्रूयते तत्र ससाधनां क्रियामाहुः'** (महा० ५।२।२८)।

अर्थात्—उपसर्गों का यह स्वभाव है कि जहां क्रियावाची शब्द प्रयुक्त होता है, वहां वे क्रिया की विशेषता को कहते हैं और जहां क्रियावाची शब्द प्रयुक्त नहीं होता वहां वे साधन (कारक—कर्त्ता, कर्म आदि) सहित क्रिया को कहते हैं अर्थात् ससाधन क्रिया को अध्याहृत करते हैं।

मन्त्रों में प्रायः क्रियापदों और सम्बोधनों के दो प्रकार के स्वर उपलब्ध होते हैं। जहां ये पद पाद के आदि में प्रयुक्त होते हैं वहां ये उदात्त होते हैं और जहां ये पाद के मध्य वा अन्त में प्रयुक्त होते हैं वहां ये अनुदात्त होते हैं। उदात्तपद की वाक्यार्थ में प्रधानता होती है और अनुदात्त पद की अप्रधानता। अतः मन्त्रपदानुसार व्याख्या करने पर उदात्त क्रियापद और सम्बोधन के अर्थ की प्रधानता यथावत् रहती है। अन्वय करने पर क्रियापद को अन्त में जोड़ना पड़ता है। इससे उसके अर्थ का वैशिष्ट्य नष्ट हो जाता है। यथा—

आ त्वा कण्वा अहूषत, गृणन्ति विप्र ते धियः।
देवेभिरग्न आगहि। (ऋ० १।१४।२)

पदक्रमानुसार अर्थ होगा—सब ओर से तुझे कण्व बुलाते हैं, स्तुति करते हैं हे विप्र! तुम्हारी बुद्धियों की। देवों के साथ हे अग्ने! आओ।

इस मन्त्र में द्वितीय पाद के आरम्भ में होने से **गृणन्ति** पद उदात्त है। अतः

यहां स्तुति क्रिया की प्रधानता द्योतित होती है।[1] अन्वय में **गृणन्ति** पद को अन्त में ले जाने पर वह स्वरशास्त्र के नियम से अनुदात्त होगा और उसका अर्थ गौण हो जायेगा[2]। इसी प्रकार तृतीय पाद में 'अग्ने' पद मध्य में आने से अनुदात्त है। अतः यहां संबोधन होने पर भी अकेले अग्नि के आगमन की अप्रधानता और पाद के आरम्भ में **देवेभिः** का निर्देश होने से देवों के साथ आगमन की प्रधानता द्योतित होती है।

लोक में भी क्रिया पद के आदि वा अन्त में बोलने पर विशिष्टार्थ की प्रतीति होती है। यथा—

गच्छ ग्रामम् = जा गांव को।
ग्रामं गच्छ = गांव को जा।

इन दोनों में प्रथम वाक्य में **गच्छ** क्रिया की प्रधानता जानी जाती है। उससे **'तत्काल गांव जा'** यह अर्थ ध्वनित होता है। द्वितीय वाक्य में **गच्छ** की प्रधानता न होने से तात्कालिक गमन अभिप्रेत नहीं होता, केवल गांव जाने का आदेशमात्र जाना जाता है।

वाक्यरचना में पदक्रम-निर्देश भी विशेष महत्त्व रखता है। हनुमान् सीता को खोजकर जब लौटकर राम के पास जाते हैं तो वे कहते हैं—

दृष्टा सीता मया राम !

हनुमान् को आता देखकर राम के मन में प्रथम भाव पैदा होता है—सीता कहीं दिखाई पड़ी भी या नहीं ? अतः हनुमान् कहते हैं—**दृष्टा**=देखी है। सीता को देखा या अन्य स्त्री को ? इस संशय की निवृत्ति के लिये हनुमान् कहते हैं—**सीता**। स्वयं देखी वा अन्य ने देखी ? इस संशय के निवृत्यर्थ हनुमान् कहते हैं—**मया**।

अब यदि इसे अन्वयपूर्वक कहें—**हे राम ! मैंने सीता को देखा**, तो इससे राम के मन में क्रमशः उत्पन्न होनेवाले भावों का यथाक्रम समाधान नहीं होता। अत एव महाभाष्यकार ने कहा है—

यथेष्टं प्रयोगो भवति आहर कुम्भम्, कुम्भमाहर (१।१।१)।

सामान्यतया यह समझा जाता है कि संस्कृत भाषा में वाक्यरचना में पदों को चाहे किसी क्रम से रख दो अर्थ समान ही होगा, परन्तु यह धारणा मिथ्या है। वेद में तो क्रिया पद तथा सम्बोधन पद के पाद के आरम्भ में आने पर उनके उदात्त होने से अर्थ का वैशिष्ट्य तो जाना ही जाता है, परन्तु अन्य पदों के अर्थ में भी स्थान या क्रम के कारण कुछ न कुछ वैशिष्ट्य जाना जाता है। जैसे ऊपर

---

१. तीव्रार्थतरमुदात्तम् (निरु० ४।२)।
२. अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम् (निरु० ४।२५)।

उद्धृत मन्त्र के 'देवेभिरग्न आगहि' में देवेभिः के प्रारम्भ में पठित होने से उनके सहित अग्नि का आगमन इष्ट है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य की विशेषता पदार्थ में है। हां; जिन लोगों को काव्य,साहित्य अन्वयपूर्वक पढ़ने-पढ़ाने का स्वभाव बन चुका है, वे बिना अन्वय के पदार्थ समझने में असमर्थ होते हैं। अतः ऐसे मध्यम कोटि के व्यक्तियों के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य में अन्वय की भी व्यवस्था की है और जो साधारण जन हैं उनको भी मन्त्र का कुछ तात्पर्य समझ में आ जाये, इसलिये मन्त्र का भावार्थ भी दर्शाया है।

मन्त्रोक्त पुंल्लिङ्ग पद का स्त्रीलिङ्ग रूप में भी अर्थनिर्देश—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'ऊह'** के प्रसङ्ग में वेदार्थविषयक एक विशिष्ट तत्त्व का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

(५) **ऊहः खल्वपि—न च सर्वैलिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते च यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः** (महा० १।१ आ० १)।

अर्थात् वेद में सब लिङ्गों और सब विभक्तियों से युक्त मन्त्र नहीं पढ़े हैं। उनकी यज्ञों के प्रसङ्ग में यथातथ ऊहा कर लेनी चाहिये।

इस प्रसङ्ग में पूर्वोक्त व्याकरणनियम **'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्'** का सम्बन्ध भी जान लेना चाहिये।

इस वचन में केवल लिङ्ग और वचनों के विषय में कहा है, परन्तु यज्ञों में प्रातिपदिक का भी ऊह होता है। जैसे—पौर्णमासेष्टि प्रकरण में हवि के निर्वाप के दो मन्त्र पढ़े हैं—

अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि,अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं निर्वपामि(यजु० १।१३)

अर्थात्—मैं अग्नि देवता के लिये हवि को ग्रहण करता हूं, अग्नि सोम देवताओं के लिये हवि को ग्रहण करता हूं। यदि किसी को सौर्येष्टि के लिये हवि का निर्वाप करना हो तो मन्त्र पढ़ा जायेगा **'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि'**, इन्द्राग्नी देवताक यज्ञ में मन्त्र पढ़ा जायेगा—**इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं निर्वपामि**।

महाभाष्य के उपर्युक्त वचन में **'न सर्वैलिङ्गैः'** पाठ है। पाणिनीय व्याकरणानुसार लिङ्ग शब्द पुमान्, स्त्री और नपुंसक के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु कातन्त्रव्याकरण में लिङ्ग शब्द से प्रातिपदिक का निर्देश किया जाता है। प्रातिपदिक किसी न किसी लिङ्ग से युक्त होता है। अतः महाभाष्य के उक्त वचन में लिङ्ग शब्द से तद्विशिष्ट प्रातिपदिक का ग्रहण करना उचित है अन्यथा विकृतियागों में प्रातिपदिक का ऊह किस आधार पर होगा?

स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक मतानुसार स्त्री और पुरुष का समान अधिकार मानते थे। यास्कीय निरुक्त में एतद्विषयक स्वायम्भुव मनु का एक श्लोक पढ़ा है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥(निरु० ३।४)

गृह्यसूत्रों के विवाह प्रकरण में वर के प्रतिज्ञा मन्त्र पढ़े हैं। परम्परानुसार इन मन्त्रों से वर ही वधू से प्रतिज्ञा करवाता है, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में प्रतिज्ञामन्त्रों का अर्थ करते समय वधू के द्वारा वर से प्रतिज्ञा-परक अर्थ भी किया है। यह अर्थ **'यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः'** वचन के अनुसार **मया पत्या** के स्थान पर **मया पत्न्या, पत्नी त्वमसि** के स्थान में **पतिस्त्वमसि** आदि का विपरिणाम स्वीकार करके दर्शाया है। वैदिक विवाह की सप्तपदी के अनुसार विवाह्यमान स्त्री को सखा का दर्जा दिया है—**सखे सप्तपदी भव**। जैसे पुरुषों के, पुरुष मित्र परस्पर समान अस्तित्व रखते हैं, कोई किसी से छोटा या बड़ा नहीं होता, उसी प्रकार पति सप्तपदी के मन्त्र में विवाह्यमान नारी को सखा कहकर समानता का दर्जा देता है। इसलिये विवाहप्रकरण के प्रतिज्ञा मन्त्रों के द्वारा दोनों का प्रतिज्ञाबद्ध होना आवश्यक है।

(६) संस्कारविधि की रचना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गृह्यसूत्रों के आधार पर की है। उसमें जिन मन्त्रों के अर्थ स्वयं ग्रन्थकार ने लिखे हैं, उनमें महाभाष्य का आधार स्पष्ट प्रतिभासित है। यथा—प्रतिज्ञामन्त्रों के अर्थ।

(७) विवाह प्रकरण में विवाह के अनन्तर **उसी रात्रि में गर्भाधान करने** का तथा **तीन दिन ब्रह्मचर्य पालन के उपरान्त** चतुर्थ रात्रि में गर्भाधान का विधान किया है। ये दोनों विधियां परस्पर विरुद्ध सी प्रतीत होती हैं। इस विरोध का निवारण **"पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति"** (महा० १।१ ऋलृक्) के अनुसार ही किया जा सकता है।[1]

इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में पाणिनीय अष्टाध्यायी के समान महाभाष्य को भी वेदार्थ में विशेष सहायक माना है—

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम् ॥
(द्र०—पठन-पाठन विधि)

(८) **महाभाष्य के पाठ को बिना उद्धृत किये उसके आधार पर व्याख्या** करना—पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न के द्वारा निरुक्त के **अग्निः पृथिवीस्थानः** (७।१४) को उद्धृत करके 'अग्नि का अर्थ ईश्वर नहीं हो सकता' आक्षेप का भ्रान्तिनिवारण ग्रन्थ में जो उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दिया है, वह अष्टाध्यायी १।१।८ सूत्र के महाभाष्य में उल्लिखित 'प्रासादवासी-न्याय' के अनुसार है। महाभाष्य में लिखा है—

"तद्यथा—केचित् प्रासादवासिनः, केचिद् भूमिवासिनः, केचिदुभयवासिनः।

---

१. इस पर विशेष विचार हमने रा० ला० क० ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित संस्कारविधि के शताब्दी संस्करण के अन्त में किया है।

तत्र ये प्रासादवासिनो गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन। ये भूमिवासिनो गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन। ये तूभयवासिनो गृह्यन्त एव ते प्रासादवासिग्रहणेन, भूमिवासिग्रहणेन च।" महा० १।१।१८॥

इसी प्रकार जो ब्रह्म पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में सर्वत्र व्यापक है, वह **पृथिवीस्थान** के ग्रहण से गृहीत होता है। (द्र०—भ्रान्तिनिवारण-दयानन्दीय लघु-ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ २१३)।

(९) अब हम स्वामी दयानन्द सरस्वती के उन ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं, जिनमें उन्होंने महाभाष्य के उद्धरण दिये हैं—

(क) **सत्यार्थप्रकाश** (क्रमशः पृष्ठ ६१, १०२, ५२३)—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥ महा० ८।१।८॥
श्रोत्रोपलब्धिबुर्द्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। महा० अ० १, पा० १, आ० १॥
आद्यन्तविपर्ययश्च। महा० ३।१।१२३॥

(ख) **भ्रमोच्छेदन** (क्रमशः पृष्ठ १४९, २५४)[1]—

एकतिङ् वाक्यम्। महा० २।१।१॥
क्वास्ताः क्व निपतिताः। महा० १।२।६॥

(ग) **भागवतखण्डन** (पृष्ठ ४६९)[1]—

वसिस्संप्रसारिणी।[2] द्र०—महा० ७।२।१०॥

(घ) **व्यवहारभानु** (क्रमशः पृष्ठ ५०३, ५०६)[1]—

चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति। महा० अ० १ पा० १, आ० १॥
सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥ महा० १।१।८॥

(१०) **पत्र आदि में महाभाष्य के उद्धरण**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महाभाष्य का विविधरूप से आश्रय केवल अपने ग्रन्थों की रचना में ही नहीं लिया, अपितु पत्रों, शास्त्रार्थों, प्रवचनों एवं आर्यसमाज के नियमों की व्याख्या तक में महाभाष्य के आवश्यक उद्धरण दिये हैं। यथा—

(क) **पत्रों में**—

जोधपुराधीश यशवन्त राव को लिखे गये पत्र में **"प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः—महाभाष्य"** पाठ उद्धृत है। (द्र०—ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ७४४, सं० २०३८)।

---

१. यह पृष्ठसंख्या रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित "दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह" के अन्तर्गत छपे तत्तत् ग्रन्थों की है।

२. महाभाष्य में "वसिः प्रसारिणी' पाठ है।

देशहितैषी पत्र के सम्पादक के नाम लिखे समीक्षा पत्र में **'गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः—यह व्याकरण महाभाष्यकार का वचन है'** पाठ उपलब्ध होता है। (द्र०—वही, पृष्ठ ५९५)।

(ख) **शास्त्रार्थ में—**

व्याकरणे कल्मसंज्ञा क्वापि लिखिता नवेति।

यह प्रश्न स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९२६ के काशी शास्त्रार्थ में किया था (द्र०—ऋ० द० स० के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पृष्ठ ४१)। इस शास्त्रार्थ को पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी स्वीय **प्रत्नकम्रनन्दिनी** पत्रिका में छापा था, वहां इसका पाठ इस प्रकार है—

'कल्म संज्ञा कस्य ? (गर्जन्) वद ! वद !' (वही पृष्ठ २२९)।

(ग) **प्रवचनों में—**

धावतः स्खलनं न दोषाय भवति। महा०

पूनाप्रवचन (८) (द्र०—ऋ० द० स० के शास्त्रार्थ और प्रवचन पृष्ठ ३६६)। हमें यह वाक्य महाभाष्य में नहीं मिला।

ब्राह्मणेन [निष्कारणो धर्मः] षडङ्गो वेदोऽध्ये[यो ज्ञे] यश्चेति।

महा० अ० १, पा० १, आ० १॥ (वही पृष्ठ ३७८)।

(घ) **आ० स० के नियमों की व्याख्या[1] में—**

व्याख्यान—जैसा 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे……' (नियम १७)

इन प्रमाणों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के समस्त ग्रन्थ लेखन कार्य तथा पत्रों शास्त्रार्थों और प्रवचनों तक में पातञ्जल महाभाष्य व्याप्त है। दूसरे शब्दों में उनके समस्त लेखन कार्य को महाभाष्य पर आश्रित कह सकते हैं। वस्तुतः महाभाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के रग-रग में व्याप्त था। आवश्यकता पड़ने पर वे उसके किसी भी वचन का कहीं भी प्रयोग करने में पूर्ण सक्षम थे।

—युधिष्ठिर मीमांसक



---

१. सन् १८७५ में बम्बई में प्रथम स्थापित आर्यसमाज के २८ नियमों की व्याख्या छपने का उल्लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवत् १९३२ चैत्र के पत्र में किया था (द्र०—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन भाग १, पृष्ठ २३ पं० २-३)। ये नियम और उनकी व्याख्या 'मुम्बई समाज नो इतिहास' में छपे हैं। उक्त इतिहास के लेखक श्री दामोदरदास सुन्दरदास को एक कापी प्राप्त हुई थी। इस पर व्याख्या-लेखक का नाम नहीं था। नियम १७ की व्याख्या में महाभाष्य के "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" वचन के निर्देश से यह प्रमाणित होता है कि नियमों की उक्त व्याख्या स्वामी दयानन्द सरस्वती की लिखी हुई है। अन्य को तो महाभाष्य के उक्त वचन का स्वप्न में भी ध्यान नहीं आ सकता था।

★ओ३म्★

श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचितं

व्याकरण-महाभाष्यम्

(नवाह्निकम्)

★ ● ★

[प्रथममाह्निकम्]

अथ शब्दानुशासनम् ॥

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् ॥

व्याख्या—'**अथ**' यह शब्द अधिकार के लिये प्रयुक्त होता है। 'शब्दानुशासन' नामवाला शास्त्र अधिकृत किया जाता है, अर्थात् 'शब्दानुशासन' नामक शास्त्र का आरम्भ किया जाता है, ऐसा जानना चाहिये।

विवरण—'**शब्दानुशासनम्**' में षष्ठी-समास है—**शब्दानाम् अनुशासनम्=शब्दानुशासनम्**। सूत्र में शास्त्र-प्रवक्ता 'पाणिनि'[1] पद का निर्देश न होने से **कर्तृकर्मणोः कृति** (२।३।६५) से कर्म में षष्ठी है। नागेश भट्ट के मतानुसार **आत्ममाने खश् च** (३।२।८३) सूत्र के भाष्य से स्पष्ट होता है कि जहां कर्ता और कर्म दोनों का साक्षात् उपादान (=निर्देश) होता है, वहीं **उभयप्राप्तौ कर्मणि** (२।३।६६) सूत्र की प्रवृत्ति होती है। **कर्मणि च** (२।२।१४) सूत्र द्वारा षष्ठी-समास का निषेध वहीं होता है, जहां **उभयप्राप्तौ कर्मणि** (२।३।६६) सूत्र से कर्म में षष्ठी होती है। यह सर्वसम्मत पक्ष है। अतः **इध्मप्रव्रश्चनः पलाशशातनः** में जैसे '**कृद्योगा च**' वार्तिक (२।२।८) से षष्ठी-समास होता है, वैसे ही यहां भी षष्ठी-समास जानना चाहिये। भट्टोजि-दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में पक्ष में शेषलक्षणा षष्ठी भी स्वीकार की है—**शेषलक्षणा षष्ठी वाऽस्तु इति**। इस पक्ष में षष्ठी-समास **षष्ठी** (२।२।८) सूत्र से सिद्ध ही है।

अनुशासन शब्द का अर्थ है—पश्चात् शासन अथवा अनुगतशासन। भारतीय ऐतिह्य के अनुसार आदि विद्वान् ब्रह्मा ने समस्त शास्त्रों का प्रथम उपदेश किया था[2]। इसीलिये विविध विषयों के ग्रन्थों के प्रवक्ता अपने-अपने शास्त्र के आदि-प्रवक्ता के रूप में ब्रह्मा का निर्देश करते

---

१. कैयट प्रभृति भाष्य-व्याख्याकारों ने 'अथ शब्दानुशासनम्' वचन को भाष्यकारीय वचन माना है। अतः वे '**आचार्य** पद का निर्देश न होने से' ऐसा लिखते हैं।

२. द्रष्टव्य—हमारा 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ ५९ (तृतीय सं०, सं० २०३०), तथा पं० भगवद्दत्तकृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग २, अध्याय ४।

हैं। ब्रह्मा के आद्य शब्दशास्त्र के प्रवचन के पश्चात्, अथवा तदनुगत:=तदनुकूल प्रवचन उत्तरकालभावी ऋषि-मुनियों ने किये। अत: ये शास्त्र **'अनुशासन'** कहाते हैं

अथ शब्दानुशासनम् वचन के विषय में मतभेद है। कैयट प्रभृति भाष्य के व्याख्याकारों का मत है कि यह(अथ शब्दानुशासनम्)वचन भाष्यकार का है, और इस वचन के द्वारा भाष्यकार ने व्याकरणशास्त्र के साक्षात् प्रयोजन का कथन किया है। वस्तुत: कैयट प्रभृति व्याख्याकारों का यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। इस भ्रान्ति का कारण **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) सूत्र के भाष्य में भगवान् पतञ्जलि के द्वारा प्रयुक्त **माङ्गलिक आचार्यो महत: शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादित: प्रयुङ्क्ते** (=मङ्गल प्रयोजनवाला=शिष्यों का मङ्गल चाहनेवाला आचार्य महान् शास्त्रसमूह के मङ्गल के लिये वृद्धि शब्द को आरम्भ में प्रयुक्त करता है) वचन है। इसमें व्यवहृत 'आदि' शब्द से व्याख्याकारों को भ्रान्ति हुई है। इसकी विस्तृत विवेचना इसी आह्निक में आगे पठित **सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे** वार्तिक के व्याख्यान के अवसर पर की जायेगी।

प्राचीन आर्ष शास्त्रों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन शास्त्रकारों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे स्वशास्त्र के आरम्भ में शास्त्र के प्रयोजन का निर्देश करते हैं। यथा—**अथ योगानुशासनम्** (योगदर्शन १।१), **अथातो धर्मं व्याख्यास्याम:** (पूर्वमीमांसा १।१।१), **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (उत्तर मीमांसा १।१।१), **अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ:** (सांख्य १।१)।

अथ शब्दानुशासनम् और **अथ योगानुशासनम्** सूत्रों के द्वारा जहां शास्त्र के प्रयोजन का निर्देश किया, वहां शास्त्र के मुख्य नाम **शब्दानुशासन** और **योगानुशासन** का भी निर्देश कर दिया[1]। इसीलिये महाभाष्यकार ने लिखा है—**शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्**।

इतना ही नहीं, अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों ने **अथ शब्दानुशासनम्** वचन को पाणिनीय माना है। हम यहां निदर्शनार्थ दो तीन प्रमाण[2] उद्धृत करते हैं—

१—काशिका और भाषावृत्ति के रचयिताओं ने अन्य सूत्रों के समान ही **अथ शब्दानुशासनम्** वचन की भी व्याख्या की है। अर्थात् उन्होंने पाणिनीय ग्रन्थ का आरम्भ इसी सूत्र से माना है। यदि यह भाष्यकारीय वचन होता, तो पाणिनीय सूत्रों के व्याख्याता इस वचन का व्याख्यान न करते। यथा न्यायशास्त्र के वृत्तिकार विश्वनाथ प्रभृति ने स्ववृत्ति का आरम्भ **अथ प्रमाणप्रमेय०** आदि प्रथम सूत्र के व्याख्यान से किया है, न कि भाष्यकार वात्स्यायन के सूत्र से पूर्व पठित **प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यात्०** आदि वचन के व्याख्यान से। वृत्तिकारों की इस प्रवृत्ति से स्पष्ट है कि काशिकावृत्ति एवं भाषावृत्ति के रचयिता **अथ शब्दानुशासनम्** को पाणिनीय शास्त्र का आद्य सूत्र मानते थे।

---

१. 'व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिमुनि: प्रयोजननाम्नी व्याचिख्यासु: प्रतिजानीते—अथ शब्दानुशासनम्'। भाषावृत्ति-व्याख्या सृष्टिधराचार्य कृत। तुलना करो—हेमचन्द्राचार्य कृत योगानुशासन और काव्यानुशासन ग्रन्थ-नामों के साथ।

२. विशेष द्रष्टव्य—'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २१०, २११ (तृतीय संस्करण)।

२—भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधराचार्य स्पष्ट लिखता है—'**व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिमुनिः प्रयोजननाम्नी व्याचिख्यासुः प्रतिजानीते—अथ शब्दानुशासनम् इति।**'

३—मनुस्मृति का व्याख्याता मेधातिथि लिखता है—"**पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते। तथाहि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनम् 'अथ शब्दानुशासनम्' इति प्रतिजानीते।**" मनुस्मृति टीका १।१॥

केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि—शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑ये (अथ० सं० १।१।१)। इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ (यजु० सं १।१।१)। अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम् (ऋ० सं० १।१।१)। अग्न॒ आ या॑हि वी॒तये॑ (साम० सं० १।१।१) इति॥

व्याख्या—**किन शब्दों का [अनुशासन किया जाता है]? लौकिकों का और वैदिकों का। उनमें पहले[1] लौकिक—गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती, शकुनि, मृग, ब्राह्मण आदि। वैदिक** भी—शं नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आ याहि वीतये।

विवरण—'शब्दानुशासन' शब्द में षष्ठी-समास है, वह उत्तरपद प्रधान है। अतः गौणभूत पूर्वपद 'शब्द' के विषय में प्रश्न करना उपपन्न नहीं होता। परन्तु लोक में **राजपुरुषमानय** ऐसा कहने पर **कस्य राज्ञः**(=किस राजा के पुरुष को लाऊं?)यह प्रश्नात्मक जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसलिये बुद्धि से पूर्वपद को विभक्त करके 'किम्' से प्रत्यवमर्श जानना चाहिये।

लोक में 'शब्द' शब्द-ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ध्वनियां जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों से उत्पन्न होती हैं। चेतन-ध्वनि भी पशु पक्षि सरीसृप (=सर्पादि) मनुष्य आदि के भेद से विभिन्न प्रकार की है। अतः प्रश्न किया कि आचार्य पाणिनि ने किस प्रकार के शब्दों=ध्वनियों का अनुशासन किया है? **लौकिकानां वैदिकानां च** इस उत्तर में वैदिक शब्द भी मानव द्वारा ही उच्चार्यमाण हैं, अतः उसके साहचर्य से लौकिक शब्द से भी मानव उच्चारित शब्द ही यहां अभिप्रेत हैं, अन्य शब्द नहीं, यह जानना चाहिये।

लौकिकानां वैदिकानां च के निर्देश से भाष्यकार ने यह स्पष्ट किया है कि इस शास्त्र का क्षेत्र न लौकिक शब्दों तक सीमित है, जैसा कि उत्तरकालीन कातन्त्र जैनेन्द्र आदि व्याकरणों का है, और न प्रातिशाख्यों के समान वैदिक शब्दों तक।

'वैदिक' में **अध्यात्मादिभ्यश्च** (वा० ४।३।६०) से 'भव' अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है—**वेदे भवा वैदिकाः**। इसी प्रकार 'लौकिक' में भी लोक शब्द से 'भव' अर्थ में ठञ् जानना चाहिये। अथवा **लोकसर्वलोकाट्ठञ्** (५।१।४३) से विदित अर्थ में ठञ् जानना चाहिये। **लोके विदिताः=लौकिकाः।**

१. तावच्छब्दोऽनुक्रमे। पूर्वं लौकिका उदाह्रियन्ते, पश्चाद् वैदिकाः। नागेश।

यद्यपि लौकिक और वैदिक शब्दों में प्रायः समानता है, और मीमांसकों के लोकवेदाधिकरण(१।३।३०)न्याय(=य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः)के अनुसार लौकिक और वैदिक शब्द एक ही हैं[१]। पुनः भाष्यकार ने दोनों का पृथक् निर्देश क्यों किया? इसके समाधान में व्याख्याकारों ने **ब्राह्मण-वसिष्ठ न्याय**[२] से वैदिक शब्दों का वैशिष्ट्य द्योतन करना कहा है। हमारे विचार में लोक में वाक्यस्थ पदों की नियतानुपूर्वी नहीं होती, वेद में स्वरवर्णानुपूर्वी नियत होती है। इस भेद को दर्शाना मुख्य प्रयोजन है। अत एव भाष्यकार ने लौकिक शब्दों के उदाहरण में 'गौः' आदि स्वतन्त्र शब्दों का निर्देश किया है। और वैदिक पदों के निर्देश में नियतस्वरवर्णानुपूर्वी पद समुदाय उपस्थित किये हैं।

'शं नो देवी' आदि मन्त्र-प्रतीकें क्रमशः अथर्व यजुः ऋक् और साम वेद के आदि मन्त्रों की हैं। 'शं नो देवी' मन्त्र अथर्व की पैप्पलाद संहिता के आदि में मिलता है। भाष्यकार ने प्रतीक-निर्देश में वेदक्रम का परित्याग क्यों किया? इस विषय में व्याख्याकारों के अनेक मत हैं। महाभाष्यकार पैप्पलाद शाखा के अध्येता थे, इस कारण उन्होंने इस शाखा के मन्त्र का पहले निर्देश किया, यह विचार अधिक प्रसिद्ध है। हमारा विचार है कि पतञ्जलि 'चरक' सामान्य नाम से अभिहित 'कठ'(=काठक)शाखाध्यायी थे।[३] यज्ञकर्म के लिये चारों वेदों की विभिन्न शाखाओं का परस्पर नियत विभागीकरण देखा जाता है। अतः पतञ्जलि के कठ शाखा अध्येता होते हुए भी पैप्पलाद संहिता से उनका विशेष सम्बन्ध हो सकता है ('इषे त्वोर्जे त्वा' आद्यंश उपलब्ध सभी याजुषशाखाओं में समान है)। महाभाष्यकार ने अथर्व की **मौद** और **पैप्पलाद** तथा यजुः की **काठक** और **कलाप** शाखाओं को बहुधा स्मरण किया है (मौद और कलाप शाखाएं सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं)। पतञ्जलि काश्मीर के रहने वाले थे[४]। काठक और पैप्पलाद शाखाएं प्राचीन समय में काश्मीर में पढ़ी जाती थीं (मुसलमानों के आक्रमण के कारण इन शाखाओं के अध्येता काश्मीर छोड़कर अन्यत्र चले गये थे[५])।

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः? नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्। यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितं स शब्दः? नेत्याह। क्रिया नाम सा। यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कृष्णः कपिलः कपोत इति स

१. मीमांसकों का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है कि अतिपुराकल्प में वैदिक माने जानेवाले शब्द भी लोकभाषा में प्रचलित थे। द्र०—'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' प्रथमाध्याय, पृ० ४-२४, संस्क० ३।

२. **ब्राह्मणा अयाता वसिष्ठोऽप्यायातः।** वसिष्ठ ब्राह्मण वर्णस्थ है। 'ब्राह्मण आये' कहने से उसका आगमन भी सिद्ध है, पुनरपि 'वसिष्ठ भी आया' कहने से वसिष्ठ का वैशिष्ट्य बोधित होता है।

३. द्र०—सं० व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३५५-३५६ (सं० ३)।

४. सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३३४-३३५ (संस्क० ३)।

५. पैप्पलादीय कुछ ब्राह्मणों के परिवार उड़ीसा के पार्वत्य क्षेत्र में सम्प्रति बसे हुए हैं। उन्हीं से पैप्पलाद शाखा के सम्पादक पं. दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने पैप्पलाद संहिता के कुछ हस्तलेख उपलब्ध किये थे। दो हस्तलेख भुवनेश्वर के राजकीय संग्रह में भी हैं।

शब्दः ? नेत्याह । गुणो नाम सः । यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्य-भूतं[1] स शब्दः ? नेत्याह । आकृतिर्नाम सा ।।

व्याख्या—**अब 'गौः' इसमें शब्द कौनसा है ? क्या यह जो सास्ना (=गलकम्बल) लाङ्गूल (=पूंछ) ककुद (=पीठ पर उठा भाग) खुर और विषाण (=सींग) वाला अर्थ-रूप [जाना जाता है] वह शब्द है ? नहीं। वह द्रव्य है। तो क्या उस (=द्रव्य) का इङ्गित (=अभिप्रायसूचक शरीर-व्यापार=इशारा) चेष्टित (=गति) निमिषित (=आंख का झपकना वा खोलना) है, वह शब्द है ? नहीं। वह क्रिया है। तो क्या उसका जो शुक्ल नील कपिल कपोत [रूप] है वह शब्द है ? नहीं। वह गुण है। तो क्या जो उसके भिन्न (=टुकड़े) होने पर भी भिन्न (=टुकड़े) न होना, उसके काटे जाने पर भी काटा न जाना (अच्छिन्न रहना) सामान्यसा है वह शब्द है ? नहीं। वह आकृति (=जाति) है।**

विवरण—गौ शब्द के उच्चरित होने पर शब्द और अर्थ का संकीर्ण(=परस्पर मिला हुआ)सा परिज्ञान होता है[2]। अतः दोनों का विभाग दर्शाने के लिये **अथ गौरित्यत्र कः शब्दः** आदि का प्रकरण पढ़ा है। द्रव्य के साथ तद्गत क्रिया और गुण का, तथा तत्संबद्ध जाति का भी बोध होता है। अतः उनकी व्यावृत्ति भी यहां दर्शाई है। वैयाकरण आकृति से जाति का ग्रहण करते हैं। नैयायिक आकृति से अवयव-संस्थान-विशेष का ग्रहण करते हैं।

कस्तर्हि शब्दः ? येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः ।।

व्याख्या—**तो फिर शब्द क्या है ? जिसके उच्चारित होने से सास्ना लाङ्गूल ककुद खुर विषाणवाले [द्रव्यों] की प्रतीति होती है, वह शब्द है।**

विवरण—वैयाकरणों के मत में स्फोटरूप शब्द नित्य है। अतः यहां 'उच्चारित' का अभिप्राय 'प्रकाशित' से है। स्फोट शब्द का अर्थ है—**स्फुटयतेऽर्थोऽनेन,** अर्थात् जिसके बुद्धि द्वारा गृहीत होने पर अर्थ स्फुट=प्रतीत होता है। महाभाष्यकार ने **तपरस्तत्कालस्य** (१।१।६९)सूत्र के भाष्य में लिखा है—**स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्द-गुणः।** इससे विदित होता है कि वैयाकरण स्फोट को द्रव्य रूप मानते हैं।

अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तद्यथा—शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति । ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते । तस्माद् ध्वनिः शब्दः।।

व्याख्या—**अथवा लोक में जिससे अर्थ की प्रतीति होवे, ऐसी ध्वनि शब्द कहाती है। जैसे—शब्द करो, शब्द मत करो, शब्द करनेवाला यह माणवक है इत्यादि। ध्वनि करते हुए ऐसा कहा जाता है। इसलिये ध्वनि शब्द है।**

विवरण—नैयायिक ध्वनि को ही शब्द मानते हैं, और उनके मत में शब्द अनित्य है। शब्द को चाहे नित्य माना जाए चाहे अनित्य, व्याकरणशास्त्र की उपयोगिता दोनों पक्षों में समान है। इसीलिये इसी आह्निक में भाष्यकार कहेंगे—**यद्येव (शब्दो) नित्यः, अथापि कार्यः**

१. सामान्यभूतम्—भूतशब्द उपमार्थे । यथा पितृभूतः । कैयटो भर्तृहरिश्च ।

२. द्वौ भागौ शब्दस्य, स्वरूपभागोऽर्थभागश्चेति भर्तृहरिः। एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात् संकीर्णा इति योगभाष्यम् (३।१७)।

उभयथा लक्षणं प्रवर्त्यम् । अर्थात् शब्द चाहे नित्य हो चाहे कार्य=अनित्य, दोनों ही पक्षों में व्याकरण की प्रवृत्ति होनी चाहिये । इस पक्षभेद को ध्यान में रखकर भाष्यकार ने शब्द के दो लक्षण दर्शाये हैं ।

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि? रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्॥

व्याख्या—**इस शब्दानुशासन के [प्रवचन के] क्या प्रयोजन हैं ? रक्षा ऊह आगम लघु और असन्देह प्रयोजन हैं** ।

विवरण—कैयट आदि व्याख्याता **रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्** को भाष्यकार का वचन मानते हैं । हमारे विचार में यह कात्यायन का प्रथम वार्तिक है । आगे उल्लिखित **इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि** प्रयोजन भाष्यकार-निर्दिष्ट हैं । इस विचार के पोषक निम्न हेतु हैं—

१—**क्ङिति च** (१।१।५) पर वार्तिककार कात्यायन ने 'तन्निमित्त' ग्रहण का प्रयोजन दिया है—**क्ङितिप्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणम्, उपधारोरवीत्यर्थम्** । इसकी व्याख्या के पश्चात् भाष्यकार ने **इमानि च भूयस्तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि** लिखकर अन्य प्रयोजन प्रस्तुत किये हैं । इसकी प्रकृत पाठ से तुलना करने पर विदित होता है कि **इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि** लिखकर जो प्रयोजन दर्शाये हैं, वे भाष्यकार द्वारा निर्दिष्ट हैं, और पूर्व के रक्षा आदि प्रयोजन अन्य (वार्तिककार) के हैं ।

२—व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का उपसंहार करते हुए भाष्यकार ने लिखा है—**तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद् भूत्वा आचार्यः शास्त्रमन्वाचष्टे—इमानि प्रयोजनानि अध्येयं व्याकरणमिति** । नागेश ने प्रदीपोद्योत में लिखा था—**आचार्यपदेन शास्त्राध्यापको भाष्यकृदेव विवक्षितः** । नागेश की यह कल्पना हास्यास्पद है । क्योंकि सम्पूर्ण महाभाष्य में अन्यत्र आचार्य पद का प्रयोग पाणिनि वा कात्यायन के लिये ही मिलता है । फिर भला यहां आचार्य पद से भाष्यकार का निर्देश कैसे माना जा सकता है ? इतना ही नहीं सम्पूर्ण वाङ्मय में कहीं पर भी लेखक ने अपने लिये आचार्य शब्द का प्रयोग नहीं किया है । इस प्रकार की असत् कल्पना के मूल में **सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे** वार्तिक के व्याख्यान में प्रयुक्त **माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते** वचन ही है । इसकी विवेचना हम इसी वचन की व्याख्या में करेंगे ।

३—सायणाचार्य अपने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

"तस्यैतस्य व्याकरणाध्ययनस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनमिति । एतानि रक्षादीनि प्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि" । षडङ्ग-प्रकरण, पृष्ठ २६, पूना संस्क० ।

४—यही बात सायणाचार्य ने अपने तैत्तिरीय संहिता (भाग १, पृष्ठ ३०) के भाष्य के आरम्भ में भी लिखी है—**'कात्यायनोऽपि व्याकरण-प्रयोजनान्युदाजहार—रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्'** ।

संख्या ३-४ के सायण के उद्धरणों से स्पष्ट है कि वह **रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्** को कात्यायन का वार्तिक मानता है, और **इमानि च भूयः** लिखकर निर्दिष्ट प्रयोजन भाष्यकार निर्दिष्ट हैं ।

प्रयोजनम्—यहां 'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः' बहुवचनान्त है, और 'प्रयोजनम्' एकवचनान्त है। 'प्रयोजनम्' में एकशेष जानना चाहिये। **प्रयोजनी (=रक्षा) च प्रयोजनश्च प्रयोजनश्च प्रयोजनं (=लघु) च प्रयोजनश्च=प्रयोजनम् प्रयोजनानि वा—नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्** (१।२।६९)से एकशेष और विकल्प से एकवचन होता है। अथवा **'वेदाः प्रमाणम्'**[1] के समान एकवचन जानना चाहिये। आगम के साथ सम्बद्ध प्रयोजन शब्द प्रयोजक अर्थवाला है। कैयट के अनुसार करण में व्युत्पत्ति **'प्रयुज्यतेऽनेन'** जाननी चाहिये।

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति ॥

व्याख्या—**वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। लोप आगम और वर्ण-विकार को जाननेवाला ही अच्छे प्रकार वेदों का परिपालन (=सब ओर से=स्वर वर्ण और उसकी आनुपूर्वी से) करेगा।**

विवरण—विद्यमान वस्तु के नाश के परिहार का नाम रक्षा है। लौकिक और वैदिक शब्दों में ९५ प्रतिशत समानता होने पर भी क्वचित् क्वचित् उनमें भेद देखा जाता है। जो वैदिक शब्दों के विशिष्ट व्याकरण नियमों को नहीं जानता, वह जहां भी लौकिक शब्द से वैदिक शब्द में कुछ वैषम्य देखेगा, उसे अशुद्ध प्रयोग समझकर लौकिक पदवत् पाठ की कल्पना कर लेगा। उस से वेद का अनादि स्वरूप नष्ट हो जायगा। अतः व्याकरण (=लौकिक वैदिक नियमों) का जानना आवश्यक है। यथा—

लोप—**त्मना देवेषु**(ऋ० ७।७।१)। यहां **'आत्मन्'** शब्द के आकार का **मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः**(६।४।१४१)से लोप होता है। 'लोप' शब्द से यहां अदर्शनमात्र विवक्षित है। अतः लुक् श्लु लुप् से विहित अदर्शन भी यहां उदाहरण जानने चाहियें। यथा—**परमे व्योमन्** (ऋ० १।१६४।३९)यहां 'व्योमन्' शब्द से परे सप्तम्येकवचन 'ङि' का **सुपां सुलुक्०** (७।१।३९) से लुक् होता है।

आगम—**ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः**(ऋ० १०।१५।१) यहां **आज्जसेरसुक्** (७।१।५०) से ब्राह्मण और सोम्य अवर्णान्त अङ्ग से उत्तर जस् को असुक् (अस्) का आगम होता है।

लोप आगम का सम्मिलित उदाहरण—**देवा अदुह्र** (मै० ४।२।१)। यहां 'अदुह झ (=अत)' इस अवस्था में **बहुलं छन्दसि**(७।१।८)से 'झ' स्थानीय 'अत' को 'रुट्' का आगम होना है—'अदुह् र् अत'। इस अवस्था में **लोपस्त आत्मनेपदेषु** (७।१।४१) से 'त' का लोप होकर 'अदुह् र् अ'=**अदुह्र**।

वर्णविकार—वेद का प्रयोग है—**उद्ग्राभं च निग्राभं च**(यजु० १७।६४)। यहां क्रमशः 'उत्' 'नि' पूर्वक ग्रह् धातु से **उदि ग्रहः**(३।३।३५) सूत्र से संबद्ध **उद्ग्राभनिग्राभौ च च्छन्दसि स्रुगुद्यमननिपातनयोः** वार्तिक से घञ् होता है। और—'उद् ग्राह् अ' 'निग्राह् अ' इस अवस्था में **हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य**(८।२।३५)इस वार्तिक से हकार के स्थान पर भकार वर्णविकार होता है। लौकिक शब्द 'उद्ग्राह' 'निग्राह' होते हैं। इसी प्रकार **'गृह्णाति'** के स्थान पर **'गृभ्णाति'** प्रयोग बहुधा वेद में दिखाई देते हैं।

१. द्रष्टव्य धर्मसूत्र—**त्रैविद्यवृद्धानां तु वेदाः प्रमाणम्** २।२३।६।

यदि कोई व्याकरण (=लौकिक-वैदिक-पद नियम) जानता होगा, तो वह वेद के लोक से भिन्नता रखनेवाले शब्दों के वैदिक स्वरूप को यथावत् जानकर वेद की यथावत् रक्षा करेगा।

ऊहः खल्वपि। न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान् नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्॥

व्याख्या—ऊह भी—**वेद में मन्त्र सब लिङ्गों और सब विभक्तियों से युक्त नहीं पढ़े हैं। उन्हें यज्ञगत पुरुष (=ऋत्विक्) के द्वारा यथावत् (=तत्तत् यज्ञ के अनुरूप) विपरिणमित करना (=बदलना) होगा। उनको अवैयाकरण यथावत् नहीं बदल सकता। इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।**

विवरण—श्रौत यज्ञ तीन प्रकार के हैं—प्रकृतिरूप, विकृतिरूप, प्रकृतिविकृतिरूप। एक चौथा भेद भी है न प्रकृति, न विकृति 'यावदुक्त' कर्म।

प्रकृतियाग—प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति का लक्षण इस प्रकार लिखा है—**विकृतिर्यतोऽङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः** अर्थात् विकृति याग [स्व प्रकरण में अनुपदिष्ट] अङ्ग कर्मों को [कर्म की पूर्ति के लिये] जहां से ग्रहण करते हैं, वह 'प्रकृतियाग' कहाता है। यथा दर्शपौर्णमास आदि। दर्शपौर्णमास के प्रकरण में वे सब विधियां कह दी गई हैं, जो इस कर्म की सम्पन्नता के लिये आवश्यक हैं। अनुपदिष्ट सामान्य कर्मवाली विकृतियां **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** अतिदेश के अनुसार यहीं से अङ्गकर्मों का ग्रहण करती हैं। अतः दर्शपौर्णमास सब इष्टियों की प्रकृति माना जाता है। प्राचीन मतानुसार गृहमेधीयेष्टि तथा दर्विहोमादि न प्रकृति हैं और न विकृति। इनमें यावदुक्त कर्म ही किया जाता है। नवीन मीमांसक प्राचीन आचार्यों के लक्षण में 'गृहमेधीयेष्टि में पर्णता की प्राप्ति नहीं होगी।' ऐसा दोष उपस्थित करके[1] प्रकृति का लक्षण **चोदकाद्**

---

१. द्र०—मीमांसा न्यायप्रकाश पृष्ठ ४४ (चौखम्बा सीरिज काशी), मीमांसा सुबोधिनी वृत्ति ३।६।२॥ 'पर्णता की अप्राप्ति' का अभिप्राय है—**'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति'** वचन अनारभ्याधीत अर्थात् किसी कर्मविशेष के प्रकरण में पठित नहीं है। इस वचन से जुहू में पर्णता 'पलाशमयीता' धर्म की प्राप्ति होती है। अनारभ्याधीत वचनों का 'प्रकृति में सन्निवेश हो अथवा विकृति में अथवा उभयत्र' इसका विचार करके निर्णय किया है—**अनारभ्याधीतानां प्रकृतिगामित्वम्** अर्थात् अनारभ्याधीत विधियों का प्रकृति में सन्निवेश होता है। वहां से **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** अतिदेश से विकृतिमात्र में पहुंच जाता है। यदि गृहमेधीयेष्टि को प्रकृतियाग न माना जायगा, तो इसमें पर्णतारूप धर्म की उपस्थिति नहीं होगी।

वस्तुतः नवीन मीमांसकों यह चिन्तन मीमांसासूत्र और शाबरभाष्य के विपरीत है। मीमांसा सूत्रकार ने **विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्ग्रहणात् पुनः श्रुतिरनर्थिका स्यात्** (१०।७।२४) अर्थात् विकृति में प्राकृत धर्म [चोदकवाक्य से प्राप्त हैं] की विधियों का निर्देश देखा जाने से पुनः श्रुति अनर्थक होगी, इस न्याय से गृहमेधीयेष्टि में यावदुक्तकर्मता मानी जाती है। कात्यायन श्रौत सूत्रकार ने भी **यावदुक्तमतः** (५।६।१२) सूत्र से यही बात कही है।

यत्र नाङ्गप्राप्तिः सा प्रकृतिः, अर्थात् 'जहां चोदक(=अतिदेश)से अङ्ग की प्राप्ति नहीं होती, वह प्रकृति कहाती है', ऐसा लक्षण मानते हैं। इस लक्षण के अनुसार गृहमेधीयेष्टि दर्विहोमादि प्रकृति-याग हैं ।

विकृतियाग—विकृति का लक्षण है—**या प्रकृतितोऽङ्गानि गृह्णाति सा विकृतिः**, अर्थात् जो प्रकृतियागों से स्वयज्ञकर्म की पूर्ति के लिये अङ्गकर्मों का ग्रहण करते हैं, वे विकृतियाग कहाते हैं, जैसे—सौर्येष्टि। विकृतियागों में तत्तत्कर्मोपयोगी विशिष्ट विधान ही किया जाता है। सौर्येष्टि का वचन है—**सौर्यं घृते चरुं निर्वपेत् शुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चसकामः** (मै० सं० २।२।२) अर्थात् ब्रह्मवर्चस(=ब्रह्मतेज)की कामनावाला घृत में शुक्ल व्रीहियों का चरु[1] बनावे। इतना ही निर्देश है। अतः चरु कैसे बनावे, इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये वचन उपस्थित होता है—**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या**, अर्थात् जैसे प्रकृतियाग किया, वैसे ही विकृतियाग करना चाहिये। यहीं ऊह का विषय उपस्थित होता है।

प्रकृति-विकृति-याग—जो अपने कर्म की पूर्ति के लिये दर्शपौर्णमास से अङ्गकर्मों का ग्रहण करे, और स्वयं दूसरे कर्मों के लिये प्रकृति-स्थानीय बन जावे, वह प्रकृति-विकृति उभय-लक्षण विशिष्ट होता है। जैसे चातुर्मास्य का **वैश्वदेव पर्व**। चातुर्मास्य में वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय ये चार पर्व होते हैं। वैश्वदेव पर्व दर्शपौर्णमास से यज्ञीय अनुक्त अङ्गों को ग्रहण करता है, अतः विकृतियाग है। परन्तु यही वैश्वदेव उत्तरवर्ती पर्वों की प्रकृति बन जाता है। अन्य पर्वों के कर्मों में इस से अनेक धर्म अतिक्रान्त होते हैं। ज्योतिष्टोम में पुरोडाश याग भी है। वह दर्शपौर्णमास से अङ्गों को ग्रहण करता है, अतः वह विकृतिरूप है। सोमयाग का सम्पूर्ण क्रियाकलाप ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पढ़ा है। अतः अन्य सोमयागों की वह प्रकृति है। इस प्रकार ज्योतिष्टोम प्रकृति-विकृति उभयात्मक है।

अब प्रकृत ऊह विषय पर विचार किया जाता है। 'ऊह का' लक्षण मीमांसक इस प्रकार करते हैं—**ऊहो नाम प्रकृतौ अन्यथादृष्टस्य विकृतावन्यथाभावः**,[2] अर्थात् प्रकृति में जो अंश अन्य रूप से देखा गया हो, उसी का विकृति में अन्यथाभाव होना 'ऊह' कहाता है। जब विकृतियाग की पूर्णता के लिये **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** अतिदेश प्राप्त होता है, तब अतिदेश-प्राप्त कार्यों के प्राप्त होने पर उनके मन्त्र भी प्राप्त होते हैं। दर्शपौर्णमास में हवि के निर्वाप (=ग्रहण) के लिये मन्त्र है—**अग्नये जुष्टं निर्वपामि** (तै० सं० १।१।४)। अतिदेश से निर्वाप कर्म के साथ यही मन्त्र **सौर्येष्टि** में भी उपस्थित होता है। परन्तु सौर्येष्टि में सूर्य देवता के होने से प्रकृति-

---

इस प्रकार स्पष्ट है कि गृहमेधीयादि इष्टियां विकृतिरूप हैं। चोदक से अङ्गों की प्राप्ति वहां होती है। किन्तु कुछ अङ्गों का उस प्रकरण में पुनः निर्देश होने से उन्हें **यावदुक्त-कर्म** माना जाता है। अथवा वैयाकरणों के **सकृल्लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते** इस न्याय से विकृतिमात्र में पर्णता आदि सभी धर्मों की प्राप्ति हो जायेगी। पश्चात् मीमांसा १०।७।२४ के अनुसार दर्शपौर्णमास में साक्षात् पठित अङ्ग कर्मों के अतिदेश का 'पुनःश्रुति का आनर्थक्य न होवे,' इस कारण प्रतिषेध हो जायेगा। इस प्रकार गृहमेधीयेष्टि दर्विहोमादि यावदुक्तकर्म होने से न प्रकृति माने जाते हैं, और न विकृति।

१. 'अन्तरूष्मसिद्धः (मण्डनिस्सारणमन्तरा सिद्धः) चरुः', 'मण्डनिःसृतः ओदनः' इति याज्ञिकसमाख्या। २. द्र०—विकृतौ यथार्थमूहोऽर्थवादवर्जम्। आप० परिभाषा ४६।

गत अग्नि देवतावाला निर्वाप मन्त्र सम्बद्ध नहीं होता। **सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि** ऐसा मन्त्र कहीं पढ़ा नहीं है। अतः सौर्येष्टि में अतिदेश-प्राप्त आग्नेय मन्त्रगत **'अग्नेय'** पद को हटाकर उसके स्थान में **'सूर्याय'** पद पढ़ा जाता है। यही ऊह है। ऊह तीन प्रकार का होता है—**मन्त्रोह, सामोह** और **संस्कारोह**। प्रकृत में मन्त्रोह के अन्तर्गत नाम(=प्रातिपदिक)के ऊह का उदाहरण दिया है।

लिङ्ग-ऊह—सोमयाग में 'आपः' की स्तुति में मन्त्र है—**देवीरापः शुद्धा वोढ्वम्**(यजुः ६। १३)। आपः के स्थान में आज्य की स्तुति में स्त्रीलिङ्ग के स्थान में पुल्लिग का ऊह करना होगा —**देवाऽऽज्य शुद्धो वहस्व**। यहां वचन का ऊह भी है। भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में शाखान्तर का **देवीरापः शुद्धा यूयम्** पाठ देकर आज्य पक्ष में **देवाऽऽज्य शुद्धस्त्वम्** ऊह दर्शाया है।

विभक्ति-ऊह—'सर्वाभिर्विभक्तिभिः' का तात्पर्य यह है कि प्रकृतिगत मन्त्रों में पूर्ण विभक्ति अर्थात् एकवचन द्विवचन बहुवचन सभी से युक्त मन्त्र नहीं पढ़े। अतः विकृतियाग में यथायोग्य वचन का ऊह भी करना पड़ता है। यथा—**देवीरापः शुद्धाः** मन्त्र में बहुवचन है। इनके स्थान में **देवाऽऽज्य शुद्धः** एकवचन का ऊह करना पड़ता है।

ऊह-प्रकरण का सार यह है कि वेद में प्रकृतियाग-गत मन्त्रों का ही पाठ यथावत् है। विकृतियागों में **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** न्यायानुसार प्रकृतियाग में पठित मन्त्र विकृतियाग में उपस्थित होते हैं। विकृतियाग में द्रव्य और देवता का भेद होता है। अतः अतिदेश से प्राप्त मन्त्र में पठित द्रव्य-देवता नाम के स्थान में विकृतिगत-द्रव्य-देवता का नाम पढ़ना होता है। और उसी के अनुसार लिङ्ग तथा वचन का परिवर्तन भी करना पड़ता है। आचार्य भर्तृहरि ने **महाभाष्यदीपिका** में मन्त्रोह का विचार विस्तार से किया है।

मन्त्रोह-सामोह-संस्कारोह तीनों का विचार मीमांसा-दर्शन में विस्तार से किया है। ऊह की साङ्ग प्रतिपत्ति के लिये मीमांसा-दर्शन का अवलोकन करना चाहिये। तभी कहां ऊह होता है, कहां नहीं होता, आदि का यथावत् बोध होगा। प्रकृत भाष्यवचन को समझने के लिये 'ऊह' विषय का संक्षेप से निर्देश किया है। उसके लिए आवश्यक याग-कर्म-गत प्रकृति-विकृतिभाव दर्शाने का प्रयत्न किया है। यह सारा प्रयत्न सामान्यरूप है। यदि कहीं इसका विरोध प्रतीत हो, तो उसे अपवादविधि जानें। अपवादविधि का विस्तरभिया यहां उल्लेख नहीं किया है।

[भाष्यम्] आगमः खल्वपि। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति॥

व्याख्या—**आगम भी। 'ब्राह्मण के द्वारा षडङ्ग (=छः अङ्गों सहित) वेद अध्ययन और जानने योग्य है, [यह उसका] निष्कारण (=फल की आकाङ्क्षा छोड़कर) [पालन किया जानेवाला] धर्म(=कर्त्तव्य)है। अर्थात् ब्राह्मण का यह कर्त्तव्य है कि वह फल की आकाङ्क्षा के बिना ही छहों अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करे। छहों अङ्गों में व्याकरण प्रधान (=मुख्य) है प्रधान [अङ्ग] में किया हुआ यत्न फलवान् होता है।**

विवरण—भर्तृहरि ने आगम का लक्षण लिखा है—**पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः, श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च**(महाभाष्य-दीपिका), अर्थात् परम्परा से अविच्छिन्न रूप से प्राप्त उपदेश आगम कहाता है। वह दो प्रकार का है—श्रुतिलक्षण और स्मृतिलक्षण। कैयट ने आगम का

का अर्थ श्रुति माना है। आगम का मूल अर्थ है—**आगम्यते बोध्यतेऽर्थो (=धर्मार्थकाममोक्ष-चतुष्टयरूपो)येन स आगमः**, अर्थात् जिस से धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप चार अर्थों का बोध हो, वह आगम है। अतः मूलार्थ की व्याप्ति वेद से लेकर धर्मशास्त्रपर्यन्त है। यही भर्तृहरि के उपर्युक्त कथन से भी सिद्ध है। हमारे विचार में यहां 'आगम' से 'स्मृति' का ग्रहण करना युक्त है।

वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च—यहां 'अध्येयः' से तात्पर्य शब्दग्रहण(=कण्ठस्थीकरण)मात्र से है, और 'ज्ञेयः' से अर्थग्रहण से। सामान्यतया जहां केवल **अध्येयः अध्येतव्यः** शब्दों का प्रयोग होता है, वहां शब्दग्रहण से लेकर अर्थज्ञानपर्यन्त विधान माना जाता है। इसलिये **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** (श० ११।५।६।३), अथवा **वेदमधीत्य स्नायात्** का तात्पर्य अर्थज्ञानपर्यन्त वेदाध्ययन से है। शबर स्वामी ने **अथातो धर्मजिज्ञासा**(मी० द० १।१।१) सूत्र के भाष्य में **वेदमधीत्य स्नायात्** का तात्पर्य 'वेद का शब्दग्रहण' रूप अध्ययन मानकर 'अधीत्य' पौर्वकालिक क्रिया की उपपत्ति के लिये जो कल्पनाएं की हैं, वे निर्मूल हो जाती हैं, यदि वेदाध्ययन का तात्पर्य अर्थग्रहणपर्यन्त माना जाये। शबर स्वामी को उक्तसूत्र की व्याख्या में जो क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी, उसका एक कारण 'अथ' शब्द को आनन्तर्यवाची मानना भी है। यदि महाभाष्यकार के समान 'अथ' शब्द को आरम्भवाची माना जाये, तो क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहती।

षडङ्ग=६ वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग माने जाते हैं। जैसे शरीर में हस्तपाद आदि अङ्ग शरीर के साक्षात् उपकारक होते हैं उसी प्रकार शिक्षादि वेदार्थ-ज्ञान में साक्षात् उपकारक होते हैं।

६ उपाङ्ग—पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा(=वेदान्त), न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग ये ६ दर्शन उपाङ्ग कहाते हैं। जैसे हस्तपाद आदि की अङ्गुलियां शरीर की साक्षात् उपकारक न होकर हस्तपाद आदि के आश्रित होकर परम्परा से उपकारक होती हैं, उसी प्रकार मीमांसा आदि शास्त्र वेदार्थ में साक्षात् साधक न होकर परम्परा से उपकारक होते हैं।[1]

व्याकरण की प्रधानता—व्याकरणशास्त्र का प्रयोजन प्रकृति-प्रत्यय के योग की विवेचना करके शब्द के मूलभूत अर्थ का बोध कराना है। निरुक्तशास्त्र का प्रयोजन शब्दार्थ-निर्वचन द्वारा विशेषार्थ का परिज्ञान कराना है। मूलभूत सामान्यार्थ के परिज्ञान के पश्चात् ही विशेषार्थ का परिज्ञान होता है। व्याकरण द्वारा सामान्यार्थ-प्रतीति के बिना विशेषार्थ-प्रतीति नहीं हो सकती। इसीलिये निरुक्तकार ने लिखा है—**नावैयाकरणाय निर्ब्रूयात्** (निरु० २।३), अर्थात् जो व्याकरण नहीं जानता, उसे निरुक्तकार का प्रवचन न करे। इस से अर्थज्ञान में व्याकरण-शास्त्र की प्रधानता स्पष्ट हैं। वेद के शरीररूप आलङ्कारिक वर्णन में षडङ्गों की भिन्न-भिन्न

१. ब्राह्मण और आरण्यक(=उपनिषद्) ग्रन्थ वेद के व्याख्यानरूप हैं। मीमांसा और वेदान्त क्रमशः ब्राह्मण तथा आरण्यक (=उपनिषद्)वचनों के अर्थों की विवेचना करते हैं, साक्षात् वेदार्थ की विवेचना नहीं करते। दोनों शास्त्रों द्वारा की गई वाक्यार्थ-मीमांसा वेदार्थ में भी सहायक होती है। अतः ये परम्परया वेद के उपकारक हैं। अन्य चार शास्त्रों में भी जिन तत्त्वों की विवेचना की है, वह वेदार्थ में भी परम्परया सहायक होती है। विस्तरभिया हम यहां उदाहरण नहीं दे रहे हैं।

शरीरावयवों से तुलना लिखी है—मुखं व्याकरणं स्मृतम्(पाणिनीय श्लोकात्मिका शिक्षा)। अर्थात् शरीर में मुख का जो स्थान है, वही वेदाङ्गों में व्याकरण का है। इससे भी व्याकरण की प्रधानता स्पष्ट है।

[भाष्यम्] लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्॥

व्याख्या—लाघव के लिये भी व्याकरण पढ़ना चाहिये। ब्राह्मण को शब्द (=साधु शब्द) अवश्य जानने चाहियें। विना व्याकरण के [अन्य किसी] लघु उपाय से शब्द नहीं जाने जा सकते।

विवरण—शब्दों के परिज्ञान में प्रतिपदपाठ(=एक-एक शब्द का उपदेश करना) रूप साधन बहुत परिश्रम और दीर्घकाल साध्य है। अतः उसके द्वारा कोई भी व्यक्ति सकल शब्दों का परिज्ञान नहीं कर सकता। यह बात महाभाष्यकार इसी आह्निक में आगे लिखेंगे। शब्दों के परिज्ञान में व्याकरण ही लघूपाय है यह आज के समय में जब संस्कृतभाषा व्यवहार की भाषा नहीं है, और भी अधिक सत्य है[1]।

[भाष्यम्] असंदेहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति—स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति। तस्यां संदेहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः (पा० सू० ६।२।१)। अथान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुषः (पा० सू० ६।१।२२३) इति॥

व्याख्या—[शब्दार्थ के] असन्देह के लिये भी व्याकरण पढ़ना चाहिये। याज्ञिक (=यज्ञकर्म का विधान करने वाले कल्पसूत्रकार) पढ़ते हैं—स्थूलपृषती अग्निवरुण-देवतावाली अनड्वाही (=वन्ध्या गौ) का आलम्भन करे। इस [वाक्यस्थ 'स्थूलपृषती' शब्द] में सन्देह होता है—स्थूला (=मोटी) जो पृषती (काले धब्बे=चकत्तेवाली)=स्थूलपृषती [यह समानाधिकरण समासार्थ अभिप्रेत है] अथवा स्थूल (=मोटे=बड़े) पृषतियां (धब्बे=चकत्ते) जिसके हैं, वह स्थूलपृषती [रूप बहुव्रीहि-समासार्थ अभिप्रेत है]। उस (=स्थूलपृषती) को व्याकरण जाननेवाला स्वर से जानता है—यदि [स्थूलपृषती शब्द में] पूर्वपदप्रकृतिस्वर है, तो बहुव्रीहि समास है, और यदि [स्थूलपृषती ऐसा] समासान्तोदात्तत्व है, तो [समानाधिकरण] तत्पुरुष समास है।

विवरण—मैत्रायणीसंहिता ३।१३।३ में पाठ है–पृषती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती मैत्रावरुण्यः। इस पाठ में 'स्थूलपृषती' शब्द पूर्वपदान्तोदात्त पढ़ा है। अतः पूर्वपदप्रकृतिस्वर के दर्शन से (अ० ६।२।१ के नियम से)यहां बहुव्रीहि समास है, यह व्यक्त है। भाष्यकार ने 'स्थूलपृषती' में सन्देह उत्पन्न होता है, ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य भर्तृहरि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—'पृषती'(=धब्बोंवाली)शब्द के सन्निधान में स्थूल शब्द 'पृषत्' का विशेषण गम्यमान न होकर

१. पदवाक्यप्रमाणज्ञ श्री पं० ब्रह्मदत्तजिज्ञासु वा उनके शिष्यों द्वारा संचालित संस्कृत-प्रचार-शिविरों ने इस सत्यता को अधिक स्पष्ट किया है। अतः जो व्यक्ति संस्कृत-ज्ञान में व्याकरणशास्त्र को अनुपादेय वा बाधक मानते हैं, वे स्वयं अनधीतव्याकरणशास्त्र हैं।

'पृषती' का विशेषण प्रतीयमान होता है—**'स्थूला चासौ पृषती'**। 'पृषत्' के **विशेषण की** संभावना (=स्थूलानि पृषन्ति यस्याः) भी होती है। इस प्रकार आपाततः अर्थद्वय की उपस्थिति होने से सन्देह होता है—यहां कर्मधारय तत्पुरुष है, अथवा बहुव्रीहि। इस सन्देह की निवृत्ति 'स्थूलपृषती' शब्दगत पूर्वपदप्रकृतिस्वर के दर्शन से हो जाती है।

कैयट ने लिखा है कि—'स्थूलपृषती' शब्द में पूर्वपदप्रकृतिस्वर का पाठ होने से यहां सन्देह ही उत्पन्न नहीं होता, तब उसकी निवृत्ति कैसे कही है? अतः उसके मत में सन्देह का प्रागभाव ही है, न कि प्रध्वंसाभाव। **नावैयाकरणः** पद में दो नञ् हैं। अतः उसका अभिप्राय है—'उत्कृष्ट व्याकरणशास्त्र का ज्ञाता'। यह उत्कर्षता प्रकृति-प्रत्यय-विभाग परिज्ञान के साथ-साथ स्वरज्ञानविषयक जाननी चाहिये। इस दृष्टि से स्वरज्ञानरहित साधारण वैयाकरण को स्थूल-पृषती शब्द के अर्थ में सन्देह हो सकता है, यह भाष्यकार का तात्पर्य है। इस दृष्टि से भर्तृहरि का व्याख्यान ठीक है। कैयट का कथन चिन्त्य है।

स्वरतोऽध्यवस्यति—इससे स्पष्ट है कि वेदार्थ के जानने में स्वरशास्त्र का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। इसी कारण भगवान् पाणिनि ने स्वशब्दानुशासन में स्वरशास्त्र का विस्तार से विधान किया है। और स्वर की दृष्टि से प्रत्ययों में अनुबन्ध लगाये हैं। बहुव्रीहि में पूर्वपद प्रकृतिस्वर का विधान शास्त्रकार ने **बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्** (६।२।१) सूत्र से किया है। और तत्पुरुष समास में समासान्तोदात्तत्व का विधान **समासस्य** (६।१।२१७) इस उत्सर्ग सूत्र से किया है।

'स्थूलपृषती' शब्द के अर्थ में समासभेद से जो अर्थभेद होता है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये—समानाधिकरण तत्पुरुष समास होने पर **उत्तरपदप्रधानस्तत्पुरुषः** के नियम से 'पृषती' के अर्थ का प्राधान्य होगा। अतः स्थूल का सम्बन्ध पृषती (=काले धब्बों वाली)[1] अनड्वाही=गौ से होगा, न कि पृषत् (=काले धब्बों) के साथ। इस कारण अर्थ होगा—मोटी तथा काले धब्बोंवाली अनड्वाही। तात्पर्य यह है कि समानाधिकरण तत्पुरुष होने पर स्थूल शब्द अनड्वाही की स्थूलता को बोधित करेगा। धब्बे छोटे हों या बड़े, इस की विवक्षा नहीं होगी। बहुव्रीहि होने पर स्थूल शब्द पृषत्=धब्बों का विशेषण होगा, अर्थात् मोटे धब्बों वाली अनड्वाही विवक्षित होगी। अनड्वाही कृश हो अथवा स्थूल, इस में उसकी विवक्षा नहीं होगी। इस कारण मोटे धब्बेवाली कृश अनड्वाही भी आलम्भनीया होगी।

आग्निवारुणीम्—**अग्निश्च वरुणश्च=अग्निवरुणौ, ईदग्नेः सोमवरुणयोः** (६।३।२६) से प्राप्त ईत्व यहां छान्दसत्वात् अथवा बहुल की अनुवृत्ति से नहीं होता। **अग्निवरुणौ देवते अस्याः, साऽस्य देवता** (४।२।२३) से अण्, **देवताद्वन्द्वे च** (७।३।२१) से उभयपदवृद्धि, **टिड्ढाणञ्०** (४।१।१५) से ङीप्, **इद् वृद्धौ** (६।३।२७) से इदादेश।

अनड्वाहीम्='अनडुह्' (=गाड़ी को ढोनेवाला) शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में, गौरादिगण (४।१।४१) में पाठ होने से **षिद्गौरादिभ्यश्च** (४।१।४१) से ङीष्। अनड्वान्, अपत्य उत्पादन में असमर्थ, खस्सी किये गये, गाड़ी आदि में जोते जानेवाले बैल का वाचक है। अतः

१. पृषतीशब्दोऽत्र मत्वर्थलक्षणया पृषद्वतीं बिन्दुमतीं गामाचष्टे।

यहां अनड्वाही से अपत्य उत्पादन में असमर्थ वन्ध्या गौ का ग्रहण जानना चाहिये । धर्मशास्त्र-कारों ने गौ को हल वा शकट में जोतने का जो निषेध किया है, वह अपत्योत्पादन-समर्थ गो-विषयक है । वन्ध्या को हल वा शकट में जोता जा सकता है ।

आलभेत—मध्यकालीन याज्ञिक इस प्रकार के प्रयोगों में **आलभते** का अर्थ संज्ञपन=मारना करते हैं । किन्तु उपनयन और विवाह आदि प्रकरण में **हृदयमालभते** का स्पर्श अर्थ ही करते हैं । हमारे मत में 'आलभते' का अर्थ सर्वत्र स्पर्श ही है । वस्तुतः शुद्ध 'लभ' और सनुम् 'लम्भ' दो स्वतन्त्र धातुएं हैं । पाणिनीय व्याकरण में 'लभ' को ही नुम् का विधान होने से 'लभ' का ही आलम्भन=मारना अर्थ है, ऐसी भ्रान्ति होती है । आयुर्वेदीय चरक-संहिता विमान स्थान में दोनों धातुओं का एक साथ पृथक्-पृथक् अर्थ में प्रयोग मिलता है । यथा—**आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म,** अर्थात् आदिकाल में यज्ञ में पशु स्पर्शनीय होते थे, आलम्भन=संज्ञपन=मारने के लिये व्यवहृत नहीं होते थे । अतः समस्त पशुयागों में पुरा काल में पर्यग्निकरण के अनन्तर उन्हें स्पर्श करके छोड़ दिया जाता था, जैसा कि साम्प्रतिक याज्ञिक आरण्य पशुओं का पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्जन मानते हैं ।

पशुयज्ञों का विधान क्यों किया गया है ? उनमें पशुओं का संज्ञपन और उनके अवयवों से होम विहित है या नहीं ? यह एक स्वतन्त्र विषय है । इसकी यहां विवेचना सम्भव नहीं । अतः यहां सारमात्र लिखा है कि प्राचीन काल में पशुयज्ञों में पशु मारे नहीं जाते थे, पर्यग्नि-करण के पश्चात् स्पर्श करके छोड़ दिये जाते थे ।

[भाष्यम्] इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि । तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुणेति ॥

व्याख्या—**ये और भी शब्दानुशासन के [प्रवचन के] प्रयोजन हैं**—तेऽसुराः, दुष्टः शब्दः, यदधीतम्, यस्तु प्रयुङ्क्ते, अविद्वांसः, विभक्तिं कुर्वन्ति, यो वा इमाम्, चत्वारि, उत त्वः, सक्तुमिव, सारस्वतीम्, दशम्यां पुत्रस्य, सुदेवो असि वरुण ।

विवरण—'भूयः' शब्द 'पुनः' अर्थवाला अव्यय है, ऐसा व्याख्याकारों का मत है । 'भूयः' ईयसुन्प्रत्ययान्त प्रातिपदिकप्रतिरूपक 'निपात' है । अतः इसका बहुत्वपरक व्याख्यान भी किया जा सकता है—'ये और बहुत से शब्दानुशासन के प्रयोजन हैं ।'

'तेऽसुराः' आदि १३ प्रयोजन यद्यपि भाष्यकार-निर्दिष्ट हैं, तथापि **'चत्वारि'** प्रयोजन के व्याख्यान-प्रसङ्ग में 'चत्वारि शृङ्गा' मन्त्र को उद्धृत करके भाष्यकार ने **अपर आह** लिखकर **'चत्वारि वाक्'** मन्त्रान्तर को उद्धृत किया है । इससे व्यक्त होता है कि शब्दानुशासन के ये प्रयोजन भी भाष्यकार द्वारा ही इदंप्रथमतया निर्दिष्ट नहीं हैं, पूर्व व्याख्याता भी इन प्रयोजनों को उद्धृत करते रहे हैं । यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि शब्दानुशासन-प्रवचन के मुख्य चार प्रयोजन-निदर्शक वचन भाष्यकार के कथञ्चित् भी सम्भव नहीं हैं ।

पूर्वापर सभी प्रसङ्गों पर विचार करके हम इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि ये १८ प्रयो-जन न्यूनाधिक रूप में प्राचीन आपिशल आदि व्याकरणों के व्याख्याता भी उपस्थित करते रहे

है। उनमें से मुख्य पांच प्रयोजन वार्तिककार कात्यायन ने उपस्थित किये, और शेष प्रयोजन भाष्यकार ने संगृहीत कर दिये।

[भाष्यम्] **तेऽसुराः—तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्॥** तेऽसुराः॥१॥

व्याख्या—तेऽसुराः—वे असुर हेलयो हेलयः **ऐसा प्रयोग करते हुए पराजित हुए। इसलिये ब्राह्मण को न म्लेच्छ (=अव्यक्त) भाषण करना चाहिये, और नाही अपभाषण (=अशुद्ध प्रयोग का उच्चारण) करना चाहिये। यह म्लेच्छ ही [भाषण] है, जो यह अपशब्द [का प्रयोग] है। हम म्लेच्छ (=अपभाषण) करनेवाले न होवें, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।**

विवरण—'तेऽसुरा······अपशब्दः' यह किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है। यहां क्या अपभाषण है, इस विषय में भर्तृहरि ने पूर्व व्याख्याताओं के चार पक्ष उपस्थित किये हैं। यथा—(१) 'हेऽरयो हेऽरयः' यहां **हैहेप्रयोगे हैहयोः** (८।२।८५) से विहित प्लुतोच्चारण नहीं किया। (२) प्लुत उच्चारण तो किया, परन्तु **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** (६।१।१२५) से 'हे अरयः' ऐसा प्रकृतिभाव होना चाहिये, वह नहीं किया, पूर्वरूप एकादेश कर दिया। (३) **सर्वस्य द्वे** (८।१।१) के प्रकरण में पद-द्विर्वचन कहा है, यहां **'हेऽरयः'** पदसमुदाय को द्विर्वचन किया है। (४) रेफ के स्थान में लकारोच्चारण करना।

नागेश को इन में से लत्वोच्चारण अपशब्दत्व ही इष्ट है। उसने प्लुतत्व का निराकरण **सर्वः प्लुतः साहसमनिच्छता विभाषा कर्तव्यः** (महा० ८।२।८२) के नियम से किया है, और **हेऽरयो हेऽरयः** में संघात को द्विर्वचन न होकर पुनः प्रयोग माना है।

शतपथ ब्राह्मण में **'हेलवो हेलव इति वदन्तः'** (३।२।१।२३) पाठ है। यहां 'य' स्थान में वत्वोच्चारण भी म्लेच्छ है।

'तेऽसुराः' वचन अर्थवाद-वाक्य है। पराभवरूप फल का निर्देश होने से यह निन्दार्थवाद है। **अर्थवादानां विधीनां स्तुतौ प्रयोजनम्** (मी० १।२।अधि० १) इस न्याय के अनुसार इस वाक्य का तात्पर्य 'यज्ञकर्म में अपभाषण=अपप्रयोग नहीं करना चाहिये' में है। **न म्लेच्छितवै नापभाषितवै** में म्लिष्ट=अव्यक्त उच्चारण और अपभाषण दोनों का निर्देश है, परन्तु उत्तरार्ध में **म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः** यहां म्लेच्छ (भाव में घञ्)=म्लेच्छन=अव्यक्तोच्चारण को ही अपशब्द कहा है। इसका समाधान कैयट ने **नापभाषितवै** को **न म्लेच्छितवै** का पर्याय मान कर किया है। हमारा विचार है कि म्लेच्छन=अव्यक्तपना दो प्रकार का होता है। एक–साधु शब्दों का ही इतना मन्द अथवा त्वरित उच्चारण करना, जिससे श्रोता को यथार्थ ध्वनि की प्रतीति ही न होवे। दूसरा–साधु शब्द का अशुद्ध उच्चारण। अशुद्ध उच्चारण से भी श्रोता को अभिप्रेत शब्द का बोध न होने से अर्थबोध नहीं होता। दोनों प्रकार के म्लेच्छत्व में से यज्ञकर्म में किस प्रकार के म्लेच्छन का वारण अभिप्रेत है, इस सन्देह की निवृत्ति के लिये **सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्** (मीमांसा १।४।२९) के न्याय से **म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः** वाक्यशेष से अपभाषणरूप म्लेच्छत्व का यज्ञकर्म में निषेध है, यह जानना चाहिये।

'म्लेच्छा मा भूम' का तात्पर्य 'हम म्लेच्छ=अपशब्द-प्रयोक्ता न होवें' जानना चाहिये। यद्यपि **नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते, किं तर्हि ? विधेयं स्तोतुम्** इस **'नहि निन्दा'** न्याय के अनुसार ब्राह्मण वचन का तात्पर्य 'यज्ञकर्म में साधु प्रयोग करना चाहिये' इस विधि में है। अतः भाष्यकार को **'साधुशब्दान् प्रयुक्ष्महि इत्यध्येयं व्याकरणम्'** ऐसा उपसंहार करना चाहिये। ऐसा उपसंहार न करके **'म्लेच्छा मा भूम'** लिखने का तात्पर्य क्या है ? इस के लिये 'विधि-वाक्य' और 'प्रतिषेधक वाक्य' के प्रयोगों में जो अन्तर होता है, उसे जानना आवश्यक है। 'देवदत्त! तू ग्राम को जा' यह विधि-वाक्य है। इस वाक्य से अर्थापत्ति से 'खेत वा अरण्य को मत जा' रूप निषेधार्थ भी जाना जाता है। इसी प्रकार 'केला मत खा' यह प्रतिषेधक वाक्य है। यहां भी अर्थापत्ति से 'केले के अतिरिक्त फल खा' यह विध्यर्थ भी जाना जाता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के वाक्यों से दोनों प्रकार के अर्थ जाने जाते हैं। पुनरपि विधिरूप वाक्य में विधि की प्रधानता और निषेध की गौणता होती है, और निषेधक वाक्य में निषेधार्थ की प्रधानता और विध्यर्थ की अप्रधानता होती है। इस दृष्टि से भाष्यकार ने **म्लेच्छा मा भूम** रूप जो प्रतिषेध रूप प्रयोजन लिखा है, उसका तात्पर्य अपशब्द के प्रयोग के वर्जन पर बल देना है। अपशब्दों का वर्जन तभी सम्भव है, जब साधु शब्दों का परिज्ञान हो। साधु शब्दों का परिज्ञान व्याकरण से ही हो सकता है। अतः **म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्** ऐसा भाष्यकार ने उपसंहार किया है।

[भाष्यम्] दुष्टः शब्दः—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधादिति ॥
दुष्टाञ्शब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ॥ दुष्टः शब्दः ॥२॥

व्याख्या—दुष्टः शब्दः—**स्वर (=उदात्तादि) और वर्ण (स्वर-व्यञ्जन) से मिथ्याप्रयुक्त (=यथावत् प्रयुक्त न हुआ) दुष्ट शब्द उस अर्थ को नहीं कहता [जिसे कहने के लिये उस शब्द का उच्चारण करता है]। वह (=दुष्ट शब्द) वाग्रूप वज्र होकर यजमान (=यजमान के अभिप्राय) को नष्ट कर देता है।**[1] **जैसे इन्द्रशत्रुः शब्द ने स्वर के अपराध (=मिथ्या प्रयोग) से [यजमान (=त्वष्टा) को नष्ट कर दिया]। हम दुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।**

विवरण—वर्णानुपूर्वी के समान होने पर भी उदात्तादि स्वर की भिन्नता से बहुधा अर्थ-भेद हो जाता है। यथा—**वीरपुरुषं गच्छ**। यहां वीरपुरुष में समासभेद से दो प्रकार का स्वर होता है—**वीरपुरुषम्**, **वीरपुरुषम्**। अतः **'वीरपुरुषं गच्छ'** का अर्थ होगा—वीर पुरुष को प्राप्त हो। अन्तोदात्त स्वर से कर्मधारयरूप समास जाना जाता है(द्र०—अ० ६।२।१)। **'वीरपुरुषं गच्छ'** का अर्थ होगा—वीर पुरुष जिस ग्राम में रहते हैं उसको जा। यहां पूर्वपद प्रकृति-

१. द्र०—स वाग्वज्रो भवति। यमर्थं मत्वोच्चारणं क्रियते, स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति। तद्वक्तारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति। तेनार्थेन हीनं करोति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका। दयानन्दीय ऋग्वेदभाष्य, भाग १, पृष्ठ ३६२।

स्वर से वीरपुरुष में बहुव्रीहि समास जाना जाता है(द्र०—६।२।१)। इससे स्पष्ट है कि यदि कोई पुरुष कर्मधारय समास के अर्थ की विवक्षा रखता हुआ **वीरपुरुषं गच्छ** में पूर्वपद प्रकृति-स्वर का प्रमाद से उच्चारण कर देता है, तो श्रोता को वक्तृगत कर्मधारय समासार्थ का बोध न होकर अन्यपदार्थरूप बहुव्रीह्यर्थ का बोध होगा। इसी प्रकार **'क्षयं प्राप्नुहि'**, **'क्षयं प्राप्नुहि'** प्रयोगों में क्रमशः 'घर को प्राप्त हो', और 'नाश को प्राप्त हो'(द्र०—अ० ६।१।१९५) अर्थभेद की प्रतीति स्वरभेद से होती है। यही तात्पर्य है—**स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति** का।

वर्ण के मिथ्याप्रयोग से अर्थभेद—वर्ण से यहां स्वर(=अच्)और व्यञ्जन(=हल्) दोनों का ग्रहण इष्ट है। यहां हम केवल व्यञ्जन के मिथ्या प्रयोग का एक उदाहरण देते हैं—**'अश्वमानय'** के स्थान में **'अस्वमानय'** प्रयोग करने पर स्व=धन रहित पुरुष का आनयन प्राप्त होगा।

यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्—वैदिक ग्रन्थों(तै० सं० २।५।२।३; मै० सं० २।४।३; शत० १।५।२।१-१०)में एक आख्यायिका है—'त्वष्टा नामक असुर ने देवों से पराजित होकर वृत्र नामक असुर को उत्पन्न किया। इन्द्रादि देवों से युद्ध से पूर्व वृत्र ने स्वबलवृद्ध्यर्थ यज्ञ किया। उसमें **'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'** मन्त्र से आहुति देते समय अन्तोदात्त इन्द्रशत्रु(=इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता =इन्द्र का नाश करनेहारा=वृत्र बढ़े) का प्रयोग करते समय भूल से, अथवा होता की देवों के साथ मिलीभगत होने से, पूर्वपदप्रकृतिस्वरयुक्त (=इन्द्रोऽस्य शत्रुः शातयिता=इन्द्र जिस वृत्र का शातयिता=नाश करनेहारा है, वह बढ़े) प्रयुक्त किया गया। पूर्वपदप्रकृतिस्वरानुसार बहुव्रीहि समास में इन्द्र वृत्र का शत्रु=शातयिता=नाश करनेहारा है, यह अर्थ ध्वनित होता है। इस कारण इन्द्र ने वज्र के प्रहार से वृत्र को नष्ट कर दिया'।

इस आख्यायिका में कहा गया इन्द्र-शत्रु=वृत्र मेघ है, और इन्द्र विद्युत् है। वृत्ररूप मेघ त्वष्टा=आदित्य का पुत्र है। सूर्यकिरणों से अपहृत जल से ही वृत्र=आवरक मेघ की उत्पत्ति होती है। वर्षा ऋतु में मेघ चाहे कितना ही बढ़े, काली काली घटाएं छा जायें, पर विद्युत् के द्वारा उस के पर्वों का विकर्तन होकर पृथिवी पर गिरा दिया जाता है। इन्द्र वज्री =वज्रवाला है। वज्र=बिजली। वज्र त्रिधार माना गया है। विद्युत् भी त्रिवृत्=त्रिधार है। शतपथ ११।२।७।२१ के अनुसार इसके तीन रूप वा कर्म हैं—यह शीघ्र व्याप्त होने से **अशनि**[1], शब्द करने से **ह्रादुनि**[2], और दाहकर्म के कारण **उल्कुषी**[3] कहाती है। ऋग्वेद १। १६४।२९ में इस विद्युत् के शब्द भय और प्रकाश तीन कार्य कहे हैं (द्र०—निरुक्त २।९ में 'अयं स शिङ्क्ते' मन्त्र की व्याख्या)।

यज्ञ में मन्त्रों का सस्वर पाठ—श्रौतसूत्रों(द्र०—कात्या० १।१८।१९; शांखा० १।१; आश्व० १।१)में तथा पाणिनीय शास्त्र (१।२।३४) में जप न्यूंख और सामों को छोड़कर शेष सभी मन्त्रों का यज्ञकर्म में एकश्रुति का विधान किया है। प्रकृत भाष्य-पाठ से यज्ञ में भी सस्वर मन्त्र का पाठ होता था, यह प्रतीत होता है। अन्यथा यज्ञगत **इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व**[4] मन्त्र में

१. अशूङ् व्याप्तौ। २. ह्राद अव्यक्ते शब्दे।

३. यह शब्द 'उल्मुक' (उणादि ३।८४) के समान उष दाहे से बनता है।

४. अहितानाममन्त्रत्वान्न तत्र यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु इत्यस्य प्रवृत्तिः। तेन नात्रैक-श्रुतिः। सत्येवम् अमन्त्रकवाक्येष्वपि पुरा स्वरव्यवहार आसीदित्यनेन स्पष्टं भवति।

सस्वर पाठ की प्राप्ति ही नहीं, तब उसमें स्वरापराध से यजमान के नाश का कथन करना कैसे चरितार्थ हो सकता है। वैदिक वाङ्मय के अवलोकन से ज्ञात होता है कि पुराकल्प में यज्ञों में मन्त्रों का सस्वर पाठ होता था। इस विषय में निम्न वचन द्रष्टव्य हैं—

१—वाचि स्वरमिच्छेत। तया स्वरसम्पन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात्। तस्मात् स्वरवन्तं यज्ञे दिदृक्षन्त एव। शतपथ १४।४।१।२७।।

अर्थात्—उस स्वर से सम्पन्न वाणी से ऋत्विक्-कर्म करे। इसलिये यज्ञ में प्रशस्त स्वर [से पाठ करने] वाले को देखने की चाहना करते हैं।

२—प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते।
यज्ञेषु यजमानस्य रुषत्यायुः प्रजां पशून्।। नारदीय शिक्षा १।६।।

अर्थात्—यज्ञों में स्वर और वर्ण से हीन जो मन्त्र प्रयुक्त होता है, वह यजमान की आयु प्रजा और पशु आदि को नष्ट करता है।

इस विषय में हमने 'वैदिक स्वरमीमांसा' ग्रन्थ के 'प्राचीन भाषाओं में स्वरों का सद्भाव' नामक अध्याय में विशेष रूप से लिखा है। द्र०—पृष्ठ ५०-५६, संस्करण २।

[भाष्यम्] यदधीतम्—

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।।
तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।। यदधीतम्।।३।।

व्याख्या—'यदधीतम्'—**जो पढ़ा हुआ है, परन्तु ज्ञात नहीं है, केवल उच्चारण से ही उच्चारित होता है, जाना जाता है [वह अध्ययन वैसे ही अनर्थक है], जैसे सूखी भी लकड़ी अग्निरहित स्थान में पड़ी हुई कभी प्रज्वलित नहीं होती। हम अनर्थक (=अर्थज्ञान-शून्य) अध्ययन न करें, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।**

विवरण—यही वचन निरुक्तकार यास्क ने **'यद् गृहीतम्'** पाठभेद से अर्थज्ञ की प्रशंसा और अर्थज्ञान से रहित की निन्दा के प्रकरण में पढ़ा है (द्र०—निरुक्त १।१८)। दोनों में **गृहीत** और **अधीत** शब्दों से वेद का शब्दमात्र ग्रहण अर्थात् कण्ठस्थीकरणमात्र विवक्षित है। **अविज्ञातम्** का अभिप्राय निरुक्तकार के मत में 'अर्थरूप से अविज्ञात' है। महाभाष्यकार के मत में **'स्वर-वर्ण-संस्कार** आदि से अविज्ञात' है, ऐसा भर्तृहरि आदि व्याख्याकारों का मत है। इसी दृष्टि से व्याख्याकारों ने **'अनर्थकं माऽधिगीष्महि'** का अर्थ निष्प्रयोजन अध्ययन न करें, किया है। हमारे विचार में 'अर्थज्ञान से रहित वेद का अध्ययन न करें' अर्थ अधिक उपयुक्त है। प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा अर्थज्ञान कराना भी व्याकरणशास्त्र का प्रयोजन है।

[भाष्यम्] यस्तु प्रयुङ्क्ते—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।।

[भाष्यम्] कः ? वाग्योगविदेव । कुत एतत् ? यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । अथ योऽवाग्योगवित्, अज्ञानं तस्य शरणम् ॥

व्याख्या—'यस्तु प्रयुङ्क्ते' जो कुशल (=प्रकृति प्रत्यय आदि संस्कारवित्) पुरुष विशेष व्यवहार-काल में शब्दों का यथावत् प्रयोग करता है। वह परत्र (=परजन्म में) अनन्त जय को प्राप्त होता है। और वाग्योगवित् अपशब्दों [के ज्ञान] से दोष को प्राप्त होता है। कौन [दोष को प्राप्त होता है] ? वाग्योगवित् (=वाणी के सम्बन्ध को जाननेवाला) ही। यह कैसे ? जो शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है। जैसे शब्द के ज्ञान में धर्म होता है, वैसे ही अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म भी होता है। अथवा (=इतना ही नहीं) अधिक अधर्म प्राप्त होता है। [क्योंकि] एक-एक शब्द के अपभ्रंश बहुत हैं। जैसे 'गौ' इस शब्द के गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्यादि बहुत अपभ्रंश हैं। और जो वाग्योगवित् नहीं है [उस को दोष प्राप्त नहीं होता], अज्ञान (=अपशब्दों का न जानना) उसका शरण है।

विवरण—'विशेषे व्यवहारे' का तात्पर्य यह है कि जो शब्द किसी अर्थविशेष में साधु होता है, वही अर्थान्तर में असाधु हो जाता है। जैसे 'अस्व' शब्द धनरहित अर्थ में तो साधु है, परन्तु अश्व अर्थ में असाधु है। इसीलिये वक्ता को व्यवहार-काल में अत्यन्त सावधान होकर शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। अन्यथा वक्ता का अभिप्रेत अभिप्राय गृहीत नहीं होगा। इस लिये वाणी के सम्बन्ध को यथावत् जानना अत्यन्त आवश्यक है।

'वाग्योगवित्' पद का चतुर्थ चरण में सम्बन्ध मानने से अर्थ संबद्ध नहीं होता। अतः विशेषार्थ की प्रतिपत्ति के लिये 'कः' इत्यादि प्रश्नोत्तररूप भाष्य है। 'शब्द के ज्ञान में धर्म होता है, अथवा प्रयोग में' इस पर विशेष विचार भाष्यकार इसी आह्निक में आगे करेंगे। यहां 'शब्द के ज्ञान में धर्म होता है' इस पक्ष का आश्रय करके प्रकृत विचार किया है।

[भाष्यम्] विषम उपन्यासः । नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् ॥

व्याख्या—यह (=अज्ञानं तस्य शरणम्) उपन्यास (=कथन) विषम है। अज्ञान अत्यन्त (=सर्वथा) शरण नहीं हो सकता। जो न जानते हुए भी ब्राह्मण को मारे, अथवा सुरा का पान करे, वह भी पतित होता है, ऐसा माना जाता है।

विवरण—यहां 'अत्यन्ताय' यह विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय है। इसका अर्थ है—अत्यन्त। अज्ञान कुछ सीमा तक शरण होता है, परन्तु सर्वथा सर्वदा शरण नहीं होता। जो व्यक्ति न जानते हुए विष का भक्षण कर ले, तो वह मरण को प्राप्त होगा ही। भाष्यकार द्वारा उद्धृत दृष्टान्त को इस प्रकार जानना चाहिये—मनुष्यों को विधि-निषेध का ज्ञान अवश्य करना

चाहियें। ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये, सुरापान नहीं करना चाहिये, इस निषेध को न जानकर भी यदि कोई ब्राह्मणवध वा सुरापान करता है तो वह प्रायश्चित्तीय होता ही है। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है—यदि कोई व्यक्ति स्वदेश के शासन-नियमों को नहीं जानता—मानव की हत्या करना अपराध है, यह नियम नहीं जानता। परन्तु किसी व्यक्ति को मार देता है, तो वह निश्चय ही उस देश के शासन-नियमों के अनुसार दण्ड का भागी होता है।

[भाष्यम्] एवं तर्हि सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः। कः? अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगवित्। विज्ञानं तस्य शरणम्॥

व्याख्या—**अच्छा तो—'वह परत्र अनन्त जय को प्राप्त होता है, और वाग्योगवित् अपशब्दों से दोष को प्राप्त होता है'। कौन? जो वाग्योगवित् नहीं है। और जो वाग्योगवित् है, उसका विज्ञान शरण है।**

विवरण—इस भाष्य का तात्पर्य यह है कि **'वाग्योगवित्'** शब्द का सम्बन्ध पूर्ववाक्य के साथ जानना चाहिये—**स वाग्योगवित्।** और **'दुष्यति चापशब्दैः'** का अर्थानुरूप कर्ता 'अवाग्योगवित्' का अध्याहार करके वाक्य को निराकाङ्क्ष करना चाहिये। **अथ यो वाग्योगवित् विज्ञानं तस्य शरणम्** का अभिप्राय है—जो वाग्योगवित् है, वह व्यवहार में अपशब्दों का प्रयोग नहीं करेगा। इस कारण उसे दोष प्राप्त नहीं होगा। अर्थात् शब्द के ज्ञानमात्र में धर्म नहीं होता, अपितु उसके प्रयोग में धर्म होता है। इसी प्रकार अपशब्द के ज्ञानमात्र में अधर्म नहीं होता, अपितु प्रयोग में अधर्म होता है। इस विषय में भाष्यकार आगे लिखेंगे—**अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः**=अपशब्दों के ज्ञानपूर्वक जो शब्दों का ज्ञान है, उसमें धर्म होता है। क्योंकि समानविषय में प्रयुक्त होनेवाले शब्द और अपशब्दों को जो जानता है, वह अपशब्दों का प्रयोग नहीं करता, इस कारण वह धर्म से युक्त होता है।

[भाष्यम्] क्व पुनरिदं पठितम्? भ्राजा नाम श्लोकाः। किं च भोः! श्लोका अपि प्रमाणम्? किं चातः? यदि श्लोका अपि प्रमाणम् अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति—

'यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्।
पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत्' इति॥

प्रमत्तगीत एष तत्रभवतः। यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम्॥ यस्तु प्रयुङ्क्ते॥४॥

व्याख्या—यह [वचन] कहां पढ़ा है? भ्राज नाम के श्लोक हैं [उनमें]। **क्यों जी! क्या श्लोक भी प्रमाण हैं? इससे क्या? यदि श्लोक भी प्रमाण हैं, तो यह श्लोक भी प्रमाण हो सकता है—'जो उदुम्बर (=गूलर) के वर्णवाली घटियों का बड़ा समुदाय भी पीया हुआ स्वर्ग को प्राप्त नहीं करावे, तो वह क्रतुगत [स्वर्ग को] क्या प्राप्त करायेगा?' यह आप का [वचन] प्रमादीपुरुष द्वारा कहा हुआ है। जो अप्रमत्त [=आप्त पुरुष] से कहा हुआ वचन है, वह प्रमाण है।**

विवरण—घटी=छोटे घट=कलश। अतः उदुम्बर वर्णवाली घटियों (=छोटे घटों) से तात्पर्य है—ताम्र के छोटे कलशों से। ताम्र के पात्र में प्रायः दो पदार्थ रखे जाते हैं—जल

अथवा मद्य। ताम्रमात्र में रखे गये जल में जीवनीय तत्त्वों का संयोग होता है, और मद्य रखने से उसमें मादकता बढ़ती है। भर्तृहरि आदि सभी व्याख्याकारों का मत है कि इस श्लोक में सौत्रामणि यज्ञ में किये जानेवाले मद्यपान की निरर्थकता कही गई है। अर्थात् मद्यशाला में घड़ों मद्य पीने से यदि स्वर्ग नहीं मिलता, तो सौत्रामणि यज्ञ में किये गये स्वल्प से मद्यपान से स्वर्ग कैसे मिल सकता है ?

यहां यह जानना आवश्यक है कि सौत्रामणि याग में जिस सुरा का विधान है(जैसा कि कात्यायन श्रौतसूत्र १६।१।२०,२१ में उल्लेख है), वह मद्यरूप नहीं है। उसमें तो व्रीहि और श्यामाक का ओदन पकाकर उनका उष्ण उदक=मांड को दो पात्रों में लेकर उनमें व्रीहि और श्यामाक का ओदन डालकर तीन दिन रखा जाता है। तीन दिवस में उसमें कांजी के समान खटास तो उत्पन्न हो जाता है, परन्तु मादकता उत्पन्न नहीं होती। एक मास अथवा चालीस दिन तक आसव अरिष्ट के घटक द्रव्यों को भूमि में अथवा भूसे में गाड़ने पर भी पांच से दस प्रतिशत तक ही मादकता उत्पन्न होती है। मद्य बनाने के लिये मद्य के घटक द्रव्यों में मादकता उत्पन्न होने पर वाष्पीकरण द्वारा सार खींचना पड़ता है। सौत्रामणि यज्ञ में प्रयुक्त सुरा में यह कार्य नहीं होता। अतः उसकी तुलना कांजी से की जा सकती है। दूसरे शब्दों में यह सुरा कांजीरूप है, मद्यरूप नहीं। सुरा शब्दमात्र से सौत्रामणि में मद्यपान का विधान मानना, अपने आपको धोखे में डालना है।

इतना ही नहीं, इस श्लोक में सुरा अथवा मद्य का नामोनिशान नहीं है। सौत्रामणि याग में निर्दिष्ट सुरा ताम्रपात्र में भी नहीं रखी जाती है। अतः हमारा विचार है कि यह श्लोक यज्ञकर्म में आचमन आदि के लिये ताम्रपात्र में रखे गये जल के आचमन की निरर्थकता का बोध कराता है। शब्दार्थ स्पष्ट है—सैंकड़ों ताम्र के घटों में रखे गये जल के पान से यदि स्वर्ग नहीं मिलता, तो यज्ञगत ताम्रपात्रस्थ आचमनी में रखे गये जल के आचमन से स्वर्ग कैसे मिलेगा ? अर्थात् इस में यज्ञीय कर्म की विधि का परिहास किया है।

यज्ञीय कर्म वैज्ञानिक कर्म है। उसकी प्रत्येक विधि अपने भीतर किसी वैज्ञानिक क्रिया का बोधन कराती है। समस्त नैत्यक श्रौतकर्म आधिदैविक जगत् के व्याख्यानरूप हैं, अतः उन में विहित प्रत्येक विधि यथावत् करने से ही आधिदैविक जगत् में होनेवाली क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करती है। यदि याज्ञिक कर्म यथाविधि नहीं किये जाते हैं, तो जिस आधिदैविक कर्म के वे प्रतिनिधि हैं, उसका यथावत् बोध नहीं हो सकता।

नैत्यक श्रौतयाग आधिदैविक जगत् के व्याख्यानरूप हैं। इस के लिये शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर अधियज्ञ और आधिदैविक कर्म की समानता के बोधक वचनों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। इसीलिये यास्कमुनि ने निरुक्त १।२० में अधियज्ञ को पुष्पस्थानीय, और अधिदैवत को फलस्थानीय कहा है। यज्ञों के उक्त तत्त्व को समझ लेने से ही यज्ञों की वैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है। इस विषय पर हमने अन्यत्र विस्तार से विवेचन किया है।

यतः उक्त श्लोक यज्ञीय विधि का उपहास करता है, अतः यह प्रमत्तगीत कहा गया है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की १३८वीं कारिका के स्वोपज्ञ व्याख्यान में शुष्क तर्क के उदाहरण रूप में इस श्लोक को उद्धृत किया है।

भ्राजसंज्ञक श्लोक—'यस्तु प्रयुङ्क्ते' श्लोक भ्राजनामक श्लोकों में पढ़ा गया है। नागेश के लेखानुसार वार्तिककार कात्यायन ने भ्राजनामक श्लोकों का निबन्धन किया था। अतएव भाष्यकार ने प्रमाणभूत आचार्य का वचन मानकर उसकी संगति लगाने का प्रयत्न किया है। क्योंकि अप्रमत्त आप्त व्यक्तियों के वचन प्रमाणभूत होते हैं। आप्त पुरुषों के प्रामाण्य के विषय में चरकसंहिता में कहा है—

'रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्माद् असत्यं नीरजस्तमाः॥' सूत्रस्थान ११।१८,१९॥

भाष्य-व्याख्याकार कैयट शेष नारायण प्रभृति ने 'यस्तु प्रयुङ्क्ते' वचन को स्मृति-रूप मानकर इसकी अनुग्राहिका श्रुति के रूप में 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति' (=शास्त्र से समर्थित एक शब्द अच्छे प्रकार जाना हुआ और सुप्रयुक्त हुआ स्वर्गलोक में सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होता है) वचन को उद्धृत किया है। यह वचन एकः पूर्वपरयोः (६।१।८१) सूत्र के महाभाष्य में उद्धृत है। भर्तृहरि ने इसे स्मृति-वचन माना है। वस्तुतः इसे स्मृति-वचन ही मानना उचित है। महाभाष्य ३।१।४८ में प्रयोग-विशेष के फलविशेष में भी एकवचन उद्धृत किया है—

'नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्वडवारथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमत्भाषिणः॥'

अर्थात्—जो व्यक्ति अचकमत् का प्रयोग करते हैं, वे उत्तम घोड़ियों से अच्छे प्रकार युक्त रथों से अपने इष्ट सुख स्वर्ग को सुखपूर्वक प्राप्त होते हैं। और जो अचीकमत् का प्रयोग करते हैं, वे पैर घसीटते हुए जाते हैं।

वस्तुतः 'एकः शब्दः' और 'नाकमिष्टसुखं' वचन अर्थवादरूप हैं। इनका तात्पर्य 'शब्द का शास्त्रपूर्वक ज्ञान और सुप्रयोग करना चाहिये' इस विधि की प्रशंसा में है।

[भाष्यम्] अविद्वांसः—

**अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥**

अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ अविद्वांसः॥५॥

व्याख्या—'अविद्वांसः'—जो मूर्ख प्रत्यभिवादन (=अभिवादन के उत्तर) में नाम पद के प्लुत उच्चारण को नहीं जानते, उनके प्रति प्रवास से लौटकर जैसे स्त्रियों के अभिवादन में अयमहमभिवादये (=यह मैं अभिवादन करता हूं) इतना ही इच्छानुसार[1] प्रयोग करे। अभिवादन में हम स्त्रीवत् [व्यवहारयोग्य] न होवें, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।

१. नागेश भट्ट ने 'कामम्' का अर्थ 'निःशङ्क' किया है, अर्थात् निःशङ्क होकर 'अभि-

विवरण—अभिवादन-प्रत्यभिवादन में शास्त्रमर्यादा अथवा लोकमर्यादा इस प्रकार है–गुरु आदि ज्येष्ठ श्रेष्ठ व्यक्ति को अभिवादन करते समय **अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः** ऐसा स्व-नाम-निर्देशपूर्वक बोलना चाहिये। अभिवादन के प्रत्यभिवादन (=उत्तर) में गुरु आदि द्वारा **आयुष्मान् एधि देवदत्त३** इस प्रकार नाम पद के अन्त में प्लुत उच्चारण करना चाहिये[1]। स्त्रियों को अभिवादन करते समय केवल 'अभिवादयेऽहं भोः' इतना ही कहने का लोकाचार है।[2] इस भेद का कारण स्त्रियों के प्रति हीन भावना वा उनका अपठित होना आदि नहीं है। अपितु पुरुषों को स्त्रियों के साथ अथवा स्त्रियों को पुरुषों के साथ उन्मुक्त व्यवहार से दूर रखना ही है। यही तात्पर्य **'कथं च नाम स्त्री सभायां साध्वी स्यात्'** इस भाष्यवचन (४।१।१५) का जानना चाहिये। दूरदर्शी धर्मशास्त्रकारों ने तो माता दुहिता स्वसा जैसे अति पवित्र संबन्धवाले व्यक्तियों के विषय में यहां तक लिखा है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ मनु० २।२१५॥

अर्थात्—पुरुष को चाहिये कि माता दुहिता और स्वसा के साथ भी एकान्त में न रहे। बलवान् इन्द्रियां विद्वान् को भी अकर्म में घसीट लेती हैं।

यह सामान्य नियम है। अवस्था विशेष में इसका अपवाद भी सम्भव है। इसी तत्त्व का निर्देश मनु ने युवा ब्रह्मचारी का युवा गुरुपत्नी के अभिवादन में पादग्रहण के विना करने के विधान द्वारा दर्शाया है (मनु० २।२१६)। इससे स्पष्ट है कि प्रौढा अथवा वृद्धा स्त्रियों का अभिवादन पुरुषों के समान ही करना चाहिये। इसका संकेत भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन में **'कामं'** पद के प्रयोग से मिलता है। याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मनिष्ठ का—**कस्तद् आद्रियेत यत्पर-पुंसो वा पत्नी स्यात्**(शत० १।३।१।२१) अर्थात् 'कौन इस बात का आदर करेगा कि पत्नी के सभा में बैठने से वह पर-पुरुष की हो जायेगी'। तथा गार्गी सुलभा सदृश ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का जनक की सभा में आना जाना, और याज्ञवल्क्य आदि के साथ शास्त्रार्थ भी करना (द्र०—शत० और महाभारत) अपवाद रूप जानना चाहिये।

वादयेऽहं भोः' ऐसा बोले। पक्षान्तर में 'विधि के विना' अर्थ लिखा है। 'विधि के विना' अर्थ अशुद्ध है। क्योंकि मनुस्मृति २।१२६ में उक्त विधान उपलब्ध है।

१. प्रत्यभिवादेऽशूद्रे। अष्टा० ८।२।८३, तथा मनुस्मृति २।१२५—
आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः॥

२. महाभाष्य में 'स्त्रीवत्' कहा है। मनुस्मृति २।१२६ में 'शूद्रवत्' निर्देश है। यथा—
यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः॥

विप्र का लक्षण—'वेदाध्ययनात् ततो विप्रः' है। वेदज्ञ अविद्वान् नहीं हो सकता। अतः मनु के उक्त श्लोक में 'विप्र' शब्द से 'जन्मना विप्र' अर्थात् विप्रकुल में उत्पन्न व्यक्ति से अभिप्राय है (द्रष्टव्य—मनु० २।१५७), ऐसा जानना चाहिये।

अयमहं वदेत्—यहां कृष्णाचार्य ने **अनुकरणं चानितिपरम्** (१।४।६१) से अनुकरणरूप 'अयमहम्' की गति संज्ञा मानकर **'वदेत्'** के साथ समास माना है। समास में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति के लोप का वारण 'अस्यवामीयम्' पद के समान अनुकरण-सामर्थ्य से किया है। (द्रष्टव्य—उद्योत छाया व्याख्या)। नागेश भट्ट ने इस का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'यहां कृञ् का योग न होने से गति संज्ञा का अभाव है। और गति संज्ञा के अभाव से 'वदेत्' के साथ समास का अभाव जानना चाहिये'। वस्तुतः नागेश का 'कृञ् का योग न होने से' लिखना चिन्त्य है। अ० १।४।६१ सूत्र में कृञ् के सम्बन्ध का उल्लेख नहीं है। उदाहरणों में कृञ् का प्रयोग क्रिया-योग का सामान्य बोधन करने के लिये है। अतः यदि यहां समास इष्ट नहीं है, तो अविवक्षारूप अन्य मार्ग अपनाना चाहिये। नागेश ने **'अयमहमिति वदेत्'** क्वाचित्क पाठ माना है। इस पाठ में छन्दोभङ्ग दोष है। अतः यह अपपाठ ही है।

[भाष्यम्] विभक्तिं कुर्वन्ति। याज्ञिकाः पठन्ति—'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः' इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्॥ विभक्तिं कुर्वन्ति॥६॥

व्याख्या—'विभक्तिं कुर्वन्ति' **विभक्ति करें[1]। याज्ञिक पढ़ते हैं—'प्रयाजों को विभक्ति-युक्त करना चाहिये'। बिना व्याकरण को पढ़े प्रयाज सविभक्तिक नहीं किये जा सकते।**

विवरण—प्रयाज उन यज्ञाङ्गभूत आहुतियों का नाम है, जो प्रधान याग से पूर्व दी जाती हैं। इसी प्रकार अनुयाज उन आहुतियों का नाम है, जो प्रधान याग के अन्त में दी जाती हैं (**प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे** ७।३।६२)। प्रकृतियाग दर्शपौर्णमास में पांच प्रयाज होते हैं, और तीन अनुयाज (विकृतियागों में संख्या न्यूनाधिक होती है)। भाष्यकार ने प्रयाजों को ही सविभक्तिक करने का उल्लेख किया है। इसे अनुयाजों को भी सविभक्तिक करने का उपलक्षण जानना चाहिये।

सविभक्तित्व के प्रयोग का विषय—जब यजमान आधान के अनन्तर उदर रोग से पीड़ित हो, अथवा एक संवत्सर के मध्य ही उस पर महती विपत् आवे, तब उसके लिये नैमित्तिक पुनराधेय इष्टि विहित है[2]। उसी विशिष्ट पुनराधेय इष्टि में प्रयाज और अनुयाजों को सविभक्तिक करने का विधान है।

प्रकृति (पौर्णमास[3]) याग में ५ प्रयाजों के निम्न मन्त्र हैं—

ये ३ यजामहे समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु ३ वौ ३ षट्॥१॥

---

१. 'कुर्वन्ति' यह लेट् लकार का रूप है (द्र०—उद्योत छाया)। अथवा 'याज्ञिकाः' पद का आक्षेप करके, और 'विभक्ति' में जाति में एकवचन मानकर अर्थ करना चाहिये—याज्ञिक विभक्तियां करते हैं।

२. द्र०—'आधानाद् यद्यामयावी यदि वा अर्था व्यथेरम् पुनराधेयेष्टिः'। आश्व० श्रौत २।८॥

३. दर्श में देवताभेद से पञ्चम मन्त्र में भेद है।

ये ३ यजामहे [1]तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु ३ वौ३षट् ॥२॥

ये ३ यजामहे इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु ३ वौ३षट् ॥३॥

ये ३ यजामहे बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु ३ वौ३षट् ॥४॥

ये ३ यजामहे स्वाहाग्निं स्वाहा सोमं स्वाहाग्निं स्वाहा विष्णुं स्वाहाऽग्नीषोमौ स्वाहा आज्यपा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु ३ वौ३षट् ॥५॥

इन में 'ये३ यजामहे' अंश मूल मन्त्र से बहिर्भूत है।

इन मन्त्रों में सभी पद सविभक्तिक हैं, पुनः इनको सविभक्तिक करने का जो विधान किया है, उसका आशय सभी व्याख्याकारों ने मन्त्रपठित विभक्ति से अतिरिक्त विभक्तियुक्त करना लिखा है। केवल प्रत्यय का प्रयोग हो नहीं सकता, इसलिये प्रकृति का आक्षेप किया जाता है। वह प्रकृति क्या हो, इसके लिये **'त्वमग्ने प्रयाजानुयाजानां पुरस्तात् त्वं पश्चात्'** इस मन्त्रवर्ण से अग्नि का आक्षेप होता है। (द्र०—भर्तृहरि-नागेश)। भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में **किंदेवत्या प्रयाजानुयाजाः** प्रश्नपूर्वक **आग्नेया इति तु स्थितिः** इस निरुक्त (८।२२) वचन को उद्धृत किया है।

वास्तविकता उक्त विचार से भिन्न है। 'विभक्ति' यह याज्ञिकों की पारिभाषिक संज्ञा है। इसके लिये अधोलिखित उद्धरण देखिये—

(१) **विभक्तिभिः प्रयाजानुयाजान् यजति। ऋतवो वै प्रयाजानुयाजा ऋतुभ्य एव तत् समाहरति। 'अग्न आ याहि वीतये', 'अग्निं दूतं वृणीमहे', 'अग्निनाऽग्निः समिध्यते', अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्', 'अग्नेः स्तोमं मनामहे', 'अग्नायो मर्त्यो दुवः' इत्येतासामृचां प्रतीकानि विभक्तयः, ता वै षड् भवन्ति······[2]। कौषीतकि ब्राह्मण।१।४॥**

(२) **'अग्निशब्दं चतुर्षु प्रयाजेषु, अनुयाजयोश्च विभक्तय इत्याचक्षते।'** शाङ्खायन श्रौत सूत्र २।५।१०॥

(३) उक्त शाङ्खायन सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने लिखा है—**'योऽयमग्निशब्दः षट्सु स्थानेषु, तं विभक्तय इत्याचक्षते याज्ञिकाः। एतासामृचां प्रतीकानि विभक्तय इति' (द्र०—कौ० ब्रा० १।४) इति श्रुतेः।**

उक्त प्रमाणों के आधार पर कौषीतकि ब्राह्मण में उद्धृत ६ ऋचाओं के प्रतीकभूत जो ६ पद—**अग्ने, अग्निम्, अग्निना, अग्निः, अग्नेः, अग्नाय:** हैं, इन्हीं की 'विभक्ति' पारिभाषिक संज्ञा है। अतः **प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः** का शब्दार्थ होगा—'प्रयाज के मन्त्रों को विभक्ति-संज्ञक 'अग्ने' आदि पदों से युक्त करना चाहिये। अतः उक्त प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में महाभाष्य के व्याख्याताओं ने जो कल्पना की है, वह अनुपयुक्त है।

---

१. गोत्रभेद से किन्हीं गोत्र के यजमानों के लिये द्वितीय मन्त्र में 'तनूनपात्' के स्थान में 'नराशंस' का प्रयोग होता है।

२. तुलना करो—ताण्ड्य ब्राह्मण १०।७।१; शत० २।२।३।४।

६ विभक्तियों का विनियोग—प्रयाज के पांच और अनुयाज के ३ मन्त्र मिलकर ८ मन्त्र होते हैं, विभक्तियां ६ ही हैं। अतः इनके विनियोग के लिये शतपथ (२।२।३।४) में लिखा है—

'ता एताः षड् विभक्तीर्यजति। चतस्रः प्रयाजेषु, द्वे अनुयाजेषु।...... सह जामितायै। जामि हि कुर्याद् यद् द्वे चित् सह स्याताम्।'

अर्थात् इन छः विभक्तियों को यजन करता है। चार को प्रयाजों में, दो को अनुयाजों में...जामिता(=समान द्विः प्रयोग) के लिए। जामिता ही करे, जो दो साथ होवें।

इस प्रकार व्याख्या करने पर भी प्रयाज और अनुयाज के किस मन्त्र में इनका प्रयोग न करे, इसकी स्पष्टता के लिये अन्य वचन है—**यथाम्नात उत्तमः**। अर्थात् उत्तम=अन्त्य प्रयाज और अनुयाज का यथाम्नात ही पाठ करना चाहिये।[1] अर्थात् उनमें इन विभक्तियों का प्रक्षेप नहीं होता।

इस प्रकार प्रयाजों में से आदि के चार प्रयाजों में क्रमशः **अग्ने, अग्निम्, अग्निना, अग्नेः** पदों का प्रयोग होता है। इन प्रयोगार्ह पदों का प्रयोग मन्त्रगत **'अग्ने'** पद के पूर्व अथवा पश्चात् किया जाता है।[2] मैत्रायणी संहिता में अर्थनाश के कारण ऋद्धि की कामना से क्रियमाण पुनराधेयेष्टि में उक्त विभक्तियों का प्रयोग पश्चात् करने का विधान है[3]।

कतिपय याज्ञिक ग्रन्थों में प्रत्यक्ष विभक्तियों का विधान नहीं मिलता। वहां विचारणीय होता है कि अग्नि शब्द की किन विभक्तियों का और किस वचन में प्रयोग किया जाये? अतः वहां विशेष विधान है—पञ्चम्यन्त का प्रयोग नहीं करना चाहिये[4]। तथा जिनके प्रयोग से द्व्यक्षर होते हुए चतुरक्षरता हो, उनका प्रयोग करना चाहिये।[5] इस प्रकार तृतीया चतुर्थी पञ्चमी से व्यतिरिक्त विभक्तियों का प्रयोग इन के मत में होता है।[6] सम्बुद्धि का भी प्रयोग

---

१. यथाम्नात उत्तमः प्रयाजः। तस्योपरिष्टाद् [न] क्रियते विभक्तिः। महाभाष्य दीपिका का पृष्ठ १३, पूना संस्करण। तथा 'यथाम्नात उत्तमः' इतिवचनाद् उत्तमप्रयाजमन्त्रेऽपि नापूर्वविभक्त्यन्तप्रक्षेपः। महाभाष्य टीका शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत। हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २७; मुद्रित पृष्ठ ५६, पाण्डिचेरी संस्करण।

२. द्र०—'पुरस्ताद्वोपरिष्टाद् वा विभक्तीः कुर्यात्'। आश्व० श्रौत० २।८॥

३. 'यस्येत्स्येत् तस्योपरिष्टाद् प्रयाजानां विभक्तीः कुर्यात्'। मै० सं० १।७।३॥

४. 'न शब्दजामि कुर्यात्, शब्दजामि हि तद् भवति यत्पञ्चम्यन्तम्।' महाभाष्य-दीपिका में उद्धृत वचन।

५. द्र०—'या द्व्यक्षरा सत्यश्चतुरक्षरा भवन्ति।' महाभाष्य-दीपिका में उद्धृत वचन।

६. द्र०—'शब्दजामि हि तद् भवति यत्पञ्चम्यन्तमिति वचनात् उत्तमे प्रयाजे विभक्तिनिषेधात् तृतीयाचतुर्थीपञ्चमीव्यतिरिक्ता विभक्तय आश्रीयन्ते' (महाभाष्य टीका शेषनारायण कृत)। 'टा ङे इत्येतयोरादित एव द्व्यक्षरत्वाभावाच्च। तथा ङस्यन्तमपि न प्रयोक्तव्यम्.........।' शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत टीका, पृष्ठ २७ हमारा हस्तलेख; मुद्रित पृष्ठ ५६।

नहीं होता, क्योंकि द्व्यक्षर होते हुए भी पूर्वरूप होने से **'अग्नेऽग्ने'** त्र्यक्षर होता है।[1] द्विवचन बहुवचनों का प्रयोग मन्त्रगत एकवचनान्त 'अग्ने' पद के साथ विषमता के कारण नहीं होता।

विभक्ति-प्रयोग के विषय में विभिन्न याज्ञिक ग्रन्थों में मतभेद उपलब्ध होता है। सब का यहां निर्देश करना अशक्य है। समस्त मतभेद की व्यवस्था यथासम्प्रदाय जाननी चाहिये। हमने यहां भाष्यकारीय वचन को समझाने के लिये एकपक्ष के अनुसार विभक्तियों का निर्देश किया है।

[भाष्यम्] यो वा इमाम्—'यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति।' आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ यो वा इमाम्॥७॥

व्याख्या—'यो वा इमाम्'—**जो निश्चय से इस वाक्** (=**वेदवाक्**) **को पदशः स्वरशः और अक्षरशः** [**जानता हुआ इसे संस्कृत**] **करता है, वह ऋत्विक् कर्म के योग्य होता है। हम ऋत्विक् कर्म के योग्य होवें, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।**

विवरण—'पदशः'=पदेन पदेन इति, संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् (५।४।४३) से शस्। इसी प्रकार **स्वरशः अक्षरशः** में जानना चाहिये। अर्थात् प्रतिपद प्रतिस्वर प्रत्यक्षर-पूर्वक जानता है। कैयट ने **पदं पदम् इति पदशः** विग्रह लिखा है। **विदधाति** क्रिया का कर्म **वाचम्** है। अतः पदादि का कारणरूप में ही सम्बन्ध हो सकता है। स्वर से यहां उदात्त अनुदात्त स्वरित और एकश्रुति का ग्रहण जानना चाहिये। अक्षर पारिभाषिक संज्ञा है। तदनुसार केवल स्वर (=अच्) और व्यञ्जनसहित स्वर (=अच्) की यह संज्ञा है।[2] यहां दोनों का ग्रहण इष्ट है। वैयाकरण वर्णमात्र की अक्षर संज्ञा मानते हैं।[3]

विदधाति—विधिपूर्वक धाञ् करोत्यर्थ है। अतः छायाकार ने **वाचं वेदरूपां वाणीं पदं पदं स्वरं स्वरम् अक्षरमक्षरं विदधाति संस्करोति** अर्थ किया है। यह वाक्य अस्पष्ट है। **विदधाति=संस्करोति** का कर्म वाक् है अथवा पद स्वर अक्षर? अतः यहां **'वाचं वेदरूपां वाणीं पदेन पदेन स्वरेण स्वरेण अक्षरेण अक्षरेण विदधाति संस्करोति,** ऐसा पाठ होना चाहिये। यदि **विदधाति** का लक्षणा से **जानाति** अथवा **उच्चारयति** अर्थ किया जाय, तो अधिक स्पष्टार्थक होगा। **संस्करोति** से कहा गया संस्कार भी तो उच्चारणक्रिया से ही सम्भव है। पद स्वर वर्णों का यथावत् उच्चारण उनके ज्ञान से ही सम्भव है।

---

१. "आवृत्या द्व्यक्षराः सन्तश्चतुरक्षरा भवन्ति इति वचनात्। सम्बुध्यन्तस्य द्व्यक्षरत्वेऽपि द्विवचनोत्तरं पूर्वरूपे सत्यग्नेऽग्ने इति त्र्यक्षरत्वात्।' शिव० टीका, पृष्ठ २७ हमारा हस्तलेख; मुद्रित पृष्ठ ५६, पाण्डिचेरी संस्करण।

२. 'स्वरोऽक्षरम्, सहाद्यैर्व्यञ्जनैः, उत्तरैश्चावसितैः'। कात्या० प्राति० १।९९-१०१॥

३. वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे। अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते। 'ञमङणनम्' प्रत्याहारसूत्र (७) भाष्य।

आर्त्विजीनाः यहां ऋत्विजमर्हति आर्त्विजीनो यजमानः, ऋत्विक् कर्मार्हति आर्त्विजीनो याजकः दोनों ही अर्थ सम्भव हैं। इन अर्थों में यथाक्रम यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (५।१।७०) सूत्र तथा यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीति चोपसंख्यानम् (महा० ५।१।७०) वार्तिक से खञ् प्रत्यय होता है। यजन और याजन का अधिकार विद्वान् का ही है। याजन कर्म ब्राह्मण की जीविकारूप है। अतः हम ऋत्विक् कर्म के योग्य होवें, यह अर्थ अधिक प्रासङ्गिक प्रतीत होता है।

[भाष्यम्] चत्वारि—

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥'

ऋ० सं० ४।५८।३॥

चत्वारि शृङ्गाणि—चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः—त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे—द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य—सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः—त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्? रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्याँ आविवेशेति। महान्देवः शब्दः। मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्याः, तानाविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्॥

व्याख्या—'चत्वारि०'—इस के चार शृङ्ग (=सींग), तीन पद (=पैर), दो शिर, और सात हाथ हैं। तीन प्रकार से बंधा हुआ वृषभ बार-बार शब्द करता है। [यह वृषभरूप] महादेव मर्त्यों में प्रविष्ट है।

इस [वृषभरूप महादेव] के चार शृङ्ग—चार प्रकार के पद=नाम आख्यात उपसर्ग और निपात [शृङ्गस्थानीय] हैं। तीन पाद—तीन काल=भूत भविष्यत् और वर्तमान [पादस्थानीय] हैं [शब्दव्यवहार तीन कालों में ही प्रतिष्ठित है]। दो शिर—दो शब्दस्वरूप—नित्य (=स्फोटात्मक) और कार्य (=ध्वन्यात्मक) [शिरस्थानीय] हैं। सात हाथ—सात विभक्तियां [हस्तस्थानीय] हैं। [यह वृषभ] तीन प्रकार से बंधा हुआ—तीन स्थानों=उरः कण्ठ और शिर में बन्धा हुआ है। यह वृषभ [=कामनाओं की] वर्षा करने से [वृषभ कहाता है]। पुनः-पुनः शब्द करता है। कैसे? 'रु' धातु शब्दार्थक है। महादेव मर्त्यों में प्रविष्ट है। महान् देव शब्द है। मर्त्य मरणधर्मा मनुष्य, उनमें प्रविष्ट है। इस महान् देव के साथ साम्य (=सायुज्य) जैसे होवे, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।

विवरण—'शृङ्गा' में 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (६।१।६८) से 'शि' का लुक् होता है। छायाकार ने 'शेर्डादेशः' (=शि को डा आदेश) माना है, वह चिन्त्य है।

पाणिनीय वैयाकरणों के मत में सुबन्त और तिङन्त दो ही पद हैं। प्राचीन आचार्य चार प्रकार के पद मानते थे। नाम=सुबन्त, आख्यात=तिङन्त, उपसर्ग और निपात। यास्क ने भी ये ही चार प्रकार के पद माने हैं (नि० १।१)। पाणिनीय मतानुसार उपसर्गों का

निपातों में ही अन्तर्भाव होने से नागेश ने गोबलीवर्द न्याय से दोनों का पृथक्-पृथक् उपादान माना है। हमारे विचार में यहां गोबलीवर्द न्याय का आश्रयण चिन्त्य है। यदि पाणिनीय मतानुसार ही व्याख्या करनी है, तो उपसर्ग और निपात भी सुबन्तों के अन्तर्गत ही आते हैं। उनका पार्थक्य भी विचारणीय है। अतः उपसर्ग और निपात ये दो विभाग किसी प्राचीन सम्प्रदाय के अनुसार हैं। यहां निपातों के अन्तर्गत ही 'स्वर्' आदि अव्ययों का भी ग्रहण जानना चाहिये, अन्यथा उनका संग्रह किसी में नहीं होगा। अर्थात् जैसे पाणिनीय मत में अव्यय व्यापक संज्ञा है, निपात उस के अन्तर्गत आते हैं—**स्वरादिनिपातमव्ययम्** (१।१।३६), इसी प्रकार किसी प्राचीन व्याकरण में निपात व्यापक संज्ञा रही होगी, स्वरादि अव्यय उसके अन्तर्गत रहे होंगे।

शिक्षाकारों ने शब्द के आठ स्थान कहे हैं—उरः, कण्ठ, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु।[1] यहां केवल तीन का ही उल्लेख किया है। इसका कारण आठों स्थानों का त्रिधा उच्च मध्य नीच भेद से विभागीकरण है। शिर से यहां मूर्धा का ग्रहण है[2], जो सर्वोच्च स्थान है। कण्ठ मध्यस्थानी है, और उरः सर्वनीच। अन्य सब स्थान इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

शब्द को 'वृषभ' इसीलिये कहा है कि यह सब की कामनाओं को पूर्ण करता है। इसी के द्वारा मनुष्य का व्यवहार निष्पन्न होता है।

इसी मन्त्र के भाष्यकारीय व्याख्यान को ध्यान में रखकर भर्तृहरि ने लिखा है—

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तं वृषभं येन सायुज्यमिष्यते॥ वाक्यपदीय १।१३१॥

निरुक्त अ० १३, खण्ड ७ में इस मन्त्र का यज्ञपरक व्याख्यान किया है।

[भाष्यम्] अपर आह—

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥'

ऋ० सं० १।१६४।४५॥

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग-निपाताश्च। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते, न निमिषन्तीत्यर्थः। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तुरीयं ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते, चतुर्थमित्यर्थः॥ चत्वारि॥८॥

---

१. 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।' आपिशल शिक्षा ८।२४; पाणिनीय शिक्षा ८।२८॥

२. शिक्षावचन में भी मूर्धा के लिये 'शिरः' शब्द का प्रयोग मिलता है। द्र—पूर्व टि० १।

व्याख्या—दूसरे आचार्य कहते हैं, अर्थात् 'चत्वारि' पदनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिये अन्य मन्त्र उपस्थित करते हैं—चार वाणी के परिमित (=नपे तुले) पद हैं। उनको जो मनीषी ब्राह्मण हैं, वे जानते हैं। [उन चारों में से] तीन गुहा में निहित (=धरे हुए) इङ्गित=चेष्टित नहीं होते। वाणी के चौथे भाग को मनुष्य बोलते हैं।

चार परिमित पद—**चार प्रकार के पद नाम आख्यात उपसर्ग और निपात हैं। उन को जो मनीषी=मन का वशीकार करनेवाले ब्राह्मण [हैं, वे] जानते हैं। गुहा में स्थापित हुए तीन [भाग] चेष्टा को प्राप्त नहीं होते=निमिषित नहीं होते=अभिप्राय को प्रकट नहीं करते। यह वाणी का चौथा [भाग] है, जो मनुष्यों में वर्तमान हैं।**

विवरण—इस मन्त्र की भाष्यकारीय व्याख्या के विवरण में नागेश ने महती अप्रासङ्गिक एवं क्लिष्ट कल्पना की है। वह लिखता है—'चार पदजात—परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी और नामादि।' यहां विचारणीय है कि भाष्यकार जब स्पष्टरूप से नाम आख्यात उपसर्ग और निपातरूप चार पदों का ही ग्रहण करते हैं, तब परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीरूप भेद कहां से आ कूदे। सम्भवतः उसने वाक्यपदीय में परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीरूप भेदों का निर्देश **गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति** की संगति लगाने के लिये किया होगा। क्योंकि वाक्यपदीय आदि के मतानुसार परा पश्यन्ती मध्यमा वाक् प्रकाशित नहीं होती, केवल वैखरी का ही मनुष्य उच्चारण करते हैं।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि—से परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीरूप भेदों का ग्रहण हो सकता है, परन्तु वह मन्त्र के स्वतन्त्र व्याख्यान में युक्त होगा, जैसा कि भट्टभास्कर मित्र ने तै० सं० २।८।८ में स्वतन्त्ररूप में किया है। भाष्यकारीय व्याख्यान में उनका समावेश अप्रासङ्गिक है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद-भाष्य (१।१६४।४५) में इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार किया है—'चार=नाम आख्यात उपसर्ग निपात वाणी के नपे-तुले जानने योग्य भाग हैं। उनको मन को दमन करनेवाले ब्राह्मण=व्याकरण वेद और ईश्वर के वेत्ता जानते हैं। तीन=नाम आख्यात और उपसर्ग बुद्धि में धारित हुए चेष्टा नहीं करते (=प्रकाशित नहीं होते)। साधारण पुरुष वाणी के चतुर्थ निपात भाग का उच्चारण करते हैं।'[1]

यहां स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निपात का अर्थ वैयाकरणों का पारिभाषिक नहीं लिया। वे इसका अर्थ **निपात्यन्ते इति निपाताः**, अर्थात् **रूढाः**=प्रकृतिप्रत्यय-विभाग-शून्य अर्थ स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उनके मत में यौगिक=प्रकृति प्रत्यय के विभाग से सिद्ध नाम

१. **भाष्यम्**—(चत्वारि) नामाख्यातोपसर्गनिपाताः (वाक्) वाचः। अत्र सुपां सुलुगिति ङसो लुक् (परिमिता) परिमाणयुक्तानि (पदानि) वेदितुं योग्यानि (तानि) (विदुः) जानन्ति (ब्राह्मणाः) व्याकरणवेदेश्वरवेत्तारः (ये) (मनीषिणः) मनसो दमनशीलाः (गुहाः) गुहायां बुद्धौ (त्रीणि) नामाख्यातोपसर्गाः (निहिता) धृतानि (न) (इङ्गयन्ति) चेष्टन्ते (तुरीयम्) चतुर्थं निपातम् (वाचः) वाण्याः (मनुष्याः) साधारणाः (वदन्ति) उच्चारयन्ति। अयं मन्त्रो निरुक्ते व्याख्यातः। निरु० १३।९।४५॥

=सुप् आदि विभक्तियुक्त, आख्यात=तिङादि विभक्तियुक्त, उपसर्ग धातु के साथ जुड़ा हुआ अंश, इन तीन में प्रकृतिप्रत्ययकृत भिन्नता के कारण ये भेद बुद्धि में स्थित हैं, अर्थात् बौद्धिक हैं। अतः मनीषी ब्राह्मण वैयाकरण ही प्रकृति-प्रत्यय-संयुक्त रूप को देखते हैं। जनसाधारण तो **देवदत्त ग्रामम् उपसर्पति** आदि सिद्ध रूपों का ही प्रयोग करते हैं। अर्थात् वे प्रकृति-प्रत्यय-विभाग-कल्पना पुरस्सर शब्दों का प्रयोग नहीं करते। रूढ शब्द का अर्थ है—अर्थविशेष में प्रयुज्यमान वर्णानुपूर्वी-विशिष्ट शब्द। निपात शब्द का रूढ अर्थ में प्रयोग स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वीय उणादि वृत्ति में बहुत्र किया है। यथा—

खष्पादयः पप्रत्ययान्ता निपाताः ।३।२८॥

शुकादयः कप्रत्ययान्ता निपाताः ।३।४२॥

यहां **निपाताः** का अर्थ **रूढाः** ही है। इस निपात शब्द में, कर्म में घञ् प्रत्यय है। **निपात्यन्ते** अर्थ भी कर सकते हैं। निपातन रूढ शब्दों का ही होता है, यौगिकों का नहीं। यह वैयाकरण प्रसिद्ध तत्त्व है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त मन्त्र के भाष्यान्तर्गत उक्त तत्त्व को भावार्थ में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'विद्वान् और अविद्वानों में इतना ही भेद है—जो विद्वान् हैं, वे नाम आख्यात उपसर्ग और निपातरूप चारों को जानते हैं। उनमें से तीन ज्ञान में रहते हैं, चतुर्थ सिद्ध शब्दसमूह को प्रसिद्ध व्यवहार में बोलते हैं। और जो अविद्वान् हैं, वे नाम आख्यात उपसर्ग निपातों को नहीं जानते, किन्तु निपातरूप साधनज्ञान-रहित सिद्ध शब्द का प्रयोग करते हैं।'[1]

यह मन्त्र निरुक्त १३।९ में व्याख्यात है। वहां चतुर्विध पदों के सम्बन्ध में वैयाकरण-मत के साथ अन्य मत भी दिये हैं। यथा ओंकार और भूः भुवः स्वः तीन महाव्याहृतियां यह ऋषियों का, मन्त्र कल्प ब्राह्मण और व्यावहारिकी वाक् यह याज्ञिकों का, ऋक् यजुः साम और व्यावहारिकी वाक् यह नैरुक्तों का, सर्पों पक्षियों क्षुद्र सरीसृपों की वाक् और व्यावहारिकी यह अन्य आचार्यों का मत है।

[भाष्यम्] उत त्वः—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

ऋ० सं० १०।७१।४॥

उत त्वः, अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । अपि खल्वेकः

---

१. **भावार्थः**—विदुषामविदुषां चेयानेव भेदोऽस्ति—ये विद्वांसः सन्ति, ते नामाख्यातोपसर्गनिपातांश्चतुरो जानन्ति। तेषां त्रीणि ज्ञानस्थानि सन्ति, चतुर्थं सिद्धं शब्दसमूहं प्रसिद्धे व्यवहारे वदन्ति। ये चाऽविद्वांसस्ते नामाख्यातोपसर्गनिपातान्न जानन्ति, किन्तु निपातरूपं साधनज्ञानरहितं सिद्धं शब्दं प्रयुञ्जते ॥

शृण्वन्नपि न शृणोत्येनामिति । अविद्वांसमाहार्धम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासाः । तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते, एवं वाग्वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते । वाङ् नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम् ॥ उत त्वः ॥६॥

व्याख्या—'उत त्वः'—और एक वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, और एक इस को सुनता हुआ भी नहीं सुनता । और एक के लिये [यह वाणी अपने] तनू=स्वरूप को खोल देती है, जैसे [पति की] कामना करनेहारी सुन्दर वस्त्रोंवाली जाया (=पत्नी) पति के लिये [अपने शरीर को उद्‌घाटित कर देती है] ।

और एक निश्चय से वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता । और निश्चय से एक इसको सुनता हुआ भी नहीं सुनता । [ऋचा का] आधा अविद्वान् को कहता है । और एक के लिये तनू=स्वरूप को खोल देती है । जैसे [पति की] कामना करती हुई सुन्दर वस्त्रधारिणी जाया [ऋतुकाल में] अपने शरीर को खोल देती है, इसी प्रकार वाणी वाग्विद् के लिये अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है । वाणी हमारे लिये अपने स्वरूप को प्रकट कर देवे, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

विवरण—इस ऋचा के पूर्वार्ध से अर्थ न जाननेवाले की निन्दा, और उत्तरार्ध से अर्थ जाननेवाले की प्रशंसा की है । इस ऋचा के पूर्वार्ध में वाणी के दो स्वरूपों का निर्देश है । एक को देखता हुआ नहीं देखता, दूसरे को सुनता हुआ नहीं सुनता । वाणी का दर्शनीय आंखों से उपलब्धव्य रूप लिप्यात्मक है, और कानों से श्रोतव्य रूप ध्वन्यात्मक है । 'वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता' का अभिप्राय लिपिज्ञान-विरहित पुरुष आंखों से रेखाओं को देखता तो है, परन्तु उन संकेतों से प्रकाशित होनेवाली शब्दात्मक वाणी को जानने में असमर्थ होता है । इससे स्पष्ट है कि लिपिविद्या का मूल भी वेद में निहित है । जो पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी कतिपय भारतीय विद्वान् 'आर्यों ने लिपिज्ञान विदेशियों से प्राप्त किया' ऐसा मानते हैं, और वेद को पुरुषकृत मानते हैं, उन्हें यह मन्त्र स्पष्ट बता रहा है ऋग्वेद के काल में आर्यों को लिपिज्ञान था । वेद का 'श्रुति' नाम लिपिज्ञान के अभाव का बोधक (जैसा पाश्चात्य मानते हैं) नहीं है, अपितु इसका कारण है वेद का अध्ययन आज तक गुरुमुख से श्रवणपूर्वक ही किया जाना । पुस्तक से वेदाध्ययन करने से मन्त्रों का यथावत् सस्वर शुद्ध उच्चारण कभी सम्भव ही नहीं है । गुरुमुख से अध्ययन की परम्परा का ही यह फल है कि ऋग्वेद जैसे बृहत्तम ग्रन्थ में आज तक एक भी पाठान्तर उत्पन्न नहीं हुआ । जिस वेद का गुरु-परम्परा से अध्ययन विच्छिन्न हो गया, उसमें पचासों पाठभेद मिलते हैं, यथा अथर्ववेद ।

यह मन्त्र निरुक्त १।१८ में भी अर्थज्ञ की प्रशंसा और अनर्थज्ञ की निन्दा के रूप में ही व्याख्यात है ।

[भाष्यम्] सक्तुमिव—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

ऋ० सं० १०।७१।२॥

[भाष्यम्] सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद् विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति, ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते सायुज्यानि जानते। क्व? य एष दुर्गो मार्गः, एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते? वैयाकरणाः। कुत एतद्? भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात्परिवृढा भवति॥ सक्तुमिव॥१०॥

व्याख्या—'सक्तुमिव'—चलनी से चालते हुए सत्तु के समान जहां धीर मन से वाणी उत्पन्न करते हैं। यहां सखा सखापन को जानते हैं। इन की वाणी में भद्रा (=कल्याणी) लक्ष्मी निहित होती है।

सक्तुः—'षच समवाये[1]' (धातु० १।७२३) से निष्पन्न होता है। उसमें तुष समवेत=मिले हुए होते हैं। इसी कारण वह दुर्धाव होता है, कठिनाई से शोधने योग्य होता है। अथवा 'कस विकसने' के आद्यन्त-विपर्यय=सक् रूप से 'सक्तु' शब्द निष्पन्न होता है। यह [भूंजने से] विकसित होता है=खिलता है। तितउ परिपवन=चलनी का नाम है, वह ['तनू विस्तारे' से निष्पन्न होने से] ततवत्=फैलाववाली होती है, अथवा ['तुद व्यथने' से निष्पन्न होने से] तुन्नवत्=छिद्रोंवाली होती है। [जैसे चलनी से सत्तु को चालकर अव्यवहरणीय तुषों को पृथक् कर देते हैं, वैसे ही] धीर ध्यानवान् प्रज्ञान से वाणी को [अपशब्दों से रहित] करते हैं। यहां (=वाणी के विषय में) मित्र होते हुए मित्रपन को जानते हैं। [यहां] कहां? जो यह कठिनाई से जाने योग्य मार्ग, एक से (=किसी ज्ञानी से ही) प्राप्त करने योग्य वाणी का विषय है। वे कौन हैं [जो सखापन को जानते हैं]? वैयाकरण। यह कैसे? इन की वाणी में भद्रा (=कल्याणकारिणी) लक्ष्मी निहित होती है। लक्ष्मी लक्षण से, दर्शाने से अथवा प्रकाशित होने से बढ़ी हुई होती है।

विवरण—कैयट ने षच् सेचने से 'सक्तु' बनाया है। वह पानी आदि से सिक्त होता है। रूप सम्भव होने पर भी भाष्यकार को सेचनार्थक धातु अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि उन्होंने सक्तु को 'दुर्धाव' कहा है। अतः यहां षच समवाये धातु से ही 'सक्तु' की निष्पत्ति जाननी चाहिये। 'तितउ' में तनोतेर्डउः सन्वच्च (उणादि ५।५२) से 'तनु विस्तारे' से 'डउ' प्रत्यय होता है। 'अक्रत' में मन्त्रे घसह्वर० (२।४।८०) से च्लि का लुक् होता है।

यास्क ने इस मन्त्र का व्याख्यान निरुक्त ४।११ में लगभग ऐसा ही किया है।

[भाष्यम्] सारस्वतीम्—याज्ञिकाः पठन्ति—"आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्" इति। प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ सारस्वतीम्॥११॥

---

१. अन्य व्याख्याकारों ने 'सच सेचने सेवने च' (१।९७) से बनाया है। सत्तु में पानी मिलाया जाता है और सेवनीय भी होता है।

व्याख्या—'सारस्वतीम्'—याज्ञिक पढ़ते हैं—'आहिताग्नि (=जिसने अग्नि का आधान किया है, वह) अपशब्द का प्रयोग करके प्रायश्चित्तविषयक सरस्वती-देवतावाली इष्टि को करे।' हम प्रायश्चित्तीय न होवें, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।

विवरण—'आहिताग्नि अपशब्द का प्रयोग करके प्रायश्चित्तीय इष्टि करे' का तात्पर्य केवल ऋतुगत अपशब्द प्रयोग से है, ऋतुकालातिरिक्त अपशब्द प्रयोग से नहीं है (द्र०—'छाया' ग्रन्थ)। **प्रायश्चित्तीयाम्**—कैयट यहां भवार्थ में **वृद्धाच्छः** (४।२।११३) से छ प्रत्यय मानता है। नागेश ने इसका अभिप्राय 'प्रायश्चित्त का साधन होना ही उसमें होना है' लिखा है, यह चिन्त्य है। यदि भवार्थ में 'छ' प्रत्यय करना ही है, तो 'प्रायश्चित्तप्रकरणे भवा, ताम्' व्याख्यान करना उचित होगा। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **तस्येदम्** (४।३।१२०) से छ प्रत्यय कहा है, वह अधिक युक्त है। यहां **तस्मै हितम्** (५।१।५) से 'प्रायश्चित्त के लिये हितकारी' अर्थ में छ प्रत्यय मानना उचित होगा। **प्रायश्चित्तीयाः**—यहां कैयट ने **तस्मै हितम्** (५।१।५) से छ प्रत्यय कहा है, और प्रायश्चित्त कर्म के लिए हितकारी='उसके उत्पादन के उत्पादक' अर्थ किया है। यह क्लिष्ट कल्पना है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने यहां भी **तस्येदम्** (४।३।१२०) से छ प्रत्यय किया है। अर्थ होगा—प्रायश्चित्त के कर्त्ता।

निर्वपेत् का अर्थ निर्वाप करना=देवता के उद्देश्य से चार मुट्ठी व्रीहि वा यव को अग्निहोत्रहवणी[1] पात्र में डालना है। निर्वाप कर्म प्रत्येक इष्टि के आरम्भ में इष्टिगत देवता को उद्देश्य करके किया जाता है। यहां विधिवाक्य में केवल निर्वाप का विधान है, इष्टि का विधान नहीं है, अतः ऐसे स्थानों में देवता के उद्देश्य से किया गया द्रव्य-निर्वाप (उस का यज्ञ में प्रयोग न होने से) अनर्थक न होवे, इसलिये **निर्वपेत्** पद लक्षणा से **यजेत्** क्रिया का बोधक होता है।

[भाष्यम्] दशम्यां पुत्रस्य—याज्ञिकाः पठन्ति—"दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्। तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम्" इति। न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्॥ दशम्यां पुत्रस्य॥१२॥

व्याख्या—'दशम्यां पुत्रस्य'—याज्ञिक पढ़ते हैं—'दशमी [रात्रि] के पश्चात् उत्पन्न हुए पुत्र का नाम करे (=रखे), आदि में घोष अक्षरवाला, मध्य में अन्तःस्थ अक्षरोंवाला, अवृद्ध=आदि में आ ऐ औ[2] अक्षर से रहित, त्रिपुरुषानूक=तीन पुरुषों (=पिता पितामह प्रपितामह) को कहने वाला (अर्थात् उन में से कोई), और शत्रु में अप्रवृत्त। ऐसा नाम ही अति प्रतिष्ठित होता है। दो अक्षरोंवाला अथवा चार अक्षरोंवाला कृदन्त नाम करे, तद्धितान्त न करे।' विना व्याकरण पढ़े कृदन्त वा तद्धितान्तों का बोध नहीं हो सकता [इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।]

विवरण—'दशम्याम्' में औपश्लेषिक अधिकरण में सप्तमी है। जैसे,—**वटे शेरते गावः**=गौवें वट के समीप सोती हैं, **कूपे गर्गकुलम्**=कुएं के समीप गर्गों का कुल है, इसी प्रकार

१. कात्यायन श्रौतानुसार। २. वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् १।१।७२॥

यहां अर्थ होगा—दशमी रात्रि के समीप, अर्थात् ग्यारहवें दिन प्रातःकाल। **दशम्युत्तरकालम्**—'दशम्या उत्तरम्' पञ्चमी योगविभाग से पञ्चमी-समास, पश्चात् काल शब्द के साथ 'दशम्युत्तरं कालं यस्य' बहुव्रीहि समास। यह क्रियाविशेषण है। **घोषवत्**—पाणिनीय शिक्षा के चौथे 'बाह्य प्रयत्न' नामक प्रकरण में पांचों वर्गों से तृतीय चतुर्थ पञ्चम अन्तःस्थ हकार वर्णों का (=हश् प्रत्याहारान्तर्गतों का) घोष प्रयत्न कहा है। इनमें से कोई वर्ण आदि में होना चाहिये। **अवृद्धम्**—पाणिनीय 'वृद्ध' संज्ञा के अनुसार ऊपर अर्थ किया है। पर हमें इस अर्थ में सन्देह है। प्राचीन आचार्यों के मत में **अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम्** लक्षणानुसार पौत्रप्रभृति=गोत्र की वृद्ध संज्ञा कही है। इसके अनुसार अर्थ होगा—गोत्रसंज्ञक नाम न रखे। यद्यपि इसका 'अतद्धितम्' में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः यह अर्थ भी विचारणीय है। मूल स्थान उक्त वचन का अज्ञात है। **त्रिपुरुषानूकम्**—'त्रीन् पुरुषान् अनुकायति अभिधत्ते' तीन पुरुष नाम रखनेवाले व्यक्ति के पिता पितामह प्रपितामह अभिप्रेत हैं। दक्षिण देश में पौत्र और पितामह का समान नाम देखा जाता है। इस लोकव्यवहार से भी यही अर्थ परिपुष्ट होता है। 'अनूक' में **अन्येषामपि दृश्यते**(६।३।१३६) से दीर्घत्व होता है। **अनरि प्रतिष्ठितम्**—इसीलिये रावण कंस हिरण्यकश्यप आदि नाम आर्यों में उपलब्ध नहीं होते। **न तद्धितम्**—भव आदि अर्थवाले तद्धितप्रत्ययान्त शब्द यथावत् व्यक्ति के साथ सम्बद्ध नहीं होते। अपत्यार्थक नाम रखने से अन्य का पितृत्व द्योतित होता है। जैसे कोई देवदत्त अपने पुत्र का नाम गार्ग्य अथवा याज्ञवल्क्य रख दे, तो इन नामों से उसके पिता का अयथार्थ नाम गर्ग अथवा यज्ञवल्क बोधित होगा।

[भाष्यम्] सुदेवो असि—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥

ऋ० सं० ८।६९।१२॥

सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि। यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः, अनुक्षरन्ति काकुदम्। काकुदं तालु, काकुर्जिह्वा, साऽस्मिन्नुद्यत इति काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिव। तद्यथा शोभनामूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति, एवं ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः। सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्॥ सुदेवो असि॥१३॥

व्याख्या—'सुदेवो असि'—हे वरुण! तुम सुदेव हो। जिस आपके काकुद के प्रति सात सिन्धु अनुक्षरित=प्रकाशित होते हैं, जैसे सुषिरा सूर्मि को अग्नि।

हे वरुण! तुम सुदेव हो, सत्यदेव हो। जिस आपके काकुद=तालु के प्रति सात सिन्धु=सात विभक्तियां अनुक्षरित होती हैं=प्रकाशित होती हैं। काकुद=तालु, काकु नाम जिह्वा का है, वह इस में उत्क्षिप्त होती है, ऊपर उठती है। जैसे कि सच्छिद्र शोभना अयः प्रतिमा के भीतर अग्नि प्रविष्ट होकर मलादि को जला देता है, इसी प्रकार आपकी सातों

विभक्तियां तालु (स्थानमात्र का उपलक्षण) को प्राप्त होकर प्रकाशित होती हैं। इससे तुम सत्यदेव हो। हम भी सत्यदेव बनें, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।

विवरण—काकुदं ताल्वनुक्षरन्ति—यहां प्रकाशन अर्थ अभिप्रेत है। उद्यते—यहां अनेकार्थ होने से उत्क्षेपण अर्थ है।

[भाष्यम्] किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमन्वाख्यायते, न पुनरन्यदपि किंचित् ओमित्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्येवमादीन् शब्दान्पठन्ति ?

पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति—'वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणम्' इति। तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद् भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे—इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणमिति ॥

व्याख्या—क्या यह व्याकरण को ही जानने की इच्छा करनेवालों के लिये प्रयोजन का कथन किया जा रहा है, जो अन्य भी कुछ 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके वृत्तान्तशः= प्रपाठकशः [=प्रपाठक-प्रपाठक] 'शम्' इत्यादि शब्दों को पढ़ते हैं, उनके प्रति नहीं ?

पुराकल्प में यह [अध्ययनक्रम] था—[उपनयन] संस्कार के उत्तरकाल में ब्राह्मण व्याकरण को पढ़ा करते थे। उन [व्याकरण पढ़े हुओं], उन-उन शब्दों के स्थान करण अनुप्रदान [आदि] जाननेवालों को वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था। वह [अध्ययनक्रम] आजकल वैसा नहीं है। [आजकल के धनोपार्जन वा भोगोपभोग में] त्वरा चाहनेवाले वेद पढ़ कर कहने लगते हैं—'हमें वेद से वैदिक शब्द सिद्ध (=ज्ञात) हैं, और लोक से लौकिक। व्याकरण अनर्थक है'। उन ऐसे नष्टबुद्धिवाले (अथवा उलटी बुद्धिवाले) अध्येताओं के लिये सुहृत् होकर आचार्य इस शास्त्र का अन्वाख्यान करते हैं—[इस के अध्ययन के] ये प्रयोजन हैं, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।

विवरण—महाभाष्य १।२।३२ में व्याकरण को उत्तरा विद्या कहा है—**'व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या'**। इस पर कैयट ने लिखा है—**पुराकल्पे पूर्वा अद्यत्वे तूत्तरा**। वस्तुतः यह चिन्त्य है। महाभाष्य १।२।३२ में छन्दःशास्त्र की अपेक्षा व्याकरण को उत्तरा विद्या कहा है। छन्दःशास्त्र से वहां क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है। तथापि उसमें वर्णों के स्थान करण अनुप्रदान आदि का वर्णन होता था, यह स्पष्ट है। इस दृष्टि से नागेश का **प्रातिशाख्यशिक्षादिषु** निर्देश वास्तविकता के समीप है। हमारे विचार में शिक्षासूत्रों का निर्देश मानना अधिक युक्त है। व्याकरण पढ़ने से पूर्व स्थान करण प्रयत्नादि के परिज्ञान के लिये शिक्षा-वेदाङ्ग का पढ़ना आवश्यक है।

स्थान करण अनुप्रदान—वर्णों के स्थान करण और अनुप्रदान का वर्णन पाणिनीय वा

आपिशल शिक्षा के प्रथम द्वितीय और चतुर्थ प्रकरण में किया गया है। नागेश भट्ट शिक्षा में उक्त **'येन निर्वृत्यन्ते तत्करणम्'** (७।४) रूप करण, जिसका निर्देश द्वितीय प्रकरण में किया है, का ग्रहण न करके करण से आभ्यन्तर प्रयत्न का निर्देश मानता है (यहां तथा १।२।३२ के भाष्य में)। अनुप्रदान बाह्यप्रयत्न है, अतः उसके साहचर्य से करण शब्द से आभ्यन्तर प्रयत्नों का ग्रहण भी सम्भव है। अनुप्रदान के स्थान में कहीं-कहीं **नादानुप्रदान** पाठ मिलता है, वह ठीक नहीं। अनुप्रदान श्वासानुप्रदान और नादानुप्रदान भेद से दो प्रकार का है। केवल अनुप्रदान शब्द के पाठ से दोनों का ग्रहण सम्भव हो जायेगा। महाभाष्य १।२।३३—**'कानि पुनस्तानि ? स्थानकरणानुप्रदानानि'** पाठ में भी 'नाद' का निर्देश नहीं है।

[भाष्यम्] उक्तः शब्दः। स्वरूपमप्युक्तम्। प्रयोजनान्यप्युक्तानि। शब्दानुशासनमिदानीं कर्तव्यम्। तत्कथं कर्तव्यम्? किं शब्दोपदेशः कर्तव्यः, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति?

व्याख्या—शब्द [लौकिक वैदिक भेद से दो प्रकार का है, यह] कह दिया। [उसका] स्वरूप भी कह दिया। [शब्दानुशासन के] प्रयोजन भी कह दिये। अब शब्द का अनुशासन करना चाहिये। उसे कैसे करना चाहिये? क्या शब्दों का उपदेश करना चाहिये, अथवा अपशब्दों का उपदेश करना चाहिये, अथवा दोनों (=शब्दों और अपशब्दों) का उपदेश करना चाहिये?

विवरण—कौन से शब्द उपादेय हैं, कौन से अपशब्द हेय हैं, इन की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये उभयोपदेश की प्राप्ति होती है।

[भाष्यम्] अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्युक्ते गम्यत एतद्—'अतोऽन्येऽभक्ष्याः' इति। अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः' इत्युक्ते गम्यत एतद्—'आरण्यो भक्ष्यः' इति। एवमिहापि यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद्—'गाव्यादयोऽपशब्दाः' इति। अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्—'गौरित्येष शब्दः' इति॥

व्याख्या—[शब्द और अपशब्द दोनों में से] अन्यतर के उपदेश से [शब्दों का अनुशासनरूप] काम चल जायेगा। जैसे कि भक्ष्य के नियम से अभक्ष्य का प्रतिषेध जाना जाता है। 'पांच नखोंवाले पांच [प्राणी] भक्ष्य हैं' ऐसा कहने पर जाना जाता है—'इनसे भिन्न अभक्ष्य हैं'। अथवा अभक्ष्य के प्रतिषेध से भक्ष्य का नियम होता है। जैसे कि 'ग्राम में उत्पन्न कुक्कुट अभक्ष्य है, ग्राम में उत्पन्न सूअर अभक्ष्य है' ऐसा कहने पर जाना जाता है—'अरण्योत्पन्न [कुक्कुट और सूअर] भक्ष्य हैं'। इसी प्रकार यहां भी यदि शब्दों का उपदेश किया जाता है, 'गौ' इसके उपदेश करने पर यह जाना जाता है—'गावी आदि अपशब्द हैं'। और यदि

अपशब्दों का उपदेश किया जाता है, 'गावी' आदि [अपशब्दों] के उपदेश करने पर यह जाना जाता है—'गौ यह शब्द है'।

विवरण—शब्द और अपशब्द दोनों के उपदेश से यद्यपि शब्दों और अपशब्दों का ज्ञान स्पष्टरूप से होता है, तथापि उपदेश में गौरव प्राप्त होता है। **अन्यतर अन्यतम** शब्द अव्युत्पन्न हैं, ये स्वभावतः द्वि और बहुविषयक निर्धारण में व्यवहृत होते हैं।

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह अपूर्वविधि नहीं है, अर्थात् 'पांच पञ्चनख खाओ' ऐसा विधान नहीं करता, अपितु जो जिह्वालोलुप राग से मांसाहार में प्रवृत्त होते हैं, उनको नियमित करता है कि 'पांच नखोंवाले प्राणियों में पांच ही खाने योग्य हैं, अन्य नहीं'। इसी प्रकार **'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः', 'अभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः'** वचन भी नियामकमात्र हैं, विधायक नहीं। जैसे चिकित्साशास्त्र ने मांसाहारी रोगियों के लिये पथ्य अपथ्य में मांसविशेष का भी विधान किया है, वैसा ही धर्मशास्त्रकारों ने मांसाहारियों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने के लिये ये वचन पढ़े हैं। यदि ये वचन मांसभक्षण के विधायक हों, तो श्रुति-स्मृति से साक्षात् विरुद्ध होंगे। वेद और धर्मशास्त्रों के अनुसार मांसभक्षण सर्वथा वर्ज्य है। यद्यपि मीमांसकों के यहां नियम और परिसंख्या[1] में भेद होता है, तथापि यहां नियमशब्द से परिसंख्या अर्थ ही जानना चाहिये। मीमांसकों के विधि नियम और परिसंख्या के लक्षण इस प्रकार हैं—

विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति कीर्त्यते॥ तन्त्रवार्तिक १।३।३४(४२)॥

अत्यन्त अविदित अर्थ का कथन विधि अथवा अपूर्वविधि कहाती है। जैसे **'स्वर्गकामो यजेत'** स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करे। यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह अर्थ किसी प्रकार भी विदित नहीं है। व्रीहि (=धान) के छिलके हटाने की कई क्रियाएं हैं—(१) ऊखल में कूटना, (२) नखों से छीलना, (३) पत्थर आदि से मसलना। ये सब लोकविज्ञात विधियां विकल्प से प्राप्त होती हैं। अतः **व्रीहीन् अवहन्ति** वचन नियमविधि है। अवहनन से ही तुष-विमोक करना चाहिये, अन्य प्रकार से नहीं। जो अपूर्वविधान तो कुछ नहीं करती (जिसके न करने से प्रत्यवाय होवे), पर एक ही समय में सम्भव पूर्वतःविदित दो वा अधिक क्रियाओं में से एक का नियम करती हो, वह विधि परिसंख्या (=उक्त से अन्य का वर्जन करना) विधि कहाती है। यथा—**पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** यहां भक्षण का विधान नहीं है। रागतः इसमें प्रवृत्ति होने से शशक आदि का भक्षण पूर्वतः प्राप्त है। जिह्वालोलुप जिह्वा के रस के लिये शशक आदि में से कोई सा प्राणी, अथवा इससे भिन्न मनुष्य आदि प्राणी को खा सकता है। अतः **पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** विधि पांच पञ्चनखों से भिन्न भक्ष्य नहीं है, इस अर्थ को कहता है। परिसंख्या में मीमांसकों ने तीन दोष कहे हैं—**स्वार्थत्याग, परार्थकल्पना, प्राप्तबाध**। ये ही तीन तो **'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'** का परिसंख्यारूप नियम मानने में उपस्थित होते हैं। यथा—'पांच पञ्चनखों का जो भक्ष्यत्व' रूप अर्थ प्रतीत होता है, उसको छोड़ना पड़ता है। 'अन्ये अभक्ष्याः' रूप अन्यार्थ (जो किसी पद से बोधित नहीं है) की कल्पना करनी पड़ती है।

---

१. द्र०—इसी ग्रन्थ का पृष्ठ २६६, टि० १।

और रागात् पञ्चनख से भक्ष्यरूपेण प्राप्तों का बाध करना होता है। फिर भी कतिपय स्थानों में जहां अन्य कोई गति नहीं होती, मीमांसक परिसंख्या को भी स्वीकार करते हैं।

[भाष्यम्] किं पुनरत्र ज्यायः ? लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। लघीयाञ्शब्दोपदेशः, गरीयानपशब्दोपदेशः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गोरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति ॥

व्याख्या—इस (=शब्दोपदेश और अपशब्दोपदेश) में कौन प्रशस्य है ? लघु होने से शब्दोपदेश [ज्यायान् है]। शब्दों का उपदेश दोनों में लघु है, अपशब्दोपदेश गरीय है। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं। जैसे कि 'गौ' इस एक शब्द के गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश हैं। [शब्दोपदेश करने से लाघव होते हुए] इष्ट [शब्दों] का अन्वाख्यान भी तो होता है।

विवरण—**'लघीयान्'** शब्द-अपशब्द दोनों के उपदेश की अपेक्षा अन्यतर (=शब्द वा अपशब्द) का उपदेश लघु है। इन दोनों के उपदेश में लाघव होने पर भी शब्दोपदेश लघु है। अतः यहां शब्दोपदेश को लघीयान् कहा है। **'इष्टान्वाख्यानम्'**—व्याख्याकारों ने साधु शब्द के प्रयोग को इष्ट=धर्मजनक मानकर इष्टान्वाख्यान माना है। हमारे विचार में 'साधु शब्दों का जानना ही इष्ट है। अतः शब्दों के उपदेश से उन्हीं इष्ट प्रयोगों का अन्वाख्यान होता है।

[भाष्यम्] अथैतस्मिञ्शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः?

नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते—'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम।' बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे ? यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति। तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः ॥

व्याख्या—इस शब्दोपदेश [का निश्चय] होने पर क्या शब्दों की प्रतिपत्ति (=ज्ञान) में [साधनभूत] प्रतिपदपाठ करना चाहिये—गौः अश्वः पुरुषः हस्ती शकुनिः मृगः ब्राह्मणः आदि इस प्रकार शब्द पढ़ने चाहिएं ?

नहीं। यह प्रतिपदपाठ शब्दों के ज्ञान में उपाय नहीं है। ऐसा सुना जाता है—'बृहस्पति ने इन्द्र के लिये दिव्य सहस्र वर्ष तक प्रतिपदोक्त शब्दों का शब्दपारायण कहा, परन्तु अन्त नहीं पाया।' बृहस्पति प्रवक्ता इन्द्र अध्येता, और दिव्य वर्षसहस्र अध्ययनकाल,

फिर भी अन्त नहीं पाया। फिर आजकल तो क्या [अन्त पाया जा सकता है] ? जो सब प्रकार से चिरजीवी होता है, सौ वर्ष जीता है। विद्या चार प्रकार से उपयुक्त होती है— आगमकाल (=अध्ययनकाल) से, स्वाध्यायकाल (=अभ्यासकाल) से, प्रवचनकाल (=अध्यापन-उपदेशकाल) से, और व्यवहारकाल(=लोकव्यवहार अथवा शास्त्रीय व्यवहार यज्ञादि काल) से। इन में से [सौ वर्ष की] सारी आयु आगमकाल में ही उपयुक्त हो जाये, अर्थात् पढ़ने में ही बीत जाये। इसलिये यह प्रतिपदपाठ शब्दों के परिज्ञान में उपाय नहीं है।

विवरण—'**बृहस्पतिरिन्द्राय०**' इत्यादि अर्थवाद-वाक्य है। इसका तात्पर्य 'प्रतिपदपाठ द्वारा चिरकाल में भी शब्दों का उपदेश नहीं हो सकता' में है। **दिव्य वर्ष**—छः मास का उत्तरायण देवों का दिन, ६ मास का दक्षिणायन देवों की रात्रि मानी जाती है। ऐसे ३० दिनों (=३० मानव वर्षों का) एक देवमास, ऐसे १२ देवमासों (=३६० मानव वर्षों) का एक दिव्य वर्ष होता है।

अद्यत्वे—चरक विमान स्थान अ० ८, खं० १२१ में लिखा है—'**वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले**'। अर्थात् इस काल में=चरक द्वारा शास्त्र के प्रवचनकाल में मानव आयु का औसत परिमाण १०० है। चरक यह वैशम्पायन मुनि की आख्या है, यह काशिका ४।३। १०४ में लिखा है[१]। अतः स्पष्ट है कि महाभाष्यकार भारत युद्ध के १००० वर्ष से अधिक परवर्ती नहीं हो सकते। इस विषय की सप्रमाण विवेचना के लिये हमारा 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास भाग १' में महाभाष्यकार पतञ्जलि नामक अध्याय देखें।

शब्दपारायणम्—भर्तृहरि ने 'शब्दपारायण' को शास्त्रविशेष में रूढ़ माना है। शब्द पारायण का क्या प्रकार रहा होगा, इस की कल्पना सम्प्रति उपयुज्यमान उन शब्दरूपावली और धातुरूपावली से कर सकते हैं, जिनमें एक 'राम' शब्द अथवा एक 'भू' धातु के रूप लिख कर नीचे तत्सदृश रूपवाले कतिपय शब्द वा धातुएं निर्दिष्ट होती हैं। अर्थात् 'शब्दपारायण' में रूपों की समानता के आधार पर शब्दों का वर्गीकरण करके उपदेश किया जाता था। और उस वर्गीकरण के आरम्भ का जो शब्द होता था वह उनकी संज्ञा=ग्राहक होता था। ऐसी कतिपय संज्ञाएं पाणिनीय व्याकरण और कातन्त्र में उपलब्ध होती हैं। जैसे ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की 'अग्नि' संज्ञा, और दीर्घ आकारान्तों की 'श्रद्धा' संज्ञा कातन्त्र में, तथा दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग की नदी[२] संज्ञा (कातन्त्र २।१।६; अष्टा० १।४।३)।

---

१. वैशम्पायन की 'चरक' आख्या क्यों प्रसिद्ध हुई, इसके लिये हमारा "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" शीर्षक लेख 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' में देखना चाहिये।

२. पाणिनीय शास्त्र में एकाक्षर से बड़ी जितनी संज्ञाएं हैं, वे सब अन्वर्थ हैं। परन्तु 'नदी' महती संज्ञा की अन्वर्थता कुछ ज्ञात नहीं होती। इसकी कातन्त्रोपदिष्ट (२।१।८-१०) अग्नि श्रद्धा और नदी संज्ञा के साथ तुलना करने पर यह भी प्राचीन आचार्यों की संज्ञा है, ऐसा मानना चाहिये।

ओकारान्त की गो[1] संज्ञा का निर्देश न कातन्त्र में है, और न अष्टाध्यायी में। तथापि इसका व्यवहार **गोतो णित्** (अष्टा० ७।१।६०) सूत्र में देखा जाता है।

[भाष्यम्] कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ? किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्त्तव्यः, कश्चिदपवादः। कथंजातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्त्तव्यः, कथंजातीयकोऽपवादः ? सामान्येनोत्सर्गः कर्त्तव्यः। तद्यथा—"कर्मण्यण्" (३।२।१)। तस्य विशेषेणापवादः। तद्यथा—"आतोऽनुपसर्गे कः" (३।२।३)॥

व्याख्या—तो फिर कैसे इन शब्दों का ज्ञान करना चाहिये ? कुछ सामान्य और विशेष जिसमें है, ऐसे लक्षण को प्रवृत्त करना चाहिये। जिस से अल्प यत्न से बड़े से बड़े शब्दसमूहों को जान लेवें। वह क्या है ? उत्सर्ग और अपवाद। कोई उत्सर्ग लक्षण करना चाहिये, कोई अपवाद। तो फिर किस प्रकार का उत्सर्ग करना चाहिये, और किस प्रकार का अपवाद ? सामान्य से उत्सर्ग करना चाहिये। जैसे—कर्मण्यण्** (=कर्म उपपद होने पर धातुमात्र से अण् प्रत्यय होता है—कुम्भकारः, नगरकारः)। उसका विशेष से अपवाद करना चाहिये। जैसे—**आतोऽनुपसर्गे कः** (=अनुपसर्ग कर्म उपपद होने पर आकारान्त धातु से क प्रत्यय होता है—गोदः, कम्बलदः)। [यहां पूर्व सूत्र कर्म उपपद होने पर सामान्यरूप से धातुमात्र से अण् का विधान करता है। द्वितीय सूत्र उसी विषय में आकारान्त धातुओं से क प्रत्यय का विधान करता है।]**

विवरण—सामान्यधर्म जिसमें है वह सामान्यवत् लक्षण, विशेषधर्म जिसमें है वह विशेषवत् लक्षण कहाता है। नागेश 'लक्षण' का अर्थ शास्त्र करता है। तदनुसार अर्थ होगा—सामान्य और विशेष सूत्रों द्वारा शास्त्ररचना करनी चाहिए।

[भाष्यम्] किं पुनराकृतिः पदार्थः, आहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह। कथं ज्ञायते ? उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा—"जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" (१।२।५८) इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा —"सरूपाणाम्" (१।२।६४) इत्येकशेष आरभ्यते॥

व्याख्या—क्या आकृति पदार्थ है, अथवा द्रव्य ? दोनों ही, ऐसा कहा है। कैसे जाना जाता है [दोनों पदार्थ हैं] ? दोनों प्रकार के आचार्य ने सूत्र पढ़े हैं। आकृति को पदार्थ मानकर—जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्** (१।२।५८=जाति का कथन होने पर एक में बहुवचन विकल्प से होता है) यह बहुवचन कहा जाता है। और द्रव्य को**

---

१. 'गोतो णित्'(अ० ७।१।६०)सूत्र में तसिल् प्रत्ययान्त गो शब्द का प्रयोग किया है। 'गो' शब्द से पञ्चमी का रूप 'गोः' रखने से लाघव होता है, और प्रयोगशैली में समानता रहती है। अथवा 'औतोम्शसोः' (६।१।६०) के समान 'ओतः' प्रयोग करना चाहिये। ऐसा न करके पाणिनि ने जो 'गोतः' प्रयोग किया है। वह 'गो' संज्ञा का बोधक है, ऐसा जानना चाहिये। इससे 'द्यो' का भी ग्रहण हो जायेगा।

पदार्थ मानकर सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (**१।२।६४=एकविभक्ति में जो सरूप हैं, उन में एक शेष रहता है, अन्य निवर्तित हो जाते हैं) यह एकशेष का आरम्भ किया जाता है।**

विवरण—जिन शब्दों का उपदेश शास्त्र के द्वारा किया जाता है, उनका अर्थ जाति है अथवा व्यक्ति(=द्रव्य),अथवा शास्त्रकार पाणिनि ने शब्दों का क्या पदार्थ मानकर शास्त्र का प्रणयन किया है ? यह जिज्ञासा इसलिये होती है कि कतिपय आचार्य जाति को पदार्थ मानते हैं, कतिपय आचार्य द्रव्य (=व्यक्ति) को[1]। नैयायिक जाति व्यक्ति और आकृति तीन को पदार्थ मानते हैं (द्र०—न्याय २।२।६५)। मीमांसक और वैयाकरण जाति और आकृति को एक मानते हैं।

आचार्येण=पाणिनि ने। **सूत्राणि**—आकृति और द्रव्यविषयक एक-एक सूत्र को उपस्थित करने से यहां '**सूत्रे**' निर्देश करना चाहिये। 'बहुवचन-निर्देश आर्ष है' ऐसा छायाकार का मत है। जातिपक्ष में १।२।५८ सूत्र से बहुवचन मानना सुन्दर है। अथवा उभयत्र उभय प्रकरणगत अनेक सूत्रों की दृष्टि से बहुवचन निर्देश जानना चाहिये।

[भाष्यम्] किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहोस्वित्कार्यः ? संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्योऽथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति॥

व्याख्या—क्या शब्द नित्य है, अथवा कार्य (=अनित्य) ? संग्रह [नामक ग्रन्थ] में यह प्रधानरूप से परीक्षित किया गया है—[शब्द] नित्य होवे अथवा कार्य। वहां [दोनों पक्षों में] दोष कहे हैं, प्रयोजन भी कहे हैं। वहां यह निर्णय [किया गया] है—चाहे [शब्द] नित्य होवे चाहे कार्य, उभयथा ही लक्षण=शास्त्र का प्रवर्तन करना चाहिये।

विवरण—शब्द के नित्यत्व और अनित्यत्व के विषय में मतभेद है। मीमांसक और वैयाकरण शब्द को नित्य मानते हैं, और नैयायिक अनित्य। इस मतभेद से संशय उत्पन्न होता है—**किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहोस्वित् कार्यः**। अर्थात् क्या शब्द नित्य है, अथवा कार्य ?

'संग्रह' नाम का लक्ष श्लोकसंख्याक व्याडि आचार्य विरचित ग्रन्थ था, ऐसा नागेश ने लिखा है। भर्तृहरि ने महाभाष्य-दीपिका में लिखा है—'**चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् ग्रन्थे [परीक्षितानि]**'। संग्रह ग्रन्थ के जो उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में हमें उपलब्ध हुए हैं, उनका संग्रह हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २८५-२८८ (संवत् २०३०) में किया है।

भर्तृहरि आदि व्याख्याकारों ने शब्द के नित्यत्व-अनित्यत्व विषय पर अनेक मत उपस्थित किये हैं। उन सब का निर्देश यहां करना अप्रासङ्गिक है। सारभूत इतना ही है कि

---

१. द्र०—'**सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ**' (१।२।६४) सूत्रभाष्य—'**आकृत्यभिधानादेकं विभक्तौ वाजप्यायनः', 'द्रव्याभिधानः व्याडिः'**।

वैयाकरण स्फोटात्मक शब्द को नित्य मानते हैं। मीमांसक 'गौः' के अन्तर्गत गकार औकार और विसर्गरूप वर्णों को नित्य मानते हैं। नैयायिक शब्द को अनित्य कहते हैं। उनके मत में शब्द ध्वनिरूप हैं। शब्द नित्यत्ववादी प्राचीन आचार्यों के मत में अपभ्रंश और यदृच्छा शब्द नित्य हैं वा अनित्य, इस का विवेचन उपलब्ध नहीं होता। यदि नित्य कहें, तो समस्त भाषाओं के शब्दों को, और आज जिसने प्रथमतः किसी यदृच्छा शब्द का प्रयोग किया हो, उसे भी नित्य मानना होगा। यदि अपभ्रंशों और यदृच्छा शब्दों को अनित्य कहें, तो शब्द नित्य है, यह पक्ष बाधित होता है।

शब्द के नित्यत्व वा अनित्यत्व पक्ष के विषय में स्वामी दयानन्द का मत प्राचीन आचार्यों से कुछ भिन्न, परन्तु समन्वयात्मक है। वे 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में वेदनित्यत्व-प्रकरण में लिखते हैं—

'शब्दो द्विविधो नित्य-कार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्था शब्दार्थसंबन्धाः सन्ति, ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्तन्ते, ते तु कार्याश्च।' ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३३॥

अर्थात्—शब्द दो प्रकार का है—नित्य और कार्य=अनित्य भेद से। जो परमात्मा के ज्ञान में शब्द अर्थ और उनका सम्बन्ध है, वह नित्य हो सकता है। और जो हम लोगों के शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे कार्य=अनित्य और 'च' से नित्य भी।[1]

कार्याश्च—का भाव है कि जो हमारे व्यवहार में आनेवाले वैदिक शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे वेदस्थ वा परम पुरुषस्थ होने के कारण नित्य हैं, और जो हमारे द्वारा कल्पित शब्द (=यदृच्छा शब्द) अर्थ संबन्ध हैं, वे अनित्य हैं।

[भाष्यम्] कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्?

सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे ॥

सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति। अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः? नित्य-पर्यायवाची सिद्धशब्दः। कथं ज्ञायते? यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। तद्यथा—सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति।

ननु च भोः कार्येष्वपि वर्तते। तद्यथा—सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति। यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम्, न पुनः कार्ये यः सिद्धशब्द इति? संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्य-पर्यायवाचिनो ग्रहणमिति। इहापि तदेव॥

---

१. यही भाव स्वामी दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के इसी प्रकरण में आगे भी द्योतित किया है। वे लिखते हैं—'अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्ति, इत्यादि व्याकरण-मतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति, किमुत वैदिकानाम्।' ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३७। अर्थात् व्याकरणशास्त्र के मत में सभी शब्दों का नित्यत्व है, तो फिर वैदिकों का तो क्या कहना।

व्याख्या—फिर कैसे यह भगवान् पाणिनि आचार्य का लक्षण (=शास्त्र) प्रवृत्त हुआ हैं ? अर्थात् शब्द को नित्य मानकर प्रवृत्त हुआ है, अथव अनित्य मानकर ?

शब्द अर्थ और सम्बन्ध के सिद्ध पक्ष में।

शब्द अर्थ और [दोनों के] सम्बन्ध के सिद्ध पक्ष में। यहां 'सिद्ध' शब्द का क्या पदार्थ है ? नित्य का पर्यायवाची सिद्ध शब्द है। कैसे जाना जाता है ? जो यह कूटस्थ (=अविनाशी) अविचाली (=एकत्र स्थित) पदार्थों में व्यवहृत होता है। जैसे—सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशम्।

क्यों जी, [यह सिद्ध शब्द] कार्य (=क्रिया से निष्पाद्य=अनित्य) पदार्थों में भी तो व्यवहृत होता है। जैसे—सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूः (=ये ओदन आदि सिद्ध हो गये=बन गये)। जब कार्य पदार्थों में भी व्यवहृत होता है, तो कैसे यह [जाना जाए कि] नित्य पर्यायवाची का ग्रहण है, न कि कार्य पदार्थ में वर्तमान जो सिद्ध शब्द है उसका ? संग्रह ग्रन्थ में 'कार्य' शब्द के प्रतिद्वन्द्वी (=विरोधी) रूप में प्रयुक्त होने से हम मानते हैं कि नित्यपर्यायवाची [सिद्ध शब्द] का ग्रहण है। यहां भी वही है।

विवरण—'**शब्दार्थसम्बन्धे**' में **शब्दश्च अर्थश्च सम्बन्धश्च=शब्दार्थसम्बन्धम्, तस्मिन्**। तीनों में नित्य त्रिकाल अबाधित अवियोग दिखाने के लिये समाहार द्वन्द्व से सप्तमी का निर्देश किया है।

कूटस्थ—कूट=अयोघन (जिस लोह-संघात पर रखकर गरम लोहे को कूटा जाता है) के समान जो स्थिर रहता है। **अविचाली**=विचाली=दूसरे स्थान में जानेवाला, स्वरूप को बदलनेवाला (द्र०—काशिका ५।३।४३) जो न हो।

सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी में सिद्ध शब्द का प्रयोग चिरकाल तक स्वरूप में स्थित रहने के कारण व्यावहारिक नित्यत्व अभिप्रेत है। जैन तथा नवीन मीमांसक जगत् को स्वभाव से इसी रूप में स्थित मानते हैं। उन्हें यह पक्ष जगत्कर्त्ता ईश्वर को न मानने के कारण स्वीकार करना पड़ा है। आकाश दो प्रकार का है—तात्त्विक नित्य, और व्यावहारिक नित्य। इसी भेद को '**ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्**' (ऋ० १।१६४।३९) ऋचा में प्रयुक्त 'परम' विशेषण व्यक्त करता है।

संग्रहे—कैयट ने लिखा है कि 'संग्रह में '**किं कार्यः शब्दोऽथ सिद्धः**' इस प्रकार दो पक्ष प्रस्तुत करके विचार किया है।

[भाष्यम्] अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि। तद्यथा—अब्भक्षो वायुभक्ष इति। अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते। एवमिहापि 'सिद्ध एव, न साध्यः' इति॥

व्याख्या—अथवा एक [=अकेले] पदवाले भी अवधारण होते हैं, अर्थात् एक पद से भी नियम देखा जाता है। जैसे—अब्भक्षः, वायुभक्षः। [इन शब्दों से] 'पानी ही पीता है'

'वायु ही खाता है' ऐसा जाना जाता है। इसी प्रकार से यहां भी 'जो सिद्ध ही है, साध्य नहीं' यह अर्थ अभिप्रेत है।

विवरण—'एकपदानि'—एकमसहायं पदमवधारणं यस्य तदेकपदमवधारणम्, तानि। अर्थात्—जब प्रसंग आदि वश द्वितीय 'एव' पद की सहायता के विना भी अवधारण अर्थ जाना जाता है।

[भाष्यम्] अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः—अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति। तद्यथा—देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति॥

व्याख्या—**अथवा पूर्वपद का लोप यहां जानना चाहिये**—अत्यन्तसिद्धः=सिद्धः। **अर्थात् यहां वार्तिक में** 'अत्यन्तसिद्धे' **के स्थान में** 'सिद्धे' **पढ़ा गया है। जैसे—[लोक में] देवदत्त को 'दत्त', और सत्यभामा** को 'भामा' [कहते] हैं।

विवरण—अत्यन्तसिद्धः—अत्यन्तं कालापरिच्छेदेन सिद्धम्, अर्थात् सभी कालों में जो सिद्ध है, किसी काल में साध्य नहीं है।

देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामा—यहां पूर्वपद का लोप=अदर्शन=अप्रयोग होता है। केवल उत्तरपद का ही प्रयोग देखा जाता है। कहीं-कहीं पूर्वपद **देव** और **सत्या** का प्रयोग होता है, और उत्तरपद का लोप देखा जाता है। द्र०—'अप्रत्यये तथैवेष्टः'[1] (महा० ५।३।८३)।

[भाष्यम्] अथवा "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः।

किं पुनरनेन वर्ण्येन? किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः, यस्मिन्नुपादीयमानेऽसंदेहः स्यात्? 'मङ्गलार्थम्।' माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति॥

व्याख्या—**अथवा 'व्याख्यान से विशेष अर्थ जाना जाता है, सन्देहमात्र से लक्षण अलक्षण नहीं बन जाता' इस [परिभाषा-वचन] के अनुसार नित्य पर्यायवाची [सिद्ध शब्द] का यहां ग्रहण है, ऐसा व्याख्यान करेंगे।**

तो फिर क्या इस वर्णन (=व्याख्यान) योग्य [सिद्ध शब्द] के प्रयोग से [प्रयोजन]? क्यों नहीं खुले कण्ठ से (=उदारतापूर्वक) नित्य शब्द ही पढ़ा, जिसके ग्रहण करने से सन्देह ही न होता? 'मङ्गल के लिये'। मङ्गल प्रयोजनवाला आचार्य (=वार्तिककार कात्यायन) महान् शास्त्रसमूह (=वार्त्तिकपाठ) के मङ्गल के लिये सिद्ध शब्द का आरम्भ में प्रयोग करता

१. द्र०—प्रत्ययाभावेऽपि पूर्वोत्तरपदयोरन्यतरस्य वा लोप इत्यर्थः। भाष्ये तु पूर्वपद-लोप उदाहरणमात्रम्। वार्तिक का यही अभिप्राय मानकर काशिकाकार ने लिखा है—'विनापि प्रत्ययेन पूर्वोत्तरपदयोर्विभाषा लोपो वक्तव्यः' (काशिका ५।३।८३)।

है। मङ्गल जिनके आरम्भ में होता है, ऐसे शास्त्र फलते-फूलते हैं, और [1]वीर (=वाद में जीतनेवाले) पुरुषों से युक्त, और दीर्घ आयुवाले पुरुषों से युक्त होते हैं (=अर्थात् ऐसे शास्त्रों के पढ़नेवाले पुरुष वादों में विजेता और दीर्घ आयुवाले होते हैं), और अध्येता भी सिद्धार्थ (=कृतार्थ) होते हैं।

विवरण—'मङ्गल' शब्द का अर्थ है—अनिन्दित अभीष्ट अर्थ की सिद्धि=कल्याण। 'मङ्गल प्रयोजनवाला आचार्य'–यहां सन्देह होता है कि शिष्यों का मङ्गल चाहनेवाला आचार्य, अथवा अपनी रचना के मङ्गल की कामना करनेवाला आचार्य ? इनमें से भाष्यकार को कौन सा अर्थ अभिप्रेत है। भाष्य के व्याख्याकारों ने मध्यकाल से प्रवृत्त ग्रन्थ के आदि मध्य और अन्त में मङ्गल करने की परिपाटी को ध्यान में रखते हुए 'अपने ग्रन्थ के मङ्गलकी =पूर्णता की कामना करनेवाला आचार्य' अर्थ किया है। हमारे विचाराऽनुसार यह कल्पना चिन्त्य है। **माङ्गलिक आचार्यः** का अर्थ 'शिष्य के मङ्गल की चाहना करनेवाला' ही यहां अभिप्रेत है। क्योंकि भाष्यकार अनेक स्थानों पर **'सुहृद् भूत्वा आचार्य आचष्टे'** शब्दों का प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं, प्राचीन ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में मध्यकाल में प्रसिद्ध तथाकथित मङ्गल का प्रयोग कहीं उपलब्ध ही नहीं होता। और ना ही उन्हें ऐसा मङ्गल इष्ट है। यह बात **'अथ शब्दानुशासनम्'** सूत्र, एवं **'अथ शब्दोऽयमधिकारार्थः प्रयुज्यते'** भाष्य व्याख्यान से भी स्पष्ट है।[2] इससे यह भी विस्पष्ट हो जाता है कि **'अथ'** का मङ्गल अर्थ भी अति प्राचीन नहीं है। इसी से सम्भवतः प्राचीन ग्रन्थों में तथाकथित मङ्गल का साक्षात् उल्लेख न होने से उसके निर्वाहार्थ मध्यकालीन व्याख्याकारों ने **'अथ'** शब्द के 'मङ्गल' अर्थ की कल्पना कर ली।

शिष्यों के मङ्गल की कामना करनेहारे पाणिनि वा कात्यायन ने जहां भी 'शिष्य के मङ्गल की कामना' की अभिव्यक्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हुआ, वहां उसका निर्वाह उन्होंने यथावत् किया है। और भाष्यकार ने उस प्रयोग की माङ्गलिकता की ओर संकेत किया है। इतना ही नहीं, यदि पाणिनि आचार्य को आधुनिक ग्रन्थ-परिसमाप्ति की कामनावाला मङ्गल अभिप्रेत होता, तो वे ग्रन्थ के सबसे आदि, सबसे अन्त, और ठीक मध्य में मङ्गल पढ़ते, परन्तु ऐसा उन्होंने नहीं किया। प्रथम तथाकथित मङ्गलार्थ-प्रयुक्त **'वृद्धि'** शब्द प्रतिज्ञासूत्र और प्रत्याहार सूत्रों (=१६ सूत्रों) के पश्चात् प्रयुक्त हुआ है, मध्य का तथाकथित मङ्गलार्थ वकारागम प्रथम अध्याय के तृतीय पाद के आरम्भ में ही मिलता है। तथा अन्त्य के तथाकथित मङ्गलार्थक 'उदय' पद का पाठ अन्तिम **अ अ** सूत्र से पूर्व है। महाभाष्य में अन्त्य मङ्गल का निर्देश कहीं नहीं मिलता।

---

१. मङ्गल से प्रयोजन प्राचीन-परम्परा-प्राप्त विशेष पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना है। निश्चय ही जो परम्परा-प्राप्त प्राचीन पारिभाषिक शब्दों को जानता होगा, वह बहुज्ञ होने के कारण अप्रतिहत बुद्धिवाला होकर वाद में जय प्राप्त करेगा। द्रष्टव्य—इसी प्रकरण में विशेष निर्दिष्ट व्याख्या।

२. मीमांसा के भाष्य में शबरस्वामी ने भी 'अथ' का अर्थ आनन्तर्य तो किया है, पर मङ्गल प्रयोजन नहीं लिखा।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने सूत्र और वार्तिक के तीन प्रयोगों(=सिद्ध, वृद्धि, वकारागम) को मङ्गलार्थ माना है। इन तीनों स्थानों पर एक ही अभिप्राय प्रकट होता है, और वह है—सूत्रपाठ तथा वार्तिकपाठ प्रोक्त ग्रन्थ हैं, कृत ग्रन्थ नहीं हैं। अतः इनमें प्राचीन परम्परा-प्राप्त संज्ञाएं प्रयोग अथवा सूत्र वा सूत्रैकदेश की वर्णानुपूर्वी ऐसी उपलब्ध हो सकती है, जिसका वर्तमान प्रवचन के साथ सम्बन्ध न हो, प्रकृत प्रवचन के नियमों से दूर हटे हुए हों। आयुर्वेदीय चरकसंहिता में पठनीय ग्रन्थ के गुणों का निर्देश करते हुए **क्रमागतार्थम्** विशेषण भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है (द्र०—**चरक विमान** ८।३)।

प्रकृत में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग करके वार्तिककार कात्यायन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके वार्तिकपाठ में जैसे नित्यपर्यायवाची 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग व्याडिविरचित 'संग्रह' ग्रन्थ के अनुसार किया है, इसी प्रकार उनके ग्रन्थ में अन्यत्र भी प्राचीन आचार्यों के पारिभाषिक वा विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हैं। उनका अभिप्राय प्राचीन परम्परा-प्राप्त अर्थों के अनुसार ही जानना चाहिये। वार्तिकपाठ में प्रयुक्त कुछ प्राचीन संज्ञाएं इस प्रकार हैं—**अद्यतनी** (२।४।३), **श्वस्तनी** (३।३।१५), **भविष्यन्ती** (३।३।१५), **परोक्षा** (१।२।१८)[1]।

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त 'वृद्धि' शब्द (१।१।१) और वकारागम (१।३।१) सम्बन्धी मङ्गलों के विषय में यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

प्रथम वार्तिक—भाष्यकार की '**मङ्गलादीनि शास्त्राणि प्रथन्ते**' व्याख्या को देखकर आधुनिक वैयाकरणों ने कल्पना की है कि कात्यायन का प्रथम वार्तिक **सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे** है। परन्तु यह भ्रान्तिमात्र है। भ्रान्ति का कारण भाष्यकार का **मङ्गलादीनि** में आदि शब्द का मुख्यार्थ ग्रहण करना है। **मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि** में प्रयुक्त आदि मध्य और अन्त शब्द अपने मुख्यार्थ—'जिससे पूर्व कोई नहीं वह आदि, पूर्वपर के बीचों-बीच मध्य, और जिसके आगे कोई नहीं वह अन्त' में प्रयुक्त नहीं हुए है, अपितु सामीप्यादि सम्बन्ध से गौणार्थ **आदिरिवादिः, मध्य इव मध्यः, अन्त इवान्तः** में प्रयुक्त हैं। इसके उपोद्बलक **भूवादयो धातवः** (१।३।१) सूत्र के भाष्य में **मङ्गलमध्यानि** प्रयोग है। आदि अन्त शब्दों का सामीप्यादि सम्बन्ध से लाक्षणिक प्रयोग होता है, इसके लिये देखिये वाररुच 'निरुक्त-समुच्चय' के निम्न प्रयोग—

'मन्त्रार्थज्ञानस्य च शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—योऽर्थज्ञ इत्.........। **शास्त्रान्ते च—यां यां देवतां निराह**......।' निरुक्त-समुच्चय पृष्ठ १-२, संस्करण २।

यहां '**शास्त्रादौ**' कहकर उद्धृत '**योऽर्थज्ञः०**' वचन निरुक्त के सर्वादि में न होकर प्रथमाध्याय के १८वें खण्ड का है। इसी प्रकार '**शास्त्रान्ते**' लिखकर उद्धृत '**यां यां देवतां**' वचन निरुक्त के सर्वान्त में १४ अध्याय के अन्त में नहीं है, अपितु १३।१३ का है। दुर्ग और स्कन्द दोनों ने १४वें अध्याय के भी अनेक पाठ अपनी व्याख्या में उद्धृत किये हैं।[2]

१. तुलना करो—कातन्त्र व्याकरण—अद्यतनी (३।६।६२), श्वस्तनी (३।३।१५), भविष्यन्ती (३।३।१५), परोक्षा (३।५।७,४२)।

२. द्र०—दुर्गवृत्ति ३।२१ में 'क ईषते तुज्यते कः' निरुक्त १४।२४ का, ७।४ में 'स एष महानात्मा' निरुक्त १४।३ का, १०।२३ में निरुक्त १४।१-२६ का; इसी प्रकार स्कन्द ने निरुक्त

[भाष्यम्] अयं खल्वपि नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। किं तर्हि? आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते। तद्यथा—नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति। यावताभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते, तत्राप्यनेनैवार्थः स्याद्—"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" इति। पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति। अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो, न नित्यशब्दः॥

व्याख्या—यह 'नित्य' शब्द भी [जिस के ग्रहण करने के लिये आपने कहा था] कूटस्थ अविचाली पदार्थों में ही रहता हो=प्रयुक्त होता हो, ऐसी बात नहीं है। तो फिर क्या है? आभीक्ष्ण्य (=बाहुल्य) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—नित्यप्रहसितः (=बहुत हंसने वाला=सदा हंसमुख रहनेवाला), नित्यप्रजल्पितः (=बहुत बोलनेवाला)। जब [नित्य शब्द] आभीक्ष्ण्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, तो वहां भी (='नित्य' शब्द का प्रयोग करने पर भी) इसी से प्रयोजन होगा—'व्याख्यान से विशेष अर्थ जाना जाता है, सन्देहमात्र से अलक्षण नहीं होता'। आचार्य (=वार्तिककार) देखते हैं (=विचारते हैं) कि 'सिद्ध' शब्द आदि में प्रयुक्त मङ्गलार्थ हो जायेगा, और इस 'सिद्ध' शब्द को 'नित्य पर्यायवाची है' ऐसा वर्णन करने में भी समर्थ होऊंगा। इसलिये [आचार्य ने] सिद्ध शब्द का ही पाठ किया है, नित्य शब्द का नहीं।

विवरण—आभीक्ष्ण्यवाची 'नित्य' शब्द क्रियापद की आकाङ्क्षा रखता है। उसके अभाव में '**नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे**' का अर्थ होगा—जो शब्द बहुलता से प्रयुक्त होते हैं=ग्रामीण लोगों तक प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का अन्वाख्यान किया जायगा, अल्पप्रयुक्तों का अन्वाख्यान नहीं होगा। ऐसी शङ्का करना व्यर्थ है, क्योंकि विना क्रियासम्बन्ध के भी आभीक्ष्ण्यवाची नित्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यथा—**नित्यवीप्सयोः** (८।१।४)=नित्य=आभीक्ष्ण्य और वीप्सा अर्थ में सब पदों को द्विर्वचन होता है। **आश्चर्यमनित्ये** (६।१।१४२)=अनित्य=बहुलता से न होने अर्थात् यदा कदा होने अर्थ में आश्चर्य पद निपातित है।

[भाष्यम्] अथ कं पुनः पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे संबन्धे चेति? आकृतिमित्याह। कुत एतत्? आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम्। अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्तव्यः? सिद्धे शब्देऽर्थसंबन्धे चेति। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः॥

व्याख्या—अच्छा तो किस पदार्थ (=पद का अभिधेय=वाच्य) को मानकर यह विग्रह किया जाता है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च? आकृति को। यह कैसे? आकृति (=जाति) ही नित्य है, द्रव्य अनित्य है। अच्छा तो द्रव्य को पदार्थ मानकर कैसे विग्रह

१।२ में निरुक्त १४।३ का 'स एष महानात्मा' पाठ उद्धृत किया है। सम्भवतः १४वें अध्याय के पाठों की अत्यधिक अव्यवस्था के कारण दुर्ग और स्कन्द ने १४वें अध्याय की व्याख्या नहीं लिखी (किन्हीं के मत में १४वां अध्याय १३वें के अन्तर्भूत है)। आदि मध्य अन्त व्यवहार सम्बन्धी विशेष विचार के लिये देखें—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २१३-२१५, ३०८-३१०।

करना चाहिये ? सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च=शब्द के नित्य होने पर और अर्थ के साथ सम्बन्ध के नित्य होने पर। अर्थवान् शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य होता है।

विवरण—जब द्रव्यरूप अर्थ अनित्य है, तब शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य कैसे होगा ? इसका उत्तर है—घट पट आदि द्रव्य अनित्य होते हुए भी कोई भी काल ऐसा नहीं होता, जब घट पट आदि पदार्थ कहीं पर विद्यमान न हों। ये कहीं न कहीं विद्यमान रहते ही हैं। उनको कहने के लिये शब्द का व्यवहार होगा ही। अथवा जैसे नित्य पदार्थों का समवाय सम्बन्ध नित्य होता है, उसी प्रकार अनित्य और नित्य पदार्थों का समवाय संबन्ध भी नित्य ही माना जाता है। यथा द्रव्य और जाति का, अवयव और अवयवी का। उसी प्रकार वाच्यरूप अनित्य द्रव्य में रहनेवाले वाचकरूप नित्य शब्द का वाच्यवाचकरूप संबन्ध नित्य है।

[भाष्यम्] अथवा द्रव्य एव पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थ सम्बन्धे चेति। द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या। कथं ज्ञायते ? एवं हि दृश्यते लोके मृत् कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते। घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते। तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते। रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते। कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते॥

व्याख्या—अथवा द्रव्य पदार्थ में ही यह विग्रह युक्त है—सिद्धे शब्दे अर्थ सम्बन्धे च। द्रव्य ही नित्य है, आकृति अनित्य है। कैसे जाना जाता है ? ऐसा लोक में देखा जाता है कि मिट्टी किसी आकृति से युक्त पिण्ड होती है। पिण्ड की आकृति को नष्ट करके घटिका (छोटे घट=घड़ियां) बनाई जाती हैं। घटिका की आकृति को नष्ट करके कुण्डिका (छोटे कूंडे=कूंडियां) बनाई जाती हैं। और सुवर्ण किसी आकृति से युक्त पिण्ड होता है। पिण्ड की आकृति को नष्ट करके रुचक (=घोड़े का जेवर वा माला) बनाये जाते हैं। रुचकों की आकृति को नष्ट करके कटक (=कड़े) बनाये जाते हैं। कटकों की आकृति को नष्ट करके स्वस्तिक (=स्वस्तिक के आकारयुक्त भूषणविशेष) बनाये जाते हैं। पुनः सुवर्ण पिण्ड को प्राप्त हुआ अन्य आकृति से युक्त हुआ खदिर वा अङ्गारों के समान वर्णवाले कुण्डल बन जाते हैं। आकृति तो अन्य-अन्य हो जाती है, पर द्रव्य वही रहता है। आकृति के नाश होने पर द्रव्य ही शेष रहता है।

विवरण—यहां आकृति शब्द से आकार और आकारविशेष से प्रतीत होनेवाली आकृति=जाति दोनों का ग्रहण इष्ट है। द्र०—'अनेनैतत्प्रकरणस्थाकृतिपदस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकोभयपरतां सूचयति' इति नागेशः।

[भाष्यम्] आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे संबन्धे

चेति । ननु चोक्तमाकृतिरनित्येति । नैतदस्ति । नित्याकृतिः । कथम् ? न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति । द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते ॥

व्याख्या—आकृति को पदार्थ मानने पर भी यही विग्रह न्याय्य है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च । अभी तो कहा है कि आकृति अनित्य है । यह ठीक नहीं है । आकृति नित्य है । कैसे ? कहीं एक स्थान पर उपरत = नष्ट हो गई (= तिरोहित हो गई), तो सर्वत्र उपरत होवे यह बात नहीं है । द्रव्यान्तरों में तो वह आकृति उपलब्ध होती ही है ।

विवरण—उक्त व्याख्यान से 'उपरत' शब्द का अर्थ यहां 'तिरोहित होना' जानना चाहिये । नित्य पदार्थ व्यङ्ग्य के आश्रय से प्रकट और तिरोहित होते हैं । घटादि आकृति = आकार के नाश से घटत्व जाति का उन स्थान में तिरोभावमात्र होता है, वह नष्ट नहीं होती । क्योंकि उसी तिरोभाव के समकाल में ही देशान्तरस्थ घटों में घटत्व जाति उपलब्ध होती है ।

[भाष्यम्] अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्धयव्ययोगि यत्तन्नित्यम्, इति । तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते । किं पुनस्तत्त्वम् ? तस्य भावस्तत्त्वम् । आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते ॥

व्याख्या—अथवा यही नित्य का लक्षण नहीं है—जो ध्रुव, कूटस्थ, अविचाली, अपाय (नाश) उपजन (= उत्पत्ति) विकार से रहित, वृद्धि से रहित और व्यय से रहित है, वह नित्य है । वह भी नित्य है, जिसमें तत्त्व (= उसके सद्भाव) का नाश नहीं होता । तो तत्त्व क्या है ? उसका तद्भाव तत्त्व है । आकृति में भी तत्त्व = तद्भाव नष्ट नहीं होता ।

विवरण—अनित्यता तीन प्रकार की होती है—[1]संसर्ग-अनित्यता परिणाम-अनित्यता, और वस्तु-विनाश अनित्यता (द्र०—महाभाष्य-दीपिका) । उक्त '**ध्रुवं कूटस्थं**' इत्यादि लक्षण से तीनों प्रकार की अनित्यताओं से रहित को 'नित्य' कहा है । यहां **ध्रुवं कूटस्थम्**' शब्दों से संसर्ग-अनित्यता का अभाव कहा है । **कूटस्थ** पद ध्रुव पद का व्याख्यानरूप है । **अविचाली** (= रूपान्तर को प्राप्त न होनेवाला) से परिणाम-अनित्यता का प्रतिषेध किया है, और **अपाय उपजन आदि से रहित** पदों से वस्तुविनाश अथवा प्रध्वंसाभावरूप अनित्यता का वारण किया है । महाभाष्यकार **भूवादयो धातवः** (१।३।१) के भाष्य में कहेंगे—**षड् भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः । जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यति** । अर्थात् ६ प्रकार के भाव हैं—उत्पन्न होना, विद्यमान रहना, बदलना, बढ़ना, क्षीण होना और विनाश को प्राप्त होना । वार्ष्यायणि का यही वचन निरुक्तकार यास्क ने भी उद्धृत किया है, और उसकी व्याख्या की है (द्र०—निरुक्त १।३)। प्रकृत में 'अनुत्पत्ति' कहने से **जायते** (= जन्म), और

१. **संसर्ग अनित्यता**—जैसे स्फटिक के साथ रक्त पुष्पों के संसर्ग से स्फटिक की रक्तिमा प्रतीत होती है, संसर्ग के हट जाने पर स्फटिक की रक्तिमा भी नष्ट हो जाती है । **परिणाम अनित्यता**—जैसे बेर के फल कच्चे हरे होते हैं, पकने पर लाल हो जाते हैं । हरितपन का नाश परिणाम = अवस्थान्तर के कारण होता है । **वस्तुविनाश अनित्यता**—जैसे घटादि वस्तु के नाश से होती है ।

अस्ति (=सत्ता) प्रथम द्वितीय दो भावविकारों की निवृत्ति कही है। इसी प्रकार 'अवृद्धि' से 'वर्धते' रूप चतुर्थभाव, 'अनुपजन' से 'परिणाम' रूप तृतीय भाव, 'अनपाय' से 'अपक्षय' रूप पञ्चम भाव, और 'अव्यययोगी' से 'विनाश' रूप षष्ठ भाव की निवृत्ति जाननी चाहिये।

'यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते तदपि नित्यम्' यह योगदर्शन ४।३३ के व्यासभाष्य में भी पठित है। यह नित्य का लक्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस लक्षण के अनुसार जिस द्रव्य का तत्त्व=तद्भव=अपनत्व नष्ट नहीं होता, वह भी नित्य कहाता है। अर्थात् नित्यता दो प्रकार की है—एक परमार्थ-नित्यता, और दूसरी व्यावहारिक-नित्यता। वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय **विशेष** है—**विशेषमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वैशेषिकः**। विशेष सदा भेदक परस्पर व्यावर्तक होता है। वही द्वित्वादि का वाच्य है। वैशेषिक शास्त्र के अनुसार परमाणु-पर्यन्त विभाग में पृथिवीत्व अप्त्व अग्नित्व वायुत्व आकाशत्व[1] धर्म रहते हैं। अर्थात् परमाणु अपने तत्त्व से विहीन नहीं होते। इस कारण ये नित्य कहे जाते हैं। यहां पारमार्थिक नित्यता अभिप्रेत नहीं है। अब सांख्य की प्रक्रिया देखिये—**'प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि च'** (अ० १, सू० ६१) क्रम सृष्टि का कहा है। यहां प्रकृति का विकार महान् एक है। महान् का विकार अहंकार भी एक है। अहंकार से पञ्च-तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं, और उभय प्रकार की इन्द्रियां। पञ्चतन्मात्राओं में पञ्चत्व तब तक नहीं माना जा सकता, जब तक कि वैशेषिक-प्रतिपादित विशेष पदार्थ की उत्पत्ति न मानी जाये। इस प्रकार सांख्य का क्षेत्र है, पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति पर्यन्त सर्ग की व्याख्या करना, और वैशेषिक का क्षेत्र है पञ्चतन्मात्रा पञ्चविध परमाणुओं से स्थूल जगत् की उत्पत्ति का प्रकार वर्णन करना। इस प्रकार दोनों का कोई विरोध नहीं है। दोनों मिलकर प्रकृति से आरम्भ करके स्थूल जगत् की उत्पत्ति पर्यन्त सर्ग-प्रक्रिया का व्याख्यान करते हैं। वैशेषिककार परमाणुओं को नित्य उक्त लक्षण के अनुसार ही मानते हैं, क्योंकि उन

---

१. आकाश को वैशेषिक शास्त्रकार नित्य विभु द्रव्य मानते हैं। उपनिषदों में **'आत्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः'** (तै० उ० ब्रह्मा० १) इत्यादि में आकाश की उत्पत्ति दर्शाई है। यही बात सांख्यकार ने पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति द्वारा आकाशतन्मात्रा की भी उत्पत्ति कही है। यहां परस्पर कोई विरोध नहीं है। आकाश दो प्रकार का माना गया है। एक—नित्य विभु अवकाशात्मक आकाश **आसमन्तात् काशन्ते प्रकाशन्ते व्यवतिष्ठन्ते पदार्था यत्र** इस व्युत्पत्ति से बोधित होता है। दूसरा—आकाश सूक्ष्म परमाणु से लेकर अणु पर्यन्त है। यह अर्थ **'आसमन्तात् प्रकाशन्ते सूर्यादीनां रश्मयोऽत्र'** व्युत्पत्ति से बोधित जानना चाहिये। इस आकाश में प्रविष्ट होने पर सूर्यरश्मियां प्रकाश-सामर्थ्य को प्राप्त करती हैं। आकाश के ये दोनों रूप ऋग्वेद के **ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्** (ऋ० १।१६४।३९) इत्यादि मन्त्रों में व्योम=आकाश के **'परम'** आदि विशेषण से व्यक्त होते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में **नासदासीन्नो सदासीत्** (ऋ० १०।१२९।१) मन्त्र के व्याख्यान में लिखा है—**"सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुतः तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात्।.........नो व्योमापरो यत् व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोऽपि नासीत्।"** ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ १३४, १३५। तथा पृष्ठ १३५ की टिप्पणी नं० १-६ द्रष्टव्य हैं।

तक तद्भावत्व पृथिवीत्वादि भेद रहता है। विशेष द्रष्टव्य—**पृथिवीत्वादिसम्बन्धात् पृथिवी ……अप्त्वाभिसंबन्धादाप:………तेजस्त्वाभिसंबन्धात् तेज:………वायुत्वाभिसम्बन्धाद् वायुः…………**। प्रशस्तपाद भाष्य पृथिव्यादिनिरूपण। वैशेषिक में आकाश को नित्य विभु कहा है। अतः **आकाशत्वाभिसम्बन्धादाकाश:** ऐसा निरूपण नहीं किया। परन्तु सांख्य की प्रक्रियानुसार आकाशभूत की उत्पत्ति कही गई है। अत: उसका निरूपण भी **आकाशत्वाभिसंबन्धादाकाश:** ऐसा करना होगा। वैशेषिक में परम व्योम=आकाश का वर्णन है, सांख्य में अपर व्योम का। इस भेद के जान लेने से दोनों शास्त्रों में विरोध नहीं रहता।

[भाष्यम्] अथवा किं न एतेन—इदं नित्यमिदमनित्यम्, इति। यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे संबन्धे चेति॥

व्याख्या—**अथवा इस से क्या प्रयोजन है कि—यह नित्य है यह अनित्य है। जो पदार्थ नित्य है, उस को मानकर यह विग्रह किया है**—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च।

विवरण—शब्दानुशासन का क्षेत्र शब्दव्यवहार है। शब्द-व्यवहार का क्षेत्र लोक है। लोक में विविध मत प्रचलित हैं। सभी मतवालों को शब्द का प्रयोग करना ही होता है। अतएव पहले भाष्यकार ने यह निर्णय किया कि 'शब्द चाहे नित्य माना जाये चाहे अनित्य, शब्दानुशासन का प्रवचन तो करना ही चाहिये।' तत्पश्चात् 'शब्द का वाच्य चाहे आकृति मानो चाहे व्यक्ति, दोनों ही पक्षों को ध्यान में रखकर शास्त्रकार ने शब्दानुशासन का प्रवचन किया है'। प्रकृत प्रसङ्ग में अर्थ की नित्यता अनित्यता के विषय में दार्शनिकों का जो मतभेद है, उसे ध्यान रखकर उपसंहार किया है कि अर्थ को चाहे नित्य मानो चाहे अनित्य, शब्दानुशासन का प्रवचन दोनों अवस्थाओं में करना ही होगा। इसी दृष्टि से वार्तिककार के वार्तिक का विग्रह भी पदार्थ की नित्यता और अनित्यता की दृष्टि से क्रमश: **सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च**, तथा **सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च** करना चाहिये। इससे शास्त्र का सम्बन्ध सभी वादों में यथावत् समन्वित हो जायगा।

[भाष्यम्] कथं पुनर्ज्ञायते—सिद्धः शब्दोऽर्थः संबन्धश्चेति? 'लोकतः'। यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा—घटेन कार्यं करिष्यन्कुम्भकारकुलं गत्वाऽऽह—कुरु घटं, कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते॥

व्याख्या—**यह कैसे जाना जाता है कि—शब्द अर्थ और [इन का]सम्बन्ध नित्य है? 'लोक से।' जो लोक में अर्थ-अर्थ का उपादान करके शब्दों को प्रयुक्त करते हैं, उन (=शब्द अर्थ और सम्बन्ध) की सिद्धि में यत्न नहीं करते। जो पुनः पदार्थ कार्य (=अनित्य) होते हैं, उनकी सिद्धि में यत्न किया जाता है। जैसे—घड़े से कार्य करना चाहता हुआ कुम्हार के घर जाकर कहता है—घड़ा बना दे, मैं इससे कार्य करूंगा। उसके समान शब्दों के प्रयोग की इच्छा करनेवाला वैयाकरण के घर पर जाकर नहीं कहता कि [मेरे लिये] शब्द बना दे, मैं**

प्रयोग करूंगा। उसी समय (जबकि प्रयोग की इच्छा होती है) अर्थ को [बुद्धि से] ग्रहण करके शब्दों का प्रयोग करता है।

विवरण—इसका भाव यह है कि लोक में अनित्य पदार्थों के सम्बन्ध में भिन्न प्रकार का व्यवहार होता है, और नित्य पदार्थों के सम्बन्ध में भिन्न प्रकार का। जैसे अनित्य पदार्थ से कार्य करने की इच्छावाला उस पदार्थ के उत्पादक के यहां जाकर उस से उस वस्तु को प्राप्त कर कार्य करता है, वैसे शब्द से व्यवहार करनेवाला किसी शब्दज्ञ वैयाकरण के यहां शब्द लेने को नहीं जाता। मन में इच्छा उत्पन्न होते ही (वैयाकरण के पास न जाकर स्वयं) शब्दों का व्यवहार करने लगता है।

[भाष्यम्] यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणं, किं शास्त्रेण क्रियते ?

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ॥३॥

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते। किमिदं धर्मनियम इति ? धर्माय नियमो धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमो धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः ॥

व्याख्या—**यदि इन (=शब्द अर्थ और सम्बन्ध) में लोक प्रमाण है, तो शास्त्र क्या करता है ?**

लोक के द्वारा अर्थ में प्रयुक्त शब्दों के प्रयोग में शास्त्र के द्वारा धर्मनियम किया जाता है।

लोक के द्वारा अर्थ में प्रयुक्त शब्दों के प्रयोग (=व्यवहार) में शास्त्र के द्वारा धर्मनियम किया जाता है। यह धर्मनियम क्या है ? धर्म के लिये नियम अर्थात् धर्म का नियम[1]=धर्मनियम, अथवा धर्म के लिये जो नियम अर्थात् धर्मरूप जो नियम[1]=धर्मनियम, अथवा धर्म-प्रयोजनवाला नियम अर्थात् धर्म को उत्पन्न करनेवाला नियम[1]=धर्मनियम।

विवरण—धर्माय नियमः यह अर्थनिर्देश है। समास का विग्रह वाक्य नहीं है, क्योंकि चतुर्थी समास जहां प्रकृति-विकृतिभाव होता है, वहीं होता है। यथा—**यूपाय दारुः=यूपदारुः**। दारु यूप की प्रकृति है, और यूप उसका विकार है। अतः यहां समास **धर्मस्य नियमः =धर्मनियमः** ही जानना चाहिये। इसी प्रकार अगले वाक्यों को भी अर्थनिदर्शकमात्र जानना चाहिये।

व्याख्याकारों ने तीन प्रकार के अर्थनिर्देश की कई प्रकार से व्याख्या की है। यथा—**अश्वेभ्यो घासः=अश्वघासः** अर्थनिर्देश से नियत तादर्थ्य चतुर्थी के द्वारा रूढ किसी घास का,

---

१. अर्थात् पद से बोधित अभिप्रायों के लिये देखिये कैयटकृत प्रदीप व्याख्या—'धर्माय नियम इति—चतुर्थ्या तादर्थ्यं प्रतिपाद्यते। सम्बन्धसामान्ये तु षष्ठीं विधाय समासः कर्तव्यः। ......धर्मार्थ इति—धर्मार्थत्वान्नियम एव धर्मशब्देनाभिधीयते इति कर्मधारयः समास। धर्मप्रयोजन इति—लिङ्गादिरूपेण नियोगाख्येन धर्मेण प्रयुक्तः।',

जो केवल अश्व के लिये उपयोगी होता है, बोध होता है। उसी प्रकार यहां भी **धर्माय नियमः** वाक्य से उस नियमविशेष का बोध होता है, जो धर्म के लिये ही है। इसे इस प्रकार समझना चाहिये—अर्थ का प्रत्यायन शब्दों के द्वारा ही करना चाहिये, इस साधारण नियम से सास्नादिमान् पदार्थ के बोधन के लिये जैसे 'गौ' शब्द उपस्थित होता है, उसी प्रकार 'गावी' आदि अपशब्द भी उपस्थित होते हैं। वहां शास्त्र कहता है कि अर्थ का बोध शब्द और अपशब्द दोनों से कराया जा सकता है, परन्तु शब्दों के द्वारा ही अर्थबोध कराओ, अपशब्दों के द्वारा मत कराओ। यह नियम धर्म के लिये है। 'चतुर्थी' योगविभाग में प्रमाण न होने से सम्बन्धसामान्य में षष्ठी करके षष्ठीसमास होगा। **धर्मार्थो वा नियमः=धर्मनियमः**, यहां **शाकपार्थिवादीनामुत्तरपदलोपश्च** (२।१।६८) वार्तिक से 'अर्थ' शब्द का लोप होता है। धर्म के लिये जो नियम वह धर्म शब्द से कहा गया है। अतः यहां कर्मधारय समास जानना चाहिये। **धर्मप्रयोजनो वा नियमः धर्मनियमः।** प्रयोजन शब्द करण व्युत्पत्ति से प्रयोजक अर्थवाला भी है, यह पूर्व (पृष्ठ ७, पं० ५-६) पर कह चुके हैं। तदनुसार यहां अर्थ होगा—जैसे विद्यमान धर्म अग्निहोत्रादि के द्वारा व्यक्त होता है, उससे प्रेरित फल को देता है(यह प्राचीन मीमांसकों का मत है। द्र०—महाभाष्य-दीपिका)। उसी प्रकार शब्दों के द्वारा ही अर्थबोध कराना चाहिये, यह नियम धर्मफल के प्रति प्रयोजक होता है।

[भाष्यम्] यथा लौकिकवैदिकेषु ॥४॥

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—'यथा लोके वेदे च' इति प्रयोक्तव्ये 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इति प्रयुञ्जते। अथवा युक्त एवात्र तद्धितार्थः। यथा लौकिकेषु च कृतान्तेषु।

लोके तावद् 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः' इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतीघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्। तत्र नियमः क्रियते—इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्यम्, इति। तथा—खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्येयमगम्येति॥

व्याख्या—जैसे लोक और वेद में। अथवा—जैसे लौकिक और वैदिक सिद्धान्तों में (=तत्प्रतिपादक वाक्यों में)।

दाक्षिणात्य तद्धितप्रिय होते हैं। 'जैसे लोक में और वेद में' प्रयोग करने के स्थान में 'जैसे लौकिक और वैदिक में' ऐसा प्रयोग किया है। अथवा यहां तद्धितार्थ युक्त ही है—'जैसे लौकिक (=स्मृतिनिबद्ध) और वैदिक (=श्रुतिनिबद्ध) सिद्धान्तों में।'

लोक (=स्मृतियों) में—'ग्राम्य मुर्गा अभक्ष्य है', 'ग्राम्य सूवर अभक्ष्य है' ऐसा कहा जाता है। भक्ष्य नामवाला [वह होता है, जो] क्षुधा की निवृत्ति के लिये ग्रहण किया जाता है (=खाया जाता है)। इस (=भूखे) के द्वारा कुत्ते के मांस आदि से भी क्षुधा की निवृत्ति की जा सकती है। वहां (=क्षुधा के निवारण के विषय में) नियम किया जाता है—यह खाने योग्य है, यह खाने योग्य नहीं है। और खेद (=रागादि) से स्त्री में प्रवृत्ति होती है। खेद

की निवृत्ति गम्या और अगम्या में समानरूप से होती है। वहां (=खेद-निवृत्ति के विषय में) नियम किया जाता है—यह गम्या है, यह अगम्या है।

विवरण—लोक में जहां अवयव और समुदाय दोनों वाच्य होते हैं, वहां कोई व्यक्ति अवयव भेद को आश्रित करके '**वनस्पतय:**' ऐसा प्रयोग करता है, और कोई समुदाय की अपेक्षा से 'वनस्पतीनां समूहः' इस अर्थ में उत्पन्न ष्यप्रत्ययान्त '**वानस्पत्य:**' शब्द का प्रयोग करता है। इसी प्रकार यहां लोक और वेद में प्रसिद्ध अनेक विषयों को 'लोक' और 'वेद' शब्दों से समुदायरूप से कहा जा सकता है, फिर भी वार्तिककार कात्यायन ने दाक्षिणात्य होने के कारण दाक्षिणात्य अभिरुचि के अनुसार आधाराधेयभाव की कल्पना करके तद्धितप्रत्ययान्त 'लौकिक वैदिक' शब्दों का प्रयोग किया है। देशभेद से प्रयोगरुचि प्रायः देखी जाती है। काव्यमीमांसा (अ० ६) में देशभेद से प्रयोगरुचि का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

'दयितसुब्वृत्तयो विदर्भाः, वल्लभसमासवृत्तयो गौडाः, प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, कृत-प्रयोगरुचय उदीच्याः।'

'अथवा' इत्यादि से तद्धित-प्रयोग की अभिरुचि से तद्धितान्त लौकिक वैदिक शब्दों का प्रयोग नहीं किया, अपितु यहां 'तद्धितान्त प्रयोग ही युक्त है' यह कहा है।

'**शक्यं चानेन**' यहां 'क्षुत्' शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने से 'शक्या' स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग होना चाहिये। इसका समाधान व्याख्याकारों ने इस प्रकार किया है–'शक' धातु का जो कर्म-सामान्य उसकी विवक्षा में विवक्षा में लिङ्गसामान्य नपुंसक में कृत्य प्रत्यय हुआ है।[1] अतः सामान्य से उपक्रम होकर विशेष का अभिधान किया जाता है। अथवा पदान्तर (=क्षुत्) के सम्बन्ध से उपजायमान स्त्रीत्व बहिरङ्ग होता है, अतः अन्तरङ्ग संस्कार को वह नहीं बाधता। इस सम्बन्ध में हमारा जो विचार है, उसका प्रतिपादन हमने **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** (१।२।६४) सूत्र के भाष्य पठित '**उक्तार्थानामप्रयोग:**' वचन के व्याख्यान (भाग २, पृष्ठ १८२-१८४) में किया है, वहां देखें। अथवा क्षुत् को नपुंसकलिङ्ग भी मान लिया जाये तो दोष होता ही नहीं।

'**खेदात्**' भर्तृहरि ने खेद का अर्थ किया है—स्वविषय में प्रवर्तमान इन्द्रियों के निग्रह के प्रति असामर्थ्य। अथवा '**खेदयति इति खेद:**' व्युत्पत्ति से खेद शब्द राग को कहता है।

[भाष्यम्] वेदे खल्वपि—"पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः" इत्युच्यते। व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन शालिमांसा-दीन्यपि व्रतयितुम्। तत्र नियमः क्रियते॥

व्याख्या—**वेद में भी—'पयः व्रतवाला ब्राह्मण, यवागू व्रतवाला क्षत्रिय, आमिक्षा**

१. द्र०—यत्र विशेषेण भिद्यते तत्र विशेषे यः कर्मभावः स उपयुक्तः कृत्येनेति प्रथमः। यथोक्तं 'मुखनासिका वचनमस्य' (महा० १।१।८), न चोच्यते 'मुखनासिका वचनी यस्येति'। महाभाष्य-दीपिका, पृष्ठ ३२।

व्रतवाला वैश्य होता है' ऐसा कहा है। व्रत नाम [उसका है, जो] खाने के लिये ग्रहण किया जाता है। इस (=खानेवाले) के द्वारा शाली और मांस आदि का भी खाने के लिये उपादान किया जा सकता है। वहां (=खाने के विषय में) नियम किया जाता है [ब्राह्मण को खाने के लिये दूध ही लेना चाहिये, क्षत्रिय को यवागू ही, और वैश्य को आमिक्षा ही]।

विवरण—हम अन्यत्र सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि महाभाष्यकार पतञ्जलि चरक चरणान्तर्गत 'काठक' शाखा के अध्येता थे (द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ३५५-३५६, संवत् २०३०)। चरक=वैशम्पायन (द्र०—काशिका ४।३।१०४) आचार्य का प्रवचन चरक (अपरनाम—कृष्ण यजुर्वेद) कहाता है। चरक चरणान्तर्गत सभी आपस्तम्ब आदि शाखाओं के श्रौतसूत्रों के परिभाषा-प्रकरण में **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र पठित है। तदनुसार याज्ञिक क्षेत्र में वेदशब्द से मन्त्र और ब्राह्मण का ग्रहण होता है। जैसे व्याकरण के क्षेत्र में वृद्धि से आ ऐ औ का, गुण से अ ए ओ का। उद्ध्रियमाण वाक्य याज्ञिक प्रकरण के हैं। अतः यहां वेद शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थों का भी ग्रहण होता है।

'व्रत' यह अन्न का भी नाम है। द्र०—**अन्नमपि व्रतमुच्यते**। निरुक्त २।१३। अन्न अभ्यवहरणीय-क्षुधाशामक पेय वस्तु का भी उपलक्षण है। इसी अभिप्राय को भाष्यकार ने **'व्रतं च नाम अभ्यवहारार्थमुपादीयते'** वाक्य से दर्शाया है। **पयोव्रतः** आदि में **पय एव अन्नमभ्यवहरणीयं यस्य** इस प्रकार बहुव्रीहि-समास समझना चाहिये।

'यवागू' याज्ञिकों की पारिभाषिक संज्ञा है, तदनुसार अधिक पानी में बिना माण्ड निकाले जो भात खिचड़ी जैसा पतला बनाया जाता है, वह यवागू कहाता है। दलिया भी यवागू के अन्तर्गत है। **'आमिक्षा'** नाम उबलते हुए दूध में दही वा निम्बू डालने से दूध फटकर दो भागों में विभक्त हो जाता है। घना भाग आमिक्षा (लोक में पनीर या छेना) कहाता है, और पानी वाजिन—**'तप्ते पयसि दध्यानयति साऽऽमिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्।'**

[भाष्यम्] तथा—"बैल्वः खादिरो वा यूपः स्याद्" इत्युच्यते। यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन यत्किंचिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्द्धुम्। तत्र नियमः क्रियते।

तथा—"अग्नौ कपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते—भृगूणामङ्गिरसां घर्मस्य तपसा तप्यध्वम्" (तु०—यजुः १।१८) इति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि संतापयति। तत्र नियमः क्रियते—एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति॥

व्याख्या—और—**'बेल अथवा खैर की लकड़ी का बना यूप होवे' ऐसा कहा जाता है। यूप नामवाला [वह होता है, जो] पशु को बांधने के लिये गाड़ा जाता है। इस (=पशु बांधनेवाले) के द्वारा जिस किसी काष्ठ को गाड़कर वा बिना गाड़े पशु बांधा जा सकता है। वहां नियम किया जाता है [बेल अथवा खैर की लकड़ी का ही यूप होना चाहिये]।**

तथा 'अग्नि पर कपालों को रखकर पढ़ते हैं—'भृगुओं और अङ्गिरसों की ऊष्मा के तप से

तप्त होवो।' विना मन्त्रपाठ किये भी दहन=तपानेवाली अग्नि कपालों को तपा देती है। वहां नियम किया जाता है [उक्त मन्त्रोच्चारपूर्वक ही कपालों को तपाओ]—ऐसा करना अभ्युदय करनेवाला होता है।

विवरण—**'यूप'**—पशुयागों में यूप में पशु बांधे जाते हैं। पशुबन्धनरूप दृष्टफल को लक्ष्य में रखकर ही अगला भाष्यवचन है। श्रौतयाग सृष्टियज्ञ के निरूपक हैं, यह हम पूर्व कह चुके। तदन्तर्गत पशुयाग भी सृष्टियज्ञ के रूपक हैं। पशुयाग के द्रव्य दो प्रकार के पशु हैं—ग्राम्य और आरण्य। प्रवृत्त पशुयाग की व्यवस्थानुसार आरण्य पशुओं को मारा नहीं जाता, पर्यग्निकरण (=चारों ओर अग्नि को घुमाने) के पश्चात् छोड़ दिया जाता है।[1] यद्यपि ग्राम्य पशुओं को मार कर होम किया जाता है, तथापि यह विधि नवीन है। पुराकल्प में ग्राम्य पशुओं का स्पर्शमात्र कर्म किया जाता था, मारा नहीं जाता था। यह हम पूर्व (पृष्ठ १४)पर लिख चुके हैं।

सृष्टियज्ञ में यज्ञ का यजमान परमात्मा है। **असौ वा अस्य (अग्निहोत्रस्य कर्तुः) आदित्यो यूपः** (ऐ० ब्रा० ५।२८) वचनानुसार आदित्य यूप है। ये लोक पशु हैं। लौकिक पशु जैसे दो प्रकार के ग्राम्य और आरण्य होते हैं, वैसे ही लोकरूपी पशु भी ग्राम्य और आरण्य हैं। यजुर्वेद ३१।५ में इन्हीं वायव्य आरण्य और ग्राम्य पशुओं का उल्लेख है। जैसे ग्राम्य पशु अपने नियत स्थान खूंटे वा बाड़े में बन्धे वा घिरे रहते हैं, वैसे ही जो लोक आदित्यरूपी यूप से बद्ध हैं, आकर्षण से अथवा उसकी रश्मिरूप रज्जु से बन्धे हुए हैं, अपनी नियत परिधि में ही घूमते हैं, वे ग्राम्य लोक हैं। और जो आदित्यरूपी खूंटे से न बन्धे हुए धूमकेतु वा उल्का-पिण्ड आकाश में विचरते हैं, वे आरण्य लोक हैं। ये आरण्य लोकरूपी पशु जब किसी ग्रह की आकर्षण सीमा में पहुंचते हैं, तो वे आकर्षण-शक्ति से बद्ध होकर=खिचकर उसी ओर बढ़ते हुए उस ग्रह के वायुमण्डल में प्रवेश कर नष्ट-भ्रष्ट=टुकड़े-टुकड़े हो गिर पड़ते हैं। ये आव-हनीय बन जाते हैं, स्व-स्वरूप से नष्ट हो जाते हैं। परन्तु यज्ञों के नाटकरूप होने से यज्ञवेदी में इनका मारण अंगछेद आदि दिखाया नहीं जाता। उत्सर्जन कर दिया जाता है।

ग्राम्य पशुओं का भी पहले उत्सर्जन ही होता था। जैसे सम्प्रति शरीर दागकर सांड, तथा कान में मुरकी डालकर बकरों को छोड़ दिया जाता है। यतः पशुयागों में पशु मारे नहीं जाते थे, इसीलिये इनका नाम भी **'पशुबन्ध'** ही रखा गया है, पशुमेध नहीं। पशुयागों में **यद्-दैवत्यः पशुस्तद्दैवत्यः पुरोडाशः** वचन से पूर्वकाल में पशुयाग के स्थान में पुरोडाश याग किया जाता था। अब याज्ञिक पशु से भी याग करते हैं, और पुरोडाश से भी।

उच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य—नागेश ने इन पदों का अर्थ **संतक्ष्य असंतक्ष्य वा** अर्थात् 'छील कर वा बिना छीले' किया है, यह चिन्त्य है। क्योंकि **आमुग्रेणोत्पुच्छ्रयति** (का० श्रौ० ६।३।७) आदि वचनों में यूप के उच्छ्रयण का जहां भी उल्लेख है, वहां सर्वत्र गड्ढे में यूप को खड़ा करना ही अभिप्रेत है। उत्पूर्वक श्रयति का अर्थ भी ऊपर उठाना=खड़ा करना होता है।

---

१. अश्वमेध में आरण्य अनेक पशु-पक्षी हैं। उनका पर्यग्निकरण के पश्चात् त्याग विहित है—'कपिञ्जलादीन् उत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्' (कात्या० श्रौत २०।६।९)।

इसलिये उच्छ्रित्य अनुच्छ्रित्य का अर्थ होगा—यूप को खड़ा करके=गाड़के अथवा विना खड़ा किये=बिना गाड़े भी पशु बांधा जा सकता है, यह अर्थ करना युक्त है।

कपाल—यज्ञ में पुरोडाश द्रव्य के पाक के लिये विभिन्न प्रकार की नियताकार मिट्टी के पतले तवे के रूप में (जैसी फूटे हुए घड़े की ठीकरियां होती हैं) पात्र बनाये जाते हैं[1]। उनको यज्ञीय अग्नि पर रखकर गरम करते हैं, और उन पर पुरोडाश को रखकर पकाते हैं। उस समय यह मन्त्र बोला जाता है—**भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्** (यजु० १।१८)। सृष्टियज्ञ में आदित्य की रश्मियां ही भृगु और अङ्गिरस हैं। कर्मभेद से ही इनके दो नाम हैं। रश्मियां अपने ताप से दूसरों को तो तपाती हैं=जलाती हैं, परन्तु स्वयं अतप्त सी रहती हैं=स्वयं जलकर नष्ट नहीं होतीं, यही इनका भृगुपन है—**'अर्चिषि भृगुः संबभूव, भृगुर्भृज्यमानो न देहे'** (निरुक्त ३।१७)। रश्मियों के द्वारा ही जड़ चेतन जगत् अनुप्राणित होता है। अतः ये अङ्गों के उस रस के समान हैं, जो शरीराङ्गों को परिपुष्ट रखता है। अङ्गिरस=सूर्य-किरणों को वराह भी कहते हैं[2]। ये वाः (वर्=उदक नाम, निघण्टु १।१२) का आहरण करती हैं, जल को वाष्प रूप देके ले जाती हैं (द्र०—निरुक्त ५।४)।

ये दिशा उपदिशाएं ही कपाल हैं। इनके द्वारा भृगु और अङ्गिरसों का तप=तपन पुरोडाशरूप पृथिवी का परिपाक करता है। ऋग्वेद (१०।२७।२३) का एक मन्त्र है=**'त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः'**। इसका व्याख्यान करते हुए यास्क ने पृथिवी के पाककर्ता वायु आदित्य और पर्जन्य कहे हैं (द्र०—निरुक्त २।२२)। पुरोडाश का पाक विना मन्त्रपाठ के अग्नि कर ही देगा, फिर मन्त्र क्यों पढ़ा जाता है? इसका उत्तर भाष्यकार ने दिया है—मन्त्रपूर्वक पाक करना अभ्युदयकारी है। यह अभ्युदय क्या है? शुष्क याज्ञिकों के मत में मन्त्रपूर्वक पाक करने से एक अदृष्ट उत्पन्न होता है, और उससे फल प्राप्त होता है। सृष्टियज्ञ के रूपक पक्ष में मन्त्रपाठ इसलिये करना आवश्यक है कि उसमें सृष्टियज्ञ के तत्त्व का व्याख्यान होता है। विना ज्ञान के क्रिया करने और ज्ञानपूर्वक क्रिया करने में भारी अन्तर होता है। तदनुसार मन्त्र द्वारा क्रियमाण कर्म की स्थिति का परिज्ञान करने का जो लाभ होता है, वही यहां 'अभ्युदय' इष्ट है।

[भाष्यम्] एवमिहापि समानायामर्थगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते—शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति॥

व्याख्या—इसी प्रकार यहां भी शब्द और अपशब्द से समान अर्थ-ज्ञान होने पर धर्म

१. राजस्थान आदि ग्रामों में आज भी मिट्टी के तवे, अथवा तवे के स्थान में घड़े का नीचे का भाग (जिसे केलड़ी कहते हैं) रोटी पकाने के लिये व्यवहृत होता है।

२. द्र०—अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते। 'ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः' (ऋ० १०।६७।६)। अथाप्येते माध्यमिका देवगणा वराहव उच्यन्ते। 'पश्यन् हिरण्यचक्रान् अयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून्' (ऋ० १।८८।५) निरुक्त ५।४॥

का नियम किया जाता है—शब्द के द्वारा ही अर्थ का कथन करना चाहिये, अपशब्द के द्वारा नहीं। ऐसा (=शब्द के द्वारा अर्थ का कथन) अभ्युदय करनेवाला होता है।

विवरण—अपशब्दों से अर्थ का बोध कैसे होता है, इसमें तीन मत हैं। **प्रथम**—अपशब्द के श्रवण से साधु शब्द का स्मरण होता है, और उससे अर्थज्ञान होता है। **द्वितीय**—आदि में शक्तिभ्रम से रूढता को प्राप्त होकर अपशब्द अर्थ का बोध कराते हैं। आरम्भ में किसी ने शक्ति-वैकल्यादि किसी दोष से **'गावीमानय'** प्रयोग किया। सुननेवाले ने **'गौरानय'** इस विवक्षा को जानकर गौ को उपस्थित किया। समीपस्थ अज्ञानी पुरुष ने इस व्यवहार से कल्पना की कि 'गावी' शब्द सास्नादिमान् पदार्थ का वाचक है। फिर परम्परा से गावी इसी में रूढ़ हो गया। **तृतीय**—शब्दों के समान अपशब्द भी अर्थ के बोधक होते हैं। इन तीनों में अन्तिम पक्ष ही प्रामाणिक है। क्योंकि जिनको साधु शब्द का परिज्ञान ही नहीं, उन्हें कैसे तो साधु शब्द का स्मरण होगा, और कैसे उससे अर्थबोध होगा? द्वितीय पक्ष में अपशब्दोत्पत्ति-काल में शिक्षमाण बालक को शब्दशक्ति की भ्रान्ति कारण कह सकते हैं। परन्तु उसके पश्चात् अपशब्द के रूढ होने पर तो उसी से अर्थबोध होगा। अतः लोकव्यवहार को ध्यान में रखते हुए साधुशब्द और अपशब्द दोनों में अर्थावबोध शक्ति मानना युक्त है। यही बात भाष्यकार ने भी **समानायामर्थगतौ** शब्दों से कही है।

धर्मनियमः—'शब्द के द्वारा ही अर्थ का ज्ञान कराना चाहिये, यह धर्म के लिये नियम है। ऐसा करना ही अभ्युदयकारी होता है', का तात्पर्य यह है कि संस्कृतभाषा के शब्द प्रकृति-प्रत्यय-योग और स्वर के सम्बन्ध से जितने सूक्ष्म अभिप्राय को प्रकट करते हैं, अपभ्रंश शब्दों से वह सूक्ष्म अर्थ बोधित हो ही नहीं सकता। यथा—'गिरि' और 'पर्वत' शब्दों के विशिष्ट अर्थ हैं। जो मैदानी भूमि पर उद्गीर्ण ऊपर उठा हुआ भूभाग है, वह **'गिरि'** कहाता है (द्र०—निरुक्त १।२०)। और जो उद्गीर्ण होते हुए पर्ववान् हो, परस्पर जुड़कर शृङ्खलाबद्ध होकर दूर तक चला गया हो वह **'पर्वत'** कहाता है। पर्वत शब्द के अपभ्रंश पहाड़ से ये दोनों भेद बोधित ही नहीं होते। इतना ही नहीं, वैदिकभाषा में ये गिरि और पर्वत शब्द यौगिकार्थ से मेघों के भी वाचक हैं। जो आकाश में उद्गीर्ण-सा हुआ, किसी भाग में उठा हुआ साधारण बादल है, वह 'गिरि' कहाता है। और जो परस्पर जुड़े हुए महान् समूहवाला होता है, वह 'पर्वत' कहाता है। इसी प्रकार स्वरदोष से अपशब्द बना हुआ अभ्युदय=यथार्थ बोध का करनेवाला न होकर अर्थान्तर का वाचक हो जाता है, यह पूर्व कहा जा चुका है। अतः शब्द का यथावत् अभिप्रेत सूक्ष्मार्थ को कहना ही उसका अभ्युदयकारी होना है। दृष्टफल के विद्यमान होने पर अदृष्ट की कल्पना करना अन्याय्य है।

[भाष्यम्] अस्त्यप्रयुक्तः ॥५॥

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः। तद्यथा—ऊष, तेर, चक्र, पेचेति। किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः? प्रयोगाद्धि भवाञ्छब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः॥

व्याख्या—[शब्द] अप्रयुक्त भी है।

अवश्य ही शब्द अप्रयुक्त भी हैं। जैसे कि—ऊष, तेर, चक्र, पेच आदि। इससे क्या कि शब्द अप्रयुक्त हैं। प्रयोग से ही आप शब्दों का साधुत्व जानते हैं। अतः जो शब्द अब अप्रयुक्त हैं, वे साधु शब्द नहीं होंगे।

विवरण—साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये, असाधु शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये, यह पहले कहा है। उधर कौन शब्द साधु है कौन असाधु, इसका निश्चय भी शिष्टप्रयोग से किया जाता है। अतः जो शब्द शिष्टों द्वारा प्रयुक्त नहीं हैं, वे असाधु होंगे। शास्त्र शिष्टों द्वारा अप्रयुक्त ऊष आदि शब्दों का भी अन्वाख्यान करता है। प्रयोग के अभाव के कारण ये असाधु शब्द हैं। इस प्रकार शास्त्र साधु शब्दों का ही अन्वाख्यान नहीं करता, अपितु असाधु शब्दों का भी अन्वाख्यान करता है। यह पूर्वपक्षी ने कहा है।

वार्तिक में **अस्त्यप्रयुक्तः** एकवचन जाति के अभिप्राय से है। इसीलिये भाष्यकार ने इसका बहुवचन से व्याख्यान किया है। ऊष आदि शब्दों का अन्वाख्यान व्याकरणशास्त्र करता है। **ऊष**—'वस निवासे' धातु के लिट् लकार के मध्यम पुरुष का बहुवचन में रूप बनता है। **तेर**—'तॄ प्लवनसंतरणयोः' धातु का पूर्ववत् मध्यम पुरुष के बहुवचन का रूप है। **चक्र**—यह 'डुकृञ् करणे' का, और **पेच**—'डुपचष् पाके' का पूर्ववत् रूप जानना चाहिये। ये शब्द लोक में व्यवहृत नहीं हैं। व्यवहृत न होने से असाधु शब्द हैं, ऐसा जाना जाता है।

[भाष्यम्] इदं तावद् विप्रतिषिद्धं यदुच्यते—'सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः' इति। यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः। अथाप्रयुक्ता न सन्ति। सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह—सन्ति शब्दा अप्रयुक्ताः, इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात्?

व्याख्या—पहले तो यही परस्पर-विरुद्ध कथन है, जो कहते हो कि—'शब्द हैं और अप्रयुक्त हैं'। यदि [शब्दों की] सत्ता स्वीकार करते हो, तो अप्रयुक्त नहीं हैं। और यदि अप्रयुक्त हैं, तो शब्द नहीं हैं। 'शब्द हैं भी और अप्रयुक्त हैं' यह परस्पर-विरुद्ध कथन है। [इतना ही नहीं, अपने द्वारा अप्रयुक्त रूप से अभिमत शब्दों का] प्रयोग करते हुए ही आप कहते हैं—शब्द हैं, और अप्रयुक्त हैं। भला आप जैसा अन्य कौन पुरुष अब शब्दों के प्रयोग के विषय में साधु होगा?

विवरण—पूर्व प्रकरण में लोक के द्वारा अर्थों में प्रयुक्त शब्दों के प्रयोग में शास्त्र धर्म का नियम करता है। अर्थात् लोकव्यवहृत शब्दों का व्यवहार भी शास्त्र-ज्ञानपूर्वक करना श्रेयस्कर है, ऐसा कहा है। परन्तु जैसे घट आदि पदार्थ अपनी जलाहरणादि क्रिया को न करते हुए भी प्रसिद्ध हैं, वैसे शब्द नहीं हैं। वे अपनी अर्थबोधन क्रिया को करते हुए ही प्रसिद्ध होते हैं। अर्थात् उनकी सत्ता तो प्रयोग पर ही आश्रित है। इस कारण जिनका प्रयोग नहीं देखा जाता, वे शब्द नहीं हैं। इस कारण व्याकरण-शास्त्रोपदिष्ट अप्रयुक्त शब्द हैं। उनका अन्वाख्यान करने से शास्त्र का प्रामाण्य बाधित होता है।

[भाष्यम्] नैतद् विप्रतिषिद्धम्। सन्तीति तावद् ब्रूमः, यदेताञ्छास्त्रविदः

शास्त्रेणानुविदधते। अप्रयुक्ता इति ब्रूमः, यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति। यदप्युच्यते कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति ? न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति। किं तर्हि ? लोकेऽप्रयुक्ता इति। ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके ? अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः ॥

व्याख्या—यह परस्पर-विरुद्ध [कथन] नहीं है। सन्ति='शब्द हैं' यह हम पहले कहते हैं, क्योंकि शास्त्र के जाननेवाले इन शब्दों का अनुविधान करते हैं। [फिर ये शास्त्र से अनुविहित शब्द] 'प्रयुक्त नहीं हैं' [ऐसा कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि] ये लोक में अप्रयुक्त हैं। और जो यह कहते हो कि आप जैसा अन्य कौन पुरुष शब्दों के प्रयोग विषय में साधु होगा ? हम नहीं कहते कि हमारे द्वारा ये शब्द अप्रयुक्त हैं। तो फिर क्या ? लोक में अप्रयुक्त हैं। आप भी तो लोक में हैं ? मैं लोक के अन्तर्गत तो हूं, पर मैं ही लोक नहीं हूं।

विवरण—उत्तर का भाव यह है कि 'ऊष' आदि शब्दों की प्रकृति और प्रत्ययों का शास्त्र में निर्देश होने से इनका सद्भाव अनुमानित है। परन्तु लोक में इनका प्रयोग नहीं होता। न त्वहं लोके का तात्पर्य यह है—जैसे लोक (लोकस्थ पुरुष) अर्थों का बोधन कराने के लिये शब्दों का प्रयोग करते हैं, वैसे मैंने अर्थावबोधन के लिये इनका प्रयोग नहीं किया है।

[भाष्यम्] अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात् ॥६॥

अस्त्यप्रयुक्तः, इति चेत् तन्न। किं कारणम् ? 'अर्थे शब्दप्रयोगात्'। अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्था, येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते ॥

व्याख्या—शब्द है [पर]=अप्रयुक्त है, ऐसा कहो तो ठीक नहीं है, इन शब्दों के अर्थ में शब्दों का प्रयोग होने से।

शब्द है पर अप्रयुक्त है, ऐसा कहो तो यह ठीक नहीं। क्या कारण है ? 'अर्थ में शब्द का प्रयोग होने से।' अर्थ में शब्द प्रयुक्त होते हैं। इन (=ऊष आदि) शब्दों के अर्थ विद्यमान हैं, जिन अर्थों में ये प्रयुक्त होते हैं।

विवरण—इसका भाव यह है कि अर्थ का विद्यमान होना शब्द के अस्तित्व में प्रमाण है। कोई भी अर्थ ऐसा नहीं है, जिसका बोधक शब्द न होवे। अथवा शब्द और अर्थ में अर्थ प्रधान है, और शब्द गौण है। इसलिये प्रधान अर्थ के विद्यमान होने पर प्रधान के साथ तदर्थ-बोधक शब्द को भी होना ही चाहिये।

[भाष्यम्] अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात् ॥७॥

अप्रयोगः खल्वेषां शब्दानां न्याय्यः। कुतः ? 'प्रयोगान्यत्वात्'। यदेतेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्शब्दान्प्रयुञ्जते। तद्यथा—ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे—क्व यूयमुषिताः। तेरेत्यस्यार्थे—क्व यूयं तीर्णाः। चक्रेत्यस्यार्थे—क्व यूयं कृतवन्तः। पेचेत्यस्यार्थे क्व यूयं पक्ववन्त इति ॥

व्याख्या—[ऊष आदि शब्दों का] अप्रयोग है, [इनके अर्थ में] अन्य शब्दों का प्रयोग होने से।

इन [ऊष आदि] शब्दों का अप्रयोग ही न्याय्य है। किस कारण से? 'अन्यों का प्रयोग होने से।' जो इन शब्दों के अर्थों में अन्य शब्दों का प्रयोग करते हैं। जैसे—'ऊष' इस शब्द के अर्थ में—क्व यूयमुषिताः (=कहां तुमने निवास किया था)। 'तेर' इस शब्द के अर्थ में क्व यूयं तीर्णाः (=कहां तुमने तैरा था)। 'चक्र' इस शब्द के अर्थ में क्व यूयं कृतवन्तः (=कहां तुमने किया था)। 'पेच' शब्द के अर्थ में क्व यूयं पक्ववन्तः (=कहां तुमने पकाया था) [का प्रयोग करते हैं]।

विवरण—'प्रयोगान्यत्वात्' यहां 'प्रयुज्यत इति प्रयोगः' व्युत्पत्ति से 'शब्द' का निर्देश है। प्रयोगो (शब्दो)ऽन्योऽस्यार्थस्य=प्रयोगान्यः। बहुव्रीहौ सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम् (महा० २।२।३५)से अन्य शब्द का परनिपात जानना चाहिये।

प्रकृत में पूर्वपक्षी का भाव यह है कि यदि 'ऊष' आदि शब्दों का जो अर्थ है, उस अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग न होवे, तो अर्थसद्भाव से शब्दसद्भाव का अनुमान हो सकता है। परन्तु 'ऊष' आदि शब्दों के अर्थों में अन्य शब्दों का प्रयोग देखा जाता है, अतः उक्त अनुमान का यहां अवसर ही नहीं रहता। यद्यपि 'ऊष' आदि शब्दों के द्वारा जो मध्यमपुरुषत्व और परोक्षभूतत्व की प्रतीति होती है, वह 'उषिताः' आदि से नहीं होती। इसलिये लोक में 'क्व यूयम्' पदों के साथ उषिताः आदि का प्रयोग किया जाता है। 'क्व' से परोक्षत्व, और 'यूयम्' से मध्यमपुरुषत्व का बोध होता है।

[भाष्यम्] अप्रयुक्ते दीर्घसत्त्रवत् ॥८॥

यद्यप्यप्रयुक्ताः, अवश्यं दीर्घसत्त्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः। तद्यथा—दीर्घसत्त्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च। न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति। केवलमृषिसंप्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते॥

व्याख्या—अप्रयोग में दीर्घसत्र के समान [शास्त्रकारों द्वारा विधान] जानना चाहिये।

यद्यपि ['ऊष' आदि शब्द, इस समय] अप्रयुक्त हैं, फिर भी दीर्घसत्र के समान लक्षण (=शास्त्र) के द्वारा इनका अनुविधान करना चाहिये। जैसे—सौ वर्ष में होनेवाले वा सहस्र वर्ष में होनेवाले दीर्घसत्र हैं। इनको आजकल कोई भी नहीं करता। फिर भी केवल वेद से प्रदत्त (=बोधित) धर्म है, इसलिये याज्ञिक लोग शास्त्र (=कल्पसूत्रों) के द्वारा अनुविधान करते हैं।

विवरण—'यद्यप्यप्रयुक्ताः' यहां 'इदानीम्' पद का अध्याहार करना चाहिये। द्रष्टव्य—पूर्वत्र 'य इदानीमप्रयुक्ताः' पाठ, तथा इसी सन्दर्भ में 'न चाद्यत्वे' पद। दीर्घसत्र के दृष्टान्त से यह बोधित होता है कि जैसे दीर्घसत्र पहले किये जाते थे, आजकल नहीं किये जाते, उसी प्रकार 'ऊष' आदि शब्द पहले प्रयुक्त थे, सम्प्रति अप्रयुक्त हैं। 'ऊष' आदि शब्दों को सर्वथा अप्रयुक्त मानने पर इदानीम् अद्यत्वे पदों का, तथा अतिदीर्घसत्रों का दृष्टान्त उपपन्न नहीं होगा।

सत्र—सोमयाग दो प्रकार के होते हैं। एक में—एक यजमान होता है, और यजमान द्वारा दक्षिणा से प्रेरित कर्म करनेहारे १६ ऋत्विज होते हैं। इस प्रकार के याग का फल केवल यजमान को प्राप्त होता है। दूसरा—सोमयाग के बहुद्रव्य साध्य होने से एक यजमान द्वारा न किये जा सकने पर १७ सत्रह परिवार मिलकर जिस सोमयाग को करते हैं, वह **सत्र** कहाता है। यतः सभी सत्रह परिवार मिलकर याग करते हैं, अतः सभी यजमान होते हैं। परन्तु याग की पूर्ति के लिये उनमें एक यजमान बनता है, और १६ ऋत्विक् कर्म करते हैं। इसीलिए सत्र के लिये शास्त्रकारों ने कहा है—**'य एव यजमानास्त एव ऋत्विजः**। सब के द्वारा मिलकर कार्य करने से याग का फल सभी को समानरूप से प्राप्त होता है।

श्रौतयज्ञ सृष्टियज्ञ की अनुकृतियां हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। तदनुसार सहस्र चतुर्युगी तक प्रवर्तमान सृष्टियज्ञ के एक-एक भाग का व्याख्यान करने के लिये शास्त्रकारों ने अत्यल्प कालसाध्य अग्निहोत्र से लेकर सहस्रवर्षसाध्य यागों तक का अनुविधान किया है। यहां **अनुविदधते** प्रयोग द्रष्टव्य है। सृष्टियज्ञ का मूल विधान वेद में है। इसी का निर्देश यहां **ऋषि-सम्प्रदायः** शब्द से किया है। 'ऋषि' नाम वेद का है, इससे अत्यन्त परोक्ष वा सूक्ष्म अर्थ का दर्शन=ज्ञान होता है। **संप्रदीयत इति सम्प्रदायः=बोधित इत्यर्थः। कर्मणि घञ्। ऋषिणा ऋषिभिर्वा सम्प्रदायः (=बोधितः)=ऋषिसम्प्रदायः**। उसी वेद-बोधित सृष्टियज्ञ का कल्प-सूत्रकार अनु=वेदानुकूल विधान करते हैं।

वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि[1]—ये सौ वर्षों अथवा सहस्र वर्षों द्वारा साध्य याग प्राचीन ऋषि किया करते थे, आजकल ये नहीं किये जाते हैं। इसका संकेत **न चाद्यत्वे** पदों द्वारा स्पष्ट किया है। प्राचीनकाल में इतने दीर्घकालिक यज्ञ कैसे किये जाते थे? इसका उत्तर जैमिनीय ब्राह्मण (१।३) के निम्न वचन में निहित है—

'तेऽब्रुवन् देवशरीरैर्वा इदममृतशरीरैः समापयाम, न इदं मनुष्यास्समाप्स्यन्ति। एतेमं यज्ञं संभरामेति, तं संवत्सरमभिसमभरन्। तेऽब्रुवन् महद् वा इदं सममेव भरामेति। तं द्वादशाहम् अभिसमभरन्। तेऽब्रुवन् महद् वा इदं समेवाभिभरामेति। तं पृष्ठ्य षडहम् अभि-समभरन्। तेऽब्रुवन् महद् वा इदं समेव भरामेति।' इत्यादि

इसका भाव यह है कि—'देवों ने कहा—हमने देवशरीरों से अथवा [अमृतपान से] अमृत शरीरों=दीर्घायुष्यवाले शरीरों से इस [३०० वर्ष के यज्ञ] को समाप्त किया। मनुष्य इसको समाप्त नहीं कर सकेंगे। इसलिये इसको संक्षिप्त करें। उन्होंने एक वर्ष का संक्षेप किया। देवों ने विचारा यह भी बड़ा है, इसे और संक्षिप्त करें। उन्होंने बारह दिन का संक्षेप किया। फिर बोले यह भी बड़ा है, इसे और संक्षिप्त करें। उन्होंने छः दिन का संक्षेप किया। वे बोले यह भी बड़ा है, इसे और संक्षिप्त करें। उसको त्रिरात्र द्विरात्र अप्तोर्याम वाजपेय षोडशी उक्थ्य अग्निष्टोम इष्टि पशुबन्ध चातुर्मास्य दर्शपौर्णमास और सायं-प्रातः अग्निहोत्र की आहुति के रूप में क्रमशः संक्षिप्त किया।[2]

१. वार्षशतिक सत्र साध्यों के तथा वार्षसहस्रिक विश्वसृजों के हैं। द्र०—कात्या० श्रौत २४।५।२३,२४॥

२. द्र०—मास और द्वादशाह का निर्देश मीमांसा ६।७।३९,४० शाबरभाष्य।

इससे स्पष्ट है कि पुराकाल में देवशरीरधारी मानवों की आयु का परिमाण(=औसत) अधिक था[1]। तथा सोम आदि रसायन के सेवन से भी दीर्घायुष्य सम्भव था। उत्तरकाल में मानव आयु के ह्रास के कारण और दीर्घायुष्यकारक प्रधान रसायन सोम के दुर्लभ हो जाने पर उक्त दीर्घसत्रों को शास्त्रकारों ने पहले कुलसत्र के रूप में प्रचलित किया (कात्या० श्रौत १।६।१७-२३; मीमांसा ६।७।३१-३५)। इस प्रकार एक यजमान के निधन हो जाने पर उसके स्थान में उसके पुत्र को दीक्षित किया जाता था।

उत्तरकाल में कुल-परम्परा के दूषित हो जाने पर जब कुलसत्र के रूप में भी इन का प्रयोग असम्भव हुआ, तब उत्तरवर्ती ऋषियों ने वर्ष को दिनपरक मानकर सहस्र दिन साध्यत्व का विधान किया (कात्या० श्रौत १।६।२५-२७; मीमांसा ६।७।३८-४०)। ऋषियों का तात्पर्य यही रहा कि इनका लोप न होवे। परन्तु मनुष्यों के आलसी(=आराम पसन्द) होने से सहस्र दिन साध्य क्रतुओं का करना भी प्रायः बन्द हो गया। तब भी वेदप्रबोधित सृष्टियज्ञरूप विज्ञान सर्वथा नष्ट न हो जावे, इसलिये ऋषि लोग कल्पसूत्रों में उसका विधान करते रहे। उत्तरकाल में तो यज्ञों के सम्बन्ध में इतना अज्ञान प्रसृत हो गया कि इन्हें ही मुख्य धर्म मान लिया। वेद की प्रवृत्ति भी द्रव्य यागों तक सीमित कर दी, और मन्त्रों के यज्ञों में विनियोग-मात्र से अदृष्ट की कल्पना करने लगे। मन्त्रों को अनर्थक-पदसमुदाय के समान सर्वथा अर्थ-रहित माना जाने लगा। यास्क और जैमिनि आचार्य ने बड़े प्रयत्न से 'मन्त्रानर्थक्यवाद' का खण्डन करके मन्त्रों का सार्थत्व सिद्ध किया (द्रष्टव्य=क्रमशः निरुक्त १।१६; तथा मीमांसा १।२।४०-५३)। इसी मन्त्रानर्थक्यवाद का खण्डन ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य ने शतपथ में प्रतिमन्त्र अर्थ-प्रवचन द्वारा किया।

[भाष्यम्] सर्वे देशान्तरे ॥९॥

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरे प्रयुज्यन्ते। न चैत उपलभ्यन्ते? उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्, महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्शब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोग-विषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रम् ॥

व्याख्या—सब शब्द देशान्तर में [प्रयुक्त होते हैं]।

और भी, ये सब शब्द देशान्तर में प्रयुक्त होते हैं। [यदि देशान्तर में प्रयुक्त होते हैं, तो] उपलब्ध तो नहीं होते? उपलब्धि में यत्न करना चाहिये। शब्द के प्रयोग का क्षेत्र महान् है। सप्तद्वीपवाली यह पृथिवी है, तीन लोक हैं, चारों वेद अङ्गों सहित, रहस्यों (=उपनिषदों) सहित बहुत प्रकार से भिन्न हैं। एक सौ एक अध्वर्यु (=यजुः) की शाखाएं हैं, सहस्रमार्गवाला

१. यह भाव आयुर्वेदीय चरक संहिता के '**इदानीं वर्षशतमायुषः प्रमाणम्**' (शारीर० ६।२६) वाक्य से भी बोधित होता है। यहां 'इदानीम्' शब्द से अग्निवेशकृत तन्त्र के चरक (वैशम्पायन) के प्रवचनकाल अर्थात् द्वापर के अन्त अथवा कलि के प्रारम्भकाल का संकेत है।

सामवेद है, इक्कीस प्रकार का बह्वृचों (=ऋग्वेदियों) का आम्नाय है, नौ प्रकार का आथर्वण वेद है, वाकोवाक्य (=उक्ति-प्रत्युक्तिरूप ग्रन्थ), इतिहास, पुराण, वैद्यक इतना शब्द के प्रयोग का क्षेत्र है। इतने विस्तृत शब्द के प्रयोग-क्षेत्र का अनुशीलन न करके—'शब्द हैं, पर प्रयुक्त नहीं हैं' यह कहना केवल साहसमात्र है।

विवरण—तीन लोक—द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, और पृथिवी लोक। सप्त द्वीपोंवाली पृथिवी का ही पार नहीं पा सकते, फिर लोक-लोकान्तरों की क्या कथा? इस भाव को दर्शाने के लिये **त्रयो लोकाः** का निर्देश किया है। **एकशतम्**[1]—एकोत्तरशतमित्यर्थः। कई लोग **एकशतम्** का अर्थ 'सौ' करते हैं, वे संस्कृत-वाग्व्यवहार से अनभिज्ञ हैं। 'सौ' अर्थ के लिये केवल **शतम्** प्रयोग होता है, अथवा **एकं शतम्**। शत शब्द से पूर्व एक द्वि संख्यायें जहां प्रयुक्त होती हैं, वहां 'उत्तर' पद लोप जानना चाहिये—**एकोत्तरशत(१०१), द्व्युत्तरशत (१०२)** आदि। जहां **'शत'** संख्या के एकत्व द्वित्व को कहना अभिप्रेत होता है, वहां या तो असमस्त प्रयोग होता—**एकं शतम्, द्वे शते, त्रीणि शतानि,** अथवा शत शब्द के आगे निर्देश होगा—**शतैकम्, शतद्वयम्, शतत्रयम्**। म० म० पं० गङ्गानाथ झा ने छान्दोग्य उपनिषद् (३।७।१६) के **स ह षोडशवर्षशतमजीवत्** का अर्थ—**'वह महीदास ऐतरेय सोलह सौ वर्ष जीया'** किया है[2]। यह अर्थ न केवल भाषा की प्रयोगशैली के विरुद्ध है, अपितु पूर्व प्रकरण के भी विरुद्ध है। इससे पूर्व वसु रुद्र आदित्य के अनुक्रम से २४+४४+४८ वर्षों का निर्देश है, इन वर्षों का योग ११६ ही होता है। **सहस्रवर्त्मा**—इसका अर्थ प्रकरणानुसार 'सहस्रशाखाओंवाला' ही होता है। क्योंकि ऋग्वेद यजुर्वेद और अथर्ववेद की क्रमशः २१, १०१, ९ शाखाएं स्वीकार की जाती हैं। इतना ही नहीं, प्राचीन वाङ्मय में बहुत्र 'सहस्रशाखावाला सामवेद' ऐसा स्पष्ट निर्देश मिलता है। यथा—

'सहस्रशाखं यत्साम ये वै वेदविदो जनाः।
गायन्त्यारण्यके विप्रा मद्भक्तास्ते हि दुर्लभाः॥' शान्तिपर्व ३४२।९८॥

श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन (पृष्ठ १२७) में लिखा है कि सामवेद की तेरह ही शाखाएं हैं। **सहस्रवर्त्मा सामवेदः** का तात्पर्य सहस्रविध गान से है। सम्भवतः पं० सामश्रमी ने यह तात्पर्य मीमांसा शाबरभाष्य ९।२।२९ से लिया है।[3] याजुष परिशिष्ट तथा ऋग्वेदीय चरणव्यूह में **सहस्रभेद आसीत्** लिखा है। आथर्वण चरणव्यूह में भी **सामवेदस्य शाखासहस्रमासीत्** लिखा है।

बाह्वृच्यम्—**बह्वृचानामाम्नायो धर्मो वा बाह्वृच्यम्**—**'छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः'** (४।३।१२९) से 'ञ्य' प्रत्यय। **वाकोवाक्य**—का अर्थ उक्तिप्रत्युक्ति रूप ग्रन्थ है। तदनुसार न्यायादि दर्शनशास्त्रों का, जिनमें पूर्वपक्षोत्तरपक्ष निर्देशपूर्वक विचार किया है, ग्रहण

---

१. षष्ठीस्थानेयोगा सूत्र के भाष्य में नागेश ने एकशतं का अर्थ १०० किया है वह चिन्त्य है। २. द्र०—मनुस्मृति मेधातिथि-भाष्य अंग्रेजी अनुवाद १।८३॥ ऐसा ही राजेन्द्रलाल मित्र ने ऐतरेय आरण्यक की भूमिका पृष्ठ ३ की टिप्पणी में लिखा है।

३. सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः।

जानना चाहिये ।[1] गौतम स्मृति के मस्करी भाष्य (८।६) में—'**वाकोवाक्यम् उक्तिप्रत्युक्तिरूपं तर्कशास्त्रम्**' अर्थ लिखा है। भर्तृहरि ने—**किस्वावपनं महत्, भूमिरावपनं महत्** (यजुः २३। ४५-४६) मन्त्रांशों का निर्देश किया है, वह युक्त नहीं है। क्योंकि ये वेदान्तर्गत होने से वेद के ग्रहण से गृहीत हो जाते हैं। **इतिहास**—से रामायण महाभारत आदि 'पूर्वचरित-संकीर्तन' करनेवाले ग्रन्थ गृहीत हो जाते हैं। **पुराण**—से सर्ग-प्रतिसर्ग मन्वन्तर तथा वंश आदि का कथन करने वाले ग्रन्थ गृहीत होते हैं। सम्प्रति प्रसिद्ध १८ पुराण उपपुराणों का निर्देश यहां नहीं है। क्योंकि ये प्रधानतया पुराणलक्षण से विरहित हैं, और साम्प्रदायिक अर्वाचीन रचनाएं हैं। **वैद्यक**—से चरक सुश्रुत काश्यप आदि संहिताओं का ग्रहण जानना चाहिये। यहां भाष्यकार ने वैदिक लौकिक वाङ्मय का परिगणन नहीं किया है, अपितु शब्द के प्रयोगक्षेत्र के विस्तार का दिग्दर्शनमात्र कराया है।

[भाष्यम्] एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा—शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु। गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु॥

व्याख्या—**[इतना ही नहीं,] इतने महान् शब्द के प्रयोग-विषय में भी वे अर्थात् बहुत से शब्द नियतविषयवाले देखे जाते हैं। जैसे कि—गत्यर्थक 'शव' धातु कम्बोज देश में ही बोली जाती है। आर्य लोग विकार (=कृदन्तरूप अथवा मुर्दा अर्थ) में ही 'शव' ऐसा प्रयोग करते हैं। [गत्यर्थक] 'हम्म' धातु का सौराष्ट्र में, 'रंह' का प्राच्य और मगध में [प्रयोग होता है]। आर्य लोग 'गम' धातु का ही प्रयोग करते हैं। प्राच्य देश में लवनार्थ में 'दाति' ऐसा तिङन्त रूप [प्रयुक्त होता है], उदीच्य देश में 'दात्रम्' [ऐसा कृदन्त रूप बोला जाता है]।**

विवरण—'**ते ते—नियतविषया दृश्यन्ते**' से पूर्वनिर्दिष्ट सप्तद्वीपा वसुमती के भिन्न-भिन्न देश और पूर्वनिर्दिष्ट वाङ्मय के विशिष्ट ग्रन्थ दोनों ही का ग्रहण अभीष्ट है। भाष्यकार ने आगे केवल देशान्तरों में नियतविषयक शब्दों के उदाहरण दिये हैं। भर्तृहरि ने वाङ्मय के विशेष क्षेत्र में प्रयुक्त '**पुरुषी**' शब्द का उदाहरण दिया है। वह लिखता है कि—'**तस्यामनड्वाहीं पुरुषीं च धेनुके दक्षिणे दत्त्वा**'[2] यह मैत्रावरुणीयों के कल्प में मिलता है।

विकारे एव—इसके दो अर्थ हैं—विकार में अर्थात् जीते हुए प्रकृतिस्थ पुरुष के मृत-विकार में, तथा 'शव' धातु का अच्प्रत्ययान्त जो कृदन्तरूप विकार। भर्तृहरि ने प्रथम 'मृत' रूप विकार का निर्देश करके **विकारमस्यार्येषु भाषन्ते** इस निरुक्त पाठ (२।२) को उद्धृत करके 'शव धातु के असुन्प्रत्ययान्त का जो विकार एकदेश' अर्थ किया है। लोक में मृत शरीर के लिये अच्प्रत्ययान्त 'शव' शब्द, और असुन्प्रत्ययान्त 'शवस्' शब्द दोनों का प्रयोग होता है।

प्रकृत में यास्क मुनि द्वारा निर्वचन की प्रक्रिया के प्रकरण में 'वैदिक धातु से लौकिक कृदन्त शब्द का, तथा लौकिक धातु से वैदिक कृदन्त शब्दों का, तथा किसी देशविशेष में प्रयुक्त धातु से अन्य देश में प्रयुक्त कृदन्त शब्दों का निर्वचन करना चाहिये' लिखा प्रसङ्ग भी अवलोकनीय है।

१. द्रष्टव्य—'नामिक' ग्रन्थ वैदिक यन्त्रालय मुद्रित।

२. तुलना करो—'तस्यामश्वां च पुरुषीं च धेनुके दद्युः'। आश्व० श्रौत १२।६।३०॥

इसी प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में नियत शब्दों का प्रयोग जानना चाहिये। यथा—

१. 'योषित्' के लिये **योषा**। महा० शान्ति० १६७।३८॥

२. 'योषित्' के लिए **योषिता**। महा० द्रोण० २६।४२; मुण्डक २।१।५; तथा मराठी भाषा में।

३. 'मूर्च्छा' के लिये **मूर्च्छाय**। चरक सूत्र १६।३,४॥

४. 'शिरस्' के लिये **शीर्ष**। विष्णुधर्मोत्तर (वीरमित्रोदय, लक्षणप्रकाश, पृष्ठ २२३ में उद्धृत); तथा अष्टाध्यायी ३।२।५१ में स्मृत।

५. 'द्यूत' के लिये **दयूत**। महा० सभा० ६०।५॥

६. 'त्रि' के लिये **त्रय** अकारान्त। माध्य० सं० १२।१६; २०।११॥ तथा **'त्रयस्'** त्रयोदश आदि शब्दों में।

७. 'कन्या' के लिये **कनीना** शब्द। द्र०—'कानीन' शब्द, तथा अवेस्ता (हू ओम यश्त ६।२३) में 'कइनीन' अपभ्रंश।

यह प्रयोग का नियतविषयत्व अति विपुल संस्कृतभाषा के ह्रास के कारण उपलब्ध होता है। संस्कृतभाषा में किस प्रकार शब्दों का ह्रास हुआ है, इसके लिये हमारे 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का 'संस्कृतभाषा की उत्पत्ति विकास और ह्रास' नामक प्रथम अध्याय देखना चाहिये। वहां विस्तार से सोदाहरण संस्कृतभाषा के ह्रास का दिग्दर्शन कराया है।

[भाष्यम्] ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व? वेदे। 'यद्वो रेवती रेवत्यं तदूष। यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र (ऋ० वे० १।१६५।११)। यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्' इति (ऋ० वे० १।८६।६)।

किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्मः आहोस्वित् प्रयोगे? कश्चात्र विशेषः?

ज्ञाने धर्म इति चेत् तथाऽधर्मः ॥१०॥

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाधर्मोऽपि प्राप्नोति। यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः।

अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा—गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः॥

व्याख्या—**और भी, जो आप के द्वारा 'अप्रयुक्त' रूप से अभिमत शब्द हैं, इनका भी प्रयोग देखा जाता है। कहां? वेद में। जैसे**—'यद्वो रेवती रेवत्यं तदूष'[1] (अनुपलब्ध मूल); 'यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र' (ऋ० १।१६५।११); 'यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्' (ऋ० १।८६।६) इति।

तो क्या शब्द के ज्ञान में धर्म है, अथवा प्रयोग में? इसमें क्या विशेष है, अर्थात् शब्द के ज्ञान में धर्म मानने में, अथवा शब्द के प्रयोग में धर्म मानने में क्या विशेषता है?

१. ऋग्वेद ४।५१।४ में 'सप्तास्ये रेवती रेवदूष' पाठ मिलता है।

ज्ञान में धर्म है, ऐसा मानते हो, तो उसी प्रकार (=अपशब्दों के ज्ञान में) अधर्म प्राप्त होता है।

[शब्द के] ज्ञान में धर्म मानते हो, तो उसी प्रकार अधर्म भी प्राप्त होता है। जो शब्दों को जानता है; वह अपशब्दों को भी जानता है। [इस कारण] जैसे शब्द के ज्ञान में धर्म है, तो उसी प्रकार अपशब्द के ज्ञान में अधर्म भी प्राप्त होता है।

अथवा अधर्म अधिक प्राप्त होता है। अपशब्द अधिक हैं, शब्द अल्प हैं। एक-एक शब्द के बहुत अपभ्रंश हैं। जैसे—एक गौ शब्द के गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्यादि बहुत से अपभ्रंश हैं।

विवरण—'भूयांसः, अल्पीयांसः' में पूर्ववत् (पृष्ठ ३९—'लघीयान्') ईयसुन् प्रत्यय है।

[भाष्यम्] आचारे नियमः ॥११॥

आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते—'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः' इति ॥

व्याख्या—आचार (=व्यवहार=प्रयोग) में नियम है। वेद आचार (=व्यवहार =प्रयोग) में नियम बताता है—'वे असुर हेलयो हेलयः' ऐसा [प्रयोग] करते हुए पराजित हुए।

विवरण—इसका भाव यह है कि असुरों के पराभव में 'हेलयो हेलयः' ऐसा अपप्रयोग कारण था। इस कारण जैसे अपशब्द के प्रयोग में अधर्म कहा है, वैसे ही शब्द के प्रयोग में धर्म है। न शब्द के ज्ञान में धर्म है, और न अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म।

[भाष्यम्] अस्तु तर्हि प्रयोगे।

प्रयोगे सर्वलोकस्य ॥१२॥

यदि प्रयोगे धर्मः, सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत। कश्चेदानीं भवतो मत्सरः, यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत? न खलु कश्चिन्मत्सरः। प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति। फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम्। न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः ॥

व्याख्या—अच्छा तो प्रयोग में [धर्म माना जावे]।

यदि प्रयोग में धर्म होता है, तो सर्वलोक का [धर्म से सम्बन्ध हो जायेगा]।

यदि प्रयोग में धर्म होता है, तो सारा संसार अभ्युदय से युक्त हो जायेगा। तो इसमें आपको क्या जलन है, यदि सारा संसार अभ्युदय से युक्त हो जाता है? कोई जलन नहीं है। [शब्द के जानने के] प्रयत्न का आनर्थक्य तो होता है। प्रयत्न को फलवान् होना चाहिये। प्रयत्न को फल से रहित नहीं करना चाहिये।

विवरण—'सर्वो लोकः' से तात्पर्य साधु शब्दों के प्रयोक्ताओं से है। चाहे उन्होंने साधु

शब्दों के परिज्ञान के लिये व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया है, अथवा विना किये ही मातृभाषा के रूप में साधु शब्दों का प्रयोग करते हैं।

[भाष्यम्] ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान्प्रयोक्ष्यन्ते, त एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते। व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते। दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणाः, अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः। तत्र फलव्यतिरेकोऽपि स्यात्॥

व्याख्या—अच्छा तो जिन्होंने [शब्दों के] ज्ञान में प्रयत्न किया है, वह अच्छा शब्द प्रयोग करेंगे, और वे ही अच्छे (=बहुतर) अभ्युदय से युक्त होंगे। [फल का] राहित्य भी देखा जाता है। लोक में देखा जाता है कि प्रयत्न करने वाले प्रवीण नहीं होते, और प्रयत्न न करनेवाले प्रवीण होते हैं। ऐसी स्थिति में फल का व्यतिरेक (=उलट-पुलट) भी देखा जाता है। अर्थात् कहीं प्रयत्न अनर्थक भी होता है।

विवरण—'साधीयः' क्रियाविशेषण है। प्रयोग में धर्म मानने में जो प्रयत्न का आनर्थक्य कहा है, वैसा व्याकरणाध्ययनरूप प्रयत्न का आनर्थक्य तो तुम्हारे मत में भी प्राप्त होता है। क्योंकि व्याकरणाध्ययन में प्रयत्न करनेवाले भी शब्द प्रयोग में कुशल नहीं होते हैं, और प्रयत्न न करनेवाले मातृभाषा के रूप में साधु शब्दों को जाननेहारे शब्द-प्रयोग में कुशल देखे जाते हैं।

[भाष्यम्] एवं तर्हि नापि ज्ञान एव धर्मः, नापि प्रयोग एव। किं तर्हि ?

शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत् तुल्यं वेदशब्देन॥१३॥

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान्प्रयुङ्क्ते, सोऽभ्युदयेन युज्यते। 'तत्तुल्यं वेदशब्देन।' वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—"योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद"; "योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद॥"

व्याख्या—अच्छा तो, नाही [शब्द के] ज्ञान में धर्म है, और नाही प्रयोग में। तो क्या, अर्थात् किसमें धर्म है ?

शास्त्रपूर्वक प्रयोग में अभ्युदय होता है, यह वेद शब्द से समानता रखता है।

शास्त्रपूर्वक जो शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है। 'यह वेद शब्द से समानता रखता है।' वेद के शब्द भी इसी प्रकार कहते हैं—'जो अग्निष्टोम से यजन करता है, और जो इसको इस प्रकार जानता है', 'जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, और जो इसको इस प्रकार जानता है।'

विवरण—'शास्त्रपूर्वके प्रयोगे'—का तात्पर्य है व्याकरणशास्त्र के द्वारा शब्दों को जानकर प्रयोग में लाना। **तत्तुल्यं वेदशब्देन**—अर्थात् वेद के शब्दों से बोधित जो अर्थ उसके समान। **योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनं वेद** को एक वाक्य मानकर उक्त तुल्यता दर्शाई है।

क्योंकि यजन में विद्वान् ही अधिकारी है, अविद्वान् नहीं[1]। अतः जो अग्निष्टोम को यथावत् जानता है, और उससे यजन करता है, वह स्वर्गादि अभ्युदय से युक्त होता है। अन्य आचार्य उक्त वचन में दो वाक्य मानते हैं—जो अग्निष्टोम से यजन करता है, और जो अग्निष्टोम को यथावत् जानता है, वे दोनों समान अभ्युदय के भागी होते हैं। हमारे विचार में यह एकवाक्य ही है, परन्तु यथाक्रम ही इनका सम्बन्ध है। तदनुसार जो अग्निष्टोम से यजन करता हुआ उसकी अधिदैवत और अध्यात्म में परिणति को जान लेता है, वही अभ्युदय का भागी हो जाता है। इसी तत्त्व का उपदेश ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार किया है—

'आत्मयाजी श्रेया३न् देवयाजी३इत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात्। स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत, इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते इति। स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्यतैवमस्मान्मर्त्याच्छरीरात् पाप्मनो निर्मुच्यते।' शत० ११।२।६।१३॥

अर्थात् आत्मयाजी श्रेष्ठ है वा देवयाजी? आत्मयाजी ऐसा कहना चाहिये। वह आत्मयाजी है, जो देवयजन की क्रिया करता हुआ जानता है कि इस क्रिया से मेरा यह अङ्ग संस्कृत हुआ है, इस से मेरा यह अंश वृद्धि को प्राप्त हुआ है। ऐसा आत्मयाजी उसी प्रकार इस मर्त्य शरीर से छूट जाता है, जैसे सर्प अपनी कैंचुली से अनायास मुक्त होता है।

और जो यह कहा है कि विद्वान् ही यजन में अधिकारी होता है, उसका तात्पर्य याग की प्रक्रिया के ज्ञान तक सीमित है।

नाचिकेत अग्नि—नचिकेता ने यमाचार्य से जिस अग्निचयन याग विशेष का ज्ञान प्राप्त किया था, वह अग्नि नाचिकेत के नाम से प्रसिद्ध हुई। **तवैव नाम्ना भवितायमग्निः** (कठो० १।१।१६)।

[भाष्यम्] अपर आह—तत्तुल्यं वेदशब्देनेति। यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्ति, एवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति॥

व्याख्या—अन्य आचार्य कहते हैं—वह तुल्य है वेदशब्द से। जैसे वेद के शब्द [अध्ययन के] नियमों के अनुसार पढ़े हुए फलवान् होते हैं, इसी प्रकार जो शास्त्रपूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है।

विवरण—पूर्व व्याख्यान में **वेदस्य शब्दा वेदशब्दाः** षष्ठी तत्पुरुष समास माना है। इस व्याख्यान में **'वेदश्चासौ शब्दश्च, ते'** कर्मधारय समास स्वीकार किया है।

वेदाध्ययन के नियम धर्मशास्त्रों में विस्तार से कहे हैं। गुरु से छल करके जो अध्ययन करता है, उस की विद्या कृतकार्य नहीं होती। समय पर काम नहीं आती। यथा कर्ण ने परशुराम से झूठ बोलकर ब्राह्मण बनकर ब्रह्मास्त्र की विद्या सीखी थी। वह अर्जुन के साथ युद्ध करते समय स्मृतिपथ पर ही नहीं आई।

१. का० श्रौ० १।१।५-६ तथा टीका।

श्मशाने नाध्येयम् चतुष्पथे नाध्येयम्[1] इत्यादि नियम अध्ययन-स्थान की पवित्रता एवं शान्त वातावरण में वेदाध्ययन करना चाहिये के निदर्शक हैं। इन से अध्ययन में एकाग्रता आती है।

[भाष्यम्] अथ वा पुनरस्तु—'ज्ञान एव धर्मः' इति। ननु चोक्तं—'ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः' इति? नैष दोषः। शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्। यच्च पुनरशिष्टाऽप्रतिषिद्धं, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय। तद्यथा—हिक्कितहसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाप्यभ्युदयाय॥

व्याख्या—**अथवा पुनः—'ज्ञान में धर्म है' पक्ष ही होवे। अभी तो कहा है—'ज्ञान में धर्म होवे, तो वैसे ही अधर्म भी होवे।' यह दोष नहीं है। हम शब्द को प्रमाण माननेवाले हैं। जो शब्द कहता है, वह हमारे लिये प्रमाण है। शब्द [प्रमाण] शब्द के ज्ञान में धर्म कहता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं कहता। और जो कर्म कहा नहीं गया तथा प्रतिषिद्ध भी नहीं किया गया, वह न दोष के लिये होता है, और न अभ्युदय के लिये। अर्थात् अशिष्ट अप्रतिषिद्ध कर्म करने से पाप-पुण्य कुछ नहीं होता। जैसे—हिचकी लेना, हंसना (=स्वभाव से मुस्कराते रहना), खुजलाना [कर्म] न दोष के लिये होते हैं, और न अभ्युदय के लिये।**

विवरण—यहां पर व्याख्याकारों ने **'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति'** (द्र०—महा० ६।१।८४ में उद्धृत) वचन को शब्दप्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। इस में सम्यग्ज्ञान का स्वर्ग फल कहा है। अतः ज्ञान में धर्म होता है, यह इस शब्दप्रमाण से जाना जाता है। **तेऽसुरा हेलयो हेलयः कुर्वन्तः** वचन द्वारा अपशब्द के प्रयोग में अधर्म दर्शाया है, न कि अपशब्द के ज्ञान में। इसलिये शब्द के ज्ञान में धर्म होता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं होता।

[भाष्यम्] अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने। यो ह्यपशब्दाञ्जानाति शब्दानप्यसौ जानाति। तदेवं 'ज्ञाने धर्मः' इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति—'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः' इति॥

व्याख्या—**अथवा अपशब्दों का ज्ञान शब्द ज्ञान में उपाय है। क्योंकि जो अपशब्दों को जानता है, वह शब्दों को भी जानता है। इस प्रकार 'ज्ञान में धर्म है' ऐसा कहनेवाले की अर्थापत्ति से यह [अभिप्राय] प्राप्त होता है कि—'अपशब्दज्ञानपूर्वक शब्दज्ञान में धर्म होता है।'**

विवरण—'उपाय' वह कहाता है, जिसके विना प्रवृत्ति न होवे। जैसे शुक्लपक्ष के प्रथम चन्द्रदर्शन में धर्म माना जाता है। प्रथम चन्द्र की उज्ज्वल रेखा अतिक्षीण होने से जब दिखाई नहीं देती, तब किसी निकृष्ट अथवा प्रतिषिद्ध वस्तु को दिखाकर उसके आश्रय से चन्द्र का दर्शन कराया जाता है। यतः निकृष्ट अथवा प्रतिषिद्ध वस्तु चन्द्रदर्शनजन्य धर्म में निमित्त

१. महाभाष्य ५।२।५९ में उद्धृत।

बनती है, अतः प्रतिषिद्ध का दर्शन अधर्मकारक नहीं होता। यह लौकिक मतानुसार उदाहरण जानना चाहिये।

'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दप्रयोगे धर्मः'—वचन की व्याख्या स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस प्रकार की है—

'इसका अभिप्राय है कि अपशब्द का ज्ञान अवश्य करना चाहिये। अर्थात् सब देश-देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिये। क्योंकि उनके पढ़ने से बहुत व्यवहारों का उपकार होता है, और संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है। जितने देशों की भाषा जानें, उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है। क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़के देश-भाषा सब की होती है। इस्से इनके ज्ञानों से परस्पर संस्कृत और भाषा के ज्ञान में उपकार ही होता है। इसी हेतु से महाभाष्य में लिखा है—'अपशब्दपूर्वक ज्ञान में धर्म होता है' अन्यथा नहीं। क्योंकि जिस पदार्थ का संस्कृत शब्द जानेगा, और उसके भाषा शब्द को न जानेगा, तो उसको यथावत् पदार्थ का बोध और व्यवहार भी नहीं चल सकेगा।' सत्यार्थ-प्रकाश प्रथम संस्करण सन् १८७५, पृष्ठ ३२७।

इस व्याख्या के अनुसार उत्तरोत्तर अपभ्रष्ट हुई भाषा के अपशब्दों के ज्ञानपूर्वक संस्कृत भाषा के मूल शब्दों को जानना अभ्युदयकारक होता है। वह 'अभ्युदय' क्या है? स्वामी दयानन्द के मत में संस्कृतभाषा के ह्रास के कारण जिन साधु शब्दों का लोप हो चुका है, उन के स्वरूप का ज्ञान होने से संस्कृतभाषा के आदिभाषात्व अथवा मातृभाषात्व का परिज्ञान होना ही 'अभ्युदय' है। **'सर्वे देशान्तरे'** वार्तिक और उसके व्याख्यान के द्वारा महाभाष्यकार ने इसी ओर संकेत किया है। वार्तिककार और महाभाष्यकार के समय में महान् भारतवर्ष से बाहर अपभ्रष्ट भाषाओं का साम्राज्य था, आर्यावर्त में भी विविध अपभ्रष्ट भाषाएं व्यवहृत थीं। उनके अध्ययन से मूल साधु शब्दों का परिज्ञान होता है। यथा—**कनीना** शब्द की मूल प्रकृति का परिज्ञान संस्कृत वाङ्मय से नहीं होता, परन्तु जब जेन्दावस्ता के **'ह ओ मा तास्-चित् या कइनीनो'** (ह ओम यश्त ९।२३, लाहौर सं०) वचन में **कइनीन** अपशब्द को देखते हैं, तो तत्काल ज्ञात हो जाता है कि मूल साधु शब्द **कनीना** है। और कनीना (=कन्या) का अपत्य कानीन कहाता है (द्र०—हमारा संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ११, संवत् २०३०)।

इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती की उक्त व्याख्या अति महत्त्वपूर्ण है। और इससे यह भी बोधित होता है कि आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने जिस **तुलनात्मक भाषाविज्ञान** को जन्म दिया है, उस **तुलनात्मक भाषाविज्ञान** से हमारे प्राचीन आचार्य पूर्णतया विज्ञ थे। पाश्चात्य विद्वानों की यह प्रथम देन नहीं है, अपितु विस्मृत ज्ञान का पुनः प्रवर्तन कहना चाहिये।

[भाष्यम्] अथवा कूपखानकवदेतद् भविष्यति। तद्यथा—कूपखानकः कूपं खनन् यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति। सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति, येन स दोषो निर्हण्यते; भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति। एवमिहापि यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मः, तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन च स दोषो निर्घानिष्यते, भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति॥

व्याख्या—अथवा कूवें को खोदने वाले के समान यह (=अपशब्द-ज्ञान) होगा। जैसे—कुवें को खोदनेवाला यद्यपि कूवें को खोदते हुए मिट्टी और धूल से लिप्त होता है, तथापि वह जल निकल आने पर उसी से उस (=शुद्धतारूप) गुण को प्राप्त करता है, जिस से वह (=धूलादि से लिप्त होना रूप) दोष नष्ट किया जाता है; और बहुत अभ्युदय के साथ [उस कूपखानक का] योग होता है। इसी प्रकार यहां भी यद्यपि अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म होता है, तथापि शब्दज्ञान से जो धर्म होता है, उससे वह दोष (=अधर्म) नष्ट किया जायेगा, और बहुत अभ्युदय के साथ योग होगा।

विवरण—दुर्जन-सन्तोष-न्याय से भाष्यकार ने प्रकृत समाधान किया है। इसका भाव यह है कि उत्कृष्ट फल की प्राप्ति में उत्पन्न स्वल्प अधर्म का फल भी अनुत्पन्न के समान होता है। इसमें कुवें को खोदनेवाले का दृष्टान्त दिया है। 'मृद्' से अभिप्राय गीली मिट्टी से है, और 'पांसु' से धूल रूप से।

[भाष्यम्] यदप्युच्यते—'आचारे नियमः' इति। याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्राऽनियमः। एवं हि श्रूयते—'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः पराऽपरज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः।' ते तत्रभवन्तो यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते। तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्, ततस्ते पराभूताः॥

व्याख्या—और जो यह कहा है कि—'आचार में नियम है'। वह नियम यज्ञसम्बन्धी कर्म में है, [यज्ञ से] अन्यत्र अनियम है। इस प्रकार सुना जाता है कि—'यर्वाण तर्वाण नाम के धर्म को प्रत्यक्ष करनेवाले, पर अपर को जाननेवाले (=सर्वज्ञकल्प), जानने योग्य समस्त विद्याओं वा पदार्थों को जाननेवाले, और यथावत् तत्त्व को जाननेवाले ऋषि हुए थे'। वे पूजनीय 'यद्वा नस्तद्वा नः' के स्थान में 'यर्वाणस्तर्वाणः' ऐसा प्रयोग करते थे। किन्तु यज्ञकर्म में वे अपभाषण नहीं करते थे। उन असुरों ने यज्ञकर्म में अपभाषण किया, इस कारण वे पराभूत हुए।

विवरण—यर्वाणस्तर्वाणो नाम—इन ऋषियों का वास्तविक नाम कुछ और था। परन्तु ये यज्ञकर्म से अन्यत्र **'यद्वा नस्तद्वा नः'** के स्थान में प्रायः 'यर्वाणस्तर्वाणः' का प्रयोग करते थे। अतः ये इसी नाम से प्रसिद्ध हो गये।

प्रत्यक्षधर्माणः—योगज प्रत्यक्ष से वेदार्थ के द्रष्टा। द्र०—**'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः०'** इत्यादि निरुक्त (१।२०) का प्रकरण, तथा **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः** इत्यादि वचन। **पराऽपरज्ञाः**—पर उस किनारे को, और अपर इस किनारे को अर्थात् पूर्ण विषय को जाननेवाले। भर्तृहरि ने **युक्तायुक्तज्ञाः** और कैयट ने **विद्याऽविद्याविभागज्ञाः** किया है। **विदित वेदितव्याः** का अर्थ नागेश भट्ट ने श्रवण मनन और निदिध्यासन से युक्त किया है। **अधिगतयाथातथ्याः**—यथातथा से स्वार्थ में चातुर्वर्ण्यादि के आकृतिगण (५।१।१२३) से ष्यञ् प्रत्यय। यथातथा=जैसा है वैसा, अर्थात् ठीक-ठीक स्वरूप को जिन्होंने जान लिया है। नागेश भट्ट ने इस निर्देश

से साक्षात्कार का ग्रहण किया है। इस निर्देश से स्पष्ट है कि तत्त्वज्ञानी को भी यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करते रहना चाहिये। यही बात भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता (३।२१) में भी कही है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

याज्ञे कर्मणि—यज्ञे भवं याज्ञम्, तस्मिन्। **प्रयुञ्जते**—यहां वर्तमान के समीपस्थ भूतकाल में लट् है, ऐसा नागेश का कथन है। पर विचारणीय यह है कि पूर्व वाक्य में **बभूवुः** परोक्षभूतविषयक प्रयोग है। परोक्षभूत के साथ वर्तमानकाल का सामीप्य नहीं होता। अतः यहां वर्तमानकालिक प्रयोग परोक्षभूत में ही हुआ है, और इस का कारण यह है कि पूर्व वाक्यस्थ **बभूवुः** प्रयोग से परोक्षभूत काल कथित हो गया। अतः यहां उसके पुनः कथन की आवश्यकता न होने से वर्तमान का प्रयोग हुआ है। जैसे— **पाण्डवा धर्मेण युध्यन्ते स्म** में 'स्म' निपात से परोक्षभूतता के उक्त हो जाने के कारण 'युध' धातु के प्रयोग से भी परोक्षभूतता निर्दशित करने की विवक्षा न होने से लट् का प्रयोग होता है। द्र०—**लट् स्मे** (३।२।११८) पाणिनीय सूत्र। विशेष द्रष्टव्य—महाभाष्य १।२।६४ की व्याख्या भाग २, पृष्ठ १८२-१८४। अथवा **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**(३।४।६) के नियम से छन्द में जैसे धातु सम्बन्धमात्र में अर्थात् तीनों प्रत्यय कालसामान्य में होते हैं, वैसे ही इस वाक्य के **बभूवुः** प्रयोग में जानना चाहिये।

[भाष्यम्] अथ 'व्याकरणम्' इत्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ? सूत्रम्।

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः ॥१४॥

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते—'व्याकरणस्य सूत्रम्' इति। किं हि तदन्यत् सूत्राद् व्याकरणम्, यस्याऽदः सूत्रं स्यात् ?

व्याख्या—**'व्याकरण' इस शब्द का क्या पदार्थ है ? सूत्र।**

व्याकरण का पदार्थ 'सूत्र' मानने पर षष्ठ्यर्थ उपपन्न नहीं होता।

व्याकरण का पदार्थ 'सूत्र' मानने पर षष्ठी का अर्थ उपपन्न नहीं होता—'व्याकरण का सूत्र' [इत्यादि प्रयोग में]। क्या वह सूत्र से भिन्न व्याकरण है, जिसका यह सूत्र [रूप अवयव] होवे ?

विवरण—यदि व्याकरण का अर्थ 'सूत्र' ही लिया जाये, तो 'व्याकरण का सूत्र' यह अवयव-अवयवी सम्बन्धबोधक षष्ठी विभक्ति का अर्थ उपपन्न नहीं होता, क्योंकि व्याकरण और सूत्र दोनों समानार्थक हैं। भर्तृहरि ने दीपिका में शब्दों के प्रयोग की अनेक विधाओं का उल्लेख किया है। उन्हें वहीं देखना चाहिये।

[भाष्यम्] शब्दाऽप्रतिपत्तिः ॥१५॥

शब्दानां चाऽप्रतिपत्तिः प्राप्नोति। 'व्याकरणाच्छब्दान् प्रतिपद्यामहे' इति। न हि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि ? व्याख्यानतश्च।

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति । न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—'वृद्धिः, आत्, ऐच्', इति । किं तर्हि ? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति ॥

व्याख्या—शब्दों का ज्ञान न होना [भी दोष है] ।

[व्याकरण का अर्थ 'सूत्र' मानने पर] शब्दों का ज्ञान भी नहीं होता । 'व्याकरण से हम शब्दों का ज्ञान प्राप्त करते हैं' [ऐसा प्रयोग होता है] । केवल सूत्र से शब्दों का बोध नहीं होता । तो किससे होता है ? [सूत्र के] व्याख्यान से भी ('च' समुच्चयार्थक है । सूत्र और व्याख्यान समुदाय से) ।

निश्चय ही वही सूत्र विगृहीत व्याख्यान हो जाता है । अर्थात् व्याख्यान सूत्रों के पृथक् किये हुए पदसमुदाय का ही तो नाम है । केवल चर्चापद=विगृहीत किये गये पद ही व्याख्यान नहीं होते—[वृद्धिरादैच्=] वृद्धिः, आत्, ऐच् । तो क्या होता है ? [सूत्र के] उदाहरण प्रत्युदाहरण वाक्याध्याहार इस सारे समुदित का नाम व्याख्यान होता है ।

विवरण—संहितारूप में समुदितरूप से पठित पदों का पृथक्-पृथक् प्रयोग करना 'चर्चापाठ' कहाता है । वेदसंहितास्थ मन्त्रों का जो पदविच्छेद है वह पदपाठ भी चर्चापाठ कहाता है । द्र०—प्रगृह्य चर्चायामितिना(कात्या० प्राति० ४।१८)अर्थात् चर्चापाठ=पदपाठ में प्रगृह्यसंज्ञक पद 'इति' पद से निर्दिष्ट किये जाते हैं । यथा—अग्नी इति, अस्मे इति, युष्मे इति ।

वाक्याध्याहार—वाक्य की पूर्ति के लिये क्रियमाण पदों का अध्याहार=अधि=ऊपर के सूत्रस्थ पदों से बाहर से आहरण । अनुवर्त्यमान पदों के सम्बन्ध का संग्रह भी इसी से जान लेना चाहिये । क्योंकि अनुवर्त्यमान पद भी सूत्र से बाह्यवत् होते हैं ।

[भाष्यम्] एवं तर्हि शब्दः ।

शब्दे ल्युडर्थः ॥१६॥

यदि शब्दो व्याकरणं, ल्युडर्थो नोपपद्यते—'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् ।' नहि शब्देन किंचिद् व्याक्रियते । केन तर्हि ? सूत्रेण ॥

व्याख्या—अच्छा तो [व्याकरण का पदार्थ] शब्द अर्थात् लक्ष्य है ।

[व्याकरण का पदार्थ] शब्द मानने पर ल्युट् प्रत्यय का अर्थ [उपपन्न नहीं होता] ।

यदि शब्द ही व्याकरण है, तो [व्याकरण पद में श्रूयमाण] ल्युट् प्रत्यय का अर्थ उपपन्न नहीं होता—'व्याकृत (=प्रकृति-प्रत्यय रूप से विभक्त) किये जाते हैं शब्द, इस से वह व्याकरण [कहाता है]' । शब्द से किसी को विभक्त नहीं किया जाता । तो किस से किया जाता है ? सूत्र से ।

विवरण—'व्याकरण' शब्द में करण में ल्युट् प्रत्यय है । शब्द व्याकरण से व्याकृत होने से कर्म हैं, न कि करण ।

[भाष्यम्] भवे च तद्धितः ॥१७॥

भवे च तद्धितो नोपपद्यते—'व्याकरणे भवो योगो वैयाकरणः' इति। न हि शब्दे भवो योगः। क्व तर्हि? सूत्रे॥

व्याख्या—**'भव' अर्थ में तद्धित भी [उपपन्न नहीं होता]।**

'भव' अर्थ में तद्धित प्रत्यय भी उपपन्न नहीं होता—'व्याकरण में होनेवाला योग=सूत्र वैयाकरण कहाता है'। योग [व्याक्रियमाण] शब्द में नहीं होता। तो किसमें होता है? सूत्र [समुदाय] में।

विवरण—'व्याकरण' शब्द से **तत्र भवः**(४।३।५३)सूत्र से 'भवः' (=होनेवाला) इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है। तदनुसार यहां अण् प्रत्यय होता है। यदि व्याकरण शब्द का पदार्थ शब्द=लक्ष्य होवे, तो उसमें सूत्र क्या होगा? सूत्र अर्थ मानने पर सूत्रसमुदायरूप व्याकरण में होने वाला=विद्यमान सूत्र वैयाकरण कहा जा सकता है।

[भाष्यम्] प्रोक्तादयश्च तद्धिताः ॥१८॥

प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नमिति। न हि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः। किं तर्हि? सूत्रम्॥

व्याख्या—**प्रोक्तादि तद्धित भी [उपपन्न नहीं होते]।**

प्रोक्तादि [अर्थ में विहित] तद्धित भी उपपन्न नहीं होते। पाणिनि से प्रोक्त पाणिनीय, [आपिशलि से प्रोक्त] आपिशल, [काशकृत्स्नि से प्रोक्त] काशकृत्स्न। पाणिनि ने शब्दों का प्रवचन नहीं किया। तो किसका किया है? सूत्र का।

विवरण—पाणिनि शब्द आपिशलि काशकृत्स्नि के समान गोत्रवाचक है। गोत्र प्रवर प्रकरण में पाणिनि शब्द पढ़ा है। यथा—**काशकृत्स्निः पाणिनिर्वाल्मीकि········आपिशलयः** (बौ० श्रौत प्रवराध्याय ३)[1]। इसलिये पाणिनि शब्द से आपिशलि काशकृत्स्नि शब्दों के समान **इञश्च**(४।२।११२)सूत्र से अण् प्रत्यय ही प्राप्त होता है। अतः पाणिनीय शब्द पाणिनि का पर्याय 'पाणिन' शब्द से **वृद्धाच्छः** (४।२।११३) से **'छ'** प्रत्यय होकर बनता है। **पाणिनिना प्रोक्तम्** यह अर्थप्रदर्शन है। अथवा जैसे **अवेर्मांसम्** ऐसा विग्रह करके अविसमानार्थक अविक शब्द से प्रत्यय उत्पन्न होकर **आविकं मांसम्** प्रयोग बनता है[2], उसी प्रकार पाणिनीय की व्युत्पत्ति **पाणिनिना प्रोक्तम्** से की जाती है, पर प्रत्यय तत्समानार्थक 'पाणिन' शब्द से यथाविहित छ होता है। भट्टोजिदीक्षित प्रभृति ने पाणिनि शब्द से 'छ' प्रत्यय की उत्पत्ति के दर्शाने के लिये बहुत खींचातानी की है। पाठक उसे वहीं देखें।

---

१. मत्स्य पु० १९७।१० में भी पाणिनि गोत्र त्र्यार्षेयों में पढ़ा है। 'पाणिन' भी गोत्र नाम है। द्र०—वायुपुराण ९१।९९; तथा हरिवंश १।२७।४९॥

२. महाभाष्य ४।१।८८; ४।२।१३१॥

[भाष्यम्] किमर्थमिदमुभयमुच्यते—'भवे, प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इति । न 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इत्येव भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात् ? पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टं—'भवे च तद्धितः' इति, तत्पठितम् । तत् उत्तरकालमिदं दृष्टम्—'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इति, तदपि पठितम् । न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्त्तयन्ति ।।

व्याख्या—ये दोनों क्यों कहे हैं—'भवे, प्रोक्तादयश्च तद्धिताः ।' 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' **इतने से ही भव अर्थ में भी तद्धित उत्पत्ति नहीं कहीं जायेगी ? आचार्य (= वार्त्तिककार) ने पहले यह [दोष] देखा—'भव अर्थ में तद्धित [उपपन्न नहीं होता]', वह पढ़ दिया । उसके पश्चात् यह [दोष] देखा—'प्रोक्तादि तद्धित भी [उपपन्न नहीं होते],' वह भी पढ़ दिया । आचार्य सूत्र की रचना करके उसे हटाते नहीं ।**

विवरण—'नहीदानीमाचार्याः०' वाक्य का यह अभिप्राय नहीं है कि आचार्य लोग सूत्र रचना में दोष होने पर भी उसे हटाना अपनी हीनता समझते थे । क्योंकि शास्त्रकार नीरज-स्तम आप्त होते हैं । अतः इस भाष्यवचन का भाव यह है कि आचार्यों की दृष्टि तत्त्वबोधन-परक होती है, वचन के गौरव-लाघव पर नहीं होती । इस कारण यदि तत्त्वोपदेश में पुनरुक्ति भी हो जाये, तो भी वे उसे दोष नहीं मानते । यतः दोषरहित वचन है, इस कारण उसे बदलते भी नहीं ।

प्रत्येक आर्ष-शास्त्र की प्रवृत्ति लक्षण और प्रपञ्च दोनों प्रक्रियाओं पर आश्रित है । अष्टाध्यायी में भी संक्षिप्त लक्षण कहकर प्रपञ्च (=उसका विस्तार) भी दर्शाया है । यथा—**विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (२।१।५६) इस एक सूत्र से समस्त समानाधिकरण समास उपदिष्ट हो जाता है, फिर भी सुख-प्रतिपत्त्यर्थ अन्य सूत्रों से विस्तार किया है । भाष्यकार ने २।१।५६ तथा ६।३।१३ के भाष्य में स्पष्ट लिखा है—'**ते वै विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति, येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च**' अर्थात् वे विधियां अच्छे प्रकार से गृहीत होती हैं, जिनके लक्षण और प्रपञ्च दोनों होते हैं । यही शैली वार्तिककार ने भी अपनायी है, ऐसा जानना चाहिये ।

[भाष्यम्] अयं तावददोषो—यदुच्यते—'शब्दे ल्युडर्थः' इति । नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड् विधीयते । किं तर्हि ? अन्येष्वपि कारकेषु—'कृत्यल्युटो बहुलम्' [३।३।११३] इति । तद्यथा—प्रस्कन्दनम्, प्रपतनमिति ।।

व्याख्या—यह दोष नहीं है—जो कहा जाता है—'शब्द में ल्युट् का अर्थ [उपपन्न नहीं होता]' । यह आवश्यक नहीं है कि करणाधिकरण में ही ल्युट् का विधान किया जाता है । तो क्या ? अन्य कारकों में भी [ल्युट् का विधान किया है]—कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) । **जैसे**—प्रस्कन्दनम् (जहां से कूदा जाये), प्रपतनम् (जहां से गिरा जाये) ।

विवरण—यद्यपि प्रस्कन्दन प्रपतन **भीमादयोऽपादाने** (३।४।७४) सूत्रपठित भीमादिगण में पठित हैं, फिर भी यहां ल्युट् **कृत्यल्युटो बहुलम्** (३।४।११३) सूत्र से ही होता है।

[भाष्यम्] अथ वा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते । तद्यथा—'गौः' इत्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्त्तन्ते, 'नाश्वो न गर्दभः' इति ।

अयं तर्हि दोषः—'भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इति । एवं तर्हि—

लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम् ॥१६॥

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति ।

किं पुनर्लक्ष्यं किं वा लक्षणम्? शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम् । एवमप्ययं दोषः—समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते । सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते—'वैयाकरणः' इति ।

नैष दोषः । समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते । तद्यथा—'पूर्वे पञ्चालाः', 'उत्तरे पञ्चालाः', 'तैलं भुक्तम्', 'घृतं भुक्तम्', 'शुक्लो', 'नीलः', 'कपिलः' 'कृष्णः' इति । एवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्त्तते ।।

व्याख्या—अथवा शब्दों के द्वारा भी शब्दों की व्याकृति होती है । जैसे—'गौ' कहने पर सब सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, 'यह अश्व नहीं है, यह गर्दभ नहीं है' ।

अच्छा यह तो दोष है—'भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिताः ।' अच्छा तो—

लक्ष्य और लक्षण दोनों व्याकरण हैं ।

लक्ष्य और लक्षण यह समुदित व्याकरण हैं ।

लक्ष्य क्या है, अथवा लक्षण क्या है? शब्द लक्ष्य है, सूत्र लक्षण है । इस प्रकार भी यह दोष होता है—[लक्ष्य-लक्षणरूप] समुदाय में प्रवृत्त व्याकरण शब्द अवयव में उपपन्न नहीं होगा । केवल सूत्रों को पढ़ता हुआ भी 'वैयाकरण' इष्ट है । अर्थात् केवल सूत्रों को कण्ठस्थ करनेवाले को भी 'वैयाकरण' कहते हैं ।

यह दोष नहीं है । समुदायों में व्यवहृत होनेवाले शब्द अवयवों में भी प्रयुक्त होते हैं । जैसे कि—'पूर्व पञ्चाल, उत्तर पञ्चाल, तैल खाया, घी खाया, शुक्ल, नील, कपिल, कृष्ण ।' इसी प्रकार यह भी [लक्ष्य-लक्षणरूप] समुदाय में प्रवृत्त व्याकरण शब्द अवयवों (=सूत्रों) में भी व्यवहृत होता है ।

विवरण—'पञ्चाल' देशविशेष अर्थात् ग्राम नगर समुदाय विशेष की संज्ञा थी । कालान्तर में परिस्थिति विशेष से इस के तीन भेद हो गये—पूर्व उत्तर और दक्षिण पञ्चाल । पूरे समुदाय का वाचक पञ्चाल शब्द अवयवों में भी प्रवृत्त होने लगा । तुलना करो—समुदित बङ्गाल के वर्तमान पूर्व बङ्गाल, पश्चिम बङ्गाल व्यवहार के साथ ।

तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्—तैल और घृत शब्द का मुख्य व्यवहार शत-प्रतिशत शुद्ध तैल और शुद्ध घृत द्रव्य में होता है । तथापि औषधों से सिद्ध तेल और घृत, जिनमें अन्य द्रव्यों का भी मिश्रण है, का सेवन करने पर भी उक्त व्यवहार होता है । प्रदीपादि के अनुसार औषध सिद्ध जितना तैल वा घृत-समुदाय है, उसमें तैल वा घृत शब्द रूढ है । स्वास्थ्य लाभ के लिये उसकी परिमित मात्रा खाने पर तदेकदेश में समुदाय शब्द का व्यवहार होता है ।

शुक्लो नीलः—जहां सारा वस्त्र शुक्ल वा नीलगुण विशिष्ट हो, वहां समुदाय में शुक्ल नील आदि का व्यवहार होता है। परन्तु किसी वस्त्र के कुछ भाग के शुक्ल वा नील न होने पर भी अवयवान्तर के शुक्ल नील होने से समुदाय में शुक्लत्व नीलत्व का आरोप करके **शुक्लं वस्त्रम् नीलं वस्त्रम्** प्रयोग होते हैं।

[भाष्यम्] अथ वा पुनरस्तु सूत्रम्। ननु चोक्तम्—'सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः' इति ? नैष दोषः। व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति॥

व्याख्या—**अथवा [व्याकरण शब्द का पदार्थ] सूत्र होवे। अभी तो कहा है—'सूत्र को व्याकरण मानने पर षष्ठ्यर्थ उपपन्न नहीं होता।' यह दोष नहीं है। व्यपदेशिवद्भाव से षष्ठ्यर्थ का व्यवहार हो जायेगा।**

विवरण—व्यपदेश=कहना। व्यपदेशोऽस्यास्तीति व्यपदेशी। जिसका मुख्य वृत्ति से कथन होता है, वह 'व्यपदेशी' कहाता है। जैसे—**अयं मे ज्येष्ठः पुत्रः, अयं मे कनिष्ठः**। ज्येष्ठ और कनिष्ठ शब्द का व्यवहार वहां होता है, जहां एक से अधिक सनतियां होवें। परन्तु लोक में किसी के एक पुत्र होने पर कोई उससे पूछता है कि आपका ज्येष्ठ पुत्र कौन सा है, तो वह उत्तर देता है कि—**अयमेव मे ज्येष्ठः**=यही मेरा ज्येष्ठ पुत्र है। इसी प्रकार कोई पूछता है कि आपका कनिष्ठ पुत्र कौन सा है, तो वह उसे ही निर्दशित करके कहता है—**अयमेव मे कनिष्ठः**=यही मेरा कनिष्ठ पुत्र है। यह एक में ही ज्येष्ठ कनिष्ठ का जो व्यवहार है, वह इन शब्दों की मुख्य वृत्ति का एक में आरोप करके होता है। इसी प्रकार लक्ष्य-लक्षण समुदायरूप व्याकरण शब्द का अर्थ है—उसका एकदेशरूप सूत्र में भी व्यपदेशिवद्भाव से प्रयोग होता है। व्यपदेशिवद्भाव अर्थात् औपचारिक गौण प्रयोग जानना चाहिये।

[भाष्यम्] यदप्युच्यते—'शब्दाप्रतिपत्तिः' इति। नहि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि ? व्याख्यानतश्चेति। परिहृतमेतत्—'तदेवं सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति' इति। ननु चोक्तम्—"न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—'वृद्धिः आत् ऐच्' इति। किं तर्हि ? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति" इति। अविजानत एतदेवं भवति। सूत्रत एव हि शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। आतश्च सूत्रत एव। यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत॥

व्याख्या—**और जो यह कहा जाता है—'शब्दों की प्रतिपत्ति नहीं होती।' सूत्र से ही शब्द परिज्ञात नहीं होते। तो किससे ? व्याख्यान से भी। इस [दोष का] परिहार कर दिया —'वही सूत्र विगृहीत हुआ व्याख्यान होता है।' अभी तो कहा है—"केवल विगृहीत=चर्चापद ही तो व्याख्यान नहीं है–**वृद्धिः आत् ऐच्**। तो क्या है ? उदाहरण प्रत्युदाहरण वाक्याध्याहार यह सब समुदाय व्याख्यान कहाता है।" यह (इस प्रकार का) व्याख्यान का स्वरूप अज्ञानी अथवा मन्द मतिवाले के लिये होता है। सूत्र से ही शब्दों का बोध होता है। निश्चय से सूत्र से ही होता है। जो सूत्र से बाहर का कथन करे, वह गृहीत नहीं होगा=नहीं जाना जायेगा।**

विवरण—**'सूत्रत एव'** का भाव यह है कि पदच्छेदादि से जो अर्थ व्यक्त किया जाता है, वह सूत्र का ही तो है। **आतश्च**—आत: यह निपात है निश्चयार्थ में। कैयट ने **अतः हेतोः** ='इस कारण' अर्थ किया है। उक्त दृष्टि से ही किसी आचार्य ने उचित ही लिखा है—**'सूत्रेष्वेव तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।'**

[भाष्यम्] अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः ?

वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः ॥२०॥

वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः। किमिदं वृत्तिसमवायार्थ इति ? वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्त्यर्थो वा समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः ॥

व्याख्या—वर्णों का उपदेश किस लिये किया है ?

वृत्ति के समवाय के लिये [वर्णों का] उपदेश किया है ?

वृत्ति-समवाय के लिये वर्णों का उपदेश किया है। वह वृत्ति-समवाय क्या है ? वृत्ति के लिये समवाय=वृत्ति-समवाय, वृत्ति के लिये जो समवाय=वृत्ति-समवाय, वृत्तिप्रयोजन वाला समवाय=वृत्ति-समवाय।

विवरण—वर्णों का परिज्ञान लोक एवं 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग से सिद्ध है। अतः जिज्ञासा होती है कि पाणिनि ने वर्णोपदेश किस लिये किया ? वर्णसमाम्नायसूत्र अथवा प्रत्याहारसूत्र पाणिनीय ही हैं। आधुनिक विद्वान् इन्हें शिवप्रोक्त मानते हैं, और इनका प्रवचन पाणिनि के लिये। ये दोनों मत अशुद्ध हैं। पाणिनि से पूर्ववर्ती आपिशल व्याकरण में भी वर्ण-समाम्नाय अथवा प्रत्याहार सूत्र थे[1]। इसी प्रकार प्रस्तुत वर्णसमाम्नाय पाणिनिप्रोक्त है, इस विषय का हमने सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ २११-२१४ (संवत् २०३०) पर भले प्रकार प्रतिपादन किया है।

वृत्ति-समवायः में समासादि पूर्व **धर्मनियमः** (पृष्ठ ५३) के समान जानना चाहिये।

[भाष्यम्] का पुनर्वृत्तिः ? शास्त्रप्रवृत्तिः। अथ कः समवायः ? वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः। अथ क उपदेशः ? उच्चारणम्। कुत एतत् ? दिशिरुच्चारण-क्रियः। उच्चार्य हि वर्णानाह—उपदिष्टा इमे वर्णा इति ॥

व्याख्या—वृत्ति क्या है? शास्त्र की प्रवृत्ति। और समवाय क्या है? वर्णों का आनुपूर्वी

१. द्र०—आपिशल प्रत्याहारसूत्र (सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १४०, संवत् २०३०); तथा 'मष्' प्रत्याहार (द्र०—वही ग्रन्थ पृष्ठ १४२ में उद्धृत वचन)।

विशेष से सन्निवेश (=पढ़ना)। उपदेश क्या है? उच्चारण। यह कैसे? 'दिश' धातु उच्चारण क्रियावाली है। वर्णों का उच्चारण करके ही 'ये वर्ण उपदिष्ट हो गये' ऐसा कहा जाता है।

[भाष्यम्] **अनुबन्धकरणार्थश्च ॥२१॥**

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः—'अनुबन्धानासङ्क्ष्यामि' इति। नह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम्। स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चाऽनुबन्धकरणार्थश्च। वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम्। प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः॥

व्याख्या—**अनुबन्ध करने के लिये भी [वर्णों का उपदेश किया है]।**

अनुबन्ध करने के लिये भी वर्णों का उपदेश है—'अनुबन्ध लगाऊंगा' [इस इच्छा से वर्णों का उपदेश किया है]। बिना वर्णों का उपदेश किये अनुबन्ध नहीं लगाये जा सकते। [अतः] यह वर्णों का उपदेश वृत्ति-समवाय और अनुबन्ध लगाने के लिये है। वृत्ति-समवाय और अनुबन्ध लगाना प्रत्याहार के लिये है। प्रत्याहार वृत्ति (=लाघवता से शास्त्र की प्रवृत्ति) के लिये है [इस प्रकार प्रत्याहार के द्वारा समवाय (=वर्णोपदेश) की वृत्त्यर्थता प्रदर्शित की है]।

विवरण—नागेश ने अनुबन्ध-करणार्थ का अभिप्राय 'अनुबन्धों के बोधन के लिये' ऐसा लिखा है, और 'च' से ह्रस्व अकार के विवृतोपदेश का संग्रह माना है। वार्तिक में चकार पूर्व-प्रयोजन के समुच्चय के लिये है, न कि प्रयोजनान्तर के संग्रह के लिये। अतः चकार से ह्रस्व अकार के विवृतोपदेश का संग्रह मानना चिन्त्य है।

प्रत्याहार का अर्थ है—**प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा अत्र**। इस अधिकरण व्युत्पत्ति से प्रत्याहार का अर्थ सूत्रकार निर्दिष्ट अच् इच् आदि संज्ञाओं का ग्रहण जानना चाहिये।

प्रत्याहार योग के आठ अङ्गों में पांचवां अङ्ग भी है (योगदर्शन २।२९)। वहां उसका अर्थ है—**प्रत्याह्रियन्ते बाह्यविषयेभ्यश्चित्तवृत्तयो यत्र**, अर्थात् बाह्य विषयों में व्यापृत चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करना=संक्षिप्त करना।

वर्णों वा शब्दों के संक्षेप का एक प्रकार लौकिक भी है। उसमें दो शब्दों के आदि अक्षरों को लेकर संक्षिप्त नामकरण किया जाता है। यथा—शुक्ल दिवस का 'शुदि', बहुल (=कृष्ण) दिवस का 'बदि', अस्मिन् द्यवि का 'अद्य' (द्र०—निरुक्त १।६)। ये संक्षिप्त नाम विभक्तिरहित प्रयुक्त होने से अव्यय माने जाते हैं। व्याकरणशास्त्र में जो वर्णों का संक्षेप किया है, वह आदि और अन्त्य अक्षर को जोड़कर किया है—**आदिरन्त्येन सहेता** (अ० १।१।७०)। महाभाष्यकार आगे **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) सूत्र के भाष्य में कहेंगे—**नहीदं लोकाद् भिद्यते, यदीदं लोकाद् भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्**। पाणिनीय शास्त्र लोक से भिन्न नहीं है, अर्थात् लोकसिद्ध व्यावहारिक नियम ही यहां भी प्रवृत्त होते हैं। यदि लोक से भेद होवे, तो यत्न किया जाये। प्रत्याहाररूप नामसंक्षेपीकरण की प्रक्रिया लौकिक नामसंक्षेपीकरण प्रक्रिया से भिन्न थी। अतएव उसका निर्देश करने के लिये सूत्रकार ने **आदिरन्त्येन सहेता** सूत्र रचा है।

[भाष्यम्] इष्टबुद्ध्यर्थश्च ॥२२॥

इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः–'इष्टान्वर्णान्भोत्स्यामह' इति। न ह्यनुपदिश्य वर्णान् इष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम् ॥

व्याख्या—इष्ट बुद्धि (=ज्ञान) के लिये भी [वर्णों का उपदेश किया है]।

इष्ट [वर्ण] के ज्ञान के लिये भी वर्णोपदेश किया है—'इष्ट वर्णों को जानेंगे (=जनायेंगे)।' वर्णों का उपदेश किये विना इष्ट वर्णों का परिज्ञान (=परिज्ञापन) नहीं हो सकता।

विवरण—वर्णोपदेशक शास्त्रकार तो वर्णों के इष्ट स्वरूप को जानता ही है। अतः यहां 'भोत्स्यामहे' में अन्तर्णीत ण्यर्थ जानना चाहिये। इसलिये अर्थ होगा—'जनायेंगे'। इसी प्रकार 'विज्ञातुम्' में भी अन्तर्णीत ण्यर्थ जानना चाहिये।

[भाष्यम्] इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिक-दीर्घप्लुतानामप्युपदेशः ॥२३॥

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः। एवङ्गुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते ॥

व्याख्या—इष्ट बुद्धि के लिये [वर्णोपदेश] होवे, तो उदात्त अनुदात्त स्वरित अनुनासिक दीर्घ और प्लुतों का भी उपदेश करना चाहिये।

इष्ट बुद्धि के लिये [वर्णोपदेश] होवे, तो उदात्त अनुदात्त स्वरित अनुनासिक दीर्घ और प्लुतों का भी उपदेश करना चाहिये। इन गुणोंवाले वर्ण भी इष्ट हैं।

विवरण—अष्टाध्यायी का पाठ एकश्रुतिरूप है। अतः अकारादि अचों के उदात्त अनुदात्त स्वरित धर्मों का भी उपदेश करना चाहिये। कई व्यक्ति त्रैस्वर्य से सूत्रपाठ मानते हैं। उन के मत में भी अ इ उ का त्रैस्वर्य से पाठ होने पर एक-एक का उदात्तादि एक-एक स्वर से ही उच्चारण होगा। यथा 'अ' का उदात्त से, 'इ' का अनुदात्त स्वर से, 'उ' का स्वरित स्वर से। इस अवस्था में भी अ के अनुदात्त स्वरित रूपों का, 'इ' के उदात्त स्वरित रूपों का, 'उ' के उदात्त अनुदात्तरूपों का उपदेश करना ही पड़ेगा। अतः समूहावलम्बन से यहां तीनों का निर्देश जानना चाहिये। सूत्रपाठ में निरनुनासिक एवं ह्रस्व का पाठ होने से अनुनासिक दीर्घ और प्लुतों का संग्रह किया है |।

[भाष्यम्] आकृत्युपदेशात् सिद्धम् ॥२४॥

[आकृत्युपदेशात् सिद्धमेतत्।] अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति। तथेवर्णाकृतिः, तथोवर्णाकृतिः ॥

व्याख्या—आकृति के उपदेश से सिद्ध हो जायेगा।

[आकृति के उपदेश से सिद्ध हो जायेगा।] अवर्ण की आकृति (=जाति) का उपदेश

किया है, [वह अवर्ण की आकृति] सब अवर्णकुल का ग्रहण कर लेगी। इसी प्रकार इवर्ण की आकृति और उवर्ण की आकृति भी [सवर्णकुल का ग्रहण कर लेगी]।

विवरण—आकृत्युपदेश से सिद्ध है–जैसे लोक में मनुष्य व्यक्ति काला गोरा पीला आदि रंगभेद से, नाटा लम्बा आदि परिमाणभेद से, स्थूल कृश आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। परन्तु जैसे मनुष्याकृति के उपदेश से सब प्रकार के मनुष्यों का बोध हो जाता है, इसी प्रकार यहां भी अकारादि की आकृति का उपदेश होने से अठारह प्रकार के भेदवाले अवर्णकुल का बोध हो जाता है। आकृति के उपदेश के लिये भी यद्यपि किसी व्यक्ति का आश्रय लिया जाता है, तथापि उपादीयमान विशेष वहां विवक्षित नहीं होता है। क्योंकि विना विशेष का उपादान किये सामान्य का बोध कराया ही नहीं जा सकता।

[भाष्यम्] **आकृत्युपदेशात् सिद्धिमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः ॥२५॥**

'आकृत्युपदेशात् सिद्धम्' इति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः। के पुनः संवृतादयः?

संवृतः कलो ध्मात एणीकृतोऽम्बूकृतोऽर्द्धको ग्रस्तो निरस्तः प्रगीत उपगीतः क्ष्विण्णो रोमश इति। अपर आह—

ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।
सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः॥ इति।
अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः॥

व्याख्या—**आकृति के उपदेश से सिद्ध होवे, तो संवृत आदि का प्रतिषेध करना चाहिये।**

आकृति के उपदेश से सिद्ध होवे, तो संवृत आदि का प्रतिषेध करना चाहिये।

संवृत आदि कौनसे हैं? संवृत, कल, ध्मात, एणीकृत, अम्बूकृत, अर्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, उपगीत, क्ष्विण्ण, रोमश।

दूसरे आचार्य कहते हैं—'ग्रस्त, निरस्त, अविलम्बित, निर्हत, अम्बूकृत, ध्मात, विकम्पित, संदष्ट, एणीकृत, अर्धक, द्रुत, विकीर्ण ये स्वरदोष की जातियां हैं।'

इन से भिन्न व्यञ्जनों के दोष हैं।

विवरण—उक्त दोनों पाठों में संवृतादि दोषों के बारह-बारह दोष गिनाये हैं। इनमें **ध्मात एणीकृत अम्बूकृत अर्धक ग्रस्त निरस्त** ये छः दोष अक्षरशः समान हैं। क्ष्विण्ण और विकम्पित, उपगीत और द्रुत इन में शब्दों का भेद है, अर्थ समान है, यह हमारा विचार है। इस प्रकार प्रथम गणना में संवृत-कल-रोमश-प्रगीत, तथा द्वितीय गणना में अविलम्बित-निर्हत-संदष्ट-विकीर्ण दोष पृथक्-पृथक् हैं। अतः दोनों गणनाओं में गिनाए दोषों की पूर्ण संख्या १६ होती है।

१. **संवृत**—गले को संकुचित करके उच्चारण करना। ह्रस्व अकार का तो यह प्रयत्न ही है। अतः यह संवृत दोष दीर्घ प्लुत अवर्णों एवं स्वरान्तरों में जानना चाहिये। २. **कल**—काकल प्रदेश से उच्चारण करना। ३. **ध्मात**—धौंकनी की तरह श्वास की अधिकता से उच्चारण

करना। ४. **एणीकृत**—इसका अभिप्राय कैयट ने 'अविशेष' अर्थात् 'ओकार है वा औकार, इसका भेद ज्ञात न होना' लिखा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वर्णोच्चारण-शिक्षा में 'एणीकृत' का अर्थ 'हिरणी का कूर्दन' मानकर ऊंचा-नीचा अव्यवस्थित उच्चारण करना लिखा है। ५. **अम्बूकृत**—मुख के भीतर ही बोलना। स्वामी दयानन्द ने 'मुंह में पानी भरकर बोलने के सदृश उच्चारण करना' लिखा है। अमरकोश १।६।२० तथा लाट्यायन श्रौत ६। १०।१८ की व्याख्या में 'अम्बूकृत' का अर्थ मुंह से थूक के छींटे निकालते हुए बोलना माना है। भवभूति कृत उत्तररामचरित २।२१ का अगला श्लोकांश इस प्रकार है—**भल्लूकयूनाम् अनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि।** ऋक्प्रातिशाख्य (१४।२)में ओष्ठ बन्द करके उच्चारण करना लिखा है। ६. **अर्धक**—जिसका जितना प्रयत्न है, उससे आधा प्रयत्न करना। काल का आधा प्रयोग 'द्रुत' दोष कहाता है। ७. **ग्रस्त**—जिह्वामूल में चिपका हुआ, अर्थात् उसके निग्रह से उच्चारण करना। अथवा मुंह में पान आदि रखकर बोलना। अमरकोश १।६।२० में 'ग्रस्त' का अर्थ लुप्तवर्ण किया है। ८. **निरस्त**—निष्ठुर कठोर उच्चारण। अमरकोश १। ६।२० में शीघ्रता से उच्चरित अर्थ किया है। यह अर्थ 'द्रुत' से गतार्थ हो जाता है। ९. **प्रगीत**—गान के समान उच्चारण। १०. **उपगीत**—समीपस्थ वर्णान्तर से अनुरक्त-सा उच्चारण। इसी को दूसरे पाठ में 'द्रुत' दोष कहा है। द्रुत का अर्थ है—शीघ्रवृत्ति से उच्चारण करना। ऋक्प्रातिशाख्य १४।४ में **अयथामात्र** स्वरों का दोष गिनाया है। इसके अनुसार ह्रस्व दीर्घ प्लुत का यथामात्रा उच्चारण न करना दोष है। ११. **क्ष्विण्ण**—कांपते हुए सा उच्चारण। १२. **रोमश**—गम्भीर उच्चारण। ऋक्प्रातिशाख्य १४।६ में **'लोमश्य'** दोष का अर्थ कठोरता किया है। १३. **अविलम्बित**—वर्णान्तर से जुड़ा हुआ सा उच्चारण। स्वामी दयानन्द ने 'जिन शब्दों का पृथक्-पृथक् उच्चारण करना चाहिये, उनको मिलाकर बोलना' अर्थ लिखा है। लाट्यायन श्रौत ६।१०।१८ की टीका में द्रुत मध्य और विलम्बित वृत्तियों में से विलम्बित वृत्ति का आश्रयण दोष कहा है। इस दृष्टि से यदि यहां 'अवलम्बित' पाठ माना जाये, तो युक्त होगा। 'अवलम्बित' का अर्थ होगा वर्णान्तर का आश्रय लेकर उच्चारण करना। १४. **निर्हत**—धक्का सा देकर उच्चारण करना। १५. **सन्दष्ट**—काटा हुआ सा उच्चारण करना। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'दांतों से किसी वस्तु को काटते हुए उच्चारण करना' अर्थ किया है। ऋक्प्रातिशाख्य १४।३ में सन्दष्ट का अर्थ 'जबड़े को नीचे झुकाकर उच्चारण करना' लिखा है। १६. **विकीर्ण**—बिखरा हुआ उच्चारण करना। लाट्यायन श्रौत ६।१०।१८ की व्याख्या में **'व्यस्त'** दोष कहा है। ऋक्प्रातिशाख्य १४।२ में एक **'व्यास'** दोष लिखा है, वह इससे भिन्न है।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य के १४वें पटल में उच्चारण दोषों का वर्णन मिलता है। परन्तु उसमें पठित प्रकृत प्रकरण से सम्बद्ध निम्न दोष द्रष्टव्य हैं—

१. **निरस्त**—स्थान वा करण के अपकर्ष से, २. **व्यास**—स्थान करण के विहार=विस्तार से, ३. **पीडन**—स्थान करण के संहार=संकोच से, ४. **अम्बूकृत**—ओष्ठ बन्द करके उच्चारण से (द्र०—१४।२); ५. **सन्दष्ट**—जबड़े के व्रीडन=नीचैःभाव से, ६. **विक्लिष्ट**—जबड़े के प्रकर्ष=दूर रखने से, ७. **ग्रस्त**—जिह्वामूल के निग्रह से, ८. **अनुनासिक**—नासिका के योग से (द्र०—१४।३); ९. **लेश**—प्रयत्न-शैथिल्य से उच्चारण, १०. **पीडन**—अतिप्रयत्न

से उच्चारण (द्र०—१४।५); ११. **लोमश्य**—असुकुमारता=कठोरता, १२. **क्ष्वेडन**—वर्ण के समान ध्वनि (द्र०—१४।६); १३. **जिह्वा-प्रथन**—जिह्वा का जितने भाग का स्पर्श स्थान में होना चाहिये, उससे अधिक भाग का स्पर्श करना, १४. **प्रतिहार**—अतिप्रयत्न, १५. **विक्लेश**—अस्पष्टता (द्र०—१४।७); १६. **बर्बरता**—अतिस्पर्श (१४।८)।

उक्त १६ दोषों में पीडन संख्या ३ और १० पर लिखित है—स्थानकरण के संकोच से प्रयत्नाधिक्य होता है। अतः यह एक ही है। इसी प्रकार संख्या ६ का विक्लिष्ट और संख्या १५ का विक्लेश दोनों एक ही हैं। शब्दमात्र का भेद है। जबड़े के प्रकर्ष=दूर रहने से अस्पष्टता दोष उत्पन्न होता है।

शौनकाचार्य ने ऋक्प्रातिशाख्य के इस पटल में किस वर्ण में कौन सा दोष होता है, इस पर भी विचार किया है। उच्चारण दोषों से सावधान रहने के लिये ऋक्प्रातिशाख्य का १४वां पटल विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

आयुर्वेद की चरक संहिता में अध्ययन में स्वर अथवा उच्चारण के निम्न ९ दोष गिनाए हैं—

१. अतिमात्र, २. तान्त, ३. विस्वर, ४. अनवस्थित पद, ५. अतिद्रुत, ६. विलम्बित, ७. अतिक्लीब, ८. अति उच्च, ९ अतिनीच। शिशुपालवध ६।२ की टीका में तान्त का वल्लभ देवयानी ने अर्थ लिखा है—**तान्ताः म्लानाः। केचित् तान्तं विस्तीर्णं वदन्ति।**

इन दोषों से ही उच्चारण भ्रष्ट होकर अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति होती है। यद्यपि ये स्वरों के दोष कहे गये हैं, तथापि इनमें से कतिपय दोष व्यञ्जनों में भी देखे जाते हैं। यथा—यकार और जकार का स्थान तालु समान है। परन्तु यकार का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है, और जकार का स्पृष्ट प्रयत्न है। अतः यदि यकार का उच्चारण ध्मात दोषयुक्त किया जाये, तो ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न स्पृष्ट प्रयत्न में परिणत हो जायगा, और यकार जकार में बदल जायगा। यथा—यमुना—जमुना, यशोदा—जशोदा। यदि जकार को अर्धक दोष से उच्चारण करेंगे, तो स्पृष्ट प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट में परिणत हो जायगा, और फलस्वरूप जकार यकार रूप धारण कर लेगा। यथा—महाराजा—महाराया।

माध्यन्दिन वेदपाठियों का य का ज और ष का ख उच्चारण—याज्ञवल्क्य-शिक्षा के अनुसार य व के तीन-तीन भेद हैं—गुरु, लघु, लघुतर (लघुतर भेद पाणिनि द्वारा स्वीकृत है। द्र०—अ० ८।३।१८)। पदादि में गुरु, पदमध्य में लघु, और पदान्त में लघुतर उच्चारण विहित है। पदमध्य में भी कहीं-कहीं 'य' का गुरु उच्चारण लिखा है। पदादि य व के गुरु उच्चारण को दर्शाने के लिये लिपि में य व को **य्य व्व** इस प्रकार द्विर्वचन के रूप में लिखा जाता है। य का 'य्य' ऐसा लेखन प्राचीन हस्तलेखों में मिलता है। इसी को सम्प्रति 'य़' ऐसा लेखन होता है। वकार 'व्व' लेखन सम्प्रति भी इसी रूप में मिलता है। यथा—

य्यज्ञेन य्यज्ञमयजन्त देवाः—य़ज्ञेन य़ज्ञमयजन्त देवाः (य० ३१।१६)। इसी प्रकार **व्वायवस्थ देवो व्वः** (य० १।१)। 'व्वा' में तो गुरु वकार का सम्प्रति गुरु प्रयत्न से वकाररूप में ही उच्चारण होता है,[1] परन्तु 'य्य' या 'य़' से निर्दिष्ट पदादि आभ्यन्तर प्रयत्न की असाव-

१. बंगाली और उत्कलवासी 'व' को पवर्गीय 'ब' रूप में ही बोलते हैं।

धानता से 'ज' रूप में बोला जाता है—**जज्ञेन जज्ञम्**। यह अशुद्ध उच्चारण है। वस्तुतः पदादि यकार को ज नहीं बोलना चाहिये। जकारसदृश गुरु प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिये। इस लिये प्रातिशाखीय प्रतिज्ञा परिशिष्ट २।२ की व्याख्या में अनन्तदेव ने स्पष्ट लिखा है—**स्पृष्ट-प्रयत्नं स्थानैक्याच्चवर्गसदृशं यकारं पठन्ति।**

इसी प्रकार 'ष' का उच्चारण भी 'ख' सदृश, अर्थात् खकारस्थ ऊष्मप्रयत्न-युक्त होना चाहिये, न कि खकाररूप—**पुरुख एवेदम्** (य० ३१।२)। यही बात अनन्तदेव ने **'अर्धस्पृष्टषकारस्थाने कवर्गीयप्रतिरूपकं खकारोच्चारणं कर्तव्यं'** शब्दों द्वारा स्पष्ट की है।

इन सब के यथार्थ उच्चारण के सम्बन्ध में हमने स्वसम्पादित माध्यन्दिन पदपाठ के अन्त में चतुर्थ परिशिष्ट (पृष्ठ ६४१-६४४) में विस्तार से लिखा है। शास्त्रीय उच्चारण के इच्छुक पाठक उक्त प्रकरण को अवश्य देखें, और उस पर विचार करें। इसी प्रकार ᳲ ᳳ के स्वरूप वा इनके उच्चारण का ठीक प्रकार माध्यन्दिन पदपाठ के तृतीय परिशिष्ट में प्रकट किया है।

[भाष्यम्] नैष दोषः। गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति।

अस्त्यन्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम्। किम्? समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति॥

व्याख्या—**यह दोष नहीं है, गर्गादि बिदादि पाठ से संवृत आदि [दोषों] की निवृत्ति हो जायेगी। अर्थात् उनमें संवृतादि दोषों से रहित शब्दों का पाठ होने से संवृत आदि दोषों की प्रसक्ति नहीं होगी।**

गर्गादि बिदादि पाठ में तो अन्य प्रयोजन है। क्या है? [यथापठित] समुदायों का साधुत्व जाना जाये।

विवरण—'समुदायों का साधुत्व' का तात्पर्य कैयट ने लिखा है—'गर्ग' आदि समुदाय का ही साधुत्व जाना जाये, उनमें विद्यमान अकारादि स्वरों के ही कलादि दोषों की निवृत्ति होवे, इससे 'गार्ग्य' आदि समुदायान्तरस्थ दोषों की निवृत्ति नहीं होगी। यद्यपि गर्गादि का ग्रहण यञादि प्रत्ययविधि के लिये है, तथापि समुदाय का साधुत्व भी जाना जाता है। दूसरे व्याख्याकारों का कथन है कि 'समुदाय के साधुत्व' का अभिप्राय यञादि प्रत्ययान्त समुदाय के साधुत्व से है। अतः इस अभिप्राय के अनुसार कलादि दोषों की निवृत्ति नहीं होगी। **पाठश्चैव विशेष्यते** इस अग्रिम भाष्यवचन से भी प्रकृत भाष्य का यही अभिप्राय जाना जाता है।

[भाष्यम्] एवं तर्ह्यष्टादशधा भिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि।

सा तर्हि वक्तव्या।

लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः ॥२६॥

लिङ्गार्था सा तर्हि भविष्यति॥

व्याख्या—**अच्छा तो अठारह भेद से भिन्न कलादि दोषों से रहित अवर्ण की प्रत्यापत्ति को कहेंगे।**

तो क्या वह [निवृत्तकलादिदोषरूप प्रत्यापत्ति] कहनी चाहिये?

[कहनी तो पड़ेगी, पर उसकी] लिङ्ग के लिये प्रत्यापत्ति [हो जायेगी]।

लिङ्ग के लिये वह प्रत्यापत्ति हो जायेगी।

विवरण—अवर्ण के विषय में शास्त्र के अन्त में अ अ(८।४।६७) इस प्रकार संवृतत्व की प्रत्यापत्ति की है। इसलिये भाष्यकार ने **निवृत्तसंवृतादिकाम्** नहीं कहा, ऐसा कैयट का कथन है। वस्तुतः आकार में तो संवृत दोष की भी निवृत्ति इष्ट है। अतः **निवृतंकलादिकाम्** में 'कल' दोष के आगे पठित आदि पद प्रकारवाची है, ऐसा जानना चाहिये। इससे ह्रस्व अ से अन्यत्र संवृत दोष की भी निवृत्ति हो जावे। **वक्ष्यामि**—अकार की प्रत्यापत्ति निदर्शनार्थ है, ऐसा कैयट का कथन है। नागेश का कथन है कि जैसे अकार की प्रत्यापत्ति कही है, तद्वत् अन्य वर्णों की भी प्रत्यापत्ति कहूंगा यह भाष्यकार का तात्पर्य है।

'लिङ्गार्था सा' का भाव यह है कि शास्त्र में 'अनुनासिक अच्' वा 'ङ्' आदि अनुबन्धों को हटाकर धातु प्रत्यय आदि कलादिदोष युक्त पढ़ देंगे। यथा—**आस उपवेशने** में सकारोत्तर-वर्ती अनुनासिक अनुदात्त अकार न पढ़कर **आस् उपवेशने** में आकार को कलादोषयुक्त पढ़ देंगे, इसी प्रकार **शीङ् शये** में 'ङ्' को न पढ़कर 'ई' को ध्मात दोषयुक्त पढ़ देंगे, और आत्मने-पदविधायक सूत्र का स्वरूप होगा—**कलध्मातादात्मनेपदम्** कल और ध्मात विशिष्ट धातु से आत्मनेपद होता है। समस्त शास्त्रीय कार्य करने के पश्चात् कल और ध्मात दोषरहित स्वर की प्रत्यापत्ति कर देंगे। इस प्रकार प्रत्यापत्ति में गौरव होते हुए भी लाघव है। क्योंकि इस प्रकार शास्त्रस्थ सम्पूर्ण अनुबन्धों की निवृत्ति हो जायेगी।

[भाष्यम्] तर्हि वक्तव्यम् ? यद्यप्येतदुच्यते। अथवैतर्हि अनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यम्, इत्संज्ञा च न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः। यदनुबन्धैः क्रियते तत्कलादिभिः करिष्यते ॥

व्याख्या—**तो क्या वह [धात्वादिस्थ कलादि लिङ्ग] कहना चाहिये? यद्यपि [कलादि-दोषरहित की प्रत्यापत्ति] कही जाती है, तथापि अनेक शत अनुबन्धों का उच्चारण नहीं करना होता, इत्संज्ञा नहीं कहनी पड़ती और लोप भी नहीं कहना पड़ता। जो कार्य अनुबन्धों से किया जाता है, वह कलादि से कर दिया जायेगा।**

विवरण—जैसे आस शीङ् आदि धातुओं में कल ध्मात का योग करके आत्मनेपद-विधायक सूत्र का पाठ **कलध्मातादात्मनेपदम्** रखने का निर्देश पूर्व किया है, इसी प्रकार सम्पूर्ण अनुबन्धों की निवृत्ति करके प्रयोजनानुसार किसी दोषयुक्त वर्ण को पढ़कर उससे वह कार्य कर लेंगे। जैसे टु इत्संज्ञक धातु को ग्रस्त दोषयुक्त पढ़कर **ट्वितोऽथुच्** (३।१।८९) के स्थान में **ग्रस्तादथुच्** का विधान करेंगे। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

[भाष्यम्] सिद्धयत्येवमपाणिनीयं तु भवति। यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तम्—'आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः' इति। परिहृतमेतत्—'गर्गादिबिदादिपाठात् संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति' इति। ननु चान्यद् गर्गादिबि-दादिपाठे प्रयोजनमुक्तम्। किम् ? समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति। एवं तर्ह्यु-भयमनेन क्रियते— पाठश्चैव विशेष्यते, कलादयश्च निवर्त्यन्ते।

कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम्? लभ्यमित्याह। कथम्? द्विगता अपि हेतवो भवन्ति। तद्यथा—'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता' इति। तथा वाक्यानि द्विष्ठानि भवन्ति—'श्वेतो धावति', 'अलम्बुसानां याता' इति॥

व्याख्या—सिद्ध तो हो जायेगा, पर अपाणिनीय तो होगा। अर्थात् वर्णसमाम्नाय विषयक एक दोष को हटाने के लिये सम्पूर्ण शास्त्र में अत्यधिक परिवर्तन करना पड़ेगा। अच्छा तो जैसा है, वैसा ही रहे। अभी तो कहा है—'आकृति के उपदेश से सिद्ध होवे, तो संवृतादि दोषों का प्रतिषेध करना चाहिये'। इसका परिहार कर दिया—'गर्गादि बिदादि पाठ से संवृतादि की निवृत्ति हो जायेगी'। गर्गादि बिदादि पाठ में तो अन्य प्रयोजन कहा है। क्या कहा है? समुदायों का साधुत्व होवे। अच्छा तो इस (=गर्गादि बिदादि पाठ) से दोनों कार्य किये जाते हैं—पाठ भी विशेषित होता है, और कलादि दोष भी निवृत्त किये जाते हैं।

तो फिर कैसे एक यत्न से दोनों प्राप्य हैं? [दोनों] प्राप्य हैं। कैसे? दो [अर्थों] को प्राप्त भी हेतु होते हैं। जैसे—'आम्र भी सींचे गये और पितर भी तृप्त हो गये'। इसी प्रकार वाक्य भी दो [अर्थों] में स्थित होते हैं—श्वेतो धावति (=सफेद घोड़ा दौड़ता है) [श्वा इतो धावति (=यहां से कुत्ता दौड़ता है)]; अलम्बुसानां याता (=अलंबुस नामक देश को प्राप्त होनेवाला) [अलं बुसानां याता (=भूसे की प्राप्तिवाला समर्थ)]।

विवरण—किसी व्यक्ति ने अपने पुत्र से कहा—आमों में पानी दे दो। पुत्र ने आमों में पानी दे दिया। इस एक क्रिया से आमों का सिञ्चन भी हो गया, और पितादि आज्ञा देनेवाले पुत्रादि का आज्ञाकारित्व जानकर तृप्त भी हो गये=प्रसन्न हो गये। ऐसी क्रियाओं के लिये ही कहा जाता है—**एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा**। शब्द भी दो अर्थों को कहनेवाले होते हैं। इसका उदाहरण **श्वेतो धावति, अलंबुसानां याता** है। यहां प्रचित शक्तिवाले शब्द की शक्ति का अवच्छेद करना होता है। प्रथम उदाहरण में एक अर्थ में **श्वेतः** एक पद है, दूसरे अर्थ में **श्वा इतः** दो पद हैं, इसी प्रकार **अलंबुसानाम्** में भी। इन के ये दो-दो अर्थ स्वरशास्त्र की उपेक्षा करने पर ही सम्भव है। अन्यथा सस्वरपाठ में स्वरानुसार एक ही अर्थ जाना जायेगा। स्वर अखण्डश्लेष में बाधक नहीं होता, सखण्ड श्लेष जैसा कि ये उदाहरण हैं, में दो अर्थ करने में बाधक होगा।

[भाष्यम्] अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः—'क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्' इति?
आगमेषु। आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते।
विकारेषु तर्हि। विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते।
प्रत्ययेषु तर्हि। प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते।
धातुषु तर्हि। धातवोऽपि शुद्धाः पठ्यन्ते।
प्रातिपदिकेषु तर्हि। प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते।
यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि? एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थं उपदेशः

कर्तव्यः । 'शशः'—'षष' इति मा भूत्, 'पलाशः'—'पलाष' इति मा भूत्, 'मञ्चको'—'मञ्जक' इति मा भूत् ।

'आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः ।
उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः ॥'

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य
प्रथमे पादे प्रथममाह्निकम् ॥१॥

व्याख्या—अथवा पहले यह प्रष्टव्य है—ये संवृत आदि [दोष] कहां सुनाई देंगे ? आगमों में । आगम शुद्ध पढ़े हैं । अच्छा तो विकारों में । विकार भी शुद्ध पढ़े हैं । अच्छा तो प्रत्ययों में । प्रत्यय भी शुद्ध पढ़े हैं । अच्छा तो धातुओं में । धातु भी शुद्ध पढ़े हैं । अच्छा तो प्रातिपदिकों में । प्रातिपदिक भी शुद्ध पढ़े हैं ।

अच्छा तो जो अग्रहण प्रातिपदिक हैं, अर्थात् जो पठित नहीं हैं ? इन के भी स्वरवर्ण की आनुपूर्वी के ज्ञान के लिये उपदेश करना चाहिये । 'शश'—'षष' ऐसा न हो जावे, 'पलाश'—'पलाष' ऐसा न हो जावे, 'मञ्चक'—'मञ्जक' ऐसा न हो जावे ।

'आगम, विकार, और धातुओं के सहित प्रत्यय उच्चारित किये जाते हैं [वे कलादि दोष से शुद्ध पढ़े हैं], इस कारण ये [अपठित प्रातिपदिक भी] कलादि दोष को प्राप्त नहीं होते । अर्थात् जो प्रातिपदिक शास्त्र में साक्षात् पठित हैं, अथवा अपठित हैं, वे सब धातु से निष्पन्न होते हैं । आगम विकार प्रत्यय और धातुएं शुद्ध पढ़ी हैं, अतः किसी भी प्रातिपदिक में कलादि दोष प्राप्त नहीं होंगे ।

विवरण—वैयाकरण समाज में महाभाष्य का प्रथम आह्निक **'पस्पशा'** नाम से प्रसिद्ध है । 'पस्पशा' शब्द 'स्पश बाधनस्पर्शयोः' के यङ्लुगन्त का **'अ प्रत्ययात्'** (३।३।१०२) से 'अ' प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग का रूप है । यहां **यङोऽचि च**(२।४।७४)में पठित चकार से 'अच्'प्रत्यय से अन्यत्र भी यङ् का लुक् होता है । अभ्यास को **'दीर्घोऽकितः'** (७।४।८३) से जो दीर्घत्व प्राप्त होता है, वह **'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः'** इस परिभाषा से नहीं होता । **'पस्पशा'** शब्द का अर्थ है—'शास्त्र के आरम्भ का उपोद्घातरूप ग्रन्थ' ।

अन्नम्भट्ट ने प्रदीपोद्योतन के प्रस्तुत आह्निक के अन्त में लिखा है—

शास्त्रस्यारम्भको ग्रन्थ उपोद्घात इतीरितः ।
स एव ग्रन्थसन्दर्भः पस्पशः कथितो बुधैः ॥

यहां अन्नम्भट्ट ने पुंलिङ्ग 'पस्पशः' शब्द का प्रयोग किया है । इसे 'अच्' प्रत्यय का रूप जानना चाहिये ॥

इति युधिष्ठिरमीमांसककृते महाभाष्यस्याऽऽर्यभाषाव्याख्याने
प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे 'पस्पशाह्निक' नाम
प्रथममाह्निकं समाप्तम् ॥

अथ द्वितीयं प्रत्याहाराह्निकम्

अ इ उ ण् ॥१॥

विवरण—'अ इ उ ण्' आदि सूत्रों में 'अ' आदि वर्ण स्वरूप से अथवा अनुकार्यरूप से अर्थवान् हैं। अतः इन की प्रातिपदिक संज्ञा होने से विभक्ति की उत्पत्ति होनी चाहिये। इस का समाधान है—१. विद्यमान अर्थवत्त्व की अविवक्षा होने से, अर्थात् जैसे **अनुदरा कन्या** में कन्या के शरीर में अवश्य विद्यमान उदर की अविवक्षा करके उसे अनुदरा कहा है, वैसे ही यहां भी विद्यमान अर्थवत्त्व की विवक्षा न करके अर्थात् अनर्थक मानकर प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती। और उसके अभाव में सुप् की उत्पत्ति भी नहीं होती। २. सौत्र निर्देश होने से, अर्थात् सूत्रों में भी छन्दोवत् कार्य होते हैं (द्र०—भाष्य १।१।१)। छन्द में अनेक पदों में विभक्त्य-भाव देखा जाता है, तद्वत् यहां भी जानना चाहिये। ३. वर्णस्वरूप के उपदेश की विवक्षा से, अर्थात् सुप् प्रत्यय होने पर अकार आदि वर्ण अपने स्वरूप से उच्चरित नहीं हो सकते थे। यहां इनके स्वरूप के उपदेश की विवक्षा होने से विभक्ति का निर्देश नहीं किया।

वर्णात् कारः(वा० ३।३।१०८)से विहित 'कार' प्रत्यय भी बहुल ग्रहण से नहीं होता। अर्थात् उक्त वार्तिक **रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्** (३।३।१०८)सूत्र पर उपदिष्ट हैं। अतः सूत्रस्थ 'बहुल' ग्रहण का उसके वार्तिकों के साथ भी संबन्ध होता है। भर्तृहरि ने महाभाष्य-दीपिका में**'अस्य च्वौ'** (७।४।३२) सूत्र के निर्देश से 'कार' प्रत्यय का अनित्यत्व माना है।

वर्णों में परस्पर सन्धि भी सौत्रत्व हेतु से, स्वरूप-निर्देश की विवक्षा होने से, अथवा संहिता के विवक्षाधीन होने से नहीं होती। कैयट ने **नाज्झलौ**(१।१।१०) सूत्रस्थ **'वाक्यापरि-समाप्तेर्वा'** वचन की द्वितीय व्याख्या को ध्यान में रखकर लिखा है—'वर्णोपदेशकाल में अजादि संज्ञाओं के न होने से सन्धि नहीं होती।' नागेश ने इस का खण्डन किया है। वह लिखता है—वर्णोपदेश में इत्संज्ञा और अच् आदि प्रत्याहार निष्पन्न होने पर प्रवृत्त होनेवाली सन्धियां जैसे **'दध्यत्र'** में होत्री हैं वैसे ही उद्देश्यतावच्छेदकरूप से आक्रान्त वर्णोपदेश में भी प्रवृत्त होंगी। अन्यथा सवर्णसंज्ञाविधायक **'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'** (१।१।९) में दीर्घ सन्धि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि यह 'सवर्ण' संज्ञा विधायक सूत्र है। सवर्ण संज्ञा होने पर सवर्ण ग्रहण होगा, तत्पश्चात् दीर्घ सन्धि की प्रवृत्ति होगी। अतः सन्ध्यभाव के पूर्व प्रदर्शित हेतु ही ठीक हैं।

[भाष्यम्] अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः ॥१॥

अकारस्य विवृतोपदेशः कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्? आकारग्रहणार्थः। अकारः सवर्णग्रहणेनाऽऽकारमपि यथा गृह्णीयात् ॥

व्याख्या—अकार का विवृत उपदेश [करना चाहिये,] आकार के ग्रहण के लिये।

अकार का विवृत उपदेश करना चाहिये। [विवृतोपदेश का] क्या प्रयोजन है? आकार के ग्रहण के लिये। अकार सवर्ण के ग्रहण से आकार का भी ग्रहण जैसे करे।

विवरण—'विवृतोपदेशः' का भाव है—विवृत गुण का उपदेश। क्योंकि ह्रस्व अकार विवृत प्रयत्न से उच्चरित ही नहीं हो सकता। अतः 'कर्तव्यः' पद का भाव भी 'प्रतिज्ञेयः' जानना चाहिये। अर्थात् ह्रस्व अकार का संवृत प्रयत्न है, और दीर्घ प्लुत का विवृत प्रयत्न है। अतः दोनों की परस्पर में सवर्ण संज्ञा नहीं होगी। इसलिये शास्त्रीय कार्य के निर्वाहार्थ ह्रस्व अकार का यहां विवृतोपदेश प्रतिज्ञात है, ऐसा जानना चाहिये।

सवर्णग्रहणेन—सवर्णा गृह्यन्तेऽनेन, तेन सवर्णग्राहकेन **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६८) सूत्रेणेति भावः।

[भाष्यम्] किं च कारणं न गृह्णीयात्? विवारभेदात्॥

व्याख्या—क्या कारण है कि [सवर्ण का] ग्रहण नहीं करेगा? विवार=प्रयत्न के भेद होने से।

विवरण—'किं च कारणम्' यहां **निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनात्** (वा० २।३। २७) वार्तिक से प्रथमा हुई है। अभिप्राय है—किस कारण से। 'विवारभेदात्' यहां **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२।३।२५) से पञ्चमी जाननी चाहिये। 'विवार' शब्द का अर्थ—**विवारयति विकासयति आस्यमिति**, अर्थात् जो मुख को विकसित करता है, वह 'विवार' अर्थात् 'प्रयत्न' कहाता है।

कैयट आदि व्याख्याकारों ने यहां प्रकृत भाष्य के व्याख्या पक्ष में **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः**(१।१।६८)सूत्र के प्रत्याख्यात पक्ष को स्वीकार करके दीर्घ प्लुतों में भी अत्व जाति का आश्रयण करके ग्रहण की सम्भावना दर्शाकर व्यक्तिपक्ष में ग्रहणक शास्त्र='अणुदित्' सूत्र की आवश्यकता स्वीकार करके की है। हमारे विचार में यथास्थित सूत्रपाठ की दृष्टि से विचार करना ही भाष्यकार को इष्ट है।

[भाष्यम्] किमुच्यते—'विवारभेदाद्' इति, न पुनः कालभेदादपि? यथैव ह्ययं विवारभिन्नः, एवं कालभिन्नोऽपि।

सत्यमेतत्। वक्ष्यति—'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' [१।१।९] इत्यत्रास्यग्रहणस्य प्रयोजनम्—'आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा भवन्ति' इति। बाह्यश्च पुनरास्यात् कालः। तेन स्यादेव कालभिन्नस्य ग्रहणं, न पुनर्विवारभिन्नस्य॥

व्याख्या—क्या कहते हो—'विवार (=प्रयत्न) के भेद से [ह्रस्व अकार से दीर्घ आकार भिन्न है]', क्या काल के भेद से भी भिन्न नहीं है? जैसे यह [दीर्घ आकार] प्रयत्न के

भेद से [ह्रस्व अकार से] भिन्न है, उसी प्रकार काल के भेद से भी तो भिन्न है [ह्रस्व में एक मात्रा काल लगता है, दीर्घ में दो मात्रा काल] ?

यह ठीक है। कहेंगे—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१।१।९) सूत्र में 'आस्य' ग्रहण का प्रयोजन—'आस्य (=मुख) में जिनका तुल्य देश (=स्थान) और प्रयत्न है, वे सवर्ण-संज्ञक होते हैं।' काल आस्य (=तात्वादि स्थानों) से बाहर है। इस [व्याख्या] से [सवर्ण-संज्ञा में] कालभिन्न का ग्रहण हो ही जायेगा, विवार से भिन्न का ग्रहण नहीं होगा।

विवरण—ह्रस्व दीर्घ प्लुत रूप कालभेद की प्रतीति भी प्रयत्नभेद से होती है। अतः वह भी प्रयत्न ही है, ऐसा मानकर भाष्यकार ने समाधान किया है—आस्ये येषां···। काल की निष्पत्ति आस्य से बाहर होती है। उसकी उत्पत्ति तत्तत् स्थान में करणों के स्पर्शादि के अनन्तर जब वायु वहां से प्रतिनिवृत्त होता है, तब विवार संवार आदि बाह्य प्रयत्नसमकाल में होती है। इसीलिये आपिशलि और पाणिनि आचार्य ने शिक्षासूत्रों के अन्त में लिखा है—

'स्पृष्टत्वमीषत् स्पृष्टत्वं संवृतत्वं तथैव च।
विवृतत्वं च वर्णानामन्तःकरणमुच्यते ॥
कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता।
घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः ॥
बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः ॥'

शब्दों के उच्चारण की द्रुत मध्यम और विलम्बित तीन वृत्तियां हैं। उनमें भी जो कालभेद होता है, उसका समाधाम भाष्यकार तपरस्तत्कालस्य (१।१।६९) सूत्र के भाष्य में करेंगे।

[भाष्यम्] किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते, आहोस्वित्संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते ?

विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते। कथं ज्ञायते? यदयम्—'अ अ' [८।४।६७] इत्यकारस्य विवृतस्य संवृतताप्रत्यापत्तिं शास्ति ॥

व्याख्या—क्या यह [सूत्रकार द्वारा] विवृतरूप से उपदिश्यमान का प्रयोजन [वार्तिक द्वारा] कहा जाता है, अथवा [सूत्रकार द्वारा] संवृतरूप से उपदिश्यमान का विवृतोपदेश कहा है ?

विवृतरूप से उपदिश्यमान का प्रयोजन [वार्तिक द्वारा] कहा जाता है। कैसे जाना जाता है? जो यह [सूत्रकार] 'अ अ' (८।४।६७) सूत्र से विवृत अकार की संवृत-प्रत्यापत्ति का कथन करते हैं।

विवरण—ह्रस्व अकार स्वभाव से संवृत है। ग्रन्थ के अन्त में सूत्रकार द्वारा उसके संवृतत्व का कथन तभी उपपन्न होता है, जब प्रत्याहारसूत्र में उसका विवृतोपदेश किया गया हो। अन्यथा संवृतविधान अनर्थक होगा।

[भाष्यम्] नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ? 'अतिखट्वः' 'अतिमालः' इत्यत्रान्तर्यतो विवृतस्य विवृतः प्राप्नोति । संवृतः स्यादित्येवमर्था प्रत्यापत्तिः ।

नैतदस्ति । नैव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोऽस्ति । कस्तर्हि ? संवृतः । योऽस्ति स भविष्यति । तदेतत्प्रत्यापत्तिवचनं ज्ञापकमेव भविष्यति—'विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते' इति ॥

व्याख्या—यह ('अ अ' सूत्र) ज्ञापक नहीं है । इस के विधान में तो अन्य प्रयोजन है । क्या है ? अतिखट्वः, अतिमालः में दीर्घ विवृत आकार के स्थान पर अन्तरतमत्व के नियम से विवृत प्रयत्नवाला ह्रस्व अकार प्राप्त होता है । वह [प्रयोगकाल में] संवृत हो जावे, इस के लिये [अ अ से] प्रत्यापत्ति की है ।

यह [ठीक] नहीं है । नाही लोक में और ना ही वेद में अकार विवृत है । तो कैसा है ? संवृत । [इसलिये विवृत दीर्घ के स्थान में] जो [संवृत अकार] है, वह हो जायेगा । इसलिये यह [अ अ सूत्र से] प्रत्यापत्ति-वचन ज्ञापक ही होगा कि—'विवृत उपदिश्यमान अकार का प्रयोजन [वार्तिक द्वारा] कहा जाता है ।'

विवरण—'अतिखट्वः' 'अतिमालः' में **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (१।२।४८) से ह्रस्व होता है । परन्तु यहां **अचश्च** (१।२।२८)के नियम से 'अचः' पद की उपस्थिति होती है । विवृतोपदेश न करने पर सवर्ण संज्ञा न होने से अकार से दीर्घ आकार का ग्रहण नहीं होगा । अतः आकार की अच् संज्ञा नहीं होगी । अच् संज्ञा न होने से **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** सूत्र से ह्रस्वत्व नहीं होगा । यह दोष नहीं है । **उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः** (७।३।४६) सूत्र में यकार पूर्ववाले और ककार पूर्ववाले आकार के स्थान में जो ह्रस्व [**केऽणः** (७।४।१३) से] होता है, उसको उदीचों के मत में इकार का विधान किया है । यथा—**इभ्यका इभ्यिका, चटकका चटकिका** । इससे ज्ञापन होता है कि—**गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (१।२।४८) सूत्र में जैसे 'गो' अंश में फलाभाव के कारण 'अचः' की उपस्थिति नहीं होती, वैसे ही स्त्र्यंश में भी **अचः** की उपस्थिति नहीं होती । इस प्रकार अन्तरतम के नियम से दीर्घ विवृत आकार के स्थान में ह्रस्व विवृत अकार हो जायेगा । उसकी **अ अ** सूत्र से संवृत प्रत्यापत्ति की है ।

नैव लोके आदि का भाव यह है कि शब्द-प्रयोग के दो विषय हैं—लोक और वेद । दोनों में ही विवृत अकार देखा ही नहीं जाता, तब दीर्घ विवृत के स्थान पर शशशृंगायमाण विवृत अकार ज्ञापक से भी कैसे होगा ? इसलिये विधान-सामर्थ्य से दीर्घ विवृत के स्थान पर सादृश्य न होने पर भी संवृत अकार ही होगा । संवृत को **अ अ** से संवृत प्रत्यापत्ति करना व्यर्थ है । अतः संवृत-प्रत्यापत्ति वचन अकार के विवृत उपदेश में ही ज्ञापक है ।

[भाष्यम्] कः पुनरत्र विशेषः—'विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायेत, संवृतस्योपदिश्यमानस्य वा विवृतोपदेशश्चोद्येत' इति ?

न खलु कश्चिद्विशेषः, आहोपुरुषिकामात्रं तु । भवानाह—'संवृतस्योपदिश्य-

मानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते' इति । वयं तु ब्रूमो—'विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते' इति ॥

व्याख्या—इसमें क्या विशेषता (=भेद) है—'विवृत उपदिश्यमान अकार के प्रयोजन का अन्वाख्यान करें, अथवा संवृत उपदिश्यमान अकार के विवृतोपदेश का कथन करें' ?

कोई विशेषता नहीं है। हां, आहोपुरुषिकामात्र (=अहंकारमात्र) तो है। आपने कहा—'संवृत उपदिश्यमान अकार के विवृतोपदेश का कथन करते हैं।' हम कहते हैं—'विवृत उपदिश्यमान अकार के विवृतोपदेश के प्रयोजन का कथन करते हैं।'

विवरण—दोनों पक्षों में केवल **कृतः** और **कर्तव्यः** पदों के अध्याहार में भेद है, अन्य कोई भेद नहीं है। 'विवृत उपदेश **किया है,** आकार के ग्रहण के लिये।' अथवा 'विवृत उपदेश **करना चाहिये,** आकार के ग्रहण के लिये।'

आहोपुरुषिका—'अहो अहं पुरुषः' इस अर्थ में 'मयूरव्यंसकादि' (२।१।७१) से समास होकर अहंकारवान् अहोपुरुष, उससे **'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च'** (५।१।१३२) से भाव में वुञ् प्रत्यय =आहोपुरुषिका।

[भाष्यम्] तस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः सवर्णग्रहणार्थः ॥२॥

तस्यैतस्याक्षरसमाम्नायिकस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः कर्तव्यः। क्वाऽन्यत्र ? धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातस्थस्य। किं प्रयोजनम् ? सवर्णग्रहणार्थः। आक्षरसमाम्नायिकेनाऽस्य ग्रहणं यथा स्यात्। किं च कारणं न स्यात् ? विवार-भेदादेव ॥

व्याख्या—उस [आक्षरसमाम्नायिक अकार] के विवृतोपदेश से अन्यत्र भी विवृतोपदेश [करना चाहिये,] सवर्ण ग्रहण के लिये।

उस आक्षरसमाम्नायिक [अकार] के विवृतोपदेश से अन्यत्र भी [अकार का] विवृतोपदेश करना चाहिये। कहां अन्यत्र ? धातु प्रातिपदिक प्रत्यय निपातस्थ [अकार] का। क्या प्रयोजन है ? सवर्ण ग्रहण के लिये। अक्षरसमाम्नाय में पठित [अकार] से इस [धातु आदि में वर्तमान अकार] का ग्रहण जिससे होवे। क्या कारण है कि ग्रहण नहीं होगा ? विवार के भेद से ही।

विवरण—शास्त्रीय प्रक्रिया दशा में सर्वत्र अकार विवृत माना गया है, ऐसा न जानने वाला, अर्थात् पूर्व प्रतिज्ञात विवृतोपदेश केवल **अ इ उ ण्** सूत्रस्थ अकारविषयक ही है, ऐसा जाननेवाला शङ्का करता है। अ इ उ ण् सूत्रस्थ अकार के विवृत उपदेश करने पर धात्वादि में पठित अकार तो संवृत ही होगा, फिर दोनों में प्रयत्न का भेद होने से सवर्ण का ग्रहण नहीं होगा। उस अवस्था में 'शाम्यति' में **शमामष्टानां दीर्घः श्यनि** (७।३।७४) से दीर्घत्व, 'दृषत्' में **प्रातिपदिकस्यान्तोदात्तो भवति** (भाष्य ६।१।११६ अवङ् स्फोटायनस्य) से अन्तो-

दात्तत्व, 'चायकः' में प्रत्यय परे आयादेश, और 'अवगतः' में अव्यये नञ्कुनिपातानाम् (वा० ६।२।२) से पूर्वपदप्रकृति स्वर नहीं होगा।

[भाष्यम्] आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्याक्षरसमाम्नायिकेन धात्वादिस्थस्य ग्रहणमिति। यदयम् 'अकः सवर्णे दीर्घः' [६।१।६७] इति प्रत्याहारेऽको ग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? नहि द्वयोराक्षरसमाम्नायिकयोर्युगपत् समवस्थानमस्ति॥

व्याख्या—आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—अक्षरसमाम्नाय में पठित [विवृत अकार] से धात्वादि में वर्तमान [संवृत अकार] का ग्रहण होता है। जो यह [सूत्रकार] अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।६७) में प्रत्याहार में 'अक्' का ग्रहण करता है। यह कैसे ज्ञापक है? अक्षरसमाम्नाय में पठित दो अकारों की एक साथ अवस्थिति नहीं होती।

विवरण—'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।६७) सूत्र में पठित 'अकः' के ककारानुबन्ध से ज्ञात होता है कि यह अकार अक्षरसमाम्नाय में पठित अकार ही है। यदि यह धात्वादिस्थ संवृत अकारों का ग्रहण न कराये, तो सूत्रकार 'अकः' के स्थान में 'इकः' पढ़ते, अर्थात् **इकः सवर्णे दीर्घः** सूत्र बनाते। यद्यपि दीर्घ विषय (दण्ड+अग्रम्=दण्डाग्रम्) में प्रातिपदिकस्थ एक भी अकार अक्षरसमाम्नाय में पठित नहीं है, फिर भी **द्वयोराक्षरसमाम्नायिकयोः** कहने का तात्पर्य यह है कि सवर्णदीर्घत्व दो अकारविषयक है, अतः **द्वयोः** कहा है। अथवा **देवदत्त अजस्ति,** यहां 'अच्' शब्दस्थ एक अकार आक्षरसामाम्नायिक है, दूसरा नहीं है। अतः भाष्य में **द्वयोः** का निर्देश किया है, यह पक्षान्तर नागेश ने दर्शाया है।

[भाष्यम्] नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्? यस्याक्षरसमाम्नायिकेन ग्रहणमस्ति, तदर्थमेतत्स्यात्—'खट्वाढकं', 'मालाढकम्' इति। सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति। तस्माद्विवृतोपदेशः कर्तव्यः।

क एष यत्नश्चोद्यते—विवृतोपदेशो नाम? विवृतो वोपदिश्येत संवृतो वा, को न्वत्र विशेषः? स एष सर्व एवमर्थो यत्नः क्रियते—यान्येतानि प्रातिपदिकान्यग्रहणानि तेषामेतेनाभ्युपायेनोपदेशश्चोद्यते, तद् गुरु भवति। तस्माद् वक्तव्यम्—'धात्वादिस्थश्च विवृतः' इति॥

व्याख्या—यह ज्ञापक नहीं है। इस (=अकः सवर्णे०) के कहने का तो अन्य प्रयोजन है। क्या है? जिसका अक्षरसमाम्नाय में पठित अकार से ग्रहण होता है, उसके लिये है—[खट्वा+आढकम्=] खट्वाढकम्, मालाढकम्। अर्थात् अणुदित् सवर्णस्य० (१।१।६८) के नियम से आक्षरसमाम्नायिक अकार से गृहीत दीर्घ आकारों में सवर्णदीर्घत्वरूपी कार्य हो जावे। प्रयोजन होते पर ज्ञापक नहीं होता। इसलिये विवृतोपदेश करना चाहिये।

यह क्या प्रयत्न कहा जाता है—विवृतोपदेश रूप? [अकार का] विवृत उपदेश करें वा संवृत, यहां इन में क्या विशेष है? यह सारा प्रयत्न इसलिये है कि—जो ये [साक्षात्] अगृहीत (=अपठित) प्रातिपदिक हैं, उनका इस (=प्रतिपदपाठरूप) उपाय से विवृतोपदेश कहा जाता है, वह गुरु होता है। इसलिये कहना चाहिये कि—'धात्वादिस्थ अकार विवृत है।'

विवरण—'**तस्माद् वक्तव्यं धात्वादिस्थश्च विवृतः**' का तात्पर्य यह है कि धातु प्रत्यय आदि में प्रयुक्त अकार का प्रक्रिया दशा में विवृतत्त्व स्वीकार कर लेने से अगृहीत प्रातिपदिकों के अकार भी प्रक्रिया दशा में विवृत समझे जायेंगे, क्योंकि सभी प्रातिपदिक धातुज हैं। सब प्रातिपदिकों के धातुजत्व का प्रतिपादन भाष्यकार प्रथम आह्निक के अन्त (पृष्ठ ८९) में भी कर चुके हैं।

[भाष्यम्] दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थः ॥३॥

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थो विवृतोपदेशः कर्तव्यः। दीर्घप्लुतौ संवृत मा भूतामिति। वृक्षाभ्याम्, देवदत्ता३ इति ॥

व्याख्या—**दीर्घ और प्लुत के वचन में संवृत की निवृत्ति के लिये [विवृतोपदेश करना चाहिये]।**

दीर्घ और प्लुत के कथन में संवृत की निवृत्ति के लिये विवृतोपदेश करना चाहिये। [अकार के स्थान पर हुए] दीर्घ और प्लुत संवत न हो जावें। वृक्षाभ्याम्, **देवदत्ता ३ इति।**

विवरण—यदि ह्रस्व अकार का विवृतोपदेश न किया जायेगा, तो **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) के नियम से संवृत के स्थान पर संवृत दीर्घ और प्लुत होंगे। **वृक्षाभ्याम्** में **अतो दीर्घो यञि** (७।३।१०१) से दीर्घत्व होता है, और **देवदत्ता** ३ में **प्रत्यभिवादे शूद्रे** (८।२।८३) से प्लुत होता है।

[भाष्यम्] नैष दोषः। नैव लोके न च वेदे दीर्घप्लुतौ संवृतौ स्तः। कौ तर्हि? विवृतौ। यौ स्तस्तौ भविष्यतः।

'स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम्।'

संवृतः स्थानी संवृतौ दीर्घप्लुतौ प्रकल्पयेत्। 'अनुस्वारो यथा यणम्'। तद्यथा—सय्ँयन्ता सव्ँवत्सरः यल्ँलोकं तल्ँलोकमिति। अनुस्वारः स्थानी यणमनुनासिकं प्रकल्पयति ॥

व्याख्या—**यह दोष नहीं है। नाही लोक में और नाही वेद में दीर्घ और प्लुत अवर्ण संवृत हैं। तो कैसे हैं ? विवृत। इसलिये [विधान-सामर्थ्य से] जैसे हैं वैसे ही होंगे।**

'स्थानी (=ह्रस्व संवृत अकार) [संवृत दीर्घ प्लुत अवर्णों की] प्रकल्पना कर लेगा, जैसे [स्थानी] अनुस्वार [सानुनासिक] यण् की कल्पना करता है।'

संवृत स्थानी [अकार] संवृत दीर्घ प्लुत की प्रकल्पना कर लेगा। जैसे अनुस्वार [सानुनासिक] यण् की कल्पना करता है। जैसे—सय्ँयन्ता, सव्ँवत्सरः, यल्ँलोकम्, तल्ँलोकम्। **अनुस्वार स्थानी सानुनासिक यण् की कल्पना करता है।**

विवरण—संवृत दीर्घ प्लुत के समान सानुनासिक यण् भी नहीं हैं, ऐसा समझकर वादी कहता है—**स्थानी प्रकल्पयेदेतौ। सय्ँयन्ता** आदि में **वा पदान्तस्य** (८।४।५८) से अनुस्वार को परसवर्ण सानुनासिक यण् होते हैं।

[भाष्यम्] विषम उपन्यासः । युक्तम्, यत्सतस्तत्र प्रक्लृप्तिर्भवति । सन्ति हि यणः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च । दीर्घप्लुतौ पुनर्नैव लोके नैव च वेदे संवृतौ स्तः । कौ तर्हि ? विवृतौ । यौ स्तस्तौ भविष्यतः ।

एवमपि कुत एतत्—'तुल्यस्थानौ प्रयत्नभिन्नौ भविष्यतः, न पुनस्तुल्यप्रयत्नौ स्थानभिन्नौ स्याताम्, ईकार ऊकारो वा' इति ?

व्याख्या—**यह उपन्यास (=यण् का दृष्टान्त) विषम है। [सय्ँयन्ता आदि में] युक्त है [सानुनासिक यण् की प्रक्लृप्ति], क्योंकि वहां विद्यमान [सानुनासिक यण्]की प्रकल्पना होती है। यण् सानुनासिक और निरनुनासिक दोनों हैं। परन्तु दीर्घ प्लुत न लोक में और नाही वेद में संवृत हैं। तो कैसे हैं ? विवृत। इसलिये [विधान-सामर्थ्य से] जैसे हैं वैसे ही होंगे।**

इस प्रकार भी यह कैसे होगा कि—'तुल्य स्थानवाले भिन्न प्रयत्नवाले हो जावें, क्यों तुल्य प्रयत्नवाले भिन्न स्थानवाले न होवें, ईकार वा ऊकार।'

विवरण—मतान्तर में ईकार ऊकार संवृत प्रयत्नवाले हैं, अतः वादी शङ्का करता है कि जब तुल्य स्थान और तुल्य प्रयत्नवाले अन्तरतम दीर्घ प्लुत न मिलें, तो जैसे आपने कहा कि विधान-सामर्थ्य से जैसे भी भिन्न प्रयत्नवाले दीर्घ प्लुत अवर्ण हैं, वे हो जायेंगे, तो उसी प्रकार स्थान से भिन्न परन्तु प्रयत्न से समान दीर्घ प्लुत ईकार ऊकार क्यों न होवें ?

भर्तृहरि तथा कैयट ने ईकार ऊकार के संवृतत्व में किसी शिक्षाकार का वचन उद्धृत किया है—**य्वृतः संवृता अन्यत्र आर्भवसाम्नः**। इसका अर्थ है—आर्भव साम से अन्यत्र (=अन्य सामों में) इकार उकार और ह्रस्व ऋकार संवृत होते हैं। इस वचन के अनुसार किन्हीं आचार्यों के मत में इवर्ण उवर्ण मात्र और ह्रस्व ऋकार संवृत होते हैं। नागेश ने **य्वृतः** के स्थान में **य्वतः** पाठ भी उद्धृत किया है। तदनुसार इवर्ण उवर्ण और ह्रस्व अकार संवृत प्रयत्नवाले होते हैं।

[भाष्यम्] वक्ष्यति—'स्थानेऽन्तरतमः' [१।१।४९] इत्यत्र 'स्थाने' इत्यनुवर्तमाने, पुनः स्थानेग्रहणस्य प्रयोजनम्—'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो भवति' ॥

व्याख्या—**कहेंगे—स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) सूत्र पर 'स्थाने' की [षष्ठी स्थानेयोगा १।१।४८] से अनुवृत्ति आने पर पुनः स्थाने ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'जहां अनेकविध आन्तर्य (=सादृश्य) मिलता हो, वहां स्थान से आन्तर्य ही बलवान् होता है।'**

विवरण—ह्रस्व अकार के साथ दीर्घ प्लुत आकारों में स्थान से सादृश्य है, किन्तु प्रयत्न से विसदृशता है। दीर्घ प्लुत ईकार ऊकार में स्थान से भिन्नता है, किन्तु प्रयत्न से सादृश्य है। अतः स्थानसादृश्य और प्रयत्नसादृश्य में स्थानसादृश्य के बलवान् होने से दीर्घ प्लुत ईकार ऊकार नहीं होंगे, प्रयत्नभिन्न दीर्घ प्लुत अवर्ण हो जायेंगे।

यद्यपि इवर्ण उवर्ण के संवृत प्रयत्न का निर्देष सामविषयक ही है, और जैसे अन्यत्र **पार्षदकृतिरेषा तत्रभवतः** (एओङ् सूत्रभाष्य) कहकर भाष्यकार ने गानविषयक वैशिष्ट्य की

सामान्य स्थिति की अपेक्षा उपेक्षा की है, उसी प्रकार भाष्यकार यहां भी यह कह सकते थे कि इवर्ण उवर्ण का संवृतत्व पार्षदकृतिमात्र है, वस्तुस्थिति नहीं है। पुनरपि यहां इसका उल्लेख भाष्यकार ने इसलिये नहीं किया कि उक्त दोष की निवृत्ति अन्यत्र शास्त्रसिद्ध मत के आश्रयण से हो सकती थी। अतएव भाष्यकार ने ज्ञापकरूप परिभाषा के द्वारा उक्त दोष की निवृत्ति दर्शाई है।

[भाष्यम्] तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनण्त्वात् ॥४॥

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति—'अस्य च्वौ' [७।४।३२], 'यस्येति च' [६।४।१४८]। किं कारणम्? 'अनण्त्वात्'। न ह्येतेऽणो येऽनुवृत्तौ। के तर्हि? येऽक्षरसमाम्नाये उपदिश्यन्ते॥

व्याख्या—**वहां अनुवृत्ति के निर्देश में सवर्णों का ग्रहण नहीं होता, अण् न होने से।**

वहां अनुवृत्ति के निर्देश में सवर्णों का ग्रहण प्राप्त नहीं होता—अस्य च्वौ (७।४।३२), यस्येति च (६।४।१४८) में। **क्या कारण है? 'अण् न होने से'। ये वे अण् नहीं हैं जो अनुवृत्ति में पढ़े हैं। तो कौन से अण् हैं? जो अक्षरसमाम्नाय में उपदिष्ट हैं।**

विवरण—'वृत्ति' नाम लक्ष्य में शास्त्र की प्रवृत्ति का है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ८०)। उस के अनुकूल जो निर्देश **अस्य च्वौ** आदि का है, वह अनुवृत्ति निर्देश कहाता है। यद्यपि व्यक्ति-पक्ष में **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।९७) आदि में पठित अकार आदि भी अक्षरसमाम्नाय-पठित से भिन्न हैं, तथापि वहां ककार आदि अनुबन्धों के कारण विदित होता है कि यहां अक्षर-समाम्नाय पठित अकार आदि ही हैं। परन्तु **अस्य च्वौ** (७।४।३२) और **यस्येति च** (६।४।१४८) में पठित अकार इकार अक्षरसमाम्नाय-पठित से निश्चय ही भिन्न हैं। उस अवस्था में अक्षरसमाम्नायस्थ ह्रस्व अकार के विवृतोपदेश कर देने पर भी **अस्य च्वौ** का अकार तो विवृत नहीं होगा। उस अवस्था में वह **खट्वीभवति, मालीभवति** में दीर्घ आकार का ग्रहण करके ईत्व आदेश कैसे करेगा? और **चौडिः बालाकिः** में **यस्येति च** से कैसे दीर्घ आकार का लोप होगा?

[भाष्यम्] एकत्वादकारस्य सिद्धम् ॥५॥

एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये, यश्चानुवृत्तौ, यश्च धात्वादिस्थः॥

व्याख्या—**अकार के एकत्व से [अनुवृत्ति-निर्देश में सवर्णों का ग्रहण] सिद्ध है।**

यह एक ही अकार है जो अक्षरसमाम्नाय में पठित है, और जो अनुवृत्ति-निर्देश में तथा जो धात्वादि में स्थित है।

विवरण—उदात्त अनुदात्त स्वरित आदि के भेद से अकारादि में जो भेद प्रतीत होता है, वह व्यञ्जक ध्वनिकृत है। जैसे एक ही व्यक्ति का चमकती खड्ग तैल और शीशे में प्रति-बिम्ब का भेद देखा जाता है। परन्तु जिसका प्रतिबिम्ब उनमें पड़ता है, वह एक ही है। उदात्तादि गुण भेदक होते हैं अथवा अभेदक, इस विषय पर **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) के भाष्य में विशेष विचार किया है। वहां भी सिद्धान्त **अभेदका इत्येव न्याय्यम्** (=उदात्तादि गुण भेदक नहीं होते) यही माना है।

[भाष्यम्] अनुबन्धसङ्करस्तु ॥६॥

अनुबन्धसङ्करस्तु प्राप्नोति । 'कर्मण्यण्' [३।२।१], 'आतोऽनुपसर्गे कः' [३।२।३] इति केऽपि णित्कृतं प्राप्नोति ।

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिः ॥७॥

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिर्भवति । तत्र को दोषः ? 'किरिणा गिरिणा' इत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति । इह च 'घटेन तरति घटिकः' इति द्व्यज्लक्षणष्ठन्न प्राप्नोति ॥

व्याख्या—[अकार को एक मानने पर] अनुबन्धों का सांकर्य तो प्राप्त होता है ।

[अकार को एक मानने पर, उससे संयुक्त किये गये] अनुबन्धों [के कार्य] का तो सांकर्य प्राप्त होता है । कर्मण्यण् (३।२।१) [के अण् का], आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३) [से विहित] 'क' में भी णित् कृत कार्य [गोदः से स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप्] प्राप्त होता है ।

एकाच् और अनेकाच् के ग्रहण में उपपत्ति (=इष्ट व्यवस्था) नहीं होती ।

एकाच् और अनेकाच् के ग्रहण में उपपत्ति (=इष्ट व्यवस्था) नहीं होती । उसमें क्या दोष होगा ? किरिणा गिरिणा में [सावेकाचः० ६।१।१६२ से] एकाच्लक्षण अन्तोदात्तत्व अर्थात् विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त होता है । और यहां घटेन तरति घटिकः में [नौद्व्यचष्ठन् ४।४।७ से] द्व्यच्लक्षण ठन् प्राप्त नहीं होता ।

विवरण—उपपत्ति=इष्टव्यवस्था प्राप्त नहीं होती, अर्थात् अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष होता है । किरिणा गिरिणा में जो प्रतिपद दो-दो ह्रस्व इकार प्रयुक्त हैं, वे दोनों एक ही हैं । अर्थात् उच्चारण में रेफ का व्यवाय है, वर्ण में व्यवाय नहीं है । इस प्रकार एक मानने पर सावेकाचः० (६।१।१६२) से एकाच्लक्षण अन्तोदात्तत्व (=विभक्ति को उदात्तत्व) प्राप्त होता है, जो कि इष्ट नहीं है । अर्थात् यहां एकाच्त्व की अतिव्याप्ति होती है । अकार का घटेन आदि का निर्देश इसलिये नहीं किया, कि यहां न गोश्वन्साववर्ण० (६।१।१७६) से सावेकाचः० से प्राप्त विभक्त्युदात्तत्व का निषेध हो जाता है । घटेन तरति घटिकः यहां एक अकार होने से द्व्यच्लक्षण ठन् प्राप्त नहीं होता, अर्थात् यहां अव्याप्ति दोष है । विधानसामर्थ्य से गौण द्व्यच् मानकर भी ठन् नहीं कर सकते, क्योंकि बाहुभ्यां तरति बाहुकः यहां आकार उकार का मुख्य भेद होने से मुख्यद्व्यच्कत्व उपपन्न है, अर्थात् द्व्यच्ग्रहण सार्थक है ।

[भाष्यम्] द्रव्यवच्चोपचाराः ॥८॥

द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्ति । तद्यथा–द्रव्येषु नैकेन घटेनाऽनेको युगपत्कार्यं करोति, एवमिममकारं नाऽनेको युगपदुच्चारयेत् ॥

व्याख्या—द्रव्यों के समान उपचार (=व्यवहार) प्राप्त होते हैं ।

द्रव्यों के समान उपचार (=व्यवहार) प्राप्त होते हैं । जैसे—द्रव्यों में एक घट से

अनेक व्यक्ति युगपत् कार्य नहीं करते, उसी प्रकार इस अकार को भी अनेक व्यक्ति एक साथ उच्चारण न करें।

विवरण—अनेक व्यक्ति एक घट में दर्शन स्पर्शन आदि अनेक क्रियाएं युगपत् कर सकते हैं। अतः भाष्यकार का यहां अभिप्राय 'पानी लाना' आदि विशेष क्रियाओं से जानना चाहिये।

[भाष्यम्] विषयेण तु नानालिङ्गकरणात् सिद्धम् ॥६॥

यदयं विषये-विषये नानालिङ्गमकारं करोति—'कर्मण्यण्', 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति। तेन ज्ञायते—'नानुबन्धसङ्करोऽस्ति' इति। यदि हि स्यान्नानालिङ्गकरण-मनर्थकं स्यात्। एकमेवाऽयं सर्वगुणमुच्चारयेत् ॥

व्याख्या—विषय [भेद] से नाना लिङ्ग जोड़ने से सिद्ध है [कि अनुबन्धों का साङ्कर्य नहीं होता]।

जो यह आचार्य विषय-विषय में भिन्न-भिन्न लिङ्ग (=अनुबन्धों) वाले अकार को पढ़ता है—कर्मण्यण् (३।२।१), आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३)। इससे जाना जाता है कि—'अनुबन्धों [के कार्य] का सांकर्य नहीं होता।' यदि [अनुबन्धों का कार्य-सांकर्य] होवे, तो भिन्न-भिन्न लिङ्गों का करना अनर्थक हो जावे। एक [अकार] को ही सब गुणों(=अनुबन्धों) से युक्त ['कण्ट्' ऐसा] पढ़ देवे।

विवरण—वार्तिककार ने **विषयेण** में तृतीया-निर्देश किया है और भाष्यकार ने **विषये-विषये** वीप्सायुक्त सप्तम्यन्त का। इनमें शब्द का भेद है, अर्थ में एकरूपता जाननी चाहिये। जैसे **स्थाल्या पचति** और **स्थाल्यां पचति** में विवक्षा का भेदमात्र है। वार्तिककार ने करण-रूपता और सामान्यरूपता से प्रयोग किया है, और भाष्यकार ने भेद और अधिकरण की विवक्षा से वीप्सा और सप्तमी का प्रयोग किया है। गुण से यहां अनुबन्धों का निर्देश जानना चाहिये। क्योंकि इनका कार्य के लिये आश्रयण किया है, और ये प्रयोगसिद्धि में उपकारक हैं।

[भाष्यम्] नैतदस्ति ज्ञापकम्। इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत्स्यात्। न ह्ययमनुबन्धैः शल्यकवच्छक्य उपचेतुम्। इत्संज्ञायां हि दोषः स्यात्। आयम्य हि द्वयोरित्संज्ञा स्यात्। कयोः? आद्यन्तयोः ॥

व्याख्या—यह (=विषय-विषय में नाना लिङ्ग जोड़ना) ज्ञापक नहीं है। इत्संज्ञा की प्रक्लृप्ति (=सिद्धि) के लिये यह [विषय-विषय में नाना लिङ्गकरण] होवे। यह [अकार] अनुबन्धों से शल्यक (=सेही) के समान उपचित (=संयुक्त) नहीं किया जा सकता। इत्संज्ञा में दोष होगा। खींचतान करके दो की ही इत्संज्ञा होगी। किन दो की? आदि और अन्त की।

विवरण—सेही के शरीर पर लम्बे-लम्बे तीक्ष्ण कांटे होते हैं। जब वह भय से आक्रान्त होती हैं, तो कांटों को खड़ा करके गुड़मुड़ होकर पड़ जाती है। उस अवस्था में प्रतीत होता है कि सेही के चारों ओर कांटे हैं। अकार वर्ण है। इसको अनुबन्धों से सेही के समान युक्त करने का भाव है—'अ' से पूर्व और अन्त में एक-एक अनुबन्ध से अधिक अनुबन्धों को जोड़ना। उस अवस्था में चवर्ग आदिरूप आदि और अन्त्य हल्रूप दो की ही इत्संज्ञा होगी,

मध्यवर्ती अनुबन्ध बच जायेंगे। **आयम्य** (=खींचतान करके) इसलिये कहा कि प्रत्यय आदि में जिनकी इत्संज्ञा होती है, वे नियत वर्ण हैं। उनमें से ही कोई वर्ण प्रयत्नपूर्वक आदि में रखा जायेगा तो इत्संज्ञा हो जायेगी, अन्यथा आदि के वर्ण की इत्संज्ञा होना कठिन है।

[भाष्यम्] एवं तर्हि—"विषयेण तु पुनर्लिङ्गकरणात् सिद्धम्"। यदयं विषये-विषये पुनर्लिङ्गमकारं करोति—'प्राग्दीव्यतोऽण्' [४।१।८३], 'शिवादिभ्योऽण्' [४।१।११२] इति। तेन ज्ञायते—'नानुबन्धसङ्करोऽस्ति' इति। यदि हि स्यात् पुनर्लिङ्गकरणमनर्थकं स्यात्॥

व्याख्या—**अच्छा तो—"विषय [भेद] से पुनः लिङ्ग (=अनुबन्ध) के जोड़ने से सिद्ध हैं।" जो यह आचार्य विषय-विषय में पुनः (=दूसरी बार) उसी लिङ्ग (=अनुबन्ध) वाले अकार को पढ़ता है**—प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३), **शिवादिभ्योऽण्** (४।१।११२)। **इससे जाना जाता है कि—'अनुबन्धों [के कार्य] का साङ्कर्य नहीं होता।' यदि सांकर्य होवे, तो पुनः लिङ्गकरण अनर्थक होवे।**

विवरण—वार्तिक में 'नाना' के स्थान में 'पुनः' पाठभेद करके अनुबन्धसांकर्य का निराकरण किया है। यदि कोई यह कहे कि पुनः उसी लिङ्ग का निर्देश करना नियम के लिये है, बिदादि से ञित् अ ही होवे, शिवादि से णित् ही। इसका समाधान व्याख्याकारों ने यह किया है कि—'नियम की अपेक्षा विधि बलवान् होती है', अतः विधि मानना युक्त है। विधि-पक्ष में पुनः णित् अनुबन्ध करना अनुबन्ध-साङ्कर्य के अभाव का ही द्योतक है।

[भाष्यम्] अथवा पुनरस्तु—"विषयेण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम्" इत्येव। ननु चोक्तम्—'इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत्स्याद्' इति? नैष दोषः, लोकत एतत्सिद्धम्। तद्यथा लोके कश्चिदेवं देवदत्तमाह—'इह मुण्डो भव', 'इह जटिलो भव', 'इह शिखी भव' इति। यल्लिङ्गो यत्रोच्यते, तल्लिङ्गस्तत्रोपतिष्ठते। एवमयमकारो यल्लिङ्गो यत्रोच्यते, तल्लिङ्गस्तत्रोपस्थास्यते॥

व्याख्या—**अथवा पुनः—"विषयभेद से नाना लिङ्ग जोड़ने से सिद्ध है" ऐसा ही [वार्तिक का पाठ] होवे। अभी तो कहा है—'इत्संज्ञा की सिद्धि के लिये [विषय-विषय में नाना लिङ्गकरण] होगा।' यह दोष नहीं है, यह लोक से सिद्ध है। जैसे लोक में कोई देवदत्त को इस प्रकार कहता है—'यहां मुण्ड होजा, यहां जटावाला होजा, यहां शिखा से युक्त होजा।' जिस लिङ्ग (=चिह्न) वाला जहां कहा जाता है, उस लिङ्गवाला वहां उपस्थित होता है। इसी प्रकार यह अकार भी जहां जिस लिङ्ग (=अनुबन्ध) वाला कहा जाता है, वहां उस लिङ्गवाला उपस्थित हो जायेगा।**

विवरण—'**अथवा**' के द्वारा भाष्यकार यह कहते हैं कि हम यह नहीं कहते कि अकार को सब गुणों (=अनुबन्धों) से युक्त उच्चारण कर दे। अपितु जैसे लोक में देवदत्त जहां जिस लिङ्गवाला कहा जाता है, वहां उस लिङ्गवाला उपस्थित होता है। उसी प्रकार शास्त्र में भी जिन प्रकृतियों से जिस लिङ्गवाले अकार का विधान है, उनमें उस अनुबन्ध के ही कार्य होते हैं।

[भाष्यम्] यदप्युच्यते—"एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चाऽनुपपत्तिः" इति ।

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तिसङ्ख्यानात् ॥१०॥

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तेः सङ्ख्यानादनेकाच्त्वं भविष्यति । तद्यथा— 'सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति' इति, 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इत्यावृत्तितः सप्तदशत्वं भवति, एवमिहाप्यावृत्तितोऽनेकाच्त्वं भविष्यति ॥

व्याख्या—और जो यह कहते हो कि—"एकाच् अनेकाच् के ग्रहण में उपपत्ति (= इष्ट व्यवस्था) नहीं होगी ।"

एकाच् और अनेकाच् के ग्रहण में आवृत्ति की गणना से [अनेकाच्त्व] हो जायेगा ।

एकाच् और अनेकाच् के ग्रहण में आवृत्ति की गणना से अनेकाच्त्व हो जायेगा । जैसे —'सप्तदश सामिधेनियां होती हैं' [ऐसा कहा है, इनमें] 'प्रथम का तीन वार पाठ करे, तीन वार अन्तिम का', इस आवृत्ति से सप्तदश संख्या उपपन्न होती है, इसी प्रकार यहाँ भी आवृत्ति से अनेकाच्त्व हो जायेगा ।

विवरण—सब श्रौतयागों की प्रकृति दर्शपौर्णमास है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ८-९ में) लिख चुके हैं । दर्शपौर्णमास में अग्निसमिन्धन एक कर्म होता है । उसमें अग्निसमिन्धन के लिये मन्त्रपूर्वक १५ समित् अग्नि में छोड़ी जाती हैं । इस कर्म के लिये जो मन्त्र हैं, वे 'सामिधेनी-मन्त्र' कहाते हैं । ये मन्त्र संख्या में ११ हैं । १५ समिधों के लिये १५ मन्त्र आवश्यक हैं । अतः—**त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्** (शत० १।३।५।६) वचन के अनुसार प्रथम मन्त्र **प्र वो वाजा** को तीन वार पढ़ते हैं, और उत्तम=अन्तिम ग्यारहवें **आ जुहोता दुवस्यत** को तीन वार । इस प्रकार १५ सामिधेनियां सम्पन्न होती हैं—**ताः पञ्चदश सामिधेन्यो सम्पद्यन्ते** (शत० १।३।५।७) ।

उपलब्ध समस्त श्रौतसूत्रों में दर्शपौर्णमास में सामान्यरूप से १५ सामिधेनियां ही कहीं हैं । भाष्यकार ने यहां **सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति** कहा है । सप्तदश सामिधेनियां तैत्तिरीय संहिता २।५।१० के अनुसार **सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य**=वैश्य के लिये दर्शपौर्णमास में १७ सामिधेनियों का विधान है । शतपथ ब्राह्मण १।३।५।१० में लिखा है—**सप्तदश सामिधेनीरिष्ट्याऽनुब्रूयात्** । इष्टि में सप्तदश सामिधेनियों का निर्देश मिलता है । सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि यहां इष्टि से विकृतिभूत मित्रविन्दा आदि काम्येष्टियों का ग्रहण जानना चाहिये । अतः शतपथानुसार ये सप्तदश सामिधेनियां काम्येष्टि में प्रयुक्त होती हैं ।

सप्तदशत्व की सिद्धि के लिये भी **त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्** नियम लागू होता है । तदनुसार यहां १३ मन्त्र होने चाहियें । मूलतः पञ्चदश सामिधेनियों में ११ मन्त्र पठित हैं[1] ।

१. पञ्चदश सामिधेनी मन्त्र—१. प्र वो वाजा (ऋ० ३।२७।१), २. अग्न आ याहि (ऋ० ६।१६।१०), ३. तं त्वा समिद्भिः (ऋ० ६।१६।११), ४. स नः पृथु (ऋ० ६।१६।१२), ५. ईळेन्यो नम० (ऋ० ३।२७।१३), ६. वृषो अग्निः (ऋ० ३।२७।१४), ७. वृषणं त्वा (ऋ० ३।२७।१५), ८. अग्नि दूतं (ऋ० १।१२।१), ९. समिध्यमानो अध्वरे (ऋ० ३।२७।४), १०. समिद्धोऽग्न आहुतः (ऋ० ५।२८।५), ११. आ जुहोता दुवस्यत (ऋ० ५।२८।६) ॥ इनमें प्रथम और ग्यारहवें मन्त्र को तीन-तीन बार बोलने से पञ्चदश मन्त्र उपपन्न होते हैं ।

अतः सप्तदश पक्ष में दो मन्त्रों का परिवर्धन करना होता हैं। तै० सं० २।५।१० के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है—"**समिध्यमानोऽध्वरे** (९ वां मन्त्र), **समिद्धोऽग्न आहुतः** (१० वां मन्त्र) इत्यनयोर्मध्ये **पृथुपाजा अमर्त्यः; तं संबाधो यतस्रुचः** (ऋ० ३।२७।५-६) इत्येतयोर्धाय्ययोः प्रक्षेपेण सप्तदशसंख्यानिष्पत्तिः।" अर्थात् **समिध्यमानोऽध्वरे** और **समिद्धोऽग्न आहुतः** के मध्य धाय्यासंज्ञक (द्र०—अष्टा० ३।१।१२९) **पृथुपाजा अमर्त्यः; तं संबाधो यतस्रुचः** (ऋ० ३।२७।५-६) इन धाय्यासंज्ञक दो मन्त्रों का प्रक्षेप करके सप्तदश संख्या की पूर्ति करते हैं। धाय्या पदद्योतित आगन्तुक सामिधेनियों का प्रक्षेप उक्त दो मन्त्रों के मध्य में ही होता है। द्र०—आपस्तम्ब श्रौत १९।१८।३—'**समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण पृथुपाजवत्यौ धाय्ये दधाति।**' जैमिनि ने भी **समिद्धमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्युः** (मीमांसा ५।३।४) सूत्र से धाय्यापदघटित का समिद्धमानवती और समिद्धवती के मध्य प्रक्षेप का विधान करके अधाय्यापदघटित आगन्तुक सामिधेनियों का **उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात्** (मीमांसा ५।३।६) से अन्त में निवेश करना सिद्धान्त दर्शाया है।

यहां यह विचारणीय है कि दर्शपौर्णमासान्तर्गत श्रुतसामान्य **पञ्चदश सामिधेनी** का निर्देश न करके भाष्यकार ने वैश्यविशेष के लिये उक्त वा विकृतियागोक्त **सप्तदश सामिधेनियों** का उल्लेख क्यों किया? किसी व्याख्याकार ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया। इस विषय में सिद्धान्तरूप से कहने में हम भी असमर्थ हैं। भाष्यकार चरक चरणान्तर्गत कठ (=काठक) शाखा के अध्येता थे, यह सम्भावना हमने पूर्व पृष्ठ ४ पर प्रदर्शित की है। कठ या काठक शाखा का कोई श्रौतसूत्र इस समय उपलब्ध नहीं है। यदि वह उपलब्ध होता, तो सम्भव है, इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश पड़ता।

[भाष्यम्] भवेदावृत्तितः कार्यं परिहृतम्। इह तु खलु 'किरिणा गिरिणा' इत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोत्येव।

एतदपि सिद्धम्। कथम्? लोकतः। तद्यथा—ऋषिसहस्रमेकां कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्वो दत्त्वा तया सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः संपन्नाः। [1]**[तत एकदक्षिणा आनीयन्तामित्युक्ते सहस्रदक्षिणत्वान्न त आनीयन्ते।] एवमिहाप्यनेकाऽऽत्त्वं भविष्यति॥**

व्याख्या—['घटिकः' में] **आवृत्ति से [द्व्यच्लक्षण ठन् की अप्राप्तिरूप] कार्य का परिहार हो जावे। परन्तु यहां तो** किरिणा गिरिणा **में एकाच्लक्षण अन्तोदात्तत्व प्राप्त होता ही है।** अर्थात् एक इकार मानकर स्वाश्रय एकाच्लक्षण अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति को नहीं रोका जा सकता।

यह (=एकाच्लक्षण अन्तोदात्तत्व की अप्राप्ति) भी सिद्ध है। कैसे? लोक से। जैसे—सहस्र ऋषियों को एक कपिला गौ सहस्र वार देकर उस [एक गौ] से सब [दाता] सहस्रदक्षिण सम्पन्न हो जाते हैं। [इस कारण एकदक्षिणा आनीयन्ताम् **ऐसा कहने पर**

१. अयं कोष्ठान्तर्गत इहस्थः पाठः कैयटेन 'सर्वस्य द्वे' (८।१।१) सूत्रभाष्यस्य प्रदीप उद्धृतः। नागेशेनाप्ययं पाठो व्याख्यातः।

सहस्रदक्षिण होने से उन्हें नहीं लाया जाता।] इसी प्रकार यहां भी [आवृत्ति से] अनेकाच्त्व उपपन्न हो जायेगा[=एकाच् नहीं माना जायेगा, अर्थात् एकाच्लक्षण अन्तोदात्तत्व नहीं होगा]।

विवरण—लोक में देखा जाता है कि पूर्व संख्या, उत्तर संख्या चाहे वह प्रधान हो चाहे गौणी, से बाधी जाती है। **ऋषिसहस्रम्—सहस्रम् ऋषयः=ऋषिसहस्रम्।** सहस्र का पर निपात भाष्यकार के प्रयोग-सामर्थ्य से जानना चाहिये। इस समास में **ते सर्वे ऋषयः सहस्र-दक्षिणाः सम्पन्नाः** इस प्रकार सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है। अथवा **ऋषीणां सहस्रम् = ऋषिसहस्रम्** इस षष्ठीसमास में गुणभूत ऋषि का भी **सम्पन्नाः** के साथ सामर्थ्य से सम्बन्ध जानना चाहिये। जैसे—**ब्राह्मणशतं भोज्यताम्** कहने पर गुणभूत ब्राह्मणों का भी भुजि क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है। एक कपिला गौ का सहस्रवार दान उपपन्न नहीं हो सकता। अतः यहां सामर्थ्य से **वित्तेन क्रीत्वा क्रीत्वा प्रत्येकं दत्त्वा** अर्थात् 'धन से पुनः पुनः खरीदकर और देकर' का सम्बन्ध जान लेना चाहिये। **सर्वे ते** में 'ते' शब्द से गुणभूत ऋषियों का ही परामर्श जानना चाहिये। **एकैकशः** यहां स्वार्थ में तद्धित होने से तद्धित से वीप्सा के अनुक्त होने के कारण द्विर्वचन होता है (द्र०—महाभाष्य ८।१।१—**यत्र च तद्धितेन···एकैकशो ददाति**)। **सहस्रदक्षिणाः**—सहस्रं दक्षिणा गोरूपा येषां दातॄणां ते, अर्थात् सहस्र दक्षिणा देनेवाले दाता।

भाष्य के व्याख्याताओं ने **ऋषिसहस्रम्** को कर्ता माना है। यदि सहस्र ऋषि एक ही गौ को बार-बार खरीद कर दान करें तब भी वे सब सहस्रदक्षिण नहीं हो सकते क्योंकि दान तो एक गाय का ही किया है। इस पक्ष में **ते सर्वे सहस्रदक्षिणाः सम्पन्नाः** यह भाष्यवचन उपपन्न नहीं होता। व्याख्याकारों को यह कठिनाई सम्भवतः चतुर्थी के प्रयोग का श्रवण न होने से हुई है। वस्तुतः ददाति का द्विकर्मकों में पाठ न होने पर भी भाष्यप्रयोग से द्विकर्मकता जाननी चाहिये। सहस्र ऋषियों का अभिप्रेत सिद्ध करने की विवक्षा नहीं है अपितु स्वयं सहस्रदक्षिणासम्पन्न होना चाहते हैं। अतः यहां **कर्मणा यमभिप्रैति** की विवक्षा न होने से कर्म संज्ञा ही प्राप्त होती है। यदि कहा जाय कि इस विवक्षा में **रजकस्य वस्त्रं ददाति** के तुल्य षष्ठी होनी चाहिये। परन्तु षष्ठी भी शेष विवक्षा में होती है यदि शेष की विवक्षा न हो तो **रजकस्य** में भी षष्ठी न होकर द्वितीया ही होगी। वास्तविकता तो यह है कि भाषा के स्वकीय प्रवाह में द्वितीया चतुर्थी और षष्ठी का प्रायः परस्पर सांकर्य देखा जाता है। यह षष्ठी प्रकरण के सूत्रों और वार्त्तिकों की तुलना से स्पष्ट है। पाली और प्राकृत भाषाओं में भी कुछ शब्दों के द्वितीया चतुर्थी और षष्ठी में दो-दो तीन-तीन रूप इन विभक्तियों जैसे देखे जाते हैं।

नवाह्निक के सम्पादक शिवदत्त दाधिमथ ने प्रकृत प्रसङ्ग में जो टिप्पणी दी है, तद-नुसार सहस्रदक्षिणा का प्रसङ्ग **'गोसहस्रसत्र'** विषयक है। गोसहस्रसत्र हमें उपलब्ध श्रौतसूत्रों में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। हां, गोसहस्र दक्षिणावाले कुछ अहीन वा सत्रसंज्ञक क्रतु हैं। उनमें यह प्रसङ्ग उपपन्न हो सकता है। सत्रों की प्रकृति द्वादशाह है, और उसकी प्रकृति ज्योतिष्टोम है। उसमें १६ ऋत्विक् और एक यजमान होता है। ये कर्म अधिकव्ययसाध्य होते हैं। अतः कर्मोक्त पूर्ण व्यय करने में असमर्थ १७ परिवार मिलकर जब सोमयाग करते हैं, तब वह सत्र कहाता है। **ये यजमानास्ते ऋत्विजः** ऐसा शास्त्रवचन है। सोलह ऋत्विक् कार्य करते हैं, और एक यजमान बनता है। फल सब को समान प्राप्त होता है। इस परिप्रेक्ष्य में उपर्युक्त भाष्य का अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिये—

सहस्र गो-दक्षिणा विषयक सत्र में यजमान सहस्र ऋषियों को एक-एक करके एक-एक गौ दान में देता है। दाता के पास गाय एक ही है, अतः वह एक को गोदान करके वित्त से उसे क्रय करके दूसरे को देता है। इसी प्रकार पुनः पुनः क्रय करके सहस्र बार गोदान करता है। वह सहस्र गोदान का फल सत्र के सभी सदस्यों को समानरूप से प्राप्त होगा। सभी सहस्र-दक्षिणावाले कहे जायेंगे।

हमारे विचार में यहां किसी याज्ञिक कर्मविशेष का प्रकरण नहीं है। और सत्रविशेष में 'गोसहस्रदान' का सम्बन्ध होने पर भी सहस्र ऋषियों को दान का निर्देश नहीं है। इसके विपरीत **लोकतः** का निर्देश होने से लोकव्यवहारविषयक उक्त सन्दर्भ है। अतः इसे यों समझना चाहिये—किन्हीं व्यक्तियों की इच्छा हुई कि सहस्र ऋषियों को एक-एक गौ दान में देवें। उनके पास गाय एक ही थी, अतः सभी ने उसी गाय को बार-बार द्रव्य देकर खरीद-खरीद कर बार-बार दान किया। इस प्रकार वे एक गाय के ही दान की आवृत्ति से सभी सहस्रदक्षिणावाले हो गये। अतः **एकदक्षिणा आनीयन्ताम्**='एक गाय दक्षिणा देनेवालों को लाओ' ऐसा कहने पर ये सहस्रदक्षिणावाले नहीं लाये जाते।

[भाष्यम्] यदप्युच्यते—'द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्ति' इति। भवेद्, यदसंभवि कार्यं तन्नानेको युगपत्कुर्यात्। यत्तु खलु संभवि कार्यमनेकोऽपि तद्युगपत्करोति। तद्यथा—घटस्य दर्शनं स्पर्शनं वा। संभवि चेदं कार्यमकारस्योच्चारणं नाम। अनेकोऽपि तद् युगपत् करिष्यति॥

व्याख्या—**और जो कहा है कि—'द्रव्य के समान व्यवहार प्राप्त होते हैं'। होवे [द्रव्यवत् व्यवहार प्राप्त], जो असम्भव कार्य है, उसको अनेक युगपत् न कर सकें। किन्तु जो सम्भव कार्य है, उसको अनेक भी युगपत् करते हैं। जैसे घट का दर्शन और स्पर्शन। शब्द का उच्चारण करना भी सम्भव कार्य है। इसे अनेक भी युगपत् करेंगे।**

विवरण—'दर्शनं स्पर्शनं वा' यहां 'वा' समुच्चयार्थक है। 'सम्भव कार्य को अनेक भी युगपत् करते' इस निर्देश से यहां दोनों क्रियाओं का समुच्चय ही अभिप्रेत है। वर्णों का उच्चारण स्थान और प्रयत्न से होता है। प्रत्येक उच्चारयिता के भिन्न-भिन्न मुख में स्थान और प्रयत्न होने से सभी उच्चारण कर सकते हैं। अथवा जैसे एक द्रव्य का अनेक आदर्शों में प्रतिबिम्ब पड़ता है, तद्वत् यहां जानना चाहिये।

[भाष्यम्] आन्यभाव्यं तु कालशब्दव्यवायात्॥११॥

आन्यभाव्यं त्वकारस्य। कुतः? 'कालशब्दव्यवायात्'। कालव्यवायाच्छब्दव्यवायाच्च। कालव्यवायात्—'दण्ड अग्रम्'। शब्दव्यवायात्—'दण्डः'। न चैकस्यात्मनो व्यवायेन भवितव्यम्। भवति चेद्, भवत्यान्यभाव्यमकारस्य॥

व्याख्या—**अन्यभावता (=अनेकता) तो [अकार की] है, काल और शब्द के व्यवधान से।**

अन्यभावता (=अनेकता) तो अकार की है। कैसे ? 'काल और शब्द के व्यवधान से'। काल के व्यवधान से और शब्द के व्यवधान से। काल के व्यवधान से—दण्ड अग्रम्। शब्द के व्यवधान से—दण्ड:। एक ही वस्तु में व्यवधान नहीं होना चाहिये। यदि व्यवधान होता है, तो अकार की अन्यभावता सिद्ध है।

विवरण—'आन्यभाव्यम्'—'अन्यस्य भावोऽन्यभाव:' अर्थात् अन्यत्व। अन्यभाव शब्द से **चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्** (वा० ५।१।१२३) से स्वार्थ में ष्यञ्। अथवा 'भाव' शब्द 'वस्तु' अर्थवाला है। 'अन्यो भावोऽन्यभाव:, अन्यद् वस्तु' से भावार्थ में ब्राह्मणादि (५।१।१२३) से ष्यञ् होता है।

यहां अन्यत्व की सिद्धि में साधर्म्य और वैधर्म्य से **कालशब्दव्यवायात्** हेतु दिया है। जिनका नानात्व सिद्ध है, उनके साथ अकार का साधर्म्य देखा जाता है। और जिनका एकत्व प्रसिद्ध है, उन से वैधर्म्य है। **शब्दव्यवाय**—जिनका नानात्व सिद्ध है, उनमें देखा जाता है। यथा—वृति में। यहां ऋकार और इकार का नानात्व लोकसिद्ध है। इन दोनों के मध्य जैसे शब्दव्यवाय देखा जाता है, वैसे ही 'दण्ड' में भी दकारोत्तरवर्ती तथा डकारोत्तरवर्ती अकारों के मध्य 'ण्-ड्' का व्यवधान देखा जाता है। जो स्वरूप से एक होता है, उसमें व्यवधान नहीं होता। जब हम अकेले 'अ' का उच्चारण करते हैं, तब इसमें शब्द का व्यवधान नहीं देखा जाता। इसी प्रकार **कालव्यवाय**—अ इ उ का नानावर्णत्व सिद्ध है। इनमें असंहिता से पाठ **अ इ उ ण्** में काल का व्यवधान देखा जाता है। अकेले 'अ' में कालभेद नहीं होता। इसी प्रकार **दण्ड अग्रम्** में भी डकारोत्तरवर्ती अकार और 'अग्रम्' के आदि अकार के मध्य काल-व्यवधान उपलब्ध होता है। इससे अकार का नानात्व सिद्ध है।

दण्ड में वर्णों के व्यवधान में भी काल का ही व्यवधान है। अत: कालभेद को ही वार्तिककार ने कालव्यवधान नाम से दो विभागों में बांटा है—वर्णशून्य कालव्यवधान, वर्णयुक्त कालव्यवधान।

[भाष्यम्] युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात् ॥१२॥

युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनान्मन्यामहे—'आन्यभाव्यमकारस्य' इति। यदयं युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते—अश्व:, अर्क:, अर्थ: इति। न ह्येको देवदत्तो युगपत् स्रुघ्ने च भवति मथुरायां च ॥

व्याख्या—और युगपत् (=एक साथ) देश का पृथक्त्व देखा जाने से।

युगपत् देश की पृथक्ता की उपलब्धि होने से भी हम मानते हैं कि—'अकार का अन्यत्व है'। जो यह [अकार] एक काल में एक साथ देशों के भेदों अर्थात् पृथक्-पृथक् देशों में देखा जाता है—अश्व:, अर्क:, अर्थ:। एक देवदत्त एक काल में एक साथ स्रुघ्न में और मथुरा में नहीं होता।

विवरण—अकार अश्व अर्क अर्थ आदि शब्दरूप देशों में युगपत् देखा जाता है। अत: अकार अनेक है।

[भाष्यम्] यदि पुनरिमे वर्णाः शकुनिवत् स्युः। तद्यथा शकुनय आशुगामित्वात् पुरस्तादुत्पतिताः पश्चाद् दृश्यन्ते। एवमयमकारो 'द' इत्यत्र दृष्टो 'ण्ड' इत्यत्र दृश्यते॥

व्याख्या—यदि ये वर्ण शकुनि (=पक्षी) के समान होवें। जैसे शकुनि शीघ्रगामी होने से सामने उड़ते हुए भी पीछे दिखाई देते हैं। इसी प्रकार यह अकार 'द' में देखा गया 'ण्ड' में दिखाई देता है।

विवरण—व्यक्ति के नित्यत्व और एकत्व को माननेवाला (=व्यक्तिस्फोटवादी) कहता है कि शब्द के व्यञ्जक स्थानप्रयत्नादि की प्रवृत्ति और निवृत्ति से उसकी उपलब्धि और अनुपलब्धि होती है। अकार के अभिव्यञ्जन का जो निमित्त वह वर्णान्तर के अभिव्यञ्जक के प्रवृत्त होने पर अप्रवर्तमान होने से उपलब्ध नहीं होता, पुनः प्रवर्तमान होने पर पुनः अकार उपलब्ध होता है। इसे इस प्रकार समझना चाहिये कि—प्रत्येक वर्ण की उपलब्धि का निमित्त अलग-अलग होता है। अतः दण्ड के दकार उत्तरवर्ती अकार की उपलब्धि का जो प्रवर्त्यमान निमित्त वह वर्णान्तर ण् ड् के उपलब्धि-निमित्तों के प्रवर्त्यमान होने पर उपलब्ध नहीं होता। पुनः अकार की उपलब्धि का निमित्त प्रवृत्त होने पर 'ण्ड्' से उत्तर अकार उपलब्ध होता है। अतः अकार एक ही है, केवल उसकी उपलब्धि के निमित्त के प्रवृत्त-अप्रवृत्त होने से उपलब्धि-अनुपलब्धि होती है। जैसे कोई शीघ्रगामी पक्षी आंखों के सामने से उड़े, और जब तक मुंह फेरें वह पीछे की ओर दिखाई पड़े। यहां सामने से उड्डयन काल का प्रत्यक्ष चक्षु-सन्निकर्ष से हुआ। मुंह फेरने के समकाल में पक्षी तो विद्यमान था, परन्तु चक्षुसन्निकर्ष के अभाव से दिखाई नहीं दिया, मुंह फेरते ही चक्षुसन्निकर्ष से दिखाई पड़ा। यहां जैसे पक्षी का देश-व्यवधान होने पर भी एकत्व बाधित नहीं होता, तद्वत् दण्ड में दो स्थानों पर दृश्यमान अकार का एकत्व भी बाधित नहीं होता।

[भाष्यम्] नैवं शक्यम्। अनित्यत्वमेवं स्यात्। नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। यदि चायं 'द' इत्यत्र दृष्टो 'ण्ड' इत्यत्र दृश्येत, नायं कूटस्थः स्यात्॥

व्याख्या—ऐसा नहीं हो सकता। इस प्रकार [शब्दों की] अनित्यता होगी। जब कि शब्द नित्य हैं, नित्य शब्दों में वर्णों को कूटस्थ अविचाली तथा अपाय उपजन और विकार से रहित होना चाहिये। यदि 'द' में देखा गया [अकार] 'ण्ड' में दिखाई पड़े, तो यह [अकार] कूटस्थ नहीं हो सकता।

विवरण—जाति स्फोटवादी कहता है कि तुम्हारा उत्तर तर्काश्रित तो है, पर शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। शास्त्र में अर्थवान् शब्द को नित्य माना है, वह पदरूप है। उसमें वर्णों को कूटस्थ अविचाली आदि धर्मोंवाला होना चाहिये (कूटस्थ आदि पदों की व्याख्या देखें पूर्व पृष्ठ ५०)। वर्णों के कूटस्थ अविचाली होने से यह नहीं कह सकते कि 'द' में देखा गया अकार 'ण्ड' में देखा जाता है। अन्तोदात्त 'दण्ड' में दकारोत्तरवर्ती अकार अनुदात्त है, और ण्ड् उत्तरवर्ती उदात्त। यदि दोनों स्थानों पर एक ही अकार हो, तो उसे अनुदात्त धर्म को

छोड़कर उदात्त धर्म को ग्रहण करनेवाला मानना होगा। इस प्रकार अकार धर्मों के अपाय उपजनवाला विकारी होगा। पर शास्त्र में वर्णों को अपाय उपजन विकार से रहित माना गया है। अतः दकार उत्तरवर्ती अनुदात्त अकार से डकारोत्तरवर्ती उदात्त अकार भिन्न है, यही मानना होगा। जातिकृत एकत्व और नित्यत्व मानना चाहिये।

[भाष्यम्] यदि पुनरिमे वर्णा आदित्यवत् स्युः। तद्यथा एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते।

विषम उपन्यासः—नैको द्रष्टा आदित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभते। अकारं पुनरुपलभते॥

व्याख्या—यदि ये वर्ण आदित्य के समान होवें। जैसे एक आदित्य अनेक अधिकरणों (=स्थानों) में स्थित युगपत् भिन्न-भिन्न देशों में उपलब्ध होता है।

यह (=आदित्य) का दृष्टान्त विषम है। एक ही द्रष्टा अनेक अधिकरणों में वर्तमान आदित्य को युगपत् भिन्न-भिन्न देशों में नहीं देखता। परन्तु अकार को [भिन्न-भिन्न प्रदेशों में] उपलब्ध करता है।

विवरण—वादी आदित्य के दृष्टान्त से अकार का अनेकदेश में रहना और उपलब्ध करना सिद्ध करता है। यदि ऐसा न माना जाये, तो आदित्य को भी अनेक और अनित्य मानना होगा।

प्रतिवादी कहता है कि आदित्य को एक ही देवदत्तरूप द्रष्टा भिन्न-भिन्न देशों में उपलब्ध नहीं करता। परन्तु अकार को एक ही श्रोता युगपत् अर्क अश्व अर्थ शब्दरूप भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उपलब्ध करता है। इसलिये अकार का अनेकत्व मानना होगा।

[भाष्यम्] अकारमपि नोपलभते। किं कारणम्? "श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः"। एकं च पुनराकाशम्।

आकाशदेशा अपि बहवः। यावता बहवः, तस्मादान्यभाव्यमकारस्य॥

व्याख्या—अकार को भी [अनेक देशों में] उपलब्ध नहीं करता। क्या कारण है? 'श्रोत्र से उपलब्ध होनेवाला बुद्धि से ग्राह्य और प्रयोग से प्रकाशित आकाशदेशवाला शब्द है।' और आकाश एक है।

आकाश के देश भी बहुत हैं। जब [आकाशदेश भी] बहुत हैं, इस कारण आन्यभाव्य ही अकार का मानना चाहिये।

विवरण—व्यक्ति-स्फोटवादी कहता है कि अकार का देश आकाश है, और आकाश एक है। अर्थात् अर्क अश्व अर्थ रूप दर्शाये देशभेद नहीं हैं। श्रोत्रोपलब्धिः आदि लिखने का प्रयोजन यह है कि शब्द के धर्म अव्यभिचरित हैं। जैसे श्रोत्र से ही इसकी उपलब्धि होती है,

कभी चक्षु से उपलब्धि नहीं होती, बुद्धि से ही गृहीत होता है, अन्य से गृहीत नहीं होता। **प्रयुज्यते इति प्रयोगः**=ध्वनि से ही शब्द अभिव्यक्त होता है, प्रदीपादि से नहीं होता। उसी प्रकार आकाश देश भी अव्यभिचरित है। आकाश एक ही है, अतः अकार भी एक ही है।

सिद्धान्ती कहता है कि औपाधिक भेद से आकाश का भेद भी दुर्वार है। जैसे पृथिवी के एक होने पर भी स्रुघ्न मथुरा आदि देश भिन्न-भिन्न हैं, ऐसे ही आकाश के एक होते हुए भी उसके घट आदि संयोगी द्रव्यों के योग से व्यवहारभेद से घटाकाश मठाकाश वृक्षाकाश आदि रूप से बहुत हैं। अतः अकार का भेद मानना ही होगा।

[भाष्यम्] आकृतिग्रहणात् सिद्धम् ॥१३॥

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति। तथेवर्णाकृतिः, तथोवर्णाकृतिः ॥

व्याख्या—**[अकार के भेद होने पर भी] आकृति के ग्रहण से [अन्यों का ग्रहण] सिद्ध है।**

[सूत्र में] अवर्ण की आकृति [=जाति] उपदिष्ट है, वह सम्पूर्ण अवर्णकुल का ग्रहण कर लेगी। इसी प्रकार इवर्ण की आकृति और उवर्ण की आकृति भी।

विवरण—व्यक्ति-स्फोट पक्ष का निराकरण करके जाति-स्फोट पक्ष का आश्रयण करके वार्तिककार ने पूर्वोक्त दोषों का निराकरण किया है। प्रत्याहारसूत्र और अनुवृत्ति-निर्देश में सर्वत्र अवर्ण आदि की आकृतियों का निर्देश किया है। अतः प्रत्याहारसूत्र में अवर्ण के विवृतोपदेश से सम्पूर्ण अकार विवृत हो जाता है। उसी का शास्त्र के अन्त में **अ अ** (८।४।६७) से प्रत्यापत्ति=विवृत को संवृत किया जाता है। **अ अ** सूत्र में विवृत अकार जाति को संवृत करने से दीर्घ प्लुत को भी संवृतत्व की प्राप्ति होती है। इसका समाधान यह है कि प्रत्याहारसूत्र में ह्रस्व अकार का ही विवृतत्व प्रतिज्ञात है, अतः उसी को संवृत प्रत्यापत्ति होगी। पूर्व परिहार भी यहां पर सम्भव है। पहले (पृष्ठ ९६ में) कहा है—'लोक और वेद में कहीं भी दीर्घ प्लुत संवृत नहीं हैं।' अतः जब वे संवृत हैं ही नहीं, तब उनको संवृतत्व की प्रत्यापत्ति कैसे होगी? नागेश ने **अ अ** (८।४।६७)सूत्र के भाष्यानुसार लिखा है—'प्रतिपत्ति-वाक्य (=**अ अ** सूत्र) में तपर का निर्देश कर देना चाहिये—**अ अत्**। कुछ व्याख्याता **अत् अत्** उभयत्र तपर-निर्देश करना चाहिये, ऐसा कहते हैं। अथवा यहां एकशेष-निर्देश जानना चाहिये—दोनों अकारों में छः प्रकार के ह्रस्व अकारों का एकशेष जानना चाहिये। भाष्यकार ने उदात्त अनुदात्त स्वरितभेद की दृष्टि से '**अ अ अ–अ**' तीन का एकशेष ही दर्शाया है। यहां सानुनासिक निरनुनासिक भेद का संग्रह करने से छः अकारों का एकशेष जानना चाहिये।

जाति-निर्देश मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है। **अष्टन आ विभक्तौ** (७।२।८४) में आकार भी सवर्णियों का ग्रहण करेगा। उस अवस्था में ह्रस्व और प्लुत की भी प्राप्ति होगी। इसका समाधान यह है कि **आ** ऐसा दीर्घ-उच्चारण सामर्थ्य से ह्रस्व और प्लुत की उपस्थिति नहीं होगी। अन्यथा ह्रस्व **अ** ऐसा ही पढ़ देते। प्लुत के विषय में तो समाधानान्तर भी है—

प्लुतश्च विषये स्मृतः ऐसा १।२।१७ सूत्र के भाष्य में आगे कहेंगे। उसका भाव यह है कि जहां-जहां प्लुत का विषय शास्त्रकार ने बताया है, वहीं प्लुत होता है अन्यत्र नहीं होता। विशेष विवरण **स्थाण्वोरिच्च** (१।२।१७) सूत्र के भाष्य के हमारे व्याख्यान (भाग २, पृष्ठ २६) में देखें।

[भाष्यम्] तद्वच्च तपरकरणम् ॥१४॥

एवं च कृत्वा तपराः क्रियन्ते—'आकृतिग्रहणेनाऽतिप्रसक्तम्' इति ॥

व्याख्या—उसी प्रकार (=आकृतिग्रहण) मानकर ही [सूत्रकार ने] तपरकरण किया है।

यही स्वीकार करके तपर किये जाते हैं कि—'आकृति-ग्रहण से अतिप्रसक्ति होती है'।

विवरण—'तद्वत्' में 'तद्' शब्द से आकृति का ग्रहण है। वह आकृति-ग्रहण जिसमें है, वह तद्वत्। अर्थात् आकृति-ग्रहण पक्ष मानकर अकारादि वर्णों में जहां अतिप्रसक्ति होती है, उसे हटाने के लिये यत्र तत्र अकारादि वर्णों को तपर किया है। भर्तृहरि ने लिखा है—'**अणुदित् सवर्णस्य०** (१।१।६८) सूत्र के प्रत्याख्यात होने पर तपरकरण में सन्देह होता ही है कि व्यक्तिपक्ष में तपर-ग्रहण सवर्णों का प्रापक है, अथवा आकृति-पक्ष में तपर भिन्नकाल-वालों का जो ग्रहण प्राप्त होता है, उसका निवर्तक है।'

[भाष्यम्] ननु च सवर्णग्रहणेनाऽतिप्रसक्तमिति कृत्वा तपराः क्रियेरन्।

प्रत्याख्यायते तत्—'सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्च' इति [महा० १।१।६८] ॥

व्याख्या—तपरकरण तो सवर्ण-ग्रहण [करानेवाले शास्त्र='अणुदित्०' सूत्र] से अतिप्रसक्ति होती है, इसलिये किये गये हैं।

उस [सवर्णग्रहण शास्त्र] का प्रत्याख्यान कर दिया है—'सवर्ण के [ग्रहण] विषय में अण्ग्रहण कहने योग्य नहीं है, आकृतिग्रहण से और अनन्यत्व से'।

विवरण—'**सवर्णं गृह्यतेऽनेनेति सवर्णग्रहणम्**' अर्थात् सवर्णग्राहक शास्त्र '**अणुदित् सवर्णस्य०**' (१।१।६८) सूत्र। **अपरिभाष्यम्=परिभाषितुम् अयोग्यम्**, अर्थात् कहने योग्य नहीं है। क्योंकि इसके बिना भी आकृतिपक्ष मानकर और ह्रस्व दीर्घ में अनन्यत्व=अभेद मानकर एक के ग्रहण से सब सवर्णियों का ग्रहण हो जाता है। **गां मा हिंसीः** कहने पर काली नीली सफेद कृश स्थूल छोटी बड़ी कैसी भी गाय क्यों न हो, सब का ग्रहण हो जाता है। अकार आकार में श्रुतिभेद कृश स्थूल गोवत् है। उससे अत्व-जाति में कोई भेद नहीं पड़ता।

यह प्रत्याख्यान '**सवर्णेऽण्ग्रहणम्०**' वचन आगे **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६८) सूत्र के भाष्य में कहेंगे।

[भाष्यम्] हल्ग्रहणेषु च ॥१५॥

किम् ? 'आकृतिग्रहणात् सिद्धम्' इत्येव । 'झलो झलि' [८।२।२६] अवात्ताम् अवात्तम् अवात्त । यत्रैतन्नास्ति—'अण्सवर्णान् गृह्णाति' इति ॥

व्याख्या—**हल् ग्रहणों में भी ।**

क्या ? 'आकृति के ग्रहण से सिद्ध है' यही [स्वीकार करना होगा]। यथा—झलो झलि (८।२।२६) अवात्ताम् अवात्तम् अवात्त । जहां—**'अण् सवर्णों को ग्रहण करता है' यह नियम नहीं है [वहां आकृति-ग्रहण से ही कार्य सिद्ध होगा] ।**

विवरण—'झलो झलि' (८।२।२६) का अर्थ है—झल् से उत्तर सकार का लोप होता है, झल् परे रहने पर । **अवात्ताम्**—'वस निवासे' का लुङ् प्रथम पुरुष का द्विवचन, **अवात्तम् अवात्त**—मध्यम पुरुष का द्विवचन वा बहुवचन । **'अ वस् स् ताम्'** इस अवस्था में **वदव्रजहलन्तस्याचः** (७।२।३) से अकार को वृद्धि—**अवास् स् ताम्** । तत्पश्चात् **सः स्यार्धधातुके** (७।४।४९) से सकार को तकारादेश—**अ वात् स् ताम्** । इस अवस्था में **झलो झलि** (८।२।२६) से सकारलोप होना चाहिये । यदि अक्षरसमाम्नाय निर्देश में व्यक्ति-पक्ष माना जाये, तो **झल्** प्रत्याहार के अन्तर्गत एक ही तकार का समावेश होने से चाहे पहले तकार को झल् मानें चाहे दूसरे को, दोनों तकार झल् से गृहीत नहीं होंगे । आकृतिपक्ष मानने पर तकार-जाति का निर्देश होने से दोनों तकारों का झल् के ग्रहण से ग्रहण होगा, और सकार का लोप हो जायेगा । हलों में सवर्ण-ग्रहण परिभाषा व्यापृत ही नहीं होती । अतः हलों में कार्यसिद्धि आकृत्युपदेश मानने से ही सिद्ध होती है ।

अवात्ताम् आदि की यह प्रक्रिया भाष्यकार के लेखानुसार है । काशिकाकार आदि के मत में **अ वस् स् ताम्** इस अवस्था में पहले **झलो झलि** (८।२।२६) से सकार का लोप होता है, तत्पश्चात् **पूर्वत्रासिद्धम्** (८।२।१) नियम से **सः स्यार्धधातुके** (७।४।४९) सूत्र के प्रति स् लोप के असिद्ध होने से वस् के सकार का तकार होता है (द्र०—काशिका ८।२।२६) ।

[भाष्यम्] रूपसामान्याद्वा ॥१६॥

रूपसामान्याद्वा सिद्धमेतत् । तद्यथा—'तानेव शाटकानाच्छादयामः ये मथुरायाम्' । 'तानेव शालीन् भुञ्ज्महे, ये मगधेषु' । 'तदेवेदं भवतः कार्षापणम्, यन्मथुरायां गृहीतम्' । अन्यस्मिंश्चाऽन्यस्मिन् रूपसामान्यात् 'तदेवेदम्' इति भवति । एवमिहापि रूपसामान्यात् सिद्धम् ॥

व्याख्या—**अथवा रूपसामान्य से सिद्ध है ।**

अथवा रूपसामान्य से यह सिद्ध है । जैसे—'उन्हीं धोतियों को पहर रहे हैं, जो मथुरा में पहरी जाती थीं ।' 'उन्हीं धानों को खा रहे हैं, जो मगध में खाये जाते थे ।' 'यह आपका वही कार्षापण है, जो मैंने मथुरा में लिया था ।' [सर्वत्र धोती धान और कार्षापण के] भिन्न-

भिन्न होने पर भी रूप के सामान्य से 'यह वही है' ऐसा व्यवहार होता है। इसी प्रकार यहां भी रूपसामान्य से सिद्ध हो जायेगा।

विवरण—प्रत्येक समानजातीय व्यक्तिरूप पदार्थों में जहां एक व्यक्ति को दूसरे से भिन्न करनेवाला भेदक धर्म विद्यमान होता है, वहां उनमें कुछ धर्म ऐसा भी होता है, जो उनमें समानरूप से रहता है। जो जाति को पदार्थ नहीं मानते, उन व्यक्तिपदार्थवादियों को भी प्रति व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में कुछ समानता माननी पड़ती है। वह समानता है—**रूप-सामान्य**। इसी रूप-सामान्य को स्वीकार करके लोक में महाभाष्योक्त व्यवहार उपपन्न होते हैं। अन्यथा 'तदेवेदं' रूप उक्त व्यवहार लोक में देखा ही नहीं जावे। इसी रूपसामान्य मे वर्णों में भेद होने पर भी शास्त्रीय व्यवहार उपपन्न हो जायेगा। वैशेषिक दर्शन (१।२।३) में इस विषय में लिखा है—**सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्**। अर्थात् सामान्य और विशेष का व्यवहार बुद्धि की अपेक्षा से होता है।

—:०:—

[भाष्यम्] **ऋलृक्** ॥२॥

अथ लृकारोपदेशः किमर्थः ?

किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यते, न पुनरन्येषामपि वर्णानामुपदेशश्चोद्यते? यदि किंचिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्ति, लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः ?

अयमस्ति विशेषः। अस्य हि लृकारस्याल्पीयांश्चैव प्रयोगविषयः। यश्चापि प्रयोगविषयः, सोऽपि क्लृपिस्थस्यैव। क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम्। तस्याऽसिद्धत्वाद् ऋकारस्यैवाऽच्कार्याणि भविष्यन्ति। नार्थं लृकारोपदेशेन ॥

व्याख्या—लृकार का उपदेश किसलिये किया है ?

क्या कारण है कि विशेषरूप से लृकार के उपदेश के विषय में पूछते हो, अन्य वर्णों के उपदेश के विषय में नहीं पूछते ? यदि कुछ अन्य वर्णों के भी उपदेश में प्रयोजन है, तो लृकार के उपदेश का भी वही प्रयोजन हो सकता है। अथवा [इस के विषय में] क्या विशेष है ?

[लृकार के उपदेश के विषय में] यह विशेष है। इस लृकार का निश्चय ही अल्पतर प्रयोग का विषय है। और जो भी प्रयोग का विषय है, वह क्लृप धातुविषयक ही है। और क्लृप का लत्व असिद्ध है। उस [लत्व] के असिद्ध होने से ऋकार के ही अच्सम्बन्धी कार्य [क्लृप को] हो जायेंगे। लृकार के उपदेश करने का कोई प्रयोजन नहीं।

विवरण—नागेश ने इस सूत्रभाष्य प्रदीप की व्याख्या के आरम्भ में लिखा है—"यद्यपि इन चौदह सूत्रों के 'काशिका' नामक व्याख्यान में नन्दीकेश्वर ने लिखा है कि अनेक ऋषियों के बहुविध जिज्ञासाओं के समाधान के लिये शिव ने डमरू के शब्द से इन १४ सूत्रों को प्रकाशित किया है—

'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥'

अतः भाष्यकार का उक्त प्रश्न उपपन्न ही नहीं होता । तथापि इन सूत्रों में अन्त्य के जो १४ वर्ण हैं, उनका उपदेश पाणिनि के उद्देश से ही है। अतः भाष्यकार का प्रश्न—"पाणिनि के उद्देश्य से लृकार के उपदेश का कोई प्रयोजन है या नहीं', उपपन्न होता है।"

यह सब कल्पना अविचारित रमणीयमात्र है। भला जो पाणिनि सम्पूर्ण शास्त्र के प्रवचन में समर्थ था, क्या वह इन १४ सूत्रों का प्रवचन नहीं कर सकता था ? प्रस्तुत प्रत्याहारसूत्र पाणिनीय ही हैं,इस विषय की सप्रमाण उपपत्ति 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २११-२१५ (संवत् २०२३ का संस्क०) में दर्शाई है। पाठक इस विषय को वहीं देखें । इसी ग्रन्थ में यह भी दर्शाया है कि अक्षरसमाम्नाय का उपदेश पाणिनि से प्राचीन व्याकरणों में भी था । द्रष्टव्य आपिशल व्याकरण के विषय में भाग १, पृष्ठ १४३; भाग २, पृष्ठ ३१७ (संवत् २०३०), तथा शान्तनव (=फिट् सूत्र) व्याकरण के विषय में भाग २, पृष्ठ ३१७ ।

अल्पीयान्—अन्य अकारादि वर्णों की अपेक्षा ऋकार का प्रयोग अल्प है, और उसकी अपेक्षा भी लृकार का प्रयोग अत्यल्प है । अतः यहां ईयसुन् ऋकार लृकार के प्रयोग की दृष्टि से जानना चाहिये ।

लत्वमसिद्धम्—पाणिनि ने धातुपाठ में **कृपू सामर्थ्ये** (भ्वा० सूत्र ५१२) धातु पढ़ी है। उसके ऋकार की र श्रुति को **कृपो रो लः** (८।२।१८) से ल श्रुतिरूप आदेश किया है। **कृपो रो लः** सूत्र त्रिपादी में होने से पूर्व के सवा सात अध्याय में कहे कार्यों की दृष्टि से **पूर्वत्रासिद्धम्** (८।२।१) के नियम से असिद्ध होने से ऋकार ही है। उसी को मानकर समस्त अच् कार्य हो जायेंगे ।

[भाष्यम्] अत उत्तरं पठति—

लृकारोपदेशो यदृच्छाऽशक्तिजानुकरणप्लुत्याद्यर्थः ॥१॥

लृकारोपदेशः क्रियते—यदृच्छाशब्दार्थोऽशक्तिजानुकरणार्थः प्लुत्याद्यर्थश्च । यदृच्छाशब्दार्थस्तावत्—यदृच्छया कश्चिद् लृतको नाम । तस्मिन्नच्कार्याणि यथा स्युः—दध्य्लृतकाय देहि, मध्व्लृतकाय देहि; उदङ्ङ्लृतकोऽगमत्, प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत् । चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः ।

अशक्तिजाऽनुकरणार्थः—अशक्त्या कयाचिद् ब्राह्मण्या 'ऋतक' इति प्रयोक्तव्ये 'लृतक' इति प्रयुक्तम् । तस्याऽनुकरणम्—'ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह', 'कुमार्य्लृतक इत्याह' इति ।

प्लुत्याद्यर्थश्च लृकारोपदेशः कर्तव्यः । के पुनः प्लुत्यादयः ? प्लुतिद्विर्वचनस्वरिताः । क्लृ३प्तशिख, क्लृप्प्तः, प्रक्लृ॒प्तः । प्लुत्यादिषु कार्येषु कृपेर्लत्वं सिद्धम् । तस्य सिद्धत्वादच्कार्याणि न सिद्ध्यन्ति । तस्माद् लृकारोपदेशः क्रियते ॥

व्याख्या—इस हेतु से[1], अर्थात् पूर्वलिखित शङ्का को मन में रखकर, [वार्तिककार] उत्तर पढ़ते हैं—

लृकार का उपदेश यदृच्छा शब्द के लिये, अशक्तिज के अनुकरण के लिये, और प्लुत्यादि के लिये है।

लृकार का उपदेश किया जाता है—यदृच्छाशब्द के लिये, अशक्तिज के अनुकरण के लिये, और प्लुत्यादि के लिये। यदृच्छाशब्द के लिये—यदृच्छा से कोई लृतक नामवाला व्यक्ति है। उस (=लृतक शब्द) के परे रहने पर अच्कार्य होवें—दध्य्लृतकाय देहि, मध्व्लृतकाय देहि (=दहि और मधु 'लृतक' नामवाले व्यक्ति को देओ); उदङ्ङ्लृतकोऽगमत्, प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत् (=उत्तर अथवा पश्चिम दिशा में 'लृतक' नामवाला गया)। शब्दों की चार प्रकार की प्रवृत्ति होती है—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और चौथे यदृच्छाशब्द।

अशक्तिज (=उच्चारणशक्ति की विकलता से उत्पन्न) शब्द के अनुकरण के लिये—[उच्चारण-] शक्ति की विकलता से किसी ब्राह्मणी ने 'ऋतक' ऐसा प्रयोग करने के स्थान में 'लृतक' ऐसा प्रयोग किया। उसका अनुकरण—ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह (=ब्राह्मणी ने 'लृतक' ऐसा कहा), कुमार्य्लृतक इत्याह (=कुमारी ने 'लृतक' ऐसा कहा) [यहां लृतक के परे यणादेश इष्ट है]।

प्लुत्यादि के लिये भी [लृकारोपदेश करना चाहिये]। प्लुत्यादि कौन से हैं? प्लुति द्विर्वचन और स्वरित। क्लृ३प्तशिख, क्लृप्प्तः, प्रक्लृ॑प्तः। प्लुति आदि कार्यों में कृप का लत्व सिद्ध है। उस (=लत्व) के सिद्ध होने से [लृकार के उपदेश न करने पर] अच्सम्बन्धी कार्य सिद्ध नहीं होते। इसलिये लृकार का उपदेश किया है।

विवरण—भर्तृहरि ने 'यदृच्छा' का लक्षण इस प्रकार किया है—'जो प्रवृत्ति का निमित्त न होने पर अर्थगत प्रवर्तक वा निवर्तक नियम के विना ही प्रवृत्त होती है, वा निवृत्त होती है'।[2] अतः 'यदृच्छा' शब्द उन्हें कहते हैं—जो क्रिया के सम्बन्ध की विवक्षा न रखते हुए किसी व्यक्ति के लिये संकेतित किये जाते हैं। ऐसे यदृच्छाशब्द सर्वथा रूढ़ होते हैं। उनमें प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना नहीं की जाती है। दध्य्लृतकाय, मध्व्लृतकाय में यदृच्छाशब्दान्तर्गत लृकार के परे रहने पर इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होता है। उदङ्ङ्लृतकोऽगमत्, प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत्, यहां ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् (८।३।३२) से ङमुट् आगम होता है।

जातिशब्द—यथा गो अश्व पुरुष आदि, गुणशब्द—शुक्ल नील कपिल आदि, क्रियाशब्द—पाचक याजक पक्ता यष्टा आदि। यदृच्छाशब्दों को जातिशब्द गुणशब्द क्रियाशब्दों के साथ चौथे प्रकार में रखने से विदित होता है कि जातिशब्द गुणशब्द क्रियाशब्द यौगिक वा योगरूढ हैं। इनमें प्रकृति-प्रत्यय-सम्बन्ध विवक्षित है।

---

१. 'अतः' शब्दोऽयं हेत्वपदेशकः। तुलना करो—मीमांसा शाबरभाष्य १।१।१॥

२. यदृच्छा नाम याऽसति प्रवृत्तिनिमित्तेऽर्थगतं प्रवर्तकं निवर्तकं वा नियममन्तरेण प्रवर्तते निवर्तते वा॥ महाभाष्य-दीपिका।

वाग्व्यवहार के आरम्भिक काल में संस्कृतभाषा के सभी शब्द धातुज अर्थात् यौगिक थे। उनमें शनैः-शनैः रूढता का निवेश होता गया। और एक समय ऐसा आया कि प्रसिद्ध क्रियाशब्द पाचक-याजक भी रूढ माने जाने लगे। इस विषय की मीमांसा हमारे 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग २, पृष्ठ ११-१६ (संवत् २०३० का संस्क०) पर देखें। यदृच्छाशब्द तो हैं ही रूढ। वास्तविकता तो यह है कि यदृच्छाशब्द संस्कृतभाषा के अङ्ग नहीं हैं। यह बात भाष्यकार इसी सूत्र के भाष्य में आगे—**न सन्ति यदृच्छाशब्दाः** कहकर दर्शाएंगे। वाग्व्यवहार के लिये यदृच्छाशब्दों से विभक्ति आदि का प्रयोग करके इनका संस्कृतीकरण किया जाता है। पाणिनि ने डित्थादि यदृच्छाशब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा करने के लिये ही **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (१।२।४५) सूत्र रचा है। डित्थादि यदृच्छाशब्दों के समान **गावी** आदि शब्दों से भी शास्त्रकार्य होना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि **गावी** आदि **गो** शब्द के परम्परा से अपभ्रंश हैं, यह भाषाशास्त्रज्ञ जानते हैं। यदृच्छाशब्द किसी के अपभ्रंश नहीं हैं। यही यदृच्छाशब्दों और गावी आदि अपभ्रंश शब्दों में भेद है।

अशक्तिजानुकरण शब्दों का संग्रह उक्त जातिशब्द आदि चतुर्विध भेदों में नहीं होता। पुनरपि **प्रकृतिवद् अनुकरणं भवति** (इसी सूत्र के भाष्य में पठित) नियम के अनुसार अनुकरण शब्द प्रकृति=अशक्तिज शब्द के समान होता है। प्रयोक्ता जात्यादि आश्रित किसी शब्द को अपने उच्चारणाङ्ग की विकलता के कारण यथावत् उच्चारण नहीं कर सकता, परन्तु उसका बुद्धिस्थ उच्चार्यमाण शब्द जातिशब्द गुणशब्द अथवा क्रियाशब्दों में से अन्यतम ही होता है। अतः श्रोता **एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति** इस लौकिक न्याय के अनुसार वक्ता द्वारा विवक्षित मूल शब्द को उपलब्ध करके अर्थज्ञान में समर्थ होते हैं। कैयट तथा उसके व्याख्याता अन्नम्भट्ट वा नागेश प्रभृति ने अशक्तिजानुकरण **लृतक** को जातिशब्दान्तर्गत माना है। यह भूल है। भाष्यकार इसी प्रसङ्ग में आगे कहेंगे—'अशक्तिज **लृतक** का साधु शब्द **ऋतक** है'। 'ऋतक' शब्द 'ऋति' सौत्र धातु से औणादिक **क्वुन्** (२।३३) प्रत्यय से निष्पन्न होता है। यह अन्य क्वुन्प्रत्ययान्त रजक तक्षक आदि के समान क्रियाशब्द है।

प्लुत्यादि—यहां जो तीन प्रयोजन गिनाये हैं, वे सब लत्वविधायक **कृपो रो लः** (८।२।१८) सूत्र से उत्तरवर्ती हैं, वहां लत्व सिद्ध रहता है। अतः यदि सूत्र में लृकार का उपदेश न करें, तो प्लुति आदि अच्सम्बन्धी तीन कार्य सिद्ध नहीं होंगे।

प्लुति—'**क्लृ३प्तशिख**' यहां '**गुरोरनृतोऽनन्त्यस्य**' (८।२।८६) इत्यादि सूत्र से 'क्लृ' को प्लुत होता है। यदि लृकारोपदेश न करें, तो अच् के ग्रहण से 'लृ' का ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि यहां 'कृ' के रेफ को जो लत्व हुआ है, वह सिद्ध है।

द्विर्वचन—'**क्लृप्प्तः**' यहां '**अनचि च**' (८।४।४६) से अच् से उत्तर यर् (=प्) को जो अनच् परे द्विर्वचन होता है, वह लृकारोपदेश के विना नहीं होगा। क्योंकि उपदेश के विना लृकार अच्संज्ञक नहीं होगा।

स्वरित—'**प्रक्लृप्तः**' में '**गतिरनन्तरः**' (६।४।४९) से पूर्वपदप्रकृतिस्वर से 'प्र' का अकार उदात्त होता है। '**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्**' (६।१।१५२) के नियम से क्लृ प्त दोनों

अनुदात्त होते हैं। तत्पश्चात् 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६५) से उदात्त 'प्र' से परे अनुदात्त 'क्लृ' को स्वरित होता है, वह लृकारोपदेश के विना सिद्ध नहीं होगा।

[भाष्यम्] नैतानि सन्ति प्रयोजनानि।

न्याय्यभावात् कल्पनं संज्ञादिषु ॥२॥

न्याय्यस्य ऋतकशब्दस्य भावात् कल्पनं संज्ञादिषु साधु मन्यन्ते। ऋतक एवासौ, न लृतकः, इति।

अपर आह—न्याय्य ऋतकशब्द शास्त्रान्वितोऽस्ति। स कल्पयितव्यः साधुः संज्ञादिषु। ऋतक एवासौ, न लृतकः॥

व्याख्या—ये (=यदृच्छाशक्तिजानुकरणप्लुत्यादि) प्रयोजन नहीं हैं।

संज्ञादि में न्याय्य शब्द के होने से उसकी कल्पना उचित है।

न्याय्य (=प्रकृति-प्रत्यय-निष्पन्न) ऋतक शब्द के विद्यमान होने से [उसकी] कल्पना संज्ञादि में साधु मानते हैं। [इसलिये] यह ऋतक ही है, लृतक नहीं।

अन्य आचार्य कहते हैं—न्याय्य शास्त्रान्वित (=शास्त्रसिद्ध) ऋतक शब्द है। वह साधु शब्द कल्पनार्ह संज्ञादि में करना चाहिये। वह ऋतक ही है, लृतक नहीं।

विवरण—'ऋतक' शब्द प्रकृति-प्रत्यय के योग से सिद्ध होने से न्याय्य है। संज्ञादि में उसकी कल्पना साधु है। क्योंकि नामकरण में **नाम कृतं कुर्यात्** (द्र०—पूर्व पृष्ठ ३४ पर भाष्य में उद्धृत वचन) ऐसा शास्त्रकारों का निर्देश है। **संज्ञादिषु** में आदिशब्द से जाति गुण क्रिया निमित्त शास्त्रान्वित शब्दों के ही प्रयोग का साधुत्व दर्शाया है। यदि सभी शब्द यौगिक होंगे, तो **अर्थवत्०** (१।२।४५) सूत्र का क्या प्रयोजन है? इस शंका का उत्तर यह है कि अनुकरण शब्दों का अर्थ अनुकार्य है, यह आगे कहेंगे। उनकी प्रातिपदिक संज्ञा के लिये अर्थवत् सूत्र आवश्यक है।

'अपर आह' की व्याख्या में पूर्व व्याख्या से यह भेद है कि पहली व्याख्या में—'ऋतक शब्द न्याय्य है, उसी का प्रयोग करना चाहिये' ऐसा कहा है। इससे 'लृतक' शब्द का प्रयोग ही सम्भव नहीं है, अतः वह लक्ष्य से बहिर्भूत है। और द्वितीय व्याख्या में लृतक शब्द न्याय्य ऋतक शब्द का ही अशक्तिज अपभ्रंश है। अतः लृतक का प्रयोग असाधु है। इससे लृतक के अपभ्रंश होने के कारण लक्ष्यता का वारण किया है।

[भाष्यम्] अयं तर्हि यदृच्छाशब्दोऽपरिहार्यः—लृफिडः, लृफिड्डश्चेति। एषोऽपि ऋफिडः, ऋफिड्डश्च। कथम्? अतिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते। फिड-फिड्डावौणादिकौ प्रत्ययौ। त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः॥

व्याख्या—अच्छा तो यह यदृच्छाशब्द अपरिहार्य है—लृफिडः, लृफिड्डः। यह भी ऋफिड और ऋफिड्ड[1] है। कैसे? 'ऋ' धातु की प्रवृत्ति लोक में देखी जाती है। फिड और फिड्ड ये दोनों औणादिक प्रत्यय हैं। शब्दों की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है—जातिशब्द, गुण-शब्द और क्रियाशब्द। यदृच्छाशब्द नहीं हैं।

विवरण—पूर्वपक्षी कहता है कि शास्त्रान्वित (ऋत+क्वुन्=) ऋतक शब्द लृतक का निवर्तक हो जावे। परन्तु ऋफिड और ऋफिड्ड का शास्त्र में अन्वाख्यान न होने से लृफिड लृफिड्ड का निवर्तन सम्भव नहीं। अतः इन्हें तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।

सिद्धान्ती कहता है कि प्रकृत में भी ऋफिड-ऋफिड्ड शब्द ही शास्त्रान्वित हैं। यदि यह कहो कि फिड-फिड्ड प्रत्यय उणादि में देखे नहीं जाते, तो ये कैसे शास्त्रान्वित होंगे। इस का उत्तर यह है कि उणादिशास्त्र का सिद्धान्त है कि—प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् (महा० ३।१।१)। प्रत्यय की प्रवृत्ति लोक में देखकर अनुक्त प्रकृति की कल्पना की जाती है। और प्रकृति की लोक में प्रवृत्ति देखकर अनुक्त प्रत्ययों की कल्पना होती है। इसी नियम को ध्यान में रखकर भाष्यकार ने 'ऋ' धातु की लोक में प्रवृत्ति दर्शाकर फिड-फिड्ड प्रत्यय की कल्पना की है। गुण का अभाव दीखने से फिड-फिड्ड प्रत्ययों को कित् भी मानना चाहिये।

न सन्ति यदृच्छाशब्दाः का भाव यह है कि यदृच्छा शब्द मूलरूप से संस्कृतभाषा के नहीं हैं। लोक में संज्ञा के लिये इनका व्यवहार होता है, अतः इनका संस्कृतीकरण करके इन्हें संस्कृतभाषा में स्वीकार कर लिया है। इसी दृष्टि से माघ कवि ने कहा है—

'यदृच्छाशब्दवत् पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम्।' शिशुपाल-वध २।४७॥

[भाष्यम्] अन्यथा कृत्वा प्रयोजनमुक्तम्, अन्यथा कृत्वा परिहारः। 'सन्ति यदृच्छाशब्दाः' इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तम्, 'न सन्ति' इति परिहारः। समाने चाऽर्थे शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति। तद्यथा—देवदत्तशब्दो 'देवदिण्ण' शब्दं निवर्तयति, न गाव्यादीन्। नैष दोषः। पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति॥

व्याख्या—अन्यथा मानकर [लृकारोपदेश का] प्रयोजन कहा, और अन्यथा मानकर परिहार (=प्रत्याख्यान) किया। 'यदृच्छाशब्द हैं', ऐसा मानकर [लृकार के उपदेश का] प्रयोजन कहा, और [यदृच्छाशब्द] 'नहीं हैं' [यह मानकर] परिहार किया। समान अर्थ में प्रयुक्त शास्त्रान्वित (=साधु) शब्द अशास्त्रान्वित (=असाधु=अपशब्द) का निवर्तक होता है। जैसे—देवदत्त शब्द 'देवदिण्ण' शब्द को निवर्तित करता है, गावी आदि को नहीं। यह दोष नहीं है। पक्षान्तरों से भी परिहार होते हैं।

विवरण—कैयट के मतानुसार अव्युत्पत्तिपक्ष मानकर सूत्रकार ने लृकारोपदेश किया है। और व्युत्पत्तिपक्ष मानकर वार्तिककार ने लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान किया है। हमारे

१. लोके चञ्चलो गन्धर्वं ऋफिड्ड इत्युच्यते। महाभाष्य-दीपिका।

विचार में क्वचित् व्यवहार में प्रयुक्त लृकार को स्वतन्त्र वर्ण मानकर सूत्र में उसका उपदेश किया है। स्वतन्त्र वर्ण मानकर ही पाणिनि ने शिक्षा में भी लृकार का **लृतुलसा दन्त्याः** (१।१२) इस प्रकार स्थान निर्देश किया है। वार्तिककार ने ऋकार की रेफश्रुति को ही लश्रुति हो जाती है, अतः लृकार को स्वतन्त्र वर्ण न मानकर शास्त्रोपदेश में शब्दकृत लाघव दर्शाया है।

समाने चार्थे—टि घु घ आदि के समान जब लृतक शब्द यदृच्छारूप में किसी पिण्ड की संज्ञा में प्रयुक्त होता है, तब इसका अर्थ तत्संकेतित पिण्ड होता है। और जब इसे ऋतक का अपभ्रंश स्वीकार किया जाता है, तब इससे साधु शब्द ऋतक का बोध होता है। इस प्रकार दोनों पक्षों में लृतक शब्द के अर्थ में भिन्नता होती है। अपभ्रंश शब्द साधु शब्दों का बोधन कराकर ही अर्थज्ञान कराते हैं, ऐसा कतिपय वैयाकरणों का मत है।[1] यह नियम प्रथम प्रयुक्त अपभ्रंश में तो लागू हो सकता है। क्योंकि प्रथमश्रुत अपशब्द को उपलब्ध करके श्रोता की बुद्धि होती है कि यह अमुक शब्द बोलना चाहता था, पर अशक्ति से अन्यथा उच्चारण कर गया, अतः इसका यह पदार्थ अभिप्रेत है। परन्तु जब अपभ्रंश परम्परा से लोकव्यवहार में प्रचलित हो जाते हैं, तब उनसे श्रोता को मूल शब्द का विना बोध हुए ही अर्थ-प्रतीति होती है,[2] यह लोकसिद्ध है।

पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति—इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृतभाषा के मूल शब्द जातिशब्द गुणशब्द और क्रियाशब्द ही हैं, और ये सब धातुज हैं। यदृच्छाशब्द संस्कृतभाषा की प्रकृति से बहिर्भूत हैं। अतः उनकी दृष्टि से शास्त्रकार का शास्त्र-प्रवचन आवश्यक नहीं है। यहां भाष्यकार का यह तात्पर्य नहीं है कि यदृच्छाशब्दों का प्रयोग ही नहीं करना चाहिये। पाणिनि प्रभृति प्रमाणभूत आचार्यों ने **टि घु घ** आदि यदृच्छाशब्दों का व्यवहार किया है। परन्तु कोई भी सचेता वैयाकरण इन्हें संस्कृतभाषा के अन्य पदों के समान शास्त्र-व्यवहार से अन्यत्र लोक में व्यवहार्य नहीं मानता।

अन्य भाषा के शब्दों को भी यदृच्छाशब्दों के रूप में ग्रहण करके उनका संस्कृतीकरण किया जा सकता है। और उणादि के विशाल क्षेत्र को ध्यान में रखकर उनकी अर्थानुकूल व्युत्पत्ति भी की जा सकती है।[3] पर ऐसा करना शास्त्र का दुर्व्यवहार करना है। अतः उन्हें अव्युत्पन्न मानकर ही प्रयोग करना युक्त है।

शास्त्रकारों का जहां भी परस्पर विरोध उपलब्ध होता है वा होवे, वहां सर्वत्र पक्षान्तर के आश्रयण से उन विरोधों का परिहार करना चाहिये। अतः शास्त्रों के विरोध-परिहार के लिये **पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति** लेख अत्यन्त महत्त्व का है।

---

१. ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः।
तादात्म्यमप्युपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः॥ वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड १५०॥

२. पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः॥ वाक्य० ब्रह्म० १५४॥

३. उणादि का है प्रताप मियां मौलवी मौलाना।
मि धातु से लिये साध डियां डौलवी डौलाना॥

[भाष्यम्] अनुकरणं शिष्टाऽशिष्टाऽप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु ॥३॥

अनुकरणं हि शिष्टस्य साधु भवति, अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा। नैव तद्दोषाय भवति नाऽभ्युदयाय। 'यथा लौकिवैदिकेषु'। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावत्—य एवमसौ ददाति, य एवमसौ यजते, य एवमसावधीते, इति। तस्याऽनुकुर्वन् दद्याच्च यजेत चाऽधीयीत च, सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। वेदेऽपि—'य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते' इति। तेषामनुकुर्वन् तद्वत् सत्राण्यध्यासीत, सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। अशिष्टाऽप्रतिषिद्धम्—य एवमसौ हिक्कति, य एवमसौ हसति, य एवमसौ कण्डूयतीति। तस्यानुकुर्वन् हिक्केच्च हसेच्च कण्डूयेच्च, नैव तद्दोषाय स्यान्नाऽभ्युदयाय। यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां पिबतीति। तस्यानुकुर्वन् ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत्, सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्॥

व्याख्या—अनुकरण शिष्ट अथवा अशिष्ट अप्रतिषिद्धों में साधु होता है, जैसे लौकिक वैदिकों में।

अनुकरण शिष्ट (=शास्त्रोपदिष्ट कार्य) का साधु होता है, अथवा अशिष्ट (=शास्त्र से अनुपदिष्ट) पर अप्रतिषिद्ध का। न वह दोष के लिये होता है और न अभ्युदय (=कल्याण) के लिये। 'जैसे लौकिक वैदिकों में'। जैसे लौकिक और वैदिक सिद्धान्तों में। लोक में—यह ऐसे देता है, यह ऐसे यजन करता है, यह ऐसे अध्ययन करता है। उसका अनुकरण करता हुआ जो देवे, यज्ञ करे और पढ़े, वह भी अभ्युदय से युक्त होता है। वेद में भी—'जो इस प्रकार विश्वसृज् के सत्रों में बैठते हैं', अर्थात् विश्वसृज्संज्ञक सत्रों को करते हैं। उनका अनुकरण करके जो उसी प्रकार सत्रों में बैठे अर्थात् उन्हें करे, वह भी अभ्युदय से युक्त होता है। अशिष्ट अप्रतिषिद्ध—यह इस प्रकार हिचकी लेता है, यह इस प्रकार हसता है, यह इस प्रकार खुजलाता है। उसका अनुकरण करता हुआ जो हिचकी लेवे, हंसे और खुजलावे, वह [अनुकरण] न दोष के लिये होवे और न अभ्युदय के लिये। जो तो यह इस प्रकार ब्राह्मण को मारता है, यह इस प्रकार सुरा पीता है। उसका अनुकरण करता हुआ जो ब्राह्मण को मारे अथवा सुरा पीवे, वह भी पतित होवे।

विवरण—अशक्तिजानुकरण के लिये लृकारोपदेश का वार्तिककार प्रत्याख्यान करते हैं—अनुकरणमिति। वार्तिककार का तात्पर्य है कि यदि अनुकार्य दुष्ट है, तो अनुकरण भी दुष्ट है। अनुकार्य लृ तक अशक्तिज होने से अपशब्द है, अतः उसका अनुकरण भी अपशब्द ही होगा।

वार्तिक के व्याख्यानरूप भाष्य का यह तात्पर्य है कि शिष्ट का अनुकरण साधु होता है, अशिष्ट अप्रतिषिद्ध का अनुकरण न दोष के लिये होता है, और न अभ्युदय के लिये।

"ददाति यजते अधीयीत शब्दों का जो अर्थ दान याग अध्ययन है, वह वैदिक है। परन्तु ये शब्द लौकिक हैं, अतः इनके लिये 'लोके' का निर्देश किया है।" ऐसा भर्तृहरि का कथन है। अन्य व्याख्याकारों का कहना है कि—दान याग अध्ययन श्रौत=वैदिक और स्मार्त=लौकिक दोनों प्रकार के हैं। 'लोके' ऐसा संकेत करने से ये स्मार्त (=स्मृतिनिबद्ध)

दान याग अध्ययन अभिप्रेत हैं। श्रौत=वैदिक याग=वेद[1] पठित का उदाहरण देते हैं—**य एवं विद्वान् विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते।** सत्र—सोमयाग का भेद है। इसका स्वरूप पूर्व (पृष्ठ ६३ में) स्पष्ट कर दिया है। विश्वसृज् संज्ञक सत्र का निर्देश कात्यायन श्रौत २४।५। ३४ में मिलता है। भाष्यकार-उद्धृत वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

[भाष्यम्] विषम उपन्यासः। यश्चैवं हन्ति यश्चानुहन्ति, उभौ तौ हतः। यश्चापि पिबति यश्चानुपिबति, उभौ तौ पिबतः। यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां वा पिबतीति, तस्यानुकुर्वन् स्नातानुलिप्तो माल्यगुणकण्ठः कदलीस्तम्भं छिन्द्यात् पयो वा पिबेत्, न स मन्ये पतितः स्यात्। एवमिहापि य एवमसावपशब्दं प्रयुङ्क्ते इति, तस्याऽनुकुर्वन्नपशब्दं प्रयुञ्जीत, सोऽप्यपशब्दभाक् स्यात्। अयं त्वन्योऽपशब्दपदार्थकः शब्दो, यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः। न चाऽपशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। यो हि मन्यते—'अपशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवति' इति, 'अपशब्दः' इत्येव तस्याऽपशब्दः स्यात्। न चैषोऽपशब्दः॥

व्याख्या—यह दृष्टान्त विषम है। जो इस प्रकार [ब्राह्मण को] मारता है, और जो अनुकरण करता हुआ मारता है, वे दोनों [ब्राह्मण को] मारते हैं। और जो भी [सुरा को] पीता है, और जो अनुकरण करता हुआ पीता है, वे दोनों [सुरा को] पीते हैं। जो तो यह इस प्रकार ब्राह्मण को मारता है, अथवा इस प्रकार सुरा पीता है, उसका अनुकरण करता हुआ स्नान करके चन्दन लगाके मालाएं गले में डालके केले के पेड़ को काटे अथवा दूध पीवे, वह पतित नहीं होवे। इसी प्रकार यहां भी जो यह अपशब्द का प्रयोग करता है, उसका अनुकरण करता हुआ अपशब्द का प्रयोग करे, वह भी अपशब्द का भागी होवे। यह (=ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह) तो अपशब्द पदार्थ है जिसका, ऐसा अन्य शब्द है, जिसके लिये [लृकार का] उपदेश करना चाहिये। अपशब्द पदार्थ जिसका है, ऐसा शब्द अपशब्द नहीं होता। यह बात इस प्रकार अवश्य जाननी चाहिये। जो यह मानता है कि—'अपशब्द पदार्थवाला शब्द अपशब्द होता है', उसका 'अपशब्द' यही अपशब्द होगा। किन्तु यह (=अपशब्द) अपशब्द नहीं है।

विवरण—भाष्यकार दृष्टान्त का वैषम्य दर्शाकर अशक्तिजानुकरणार्थ लृकारोपदेश का समर्थन करते हैं। अनुकार्य के दोष से अनुकरण भी दुष्ट होता है। **उभौ तौ हतः, उभौ तौ पिबतः**—का भाव यह है कि जिसका अनुकरण किया जाता है, वह ब्राह्मण को मारता है और सुरा को पीता है। उसका अनुकरण करने वाला भी ब्राह्मण को मारता है और सुरा को पीता है। यहां दोनों में ब्राह्मण-हनन और सुरापान क्रिया के समान होने से दोष है। वस्तुतः यहां सादृश्य का अभाव होने से अनुकरणत्व ही नहीं है। अनुकरण का उदाहरण भाष्यकार ने दर्शाया है—**'कदलीस्तम्भं छिन्द्यात्, पयो वा पिबेत्।'** यहां असि से जैसे ब्राह्मण का छेदन करता है, वैसे ही कदलीस्तम्भ का छेदन करना वा सुरापान के समान पयःपान करना

१. वेद शब्द के विषय में पूर्व पृष्ठ ५६ में पठित विवरण का प्रथम सन्दर्भ देखें।

अनुकरण है, क्योंकि दो क्रियाओं में सादृश्य है। **स्नातानुलिप्तः**—स्नातश्चानुलिप्तश्च= स्नातानुलिप्तः। इससे स्वस्थचित्तता कही है। **माल्यगुणकण्ठः—मालायां साधूनि माल्यानि पुष्पाणि, तैर्माल्यैर्युक्तो गुणः सूत्रं कण्ठे यस्य सः**। यहां गड्डुकण्ठः के समान सप्तम्यन्त कण्ठ का परनिपात जानना चाहिये।[1] इस विशेषण से सजधजकर प्रकाशित होकर (आजकल की भाषा में—सरे बाजार) कार्य करना कहा है। अकार्य सदा अस्वस्थचित्त होने पर तथा एकान्त में किये जाते हैं। इसी प्रकार यहां यदि ऋतक के अर्थ में लृतक का प्रयोग करता है, तो वह अपशब्द है। यदि वह अनुकार्य का प्रकाशन करता है, तब वह अनुकरणरूप लृतक शब्द साधु है। एक ही शब्द अर्थभेद से अपशब्द और साधु शब्द दोनों होता है। इस पर कैयट ने दृष्टान्त दिया है—**अस्वगोण्यादिवत्**। 'अस्व' शब्द जब अश्वार्थ में प्रयुक्त होता है, तो वह अपशब्द होता है, परन्तु जब **नास्ति स्वं यस्य** अर्थात् धनरहित के लिये प्रयुक्त होता है, तो साधु शब्द होता है। इसी प्रकार गोणी शब्द गो के अर्थ में अपशब्द, और आवपन=बोरी के अर्थ में साधु शब्द है। द्रष्टव्य वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड १४८ कारिका—

'अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम्॥'

[भाष्यम्] अयं खल्वपि भूयोऽनुकरणशब्दोऽपरिहार्यः, यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः—'साध्वॢकारमधीते, मध्वॢकारमधीते' इति। क्वस्थस्य पुनरेतदनुकरणम्? क्लृपिस्थस्य। यदि क्लृपिस्थस्य, क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम्। तस्याऽसिद्धत्वादृकार एवाऽच्कार्याणि भविष्यन्ति। भवेत्तदर्थेन नार्थः स्यात्। अयं त्वन्यः क्लृपिस्थपदार्थकः शब्दः, यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः।

न कर्तव्यः। इदमवश्यं कर्तव्यम्[2]—'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इति। किं प्रयोजनम्? 'द्विः पचन्त्वित्याह'[3], 'तिङ्ङतिङः' [८।१।२८] इति निघातो यथा स्यात्[4]। 'अग्नी इत्याह', 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' [१।१।११] इति प्रगृह्यसंज्ञा यथा स्यात्॥

व्याख्या—और भी यह अनुकरण शब्द अपरिहार्य है, जिसके लिये [ॡकार का] उपदेश करना चाहिये—साध्वॢकारमधीते (=ॡकार का सुन्दर उच्चारण करता है), मध्वॢकारमधीते (=ॡकार का मधुर उच्चारण करता है)। यह कहां वर्तमान [ॡकार] का अनुकरण है? क्लृपि धातु में वर्त्तमान का। यदि क्लृपि धातुस्थ का है, तो क्लृपि का लत्व असिद्ध है। उसके असिद्ध होने से ऋकार [मानकर उसके] परे ही अच्कार्य (=यणादेश) हो जायेंगे। उस अर्थवाला (=कृपि धातुस्थ) होवे, तो [ॡकारोपदेश का] प्रयोजन न होवे। यह तो अन्य है क्लृपि धातुनिष्पन्न पद-अर्थवाला शब्द, जिसके लिये उपदेश करना ही होगा। अर्थात् क्लृपि धातु से निष्पन्न 'क्लृप्ति' आदि जो पद प्रयुक्त हैं, तत्पदस्थ ॡकार का अनुकरण है। प्रयोगावस्था में लत्व असिद्ध नहीं होता। अतः इस ॡकार के अनुकरण के लिये उपदेश करना ही होगा।

१. सप्तम्याः पूर्वनिपाते गड्वादिभ्यः परवचनम्। वा० २।२।३५॥
२. वक्तव्यमिति कीलहार्नसम्मतः पाठः।
३. तै० सं० ५।१।७।३॥ ४. त० संहितायां द्विः पचन्त्वित्याहु स्वरो विद्यते।

नहीं करना चाहिये। यह अवश्य करना (=पढ़ना) चाहिये—'प्रकृति के समान अनुकरण होता है।' इसका क्या प्रयोजन है ? द्विः पचन्त्वित्याह (='पचन्तु' ऐसा दो बार कहा), यहां तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से ['द्विः' पद से परे 'पचन्तु' तिङ् को] अनुदात्त हो जावे। अग्नी इत्याह (='अग्नी' ऐसा कहा), यहां (='अग्नी' को) ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (१।१।११) से प्रगृह्य संज्ञा हो जावे। [यदि अनुक्रियमाण पचन्तु और अग्नी को प्रकृतिवत् तिङन्त और द्विवचन का रूप न माना जाये, तो क्रमशः निघात और प्रकृतिभाव नहीं होंगे।]

विवरण—'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इस परिभाषा से ही सूत्रपठित धातुओं के अनुकरणों में इयङ् उवङ् होते हैं। यथा—परिव्यवेभ्यः क्रियः (१।३।१८)। परन्तु कहीं-कहीं इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं भी होती। यथा—विपराभ्यां जेः (१।३।१९) में प्रकृतिवत् धातु मानकर अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से इयङ् नहीं होता। इस भेद की व्याख्या भर्तृहरि ने इस प्रकार की है—'जब धातु का अनुकरण अर्थरूपता का आश्रयण करता है, तब प्रकृति में दृष्ट इयङ् आदेश को प्राप्त होता है। और जब धात्वनुकरण अवयवरूपों (=शब्दरूप) को आश्रय करता, किन्तु अर्थरूपता का आश्रय नहीं करता, तब धातुरूप से अनाश्रित होने के कारण प्रकृति में इयङ् आदि नहीं होते।'

[भाष्यम्] यदि—'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इत्युच्यते, अपशब्द एवाऽसौ भवति—'कुमार्य्लृतक इत्याह, ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह'। अपशब्दो ह्यस्य प्रकृतिः। न चाऽपशब्दः प्रकृतिः। नह्यपशब्दा उपदिश्यन्ते, न चाऽनुपदिष्टा प्रकृतिरस्ति॥

व्याख्या—यदि 'प्रकृति के समान अनुकरण होता है' ऐसा कहा जाये, तो यह (=अनुक्रियमाण 'लृतक' शब्द) अपशब्द ही होता है—'कुमार्य्लृतक इत्याह, ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह।' क्योंकि [अशक्तिज] अपशब्द ही इस [अनुक्रियमाण लृतक] की प्रकृति है। अपशब्द प्रकृति नहीं है। क्योंकि अपशब्दों का उपदेश नहीं किया है, और अनुपदिष्ट प्रकृति नहीं होती।

विवरण—'अपशब्द एवासौ'—का अभिप्राय यह है कि अनुकरण जिस लृतक शब्द का है, वह अशक्तिज होने से अपशब्द है। अनुकरण प्रकृति के धर्म को प्राप्त होता है, अतः अनुक्रियमाण भी अपशब्द है।

अपशब्दों का शास्त्र से उपदेश न होने से ये किसी की प्रकृति नहीं हो सकते। इस प्रकार अशक्तिजानुकरण के लिये लृकारोपदेश स्थित रहा। भर्तृहरि ने किन्हीं व्याख्याताओं के मत में अशक्तिजानुकरण के लिये लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान पक्ष भी उपस्थित किया है। परन्तु ग्रन्थ के भ्रष्ट होने से अस्पष्ट है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की शब्दः संस्कारहीनो यः (१४८) कारिका की स्वोपज्ञवृत्ति के आरम्भ में लिखा है—'शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः' इति संग्रहकारः। इसका अर्थ है—शब्दः प्रकृतिरस्य एवमपभ्रंशः, अर्थात् अपभ्रंशों की प्रकृति शब्द है। यही बात भाष्यकार ने यहां प्रकारान्तर से कही है। आजकल के भाषाविज्ञानवादी कहते हैं कि संस्कृत शब्द इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि संस्कृतभाषा का मूल और कोई भाषा है। आधुनिक जैनमतानुयायी

प्राकृत से वैदिक संस्कृत की, और उससे लौकिक संस्कृत की उत्पत्ति मानते हैं। इसी मत को प्रमाण मानकर डा० सत्यकाम वर्मा ने 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ में व्याडि के **शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः** वचन को उद्धृत करके लिखा है—'अपभ्रंश शब्दों को भाषा की मूल प्रकृति कहने का साहस केवल आचार्य व्याडि ही कर सके थे (द्र०—पृष्ठ १३)। '**शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः**' वाक्य की यह व्याख्या करना जहां सम्पूर्ण व्याकरणागम के विरुद्ध है, वहां भर्तृहरि की उस कारिका के भी विरुद्ध है, जिसकी व्याख्या में उक्त संग्रह-वचन उल्लिखित है। कारिका (१४८) में स्पष्ट कहा है—"गौः ऐसे प्रयोग के उच्चारण की इच्छा होने पर जो [अशक्ति आदि के कारण] संस्कारहीन शब्द उच्चरित होता है, उसे 'अपभ्रंश' कहते हैं"[1]। भर्तृहरि ने संग्रहवचन की व्याख्या वहीं इस प्रकार की है—'प्रकृतिरहित कोई स्वतन्त्र अपभ्रंश नहीं है, सब अपभ्रंशों की साधु शब्द ही प्रकृति है'[2]। हेमचन्द्र सदृश जैन वैयाकरण ने भी प्राकृत व्याकरण के आरम्भ में प्राकृत की प्रकृति संस्कृत मानी है—**प्रकृतिः संस्कृतम्**। इतना ही नहीं, अपभ्रंश शब्द स्वयं स्पष्ट कर रहा है, कि जैसे वृक्ष से पत्ते नीचे गिरते हैं, वैसे ही अपभ्रंश शब्द भी किन्हीं मूल शब्दों से दूर गये भ्रष्ट हुए शब्द हैं। संस्कृतशब्दों की प्रकृति अन्य शब्द थे, इस का खण्डन हमने 'सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १६-१८ (संवत् २०३० संस्क०) में किया है। और 'संस्कृत' नाम का कारण भी वहीं स्पष्ट किया है।

[भाष्यम्] एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्लुत्यादयः ॥४॥

'एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति' इति प्लुत्यादयोऽपि भविष्यन्ति।

यदि—'एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति' इत्युच्यते, 'राज्ञः क च' [४।२।१३९] राजकीयम्, 'अल्लोपोऽनः' [६।४।१३४] इति लोपः प्राप्नोति। 'एकदेशविकृतमनन्यवत् षष्ठीनिर्दिष्टस्य' इति वक्ष्यामि। यदि—'षष्ठीनिर्दिष्टस्य' इत्युच्यते, 'क्लृ३प्तशिख' इति प्लुतो न प्राप्नोति। नह्यत्र ऋकारः षष्ठीनिर्दिष्टः। कस्तर्हि ? रेफः। ऋकारोऽप्यत्र षष्ठीनिर्दिष्टः। कथम् ? अविभक्तिको निर्देशः—कृप उः रः लः= 'कृपो रो लः' [८।२।१८] इति॥

व्याख्या—एकदेश में विकृत के अनन्य (=वही) होने से प्लुत्यादि हो जायेंगे।

'एकदेश में विकृत अनन्यवत्=उसी के समान होता है' इस परिभाषा से प्लुत्यादि भी हो जायेंगे। अर्थात् ऋकार की र श्रुति को ही ल श्रुति का विधान कर देने पर ऋकार मानकर ही प्लुति आदि कार्य हो जायेंगे।

यदि—'एकदेशविकृत अनन्यवत् होता है' ऐसा कहते हो, तो राज्ञः क च (४।२।

---

१. शब्दः संस्कारहीनो यः गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ-निवेशिनम्॥ ब्रह्मकाण्ड १४८।

२. नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतन्त्रः कश्चिद् विद्यते।
सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः॥ ब्रह्मकाण्ड १४८ की व्याख्या में।

१३६) [से न् के स्थान पर क् आदेश करने पर 'अनन्य' मानकर] राजकीयम् में अल्लोपो-ऽनः (६।४।१३४) से [अकार का] लोप प्राप्त होता है। 'एकदेश-विकृत अनन्यवत् होता है, षष्ठी-निर्दिष्ट का' ऐसा कहेंगे ['क' आदेश विधायक सूत्र में 'राजन्' षष्ठी-निर्दिष्ट है, अन् नहीं, अतः वह (=अक्) अन् नहीं माना जायेगा, और अन् के अकार का लोप नहीं होगा]। यदि 'षष्ठी-निर्दिष्ट का' ऐसा पढ़ते हो, तो 'क्लृ३प्तशिख' यहां प्लुत नहीं प्राप्त होगा। [क्योंकि कृपो रो लः (८।३।१८) सूत्र में] ऋकार षष्ठी-निर्दिष्ट नहीं है। तो क्या है ? रेफ [प्लुतकार्य ऋकार मानकर करना है]। ऋकार भी यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है। कैसे ? अवि-भक्तिक निर्देश है—कृप उः रः लः=कृपो रो लः।

विवरण—'**एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति**' यह लौकिक न्याय है। जैसे कुत्ते की पूंछ कट जाने पर भी वह कुत्ता ही होता है, इसी प्रकार ऋकार की रश्रुति के लश्रुति हो जाने पर भी वह ऋकार ही जाना जाता है।

षष्ठी-निर्दिष्टस्य—इस पर नागेश लिखता है कि—उक्त परिभाषा के रूप में **स्थानि-वत्०** (१।१।५५) सूत्र उद्धृत किया है। ऐसा मानकर कहता है कि—**षष्ठी-निर्दिष्टस्य** अर्थात् **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४८) सूत्र से षष्ठी पद का अनुवर्तन होता है। भर्तृहरि ने लिखा है कि—'**स्थानिवत्**' सूत्र का सम्बन्ध मानने से स्थानिवत् होगा ही नहीं, क्योंकि प्लुतकार्य अल्-विधि है, और अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता। इसलिये यहां लोकप्रवृत्ति का निर्देश किया है।

प्लुतो न प्राप्नोति—प्लुत-ग्रहण उपलक्षणार्थ है। यहां द्विर्वचन और स्वरित कार्य का संग्रह भी जानना चाहिये।

कृप उः रः लः में 'कृप' अविभक्त्यन्त निर्देश है।

[भाष्यम्] अथवा पुनरस्त्वविशेषेण। ननु चोक्तम्—'राज्ञः क च' राजकीयम्, 'अल्लोपोऽनः' इति लोपः प्राप्नोति, इति। नैष दोषः। वक्ष्यत्येतत्—'श्वादीनां संप्रसारणे नकारान्तग्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थम्' इति। तत्प्रकृतमुत्तरत्राऽनुवर्तिष्यते—'अल्लोपोऽनः' नकारान्तस्येति। इह तर्हि—क्लृ३प्तशिख 'अनृत' इति प्रतिषेधः प्राप्नोति।

रवत्प्रतिषेधाच्च ॥५॥

रवत्प्रतिषेधाच्चैतत् सिध्यति। 'गुरोररवतः' इति वक्ष्यामि। यदि 'अरवतः' इत्युच्यते, होतृ ऋकारः='होतृ३कारः' अत्र न प्राप्नोति। 'गुरोररवतो ह्रस्वस्य' इति वक्ष्यामि।

स एष सूत्रभेदेन लृकारोपदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन् प्रत्याख्यायते। सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते ॥२॥

व्याख्या—**अथवा अविशेष** (=सामान्यरूप) से [अनन्यवत्] होवे। अभी तो कहा है—राज्ञः क च (४।२।१३९) राजकीयम् में अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) से [अकार का]

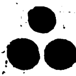
लोप प्राप्त होता है। यह दोष नहीं है। आगे (=६।४।१३३ के भाष्य में) कहेंगे—'श्वादियों के संप्रसारण में नकारान्तों का ग्रहण जानना चाहिये, अनकारान्तों के प्रतिषेध के लिये।' उसी प्रकृत को आगे ले जायेंगे—अल्लोपोऽन: [अन् के अकार का लोप होता है] नकारान्त शब्द के ['राजकीयम्' में ककारादेश कर देने पर राजन् नान्त नहीं रहता]। अच्छा तो यहां—'क्लृ३प्तशिख' में अनृत: [८।२।८६] ऐस प्रतिषेध प्राप्त होता है [क्योंकि ऋकार की रेफ श्रुति को लत्व का विधान कर देने पर एकदेशविकृत न्याय से वह ऋकार तो है ही। गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् (८।२।८६) से प्लुतविधान में ऋकार का प्रतिषेध किया है]।

रवत् के प्रतिषेध से [सिद्ध होता है]।

रवत् के प्रतिषेध से यह सिद्ध हो जाता है। ['अनृत:' हटाकर] 'गुरोररवत:' ऐसा कह देंगे [इस से क्लृ३प्तशिख में प्लुत हो जायेगा, क्योंकि यहां 'र' नहीं है]। यदि 'अरवत:' ऐसा कहते हो, तो होतृ+ऋकार:=होतॄ३कार: यहां प्लुत प्राप्त नहीं होता [क्योंकि दीर्घ ॠ भी रवान् है]। 'गुरोररवतो ह्रस्वस्य' ऐसा कह देंगे। ['होतॄ३कार:' में दीर्घ ॠकार होने से प्लुत का प्रतिषेध नहीं होगा]

सो यह सूत्रभेद से (=सूत्र में पाठ बदलकर) लृकारोपदेश प्लुत्यादि के लिये होते हुए भी प्रत्याख्यान किया जाता है। यह महान् वंश (=बड़े बांस) का आश्रय करके 'लट्वा' का अनुकर्षण किया जाता है। अर्थात् यह महान् प्रयत्न छोटे से कार्य की सिद्धि के लिये निरर्थकवत् है ॥२॥

विवरण—'रवत्' में नित्ययोग में मतुप् है, उससे नञ् समास=अरवत्। महावंशस्तम्बात् में ल्यप्लोप में पञ्चमी है। स्वामी दयानन्द प्रयुक्त येन शरीरात् श्रमो न क्रियते (संस्कृतवाक्यप्रबोध, पृष्ठ ८) में भी ल्यब्लोप में पञ्चमी जाननी चाहिये—येन शरीरं प्राप्य श्रमो न क्रियते (द्र०—संस्कृतवाक्यप्रबोध परिशिष्ट १, पृष्ठ ६१)। लट्वानुकृष्यते—लट्वा शब्द करञ्जभेद (नाटा करञ्ज) फल वाद्य और पक्षीविशेष (ग्राम चटक) में प्रयुक्त होता है—'लट्वा करञ्जभेदे स्यात् फले वाद्ये खगान्तरे' मेदिनी। यहां वंशस्तम्ब का निर्देश होने से करञ्जभेद का ग्रहण जानना चाहिये ॥२॥



[भाष्यम्] एओङ् ॥३॥ ऐऔच् ॥४॥

इदं विचार्यते—इमानि सन्ध्यक्षराणि तपराणि वोपदिश्येरन्—'एत् ओत् ङ्', 'ऐत् औत् च्' इति, अतपराणि वा यथान्यासमिति। कश्चात्र विशेष: ?

व्याख्या—यह विचारा जाता है कि—ये सन्ध्यक्षर तपर उपदिष्ट किये जायें—'एत् ओत् ङ्', 'ऐत् औत् च्', अथवा अतपर जैसा कि न्यास (=पाठ) है। इसमें (=तपर अतपर उपदेश में) क्या विशेषता है ?

विवरण—ए ओ ऐ औ वर्णों की सन्ध्यक्षर संज्ञा प्राचीन आचार्यों की है। यह महती संज्ञा अन्वर्थ है—**सन्धीयमानौ अवयवौ अस्याक्षरस्य**। वार्तिककार उसी से व्यवहार करेंगे, अतः भाष्यकार ने भी उसी का निर्देश किया है। **तपराणि**—तकार परे है जिनके, ऐसे सन्ध्यक्षरों का पाठ करें। सम्भव है कि वार्तिककार ने किसी प्राचीन व्याकरण में सन्ध्यक्षरों का तपरपाठ उपलब्ध करके तद्विषयक विचार यहां प्रस्तुत किया हो। इस अवस्था में व्याकरणान्तर में विद्यमान तपर-निर्देश को बुद्धि में उपस्थित करके **इमानि** पद से संकेत किया हो। कैयट आदि ने इस विचार को **कृत्वा चिन्ता** (=न किये हुए को वैसा किया हुआ मान कर चिंतन) माना है। इस अवस्था में **उपदिश्येरन्** यह असत्वभूत अर्थात् अविद्यमान तपरत्व को कहनेवाली क्रिया है। उस अवस्था में प्रत्यक्ष-निर्देशक 'इदम्' से निर्देश नहीं हो सकता। इसका समाधान यह है कि बुद्धि से तपर पाठ का परामर्श करके, अर्थात् बुद्धि से तपर पाठ को विद्यमान मानकर 'इदम्' का यहां प्रयोग जानना चाहिये।

कश्चात्र विशेषः—तपर अतपर शब्दस्वरूप में भेद प्रत्यक्ष है। अतः यह प्रश्न तपर-अतपर पाठ में कार्य में क्या विशेष होगा, ऐसा प्रश्न का अभिप्राय जानना चाहिये।

[भाष्यम्] सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणम् ॥१॥

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणं कर्तव्यम्[1]॥

व्याख्या—**सन्ध्यक्षरों में यदि तपरोपदेश माना जाये, तो तपर उच्चारण करना चाहिये।**
सन्ध्यक्षरों में यदि तपरोपदेश माना जाये, तो तपरोच्चारण करना चाहिये।

विवरण—भर्तृहरि ने दीपिका में इस पर कुछ विशेष विचार किया है। यथा—

तपरोपदेशश्चेत् तपरोच्चारणम् का यह अभिप्राय है कि कई स्थानों में उपदेश होते हुए भी निवर्तित हो जाता है। यथा—**तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ** (५।२।२६) में चुञ्चुप् चणप् प्रत्ययों को यकारादि माना है। उनके यकार का सूत्रपाठ में, और **विद्याचुञ्चु विद्याचणः** उदाहरणों में **लोपो व्योर्वलि** से लोप हो जाता है। यहां तकारोपदेश होने पर तकारलोप का कोई लक्षण नहीं। अतः तकारोपदेश करना चाहिये। **तपरोच्चारणं कर्तव्यम्**—कुछ व्याख्याता चारों वर्णों को तपर करना चाहिये, ऐसा मानते हैं। कुछ व्याख्याताओं का मत है कि 'ए' 'ऐ' दो को ही तपर करना चाहिये, 'ओ' 'औ' तो **तादपि परस्तपरः** (=त से जो परे हो वह भी तपर होता है) के नियम से तपर हो जायेंगे। प्रथम पक्ष में **'ओत् ङ्'** **'औत् च्'** में तकार की इत्संज्ञा प्राप्त नहीं होती, यह दोष देकर लिखा है कि—**'एत् ओत् ङ्'**, **'ऐत् औत् च्'** में ङकार चकार समुदाय के अवयव हैं, और तकार ओकार औकार का।

[भाष्यम्] प्लुत्यादिष्वज्विधिः ॥२॥

प्लुत्यादिष्वजाश्रयो विधिर्न सिध्यति। गो३त्रात नौ३त्रात, इत्यत्र 'अनाच च

---

१ आपिशल शिक्षा में 'एदैतौ कण्ठतालव्यौ' 'ओदौतौ कण्ठोष्ठ्यौ' में सन्ध्यक्षरों को तपर पढ़ा है, अतः सम्भव है, आपिशल व्याकरण के अक्षर-समाम्नाय में इन्हें तपर पढ़ा हो और उसको दृष्टि में रखकर प्रकृत विचार किया हो।

[८।४।४६] इत्यच उत्तरस्य यरो द्वे भवत, इति द्विर्वचनं न प्राप्नोति। इह च 'प्रत्यङ्ङे३तिकायन', 'उदङ्ङौ३पगव' इति 'अचि' [८।३।३२] इति ङमुण्न प्राप्नोति।

प्लुतसंज्ञा च ॥३॥

प्लुतसंज्ञा च न सिध्यति। ऐ३तिकायन, औ३पगव,'ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः' [१।२।२७] इति प्लुतसंज्ञा न प्राप्नोति॥

व्याख्या—प्लुत्यादि में अज्विधि [सिद्ध नहीं होती]।

प्लुति आदि में अच् को आश्रय मानकर कही विधि सिद्ध नहीं होगी। गो३त्रात, नौ३त्रात, यहां अनचि च(८।४।४६)से अच् से उत्तर यर् को द्विर्वचन होता है, यह द्विर्वचन नहीं प्राप्त होता। और यहां 'प्रत्यङ्ङे३तिकायन, उदङ्ङौ३पगव' यहां अच् परे(८।३।३२ से) विहित ङमुट् प्राप्त नहीं होता।

प्लुत संज्ञा भी [सिद्ध नहीं होती]।

प्लुत संज्ञा भी सिद्ध नहीं होती। ऐ३तिकायन, औ३पगव, यहां ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः (१।२।२७)से प्लुतसंज्ञा प्राप्त नहीं होती।

विवरण—प्लुत्यादि में प्लुति से त्रिमात्र प्लुत और आदि पद से चतुर्मात्र प्लुत का ग्रहण करना चाहिये। ऐसा नागेश का मत है। 'गो३त्रात' आदि में प्लुत प्राप्त नहीं होता, पुनरपि यहां प्लुत को अभ्युपगमवाद से स्वीकार करके दोषान्तर दिये हैं।

नागेश कृत उद्योत की छाया टीका में लिखा है—'गो३त्रात' यह तृजन्त का सम्बोधन का रूप है, अन्यों के मत में क्तान्त का सम्बोधन का रूप है, अन्य गो३त्रातः नौ३त्रातः ऐसा विसर्गान्त रूप पढ़ते हैं। भाष्य के कुछ संस्करणों में प्रत्यङ्ङे४तिकायन, उदङ्ङौ४पगव इस प्रकार चतुर्मात्रिक प्लुत दर्शाया है।

प्लुतसंज्ञा च—त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा इष्ट है। सूत्र में सन्ध्यक्षरों के तपर करने पर त्रिमात्रिक का अच् के ग्रहण से ग्रहण ही नहीं होगा। अतः त्रिमात्रिक की अच् संज्ञा न होने से प्लुत संज्ञा नहीं होगी। प्लुतों का विधान करने पर कथंचिद् आन्तरतम्य होने से सन्ध्यक्षरों के एकदेश इकार उकार को होगा।

[भाष्यम्] सन्तु तर्ह्यतपराणि।

अतपर एच इग्घ्रस्वादेशे ॥४॥

यद्यतपराणि 'एच इग्घ्रस्वादेशे' [१।१।४७] इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? एचो ह्रस्वादेशशासनेष्वर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वा मा भूदिति॥

व्याख्या—अच्छा तो [सन्ध्यक्षर] अतपर होवें।

अतपर होने पर 'एच इग्घ्रस्वादेशे' [कहना होगा]।

यदि [सन्ध्यक्षर] अतपर होवें, तो एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७) (=एच् के स्थान में ह्रस्वादेश होने पर इक् होवे) ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? एच् को ह्रस्वादेश के शासन करने पर अर्ध एकार वा अर्ध ओकार न होवें।

विवरण—एच् वर्णों को तपर न पढ़ने पर वे सवर्ण ग्रहण से अर्ध एकार वा अर्ध ओकार (=मात्रिक एकार ओकार) का भी ग्रहण करेंगे। उनकी अच् संज्ञा होगी। अतः एच् को ह्रस्वादेश के विधान में अर्ध एकार वा अर्ध ओकार प्राप्त होंगे। तपर करने पर अर्ध एकार वा अर्ध ओकार का ग्रहण न होने से अच् संज्ञा नहीं होगी। और ह्रस्वादेश करने पर उनकी प्राप्ति नहीं होगी।

[भाष्यम्] ननु च यस्यापि तपराणि, तेनाप्येतद् वक्तव्यम्। इमावैचौ समाहारवर्णौ—मात्राऽवर्णस्य, मात्रेवर्णोवर्णयोः। तयोर्ह्रस्वादेशशासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात्, कदाचिदिवर्णोवर्णौ। मा कदाचिदवर्णो भूदिति।

प्रत्याख्यायत एतत्—"ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्" [द्र०—१।१।४७] इति। यदि प्रत्याख्यानपक्षः, इदमपि प्रत्याख्यायते—"सिद्धमेङः सस्थानत्वात्" [द्र०—१।१।४७] इति। ननु चैङः सस्थानतरावर्ध एकारोऽर्ध ओकारश्च। न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां, तावेवाऽयमुपदिशेत्॥

व्याख्या—अच्छा तो जिसके [सन्ध्यक्षर] तपर हैं, उसे भी [ऐच् के लिये] यह (='एच इग्घ्रस्वादेशे' सूत्र) अवश्य कहना चाहिये। ये ऐच् समाहार (=दो मिले हुए) वर्ण हैं—एकमात्रा अवर्ण की है, और एकमात्रा इवर्ण अथवा उवर्ण की। इन (=ऐचों) के ह्रस्वादेश विधान करने पर कभी अवर्ण होगा, कभी इवर्ण और अवर्ण। उवर्ण कभी भी न होवे [इसलिये 'ऐच इग्घ्रस्वादेशे' कहना पड़ेगा]।

यह [ऐच्विषयक 'एचः इक्०' सूत्र] प्रत्याख्यात कर दिया है—'ऐचों में उत्तर [वर्ण] के अधिक होने से' (महा० १।१।४७)। यदि प्रत्याख्यान-पक्ष स्वीकार करते हो, तो यह (=एङ इग्घ्रस्वादेशे) भी प्रत्याख्यात किया गया है—'सिद्ध है, एङ् के समानस्थान होने से'। एङ् के समानस्थानतर (=अधिक समान) अर्ध एकार और अर्ध ओकार हैं। वे (अर्ध एकार वा अर्ध ओकार) नहीं हैं। यदि होते, तो यह [आचार्य लाघव के लिये] उन्हीं का उपदेश करते।

विवरण—'उत्तरभूयस्त्वात्' का तात्पर्य यह है कि 'ऐ' 'औ' में आधी मात्रा अवर्ण की है, और डेढ़ मात्रा इकार उकार की।

सस्थानत्वात्—किन्हीं शिक्षाकारों के मत में ए ओ का स्थान क्रमशः तालु और ओष्ठ है। द्र०—इचशेयास्तालौ उवोपोपध्मा ओष्ठे (शु० य० प्राति० १।६६,७०)। अतः ए ओ इकार उकार के साथ समानस्थानवाले हैं।

सस्थानतरौ—शिक्षान्तर के मत से वादी कहता है—ए ओ का क्रमश: कण्ठ तालु और कण्ठ ओष्ठ स्थान है। अत: अर्ध एकार और अर्ध ओकार ए ओ के साथ अधिक समान-स्थानवाले हैं।

तावेवायमुपदिशेत्—यदि अर्ध एकार वा अर्ध ओकार अर्थात् एकमात्रिक ए ओ होते, तो जैसे आचार्य ने अ इ उ आदि एकमात्रिक अक्षरसमाम्नाय में पढ़े हैं, वैसे ही उनका भी पाठ कर देते।

[भाष्यम्] ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते—[1]'सुजाते एश्वसूनृते', 'अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्', 'शुक्रं ते एन्यद् यजतं ते एन्यद्' इति।

[2]पार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वाऽस्ति॥

व्याख्या—अच्छा तो छन्दोगों (=सामवेदियों) में **सत्यमुग्र और राणायन-प्रोक्त शाखाओं के अध्येता अर्ध एकार और अर्ध ओकार पढ़ते हैं**—'सुजाते एश्व सूनृते', 'अध्वर्यो ओद्रिभि: सुतम्', 'शुक्र ते एन्यद् यजतं ते एन्यद्' **इति।**

यह आप लोगों (=सात्यमुग्रियों और राणायनीयों) का पर्षद् (=सभा) सम्बन्धी कर्म है। नहीं लोक में और न अन्य वेद में अर्ध एकार वा अर्ध ओकार है।

विवरण—कहीं-कहीं **'सुजाते ए अश्व सूनृते, अध्वर्यो ओ अद्रिभि: सुतम्, शुक्रं ते ए अन्यद् यजतं ते ए अन्यत्'** ऐसा पाठ मिलता है, वह अपपाठ है, यह नागेश ने स्पष्ट लिखा है। इसकी पुष्टि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ११।१९ के **स पूर्वस्यार्धसदृशमेकेषाम्** सूत्र से होती है। इसकी व्याख्या में गार्ग्यगोपाल लिखता है—**योऽयमकार एकारौकारपूर्वो न लुप्यते, स खलु स्वस्मात् पूर्वस्य वर्णस्य अर्धेन सदृशं रूपमुपागच्छति इत्येकेषामाचार्याणां मतम्,** अर्थात् एकार ओकार पूर्व में है जिसके, ऐसा जो अकार लुप्त नहीं होता (=प्रकृतिभाव से रहता है), वह अपने से पूर्व वर्ण के अर्धसदृश रूप को प्राप्त होता है, यह किन्हीं आचार्यों का मत है। यह मत सामवेदियों के अवान्तर चरण सात्यमुग्रि और राणायनीयों का है, यह भी गार्ग्यगोपाल ने स्पष्ट लिखा है। इसी टीका में उदाहरणों के प्रसङ्ग में अकार और उससे पूर्व ए ओ का निर्देश छपा है। वह अपपाठ है, यह गार्ग्यगोपाल की टीका से ही स्पष्ट है।

सामवेद में इन मन्त्रों का पाठ इस प्रकार है—**सुजाते अश्व सूनृते** (प्र० ५, अर्ध प्र० १, दशति ४, मं० ३=अ० ४, खं० ८, मं० ३), **अध्वर्यो अद्रिभि: सुतम्** (प्र० ६, अर्ध० प्र० १, द० २, मं० ३=अ० ५, खं० ४, मं० ३), **शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यद्** (प्र० १, अर्ध प्र० २, द० ८, मं० ३=अ० १, खं० ८, मं० ३)।

---

१. मन्त्राणां मूलपाठ: तत्संकेतश्च व्याख्यायां द्रष्टव्य:।

२. क्वचित् 'परिषद्कृति:' पाठ:। अग्रे 'एच इग्घ्रस्वादेशे' (१।१।४७) सूत्रभाष्येऽपि पार्षदकृतिरित्येव पाठ उपलभ्यते।

नागेश ने लिखा है—शास्त्रविशेष के अध्ययन करनेवालों का समूह पर्षद् और परिषद् कहाता है। वस्तुतः वैदिक चरण विशेष के अध्येताओं का समवाय पर्षद् वा परिषद् कहाता है। द्रष्टव्य—**पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि** (निरुक्त १।१७) चरण शब्द के विशेष अर्थ के लिये देखें—महा० २।४।३ की हमारी व्याख्या, पृष्ठ ३६२ की टि०।

[भाष्यम्] एकादेशे दीर्घग्रहणम् ॥५॥

एकादेशे दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्—'आद् गुणो [६।१।८४] दीर्घः', 'वृद्धिरेचि [६।१।८५] दीर्घः' इति। किं प्रयोजनम्? आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति। खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकं खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगव इति॥

व्याख्या—एकादेश में दीर्घ ग्रहण [करना चाहिये]।

एकादेश में दीर्घ ग्रहण करना चाहिये—'आद् गुणः (६।१।८४) [से गुण एकादेश] **दीर्घ होता है,'** 'वृद्धिरेचि (६।१।८५) [से वृद्धि एकादेश] **दीर्घ होता है** [ऐसा कहना **चाहिये]'। क्या प्रयोजन है? आन्तरतम्य** (=सदृशतमत्व) से तीन **मात्रावाले और चार मात्रावाले स्थानियों को तीन मात्रावाले और चार मात्रावाले आदेश न होवें।** खट्वा इन्द्रः =खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम्=खट्वोदकम्; खट्वा ईषा=खट्वेषा, खट्वा ऊढा= खट्वोढा; खट्वा एलका=खट्वैलका, खट्वा औदनः=खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः=खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः=खट्वौपगवः।

विवरण—'एकादेशे दीर्घग्रहणम्' का भाव यह है कि **एकः पूर्वपरयोः**(६।१।८१)में दीर्घ ग्रहण करना चाहिये। उस से आगे गुण-वृद्धिरूप एकादेश दीर्घ ही होगा। खट्वा से परे इन्द्र और उदक होने पर पूर्व आकार की दो मात्रा, पर इकार वा उकार की एक मात्रा=तीन मात्रा स्थानी हैं। ईषा ऊढा परे रहने पर दो मात्रा पूर्व आकार की, और दो मात्रा ईकार ऊकार की=चार मात्रा स्थानी हैं। वृद्धि के खट्वैलकादि सभी उदाहरणों में पूर्व आकार की दो मात्रा, पर वर्ण ए ओ ऐ औ की दो-दो मात्रा=चार मात्रा स्थानी हैं। गुणरूप एकादेश हो, वृद्धिरूप एकादेश हो, ऐसा कहने पर **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४६) के नियम से तीन मात्रिक स्थानियों के स्थान में त्रिमात्रिक, और चारमात्रिक स्थानियों के स्थान में ४ मात्रिक आदेश प्राप्त होंगे। वे न हों, अतः दीर्घ ग्रहण करना चाहिये।

कैयट का कहना है कि **प्लुतश्च विषये स्मृतः**(१।२।१७) के नियम से यहां प्लुत प्राप्त नहीं होगा। इसका समाधान यह है कि **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४६) के नियम से अन्य आदेश सम्भव ही नहीं, इसलिये **प्लुतश्च विषये स्मृतः** की यहां प्रवृत्ति नहीं होती है। नागेश ने कैयट का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'टि' के न होने से प्लुत का यह विषय नहीं है। वस्तुतः नागेश का ही कथन चिन्त्य है। **प्लुतश्च विषये स्मृतः** से आष्टमिक सारा प्लुत विषय गृहीत

होता है। उसमें टि से अन्यत्र भी प्लुत का विधान है। यथा सूत्र ८।२।८५,८६ अनन्त्य, ८७, ८८, ९१, ९२ आदि। कैयट ने तो भर्तृहरि का अनुकरण किया है।

[भाष्यम्] तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम्। उपरिष्टाद् योगविभागः करिष्यते—'अकः सवर्णे' अकः सवर्णे एको भवति। ततो—'दीर्घः,' दीर्घश्च स भवति, यः स 'एकः पूर्वपरयोः' इत्येवं निर्दिष्ट इति। इहापि तर्हि प्राप्नोति—पशुं, विद्धं, पचन्तीति। नैष दोषः। इह तावत् पशुमिति, 'अम्येकः' इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति, तस्यैतत्प्रयोजनम्—'यथाजातीयकः पूर्वस्तथाजातीयक उभयोर्यथा स्याद्' इति। 'विद्धम्' इति, 'पूर्व' इत्येवानुवर्तते। अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'नानेन संप्रसारणस्य दीर्घो भवति' इति, यदयं हल उत्तरस्य संप्रसारणस्य दीर्घत्वं शास्ति। 'पचन्ति' इति, 'अतो गुणे परः' इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यद्रूपग्रहणं करोति, तस्यैतत्प्रयोजनम्—'यथाजातीयकं परस्य रूपं तथाजातीयकमुभयोर्यथा स्याद्' इति॥

व्याख्या—तो क्या दीर्घ ग्रहण करना चाहिये ? नहीं करना चाहिये। ऊपर(=आगे) योग-विभाग करेंगे—अकः सवर्णे (६।१।९७)='अक् से सवर्ण अच् परे रहने पर दोनों के स्थान में एक आदेश होता है।' उसके बाद—दीर्घः='वह दीर्घ होता है, जो एकः पूर्वपरयोः (६।१।८१) से निर्दिष्ट है।' तो यहां भी [दीर्घ] प्राप्त होता है—पशु अम्=पशुम्, वि अध् त=विद्धम्, पच अन्ति=पचन्ति ['पशुम्' में अमि पूर्वः (६।१।१०३) से; 'विद्धम्' में सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) से पूर्वरूप के स्थान में; 'पचन्ति' में अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप के स्थान में दीर्घ प्राप्त होता है]। यह दोष नहीं है। यहां 'पशुम्' में अम्येकः='अम् परे रहने पर पूर्व पर के स्थान में एक आदेश होता है' इतने से सिद्ध है। अर्थात् अमि इतने सूत्र से कार्य हो जाता है, 'एकः' ऊपर से अनुवर्त्तमान पद है। सो इस प्रकार ['अमि' इतने] से सिद्ध होने पर जो 'पूर्व' का ग्रहण किया है, उसका यह प्रयोजन है कि—'जिस प्रकार का पूर्व वर्ण है, उसी प्रकार का दोनों के स्थान में होवे।' 'विद्धम्' यहां [सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) सूत्र में] 'पूर्व' पद की अनुवृत्ति आती है [उस से पूर्व वर्ण जैसा ही दोनों के स्थान में होगा]। अथवा आचार्य की प्रवृत्ति बतलाती है कि—'इस[सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) सूत्र] से सम्प्रसारण को दीर्घ नहीं होता,' जो यह [आचार्य हलः (६।४।२) सूत्र से] हल् से उत्तर सम्प्रसारण को दीर्घत्व का विधान करता है। 'पचन्ति' में अतो गुणे परः='अकार से गुण परे रहने पर पूर्व पर के स्थान पर आदेश होता है' इतना कहने से सिद्ध है। अर्थात् अतो गुणे सूत्र में एङि पररूपम् (६।१।९१) से अनुवर्त्यमान 'पररूप' के स्थान में 'परः' इतना कहने, और उसकी अनुवृत्ति लाने से कार्य हो जाता। इस प्रकार सिद्ध होने पर भी जो 'रूप' का ग्रहण किया है, उसका यह प्रयोजन है कि—'जिस प्रकार का पर का रूप है, वैसा ही दोनों के स्थान पर होवे।'

विवरण—'पशुम्' में 'अम्येकः' की भी आवश्यकता नहीं है। यहां दीर्घ प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से सिद्ध है। और यदि अमि सूत्र पढ़ते हैं, तो 'अमि' सूत्र वाच्छन्दसि (६।१।

१०२) की **अनुवृत्ति** से **शमीम् गौरीम्** के लिये होगा। इसलिये पूर्व ग्रहण 'पशुम्' में पूर्वरूपार्थ ही है। तथापि दीर्घ की अनुवृत्ति होने पर पूर्व ग्रहण पूर्वस्वर्णदीर्घ के लिये होगा। इसका उत्तर यह है कि यदि पूर्व ग्रहण पूर्वसवर्णदीर्घ के लिये होवे, तो इस कार्य के लिये **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।९८)से पूर्व ग्रहण की अनुवृत्ति हो जायेगी। यहां का पूर्व ग्रहण व्यर्थ होकर पूर्वरूप के लिये ही होगा। **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति** से हलः (६।४।२) से ज्ञापक माना जाये, तो यह नियमार्थ हो सकता है। संप्रसारण को दीर्घ होवे तो हल् से उत्तर ही होवे। यहां न होवे —**उतः, उतवान्**। अच्छा तो यह **सम्प्रसारणस्य** (६।३।१३४) सूत्र से सम्प्रसारण को दीर्घ करना ज्ञापक होगा। यह भी ज्ञापक नहीं है। यह दीर्घत्व **इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य** (६।३।६०) से प्राप्त ह्रस्व की निवृत्ति के लिये है। अच्छा तो दो पूर्व ग्रहणों की अनुवृत्ति है। यह विवरण भर्तृहरि की व्याख्यानुसार है। कैयट ने तो **हलः** सूत्र से प्राप्त दीर्घत्व को नियमार्थ ही नहीं माना। 'विधि-सम्भव होने पर नियम से विधि बलवान् होती है', इस नियम से। **अतो गुणे** (६।१।९०) से जहां पररूप होता है, उनमें ए ओ गुण तो दीर्घ ही है, अतः केवल 'अ' गुण ही बचता है। उसके लिये ऊपर से अनुवर्त्तमान **पररूपम्** में रूप ग्रहण है।

[भाष्यम्] इह तर्हि खट्वर्श्यो मालर्श्य इति दीर्घवचनाद् अकारो न, अनान्तर्यादेकारौकारौ न। तत्र को दोषः? विगृहीतस्य श्रवणं प्रसज्येत। न ब्रूमो—'यत्र क्रियमाणे दोषस्तत्र कर्तव्यम्' इति। किं तर्हि? यत्र क्रियमाणे न दोषस्तत्र कर्तव्यमिति। क्व च क्रियमाणे न दोषः? संज्ञाविधौ। 'वृद्धिरादैज् दीर्घः', 'अदेङ्गुणो दीर्घः' इति। तर्त्तहि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। कस्मादेवान्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति? तपरे गुणवृद्धी।

ननु च तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः। 'न' इत्याह, तादपि परस्तपर इति। यदि तादपि परस्तपरः, 'ॠदोरप्' [३।३।५७] इतीहैव स्यात्—यवः स्तवः। लवः पव इत्यत्र न स्यात्।

नैष तकारः। कस्तर्हि? दकारः। किं दकारे प्रयोजनम्? अथ किं तकारे? यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोऽपि। अथ मुखसुखार्थस्तकारः, दकारोऽपीति॥

व्याख्या—अच्छा तो [आद् गुणः (६।१।८४) से] खट्वा ऋश्यः=खट्वर्श्यः, माला ऋश्यः=मालर्श्यः में दीर्घवचन से ह्रस्व अकार नहीं होगा, और अनान्तर्य=सादृश्यतम न होने से एकार ओकार नहीं होंगे। वहां (=ऐसी दशा में) क्या दोष होगा? विगृहीत का श्रवण प्राप्त होगा। यह हम नहीं कहते कि—'जहां दीर्घ ग्रहण करने पर दोष होवे, वहां करो'। तो क्या कहते हो? जहां [दीर्घ ग्रहण] करने पर दोष नहीं है, वहां करना चाहिये। कहां करने में दोष नहीं है? संज्ञाविधि में। वृद्धिरादैच् (१।१।१) दीर्घः='दीर्घ आदैच् वृद्धिसंज्ञक होता है,' अदेङ् गुणः (१।१।२) दीर्घः='दीर्घ अदेङ् गुणसंज्ञक होता है।' तो क्या [उक्त सूत्रों में] दीर्घ ग्रहण करना चाहिये? नहीं करना चाहिये। आन्तर्य से त्रिमात्र

चतुर्मात्र स्थानियों के त्रिमात्र चतुर्मात्र आदेश क्यों नहीं होते ? गुण-वृद्धिसंज्ञक तपर हैं। [अतः तपर होने से द्विमात्रिक ऐच् और एङ् की गुण-वृद्धि संज्ञा होगी ।]

तपर तो 'त' जिसके परे होता है, वह कहाता है [अतः ऐच् और एङ् तपर नहीं होंगे] । नहीं, 'त' से जो परे होता है, वह भी 'तपर' कहाता है [अतः ऐच् और एङ् भी तपर हैं] । यदि 'त' से परेवाला भी तपर माना जावे, तो ॠदोरप् (३।३।५७)[में 'त' से परे 'उ' भी तपर होगा, तब 'अप्' प्रत्यय] यहीं होगा—यवः स्तवः **(यु स्तु ह्रस्व उवर्णान्तों से) ।** लवः पवः **(लू पू दीर्घ उवर्णान्तों से अप् प्रत्यय) यहां नहीं होवे । [इष्ट है कि दीर्घ उवर्णान्त धातुओं से भी अप् प्रत्यय होवे ।]**

यह (=ॠदोरप्' में श्रूयमाण 'द') तकार नहीं है । तो क्या है ? दकार है । दकार [पढ़ने] में क्या प्रयोजन है ? तो तकार [पढ़ने] में ही क्या प्रयोजन है ? यदि असन्देह के लिये तकार पढ़ा है, तो दकार भी [असन्देह के लिये है] । और यदि मुख-सुखार्थ (=सरलता से ॠ उ वर्णों के पृथक् उच्चारण के लिये) है, तो दकार भी [मुखसुखार्थ है] ।

विवरण—'विगृहीतस्य श्रवणम्'—'खट्वा ऋश्यः' ऐसा सन्विरहित ही प्रयुक्त होगा । **वृद्धिरादैच् दीर्घः**—यहां दीर्घ ग्रहण ऐच्=ऐ औ के लिये है । ये ही सवर्णियों को प्लुतों को ग्रहण कर सकते हैं । **अदेङ् गुणः दीर्घः**—यहा भी दीर्घ ग्रहण एङ्=ए ओ के लिये है । 'अ' तो तपर होने से भिन्नकाल के सवर्णियों को ग्रहण नहीं कर सकता, एङ्=ए ओ कर सकते हैं । **तपरे गुणवृद्धी**—यहां गुण-वृद्धि शब्दों से उन के सञ्ज्ञी अदेङ् और आदैच् लक्षणा से गृहीत होते हैं, क्योंकि गुण-वृद्धि संज्ञाएं तपर नहीं हैं । इस से ए ओ, ऐ औ जो द्विमात्रिक (दीर्घ) हैं, उनकी ही गुण-वृद्धि संज्ञाएं होंगी ।

नैषः तकारः । कस्तर्हि ? दकारः—'लवः पवः' में अप् प्रत्यय के इष्ट होने से तकार-निर्देश में **'तादपि परस्तपरः'** पक्ष में दोष आता है । अतः तकार न मानकर दकार माना है । **'किं दकारे प्रयोजनम्'** प्रश्न पर प्रतिद्वन्द्वी उत्तर है—**अथ किं तकारे प्रयोजनम्** । तकार का वह प्रयोजन असन्देहार्थ वा मुखसुखार्थ ही हो सकता है । क्योंकि **'लवः पवः'** में अप् प्रत्यय के इष्ट होने से तपर-निर्देश तो माना ही नहीं जा सकता । यही प्रयोजन दकार का है । **'असन्देहार्थ'** का तात्पर्य है—'ॠ उ' में सन्धि हो जाने पर **रोरप्** सूत्र होगा । इसमें सन्देह होगा कि—'रु' धातु का ग्रहण है, अथवा रेफान्त और उवर्णान्त धातुओं का ग्रहण है, अथवा ॠवर्णान्त और उवर्णान्तों का । **मुखसुखार्थ** का तात्पर्य है—संहितापाठ में ॠ उ दो स्वरों का विना प्रयत्न-विशेष के साथ-साथ उच्चारण नहीं हो सकता । मन्त्रपाठ में ऐसे स्थानों पर विवृत्ति अर्थात् दोनों स्वरों के मध्य में अर्ध ह्रस्व काल व्यवधान करके उच्चारण किया जाता है ।

व्याख्याकारों ने **तित्स्वरितम्** (६।१।१७९) सूत्रस्थ भाष्य से विरोध दर्शाकर और **दिव उत्**(६।१।१२७)में दकार स्वीकार करके अतत्काल की निवृत्ति के लिए **तपरस्तत्कालस्य** (१।१।६९) सूत्र में भाष्यकारों का द्वितकार-निर्देश में दकार का अन्तर्भाव मानकर दकार को भी तत्कालार्थ स्वीकार करके प्रस्तुत भाष्य में विरोधरूपी दोष उपस्थित किया है । और उस का समाधान धकार वा थकार निर्देश मानकर किया है । धकार थकार को **ॠदोरप्** में

जो दकार आदेश हुआ है, वह **तपरस्तत्कालस्य** सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है, वह दकार ही नहीं है। अतः तत्काल का ग्रहण प्रसक्त नहीं होगा।

वस्तुतः व्याख्याकार भाष्यकार के सीधे-साधे व्यवहार को ध्यान में न रखकर व्यर्थ में अन्यत्र पक्षान्तर का आश्रयण करके उपस्थापित वचनों के साथ एकवाक्यता लगाने की क्लिष्ट-कल्पना करते हैं। जब भाष्यकार स्वयं मानते हैं कि **पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति** (ऋलृक् सूत्र), तब यह सीधा-साधा समाधान क्यों नहीं दे देते कि यहां भाष्यकार ने **तपरस्तत्कालस्य** (१।१।६९) सूत्र में सूत्रकारोक्त तकार निर्देश मानकर ही दकार ग्रहण से दोष-परिहार दर्शाया है। इस पक्ष में **दिव उत्** में स्वरितत्व का प्रतिषेध भी **प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणं भवति** परिभाषा से हो जायेगा।

[भाष्यम्] इदं विचार्यते—'य एते वर्णेषु वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतय एतेषामवयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वा' इति। कुतः पुनरियं विचारणा? इह हि समुदाया अप्युपदिश्यन्ते, अवयवा अपि। अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः। तद्यथा वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति। तत्र समुदायस्थस्यावयवस्यावयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति जायते विचारणा। कश्चात्र विशेषः? ॥

व्याख्या—यह विचारा जाता है कि—'जो ये वर्णों में वर्णान्तरों के साथ समान आकृतिवाले वर्णैकदेश हैं, इनका अवयव (=अकारादि वर्णों) के ग्रहण से ग्रहण होवे वा न होवे।' यह विचार क्यों उत्पन्न हुआ? यहां [शास्त्र में] समुदाय (=ए ओङ् ऐ औच् ऋलृक्) भी उपदिष्ट हैं, और अवयव (=अ इ उण् रट् लण्) भी। अवयव समुदाय के भीतर रहता है। जैसे वृक्ष [वायु वेग से] हिलता हुआ अपने अवयवोंसहित हिलता है। वहां समुदाय में स्थित अवयव का अवयव के ग्रहण से ग्रहण होवे वा न होवे, यह विचार उत्पन्न होता है। इस में क्या विशेष है?

विवरण—तात्पर्य यह है कि आकार ईकार ए ऐ ओ औ ऋ लृ आदि वर्ण हैं, इनमें वर्णान्तर अ इ उ र ल आदि के समान रूपवाले जो वर्ण सुनाई पड़ते हैं, उनका अकार इकार आदि के ग्रहण से ग्रहण होवे या नहीं? **वर्णान्तरसमानाकृतयः** का तात्पर्य वर्णान्तररूप से अस्वीकृति दर्शाने में है। अर्थात् ए ऐ आदि स्वतन्त्र वर्ण हैं, वर्णों के समुदाय नहीं हैं।

ऊपर ग्रहण-अग्रहण में हेतु दिये हैं। इनमें प्रथम समुदाय का और अवयवों का पृथक् पाठ करना हेतु ग्रहण-पक्ष में है। और समुदाय के भीतर अवयवों का प्रतिपादन करना अग्रहण पक्ष में हेतु है। समुदाय में अवयव तिरोहित होते हैं, अतः समुदायकार्य में वे परतन्त्र होते हैं।

[भाष्यम्] वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्ध्यक्षरे समानाक्षरविधिप्रतिषेधः ॥६॥

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्ध्यक्षरे समानाक्षराश्रयो विधिः प्राप्नोति, स प्रतिषेध्यः। अग्ने इन्द्र, वायो उदकम्। 'अकः सवर्णे दीर्घः' [६।१।९७] इति दीर्घत्वं प्राप्नोति ॥

व्याख्या—**वर्णों के एकदेश वर्ण के ग्रहण से [गृहीत होवें], तो सन्ध्यक्षर में समानाक्षरविधियों का प्रतिषेध करना चाहिये।**

वर्णों के एकदेश वर्ण के ग्रहण से [गृहीत होवें,] तो सन्ध्यक्षर (=ए ऐ ओ औ) में समानाक्षर पर आश्रित विधि प्राप्त होती है, उसका प्रतिषेध करना चाहिये। अग्ने इन्द्र, वायो उदकम्, यहां ['ए' में इकार, और 'ओ' में उकार मानकर] अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ प्राप्त होता है।

विवरण—'समानाक्षर' यह प्राचीनाचार्यों की संज्ञा है। कितने अक्षरों की समानाक्षर संज्ञा है, इसमें मतभेद है। **दश समानाः** यह कातन्त्र(१।१।३)का सूत्र है। **न वादितः समानाक्षराणि** यह तैत्तिरीय प्रातिशाख्य(१।२)का वचन है। **अष्टौ समानाक्षराणि** यह ऋक्प्रातिशाख्य (१।१) का कथन है। यह मतभेद स्वस्व शास्त्रीय कार्य की दृष्टि से है। यहां अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ये दश समानाक्षर जानने चाहियें। यद्यपि ऌ का दीर्घ रूप नहीं है, पुनरपि **यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घा स्युस्तदाऽष्टादश प्रभेदं ब्रुवते क्लृपक इति** शिक्षासूत्र (६।६) द्वारा पाणिनि ने दीर्घ ॡकार की भी अनुज्ञा दी है।

दीर्घत्वं प्राप्नोति—अग्ने आयाहि=**अग्न आयाहि** (साम० १।१।१।१) **वायवायाहि,** (ऋ० १।२।१) में अय् अव् आदेश को अवकाश है। दधि इन्द्रः=**दधीन्द्रः** में सवर्ण दीर्घ को अवकाश है। यहां **अग्ने इन्द्र** में विप्रतिषेध से सवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है। **अग्ने आयाहि** में 'ए' का परभाग इकार है, उसको यणादेश प्राप्त होता है। अय् अव् आदेशों को अवकाश कैसे कहा? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि **अग्ने आयाहि** आदि में इकार भाग को **इको यणचि** से यणादेश प्राप्त होता है, फिर भी वह **येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति** परिभाषा से यणादेश की अवश्यप्राप्ति में अय् अव् आदेश कहे हैं। अतः वे यणादेश को बाधकर हो जाते हैं। अथवा **मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्** नियम से मध्य में विहित अय् अव् आदेश पूर्व में उपदिष्ट यणादेश को बाध लेता है, पर उत्तर में विहित सवर्ण दीर्घ को नहीं बाधता।

[भाष्यम्] दीर्घे ह्रस्वविधिप्रतिषेधः ॥७॥

दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिः प्राप्नोति, स प्रतिषेध्यः। ग्रामणीः, आलूय, प्रलूय। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' [६।१।६९] इति तुक् प्राप्नोति।

नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'न दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवति' इति। यदयं दीर्घाच्छे तुकं शास्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्? 'पदान्ताद्वा' [६।१।७३] इति विभाषां वक्ष्यामीति। यत्तर्हि योगविभागं करोति। इतरथा हि 'दीर्घात्पदान्ताद्वा' इत्येव ब्रूयात्॥

व्याख्या—**दीर्घ में ह्रस्व-विधि का प्रतिषेध करना चाहिये।**

दीर्घ में [दो ह्रस्व वर्ण मानकर]ह्रस्वाश्रय विधि प्राप्त होती है, उसका प्रतिषेध करना

चाहिये। ग्रामणी, ग्रालूय, प्रलूय [यहां 'ई' में दो ह्रस्व इकार, 'ऊ' में दो ह्रस्व उकार मानकर ग्रन्त्य ह्रस्व इकार उकार के ग्राश्रय से] ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।६६) से तुक् प्राप्त होता है।

यह दोष नहीं है। ग्राचार्य की प्रवृत्ति बताती है कि—'दीर्घ में ह्रस्वाश्रय विधि नहीं होती'। जो यह दीर्घ से छ परे [दीर्घ को] तुक् का विधान करते हैं। यह ज्ञापक नहीं है। इसके कथन में तो ग्रन्य प्रयोजन है। क्या? पदान्ताद्वा (६।१।७३) से [पदान्त दीर्घ से परे] विभाषा कहूंगा। ग्रच्छा तो जो['दीर्घात्, पदान्ताद्वा' ऐसा]योग-विभाग करते हैं [वह 'दीर्घात्' पृथक् कहना ज्ञापकार्थ ही है]। ग्रन्यथा दीर्घात् पदान्ताद्वा ऐसा इकट्ठा ही सूत्र पढ़ते।

विवरण—नागेश ने इसी भाष्यवचन के ग्राधार पर पाणिनीय पाठ दीर्घात् पदान्ताद्वा ऐसा एक सूत्र के रूप में माना है। द्रष्टव्य—नागोजिभट्ट पर्यालोचित सूत्रपाठ—"दीर्घात् पदान्ताद्वा इति योगविभागः प्रत्याहाराह्निकभाष्ये।" [द्र०—रामलाल कपूर ट्रस्ट मुद्रापित 'पाणिनीय-शब्दानुशासनम्' भाग १, पृष्ठ १०१]। वस्तुतः यह नागेश की भ्रान्ति है। प्रस्तुत भाष्यपाठ में 'योगविभागं करोति' ग्रौर 'ब्रूयात्' क्रियाग्रों का कर्त्ता एक ही है, ग्रौर वह कर्त्ता सूत्रकार है। ग्रतः प्रस्तुत भाष्य से यह कथमपि ज्ञापित नहीं होता कि पाणिनीय सूत्र दीर्घात्पदान्ताद्वा ऐसा एक है। रामलाल कपूर ट्रस्ट मुद्रापित भाष्यानुसारी ग्रष्टाध्यायीपाठ में भी एकसूत्र के रूप में मुद्रण उचित नहीं है।

[भाष्यम्] इह तर्हि—खट्वाभिः, मालाभिः, 'ग्रतो भिस ऐस्' [७।१।९] इत्यैस्भावः प्राप्नोति। तपरकरणसामर्थ्यान्न भविष्यति।

इह तर्हि—याता, वाता, 'ग्रतो लोपः ग्रार्धधातुके' [६।४।४८] इत्यकार-लोपः प्राप्नोति। ननु चाऽत्रापि तपरकरणसामर्थ्यादेव न भविष्यति। ग्रस्ति ह्यन्य-त्तपरकरणे प्रयोजनम् किम्? सर्वस्य लोपो मा भूदिति। ग्रथ क्रियमाणेऽपि तपरे परस्य लोपे कृते पूर्वस्य कस्मान्न भवति? परलोपस्य स्थानिवद्भावादसिद्धत्वाच्च॥

व्याख्या—ग्रच्छा तो—खट्वाभिः मालाभिः में [ग्राकार में दो ह्रस्व ग्रकार मान कर ग्रकारान्त के ग्रहण से गृहीत होने से] ग्रतो भिस ऐस् (७।१।९) से 'ऐस्' भाव प्राप्त होता है। तपरकरण सामर्थ्य से नहीं होगा। ['ग्रतः' में यदि तपरकरण करने पर भी दीर्घैक-देशरूप ह्रस्व ग्रकार का ग्रहण होवे, तो तपर करना व्यर्थ होता है।]

ग्रच्छा तो—याता, वाता में [दीर्घैकदेशभूत ग्रकार का ग्रहण होवे, तो] 'ग्रतो लोपः' (६।४।४८) से ग्रार्धधातुक परे ग्रकार का लोप प्राप्त होता है। [यहां सूत्र 'ग्रतो लोपः' ही है, 'ग्रार्धधातुके' ग्रनुवर्तमान पद है।] यहां भी तपरकरण सामर्थ्य से ही [लोप] नहीं होगा। इसके तपर करने का तो ग्रन्य प्रयोजन है। क्या है? सब का (=दोनों मात्राग्रों का) लोप न होवे। ग्रच्छा तो तपर करने पर भी पर [एकमात्रिक] का लोप हो जाने पर पूर्व का क्यों नहीं होता? परलोप के स्थानिवद्भाव से ग्रौर ग्रसिद्ध होने से।

विवरण—'दा' 'वा' धातुओं में दीर्घ=दो ह्रस्व अकार ['अ अ' ऐसा मानकर ह्रस्व के ग्रहण से ग्रहण होने पर अन्त्य अकार का **अतो लोपः** (६।१।४८) से लोप होकर पूर्व अकार का भी **अतो लोपः** से लोप प्राप्त होता है। उसका प्रतिषेध **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (१।१।५६) =पर=तृच् प्रत्यय के निमित्त से अच्=अकार का जो लोप है, वह पूर्व ह्रस्व अकार का लोप करने में स्थानिवद् ही जाता है। पर लुप्त अकार के स्थानिवद् होने से पूर्व ह्रस्व अकार से आर्धधातुक अव्यवहित परे नहीं होता, अतः लोप नहीं होता। तथा **असिद्धवद् अत्राभात्** (६।१।२२)=आभात्=भसंज्ञाधिकार (६।४।१७६) पर्यन्त जो कार्य हुआ है, वह **अत्र** यहां =भसंज्ञाधिकारपर्यन्त कार्य करने में असिद्धवत् होता है। इस नियम से द्वितीय अकार का लोप-विधायक सूत्र असिद्धवत् हो जाता है, अर्थात् अप्रवृत्त तुल्य माना जाता है, अतः पूर्व अकार का लोप प्राप्त नहीं होता।

[भाष्यम्] एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'नाकारस्थस्याऽकारस्य लोपो भवति' इति, यदयम् 'आतोऽनुपसर्गे कः' [३।२।३] इति ककारमनुबन्धं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? कित्करणे एतत्प्रयोजनम्—'कितीत्याकारलोपो यथा स्याद्' इति। यदि चाकारस्थस्याऽकारस्य लोपः स्यात्, कित्करणमनर्थकं स्यात्। परस्याऽकारस्य लोपे कृते द्वयोरकारयोः पररूपे हि सिद्धं रूपं स्यात्—गोदः कम्बलद इति। पश्यति त्वाचार्यो—नाऽऽकारस्थस्याऽकारस्य लोपो भवतीति, अतः ककारमनुबन्धं करोति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। उत्तरार्थमेतत्स्यात्—'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' [३।२।५] इति। यत्तर्हि 'गापोष्टक्' [३।२।८] इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति॥

व्याख्या—अच्छा तो आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित करती है कि—'आकार के अन्तर्गत वर्तमान अकार का [अतो लोपः (६।४।४८) से] लोप नहीं होता', जो ये आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३) में ककार अनुबन्ध लगाते हैं, अर्थात् 'अ' प्रत्यय को कित् करते हैं। कैसे यह ज्ञापक है? कित् करने में यह प्रयोजन है कि—'कित् प्रत्यय परे आकार का लोप हो जावे' [आतो लोप इटि च (६।४।६४)]। यदि आकार में वर्तमान अकार का लोप होवे, तो कित् करना अनर्थक हो जावे। [गो दा क=गो दा अ, इस अवस्था में आकारस्थ] पर अकार (=गो द् अ अ+अ) का ['अतो लोपः' (६।४।४८) से] लोप करने पर दोनों [धातु का अवशिष्ट तथा प्रत्यय रूप] अकारों (=गो द् अ अ) को पररूप एकादेश होने पर रूप सिद्ध हो जायगा—गोदः कम्बलदः। आचार्य देखते हैं कि—आकारस्थ अकार का लोप नहीं होता, इसलिये (=आकार का लोप करने के लिये) ककार अनुबन्ध लगाते हैं। यह ज्ञापक नहीं है। ['क' प्रत्यय में] ककार अनुबन्ध उत्तरार्थ है—तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः (३।२।५) [यहां 'तुन्द परिमृज् अ' में वृद्धि का, और 'शोक अपनुद् अ' में लघूपधगुण का प्रतिषेध करने के लिये ककार अनुबन्ध है। अतः 'क' का कित् करना ज्ञापकार्थ नहीं है]। अच्छा तो गापोष्टक् (३।२।८) में अनन्यार्थ (=जिसका आकारलोप से भिन्न प्रयोजन नहीं है ऐसा) प्रत्यय को कित् किया है।

विवरण—भर्तृहरि का कहना है कि **आतोऽनुपसर्गे कः** (३।२।३) में प्रत्यय को कित् करना अनवकाश है, ऐसा मानकर ज्ञापन दिया है। इस पर कहा जा सकता है कि यदि यहां प्रत्यय को कित् न करते तो एच् (=गुण) का विषय होने से मीनाति मिनोति और दीङ् धातुओं को **मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च**(६।१।४९) से उपदेशावस्था में ही आकारादेश करके अकार प्रत्यय करने पर कित्त्व, युट् का आगम(दीङ् को ६।४।६३ से), और स्वर(=थाथघञ्० ६।२।१४३ से 'क' का स्वर)प्राप्त नहीं होगा। यह दोष नहीं है। दीङ् धातु तो अकर्मक है, अतः कर्म उपपद के अभाव से प्रत्यय नहीं होगा। और सोपसर्ग के सकर्मक होने पर **'अनुपसर्गे'** कहने से प्रतिषेध हो जायेगा। मीनाति और मिनोति में **ह्वावामश्च** (३।२।२) से 'मा' के सामान्य से अण् ही होता है। अतः निरवकाश होकर कित्करण ज्ञापकार्थ है, यह मानकर भाष्यकार कहते है कि—**उत्तरार्थं तर्हि**।

नागेश ने **उत्तरार्थं तर्हि** पर लिखा है कि भाष्यकार ने यहां **'किञ्चित्त्रपो इति'**(महा० ७।१।७३) इस न्याय का आश्रयण नहीं किया। इसका भाव यह है कि **इकोऽचि विभक्तौ** (।१।७३) में क्रियमाण 'अचि' ग्रहण अनर्थक है, हलादि विभक्तियों में **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१।४।१७) से पूर्व की पदसंज्ञा होने से नुम् का **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (८।२।७) से लोप हो जायेगा। अजादिविभक्तियों में ही श्रवण होगा। इसका उत्तर दिया है—**उत्तरार्थं तर्हि अज्ग्रहणम्**, अर्थात् **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः** (७।१।७५) के लिये अज्ग्रहण है। वहां हलादि विभक्तियों में नुम् न हो जावे। इस पर कहा कि यदि उत्तरार्थ है, तो **तत्रैव कर्तव्यम्** वहीं कर देना चाहिये। इस पर भाष्यकार ने कहा **इह किञ्चित् त्रपो इति**, अर्थात् यहां करने का भी कुछ फल है, और वह है हे त्रपो' में **न लुमताङ्गस्य** (१।१।६२) से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध न होवे, **ह्रस्वस्य गुणः** (७।३।१०८) से सम्बुद्धि परे मानकर गुण हो जावे। इस **किञ्चित्त्रपो** न्याय के अनुसार उत्तरार्थ क्रियमाण कित्करण का यहां करने में भी कुछ प्रयोजन होना चाहिये। इस न्याय का आश्रयण इसलिये नहीं किया जा सकता है कि **इकोचि विभक्तौ सूत्रस्थ** अच् ग्रहण यहां करें, अथवा **अस्थिदधि०** सूत्र में 'अच्' इतना ग्रहण करना ही होगा, उसमें कोई भेद नहीं होगा। परन्तु यदि यहां **'कः'** न पढ़कर **'अः'** पढ़ें, तो **तुन्दशोकयोः** (३।२।५) सूत्र में 'कः' ग्रहण करना होगा, अथवा कित् अतिदेश करना होगा। अतः यहां उत्तरत्र कित् करने में गौरव है।

अनन्यार्थम्—भर्तृहरि और नागेश ने लिखा है कि यहां कित्करण **'छन्दोगाय'** में **आतो धातोः**(६।४।४८) से प्राप्त आकारलोप न होवे, इसके लिये हो सकता है। इस का भाव यह है कि 'छन्दस् गै'='छन्दस् गा ट' इस अवस्था में 'ट' प्रत्यय परे आकारस्थ दो ह्रस्व अकारों में से पर अकार का **अतो लोपः** से लोप हो जाने पर 'छन्दस् ग अ' इस अवस्था में अवशिष्ट धातुस्थ अकार और प्रत्यय अकार दोनों के स्थान में पररूप एकादेश (=छन्दोग) हो जाने पर 'एकादेश पूर्व का अन्तवत् होता है' इस नियम (६।१।८२—**अन्तादिवच्च**)से धातु का अवयव माना जायेगा। उसे 'ङे' का 'य' आदेश करके **सुपि च** (७।३।१०२) से दीर्घ होने पर यह धातु का आकार है, ऐसा मानकर **आतो धातोः** से लोप प्राप्त होता है। उसका वारण-

बोधक भर्तृहरिकृत दीपिका का भाग त्रुटित-सा अस्पष्ट है। कैयट ने उक्त दोष का वारण इस प्रकार किया है—'**सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य** (=किसी की समुपस्थिति को मानकर प्राप्त विधि उसी समुपस्थिति के विघात का निमित्त नहीं होती है) इस परिभाषा से **छन्दोग ङे**, इस अवस्था में अङ्ग के अन्त्य ह्रस्व अकार को निमित्त मानकर **ङेर्यः** (७।१।१३) से यकार-आदेश हुआ। वह उसी अकार के लोप का निमित्त नहीं हो सकता। य आदेश को मान कर ह्रस्व अकार को **सुपि च** (७।३।१०२) से जो दीर्घ होता है, उसका निमित्त भी य को नहीं होना चाहिये। इस का उत्तर दिया है कि—**कष्टाय क्रमणे** (३।१।१४) सूत्र में 'कष्टाय' निपातन से दीर्घविधि में सन्निपात-परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। नागेश ने कैयट के लेख की बहुत खींचातानी से व्याख्या की है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **महाभाष्यसिद्धान्तरत्न** व्याख्या में कैयट के लेख का खण्डन किया है—[1]"'छन्दोगाय" में सन्निपात-परिभाषा से **आतो धातोः** (६।४।१४०) से प्राप्त आकार लोप नहीं होगा। दीर्घत्व तो **कष्टाय क्रमणे** (३।१।१४) के निपातन से सन्निपात-परिभाषा को बाधता है, यह कथन भी निरस्त कर दिया। क्योंकि सन्निपात-परिभाषा को बाधकर **सुपि च** (७।३।१०२) से दीर्घत्व हो गया। उसी से सन्निपात का विघात हो जाने पर उसी विहत सन्निपात परिभाषा से लोप का वारण असम्भव है।" नागेश ने लिखा है—'दीर्घ-विधान से ही अत्व की निवृत्ति हो गई, ऐसा नहीं मानना चाहिये। दीर्घत्व में भी अत्व जाति सम्बन्ध बना रहता है। इसलिये सन्निपात की क्षति नहीं होती। लोप हो जाने पर तो अत्व जाति के निवृत्त हो जाने से विरोध स्पष्ट है'। इसका भाव यह है कि अत्व और ह्रस्वत्व दो के सन्निपात को मानकर यकार आदेश होता है। ह्रस्वत्वांश में **कष्टाय क्रमणे** के ज्ञापक से सन्निपात-परिभाषा बाधी जाती है, और अत्वांश में प्रवृत्त होती है। इस व्याख्यान का खण्डन करते हुए शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—"[2]अत्व और ह्रस्वत्व दोनों में प्रत्येक के आनन्तर्य का **ङेर्यः** (७।१।१३) सूत्र में आश्रयण नहीं करने से तथा विशिष्ट का (=दोनों का मिलकर) आनन्तर्य का आश्रयण करने पर विशेषण (=ह्रस्वत्व) के नाश से भी उस सन्निपात के नष्ट हो जाने से" [उक्त व्याख्यान चिन्त्य है]।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने सामगाय (=छन्दोगाय) के विषय में प्रस्तुत शङ्का का

१. एतेन छन्दोगायेत्यत्र सन्निपात-परिभाषया आतो लोपो न भविष्यति। अकारं ह्याश्रित्य 'य' शब्दः कृतो लोपस्यानिमित्तम्, दीर्घत्वं तु कष्टाय क्रमण इति निपातनाद् बध्नातीति निरस्तम्। सन्निपातपरिभाषां बाधित्वा सुपि चेति दीर्घे प्रवृत्ते तेनैव सन्निपातस्य विहतत्वेन सन्निपातपरिभाषया तत्र लोपवारणस्यासंभवात्। हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १३३-१३४; मुद्रित १६३।

२. यत्तु यादेशे अत्वं ह्रस्वत्वं चेत्युभयमाश्रितम्। तत्र ह्रस्वत्वांशे कष्टाय क्रमणे इति ज्ञापकेन सन्निपातपरिभाषा बाध्यते, अत्वांशे तु प्रवर्तते इति, तन्न। प्रत्येकमुभयानन्तर्यस्यानाश्रितत्वात् विशिष्टानन्तर्यस्यैकविशेषणनाशेऽपि नाशाच्च। हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १३४; मुद्रित १६३।

समाधान इस प्रकार किया है—"[1]जैसे **कष्टाय क्रमणे** (३।१।१४) सूत्र से सन्निपात-परिभाषा बाधी जाती है, उसी प्रकार **आतो धातोः** इसकी भी **सुपि च** से प्राप्त दीर्घ विषय में प्रवृत्ति नहीं होती। इस के भी **'कष्टाय क्रमणे'** से ही ज्ञापनीय होने से **आतो धातोः** की प्रवृत्ति नहीं होती। **आतो धातोः** सूत्र के स्थान में **आतोऽनापः** न्यासान्तर में **देवाय** में भी भसंज्ञक अङ्ग का आप्-भिन्न आकार होने से लोप प्राप्त होगा। उस की निवृत्ति भी इसी (=कष्टाय) ज्ञापक से करनी होगी। **आतोऽनापः** का खण्डन **आतः** योग-विभाग से किया है। इसी अंश से जैसे **क्त्वो ल्यप्** (७।१।३७) में क्त्वा के आकार का लोप होता है, उसी प्रकार **देवाय** के आकार का लोप भी प्राप्त होगा। प्रस्तुत योगविभाग से वार्तिकांश के ही संगृहीत होने से वार्तिक के विद्यमान होने पर जहां-जहां आकार का लोप होता है, वहां-वहां सर्वत्र **आतः** योग-विभाग से लोप के साधनीय होने से। अथवा **अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः** (=अङ्गकार्य हो जाने पर पुनः अङ्गकार्य की प्रवृत्ति नहीं होती) इस से दीर्घत्व करने के पश्चात् आकार-लोप नहीं होगा।"

[भाष्यम्] एकवर्णवच्च ॥८॥

'एकवर्णवच्च दीर्घो भवति' इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? वाचा तरतीति द्व्यज्लक्षणष्ठन्मा भूदिति। इह च वाचो निमित्तम्, 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' [५।१।३७] इत्यनुवर्तमाने 'गोद्व्यचः' [५।१।३८] इति द्व्यज्लक्षणो यन्मा भूदिति।

अत्रापि गोनौग्रहणं ज्ञापकम्—'दीर्घाद् द्व्यज्लक्षणो विधिर्न भवति' इति॥

व्याख्या—[और दीर्घ] एक वर्णवत् [होता है, ऐसा कहना चाहिये]।

'और एक वर्णवत् दीर्घ होता है,' ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? वाचा तरति में **द्व्यज्लक्षणवाला ठन्** (४।४।७) **न होवे। और यहां** वाचो निमित्तम् **में** तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ (५।१।३७) **सूत्र के अनुवर्तमान होने पर** गोद्व्यचः० (५।१।३८) **से द्व्यज्लक्षणवाला यत् न होवे।**

यहां पर भी [गोद्व्यचः० (५।१।३८) में] गो का ग्रहण, और [नौद्व्यचष्ठन् (४।४।७) में] नौ का ग्रहण ज्ञापक है कि—'दीर्घ से द्व्यज्लक्षण विधि नहीं होती है' [यदि दीर्घ में द्व्यज्लक्षण विधि होती, तो गो नौ ग्रहण व्यर्थ हो जाता]।

१.……कथं कित्वस्यानन्यार्थतेति चेत्, न कष्टाय क्रमणे इति निर्देशेन सन्निपात-परिभाषाया इव आतो धातोरित्यस्यापि सुपि चेति दीर्घविषये अप्रवृत्तेर्ज्ञापनीयत्वात्। आतो धातोरित्यत्र हि आतोऽनापं इति वाच्यमित्युक्तम्। तथा च 'देवाय' इत्यादावपि ज्ञापकबलेनैव आतो लोपो वारणीयः। ननु तत्र आतो धातोरिति योगविभागेन 'क्त्वः' इत्यादिप्रयोगं साधयित्वा आतोऽनाप इति वार्तिकं प्रत्याख्यातम् इति चेत् किं ततः, आत इत्यंशेनैव 'देवाय' इत्यादौ 'क्त्वः' इत्यादाविव लोपे प्राप्तेऽनेन ज्ञापकेनैव वारणीयत्वात्। योगविभागेन वार्तिकार्थस्यैव संगृहीतत्वेन वार्तिके विद्यमाने यत्र यत्र तेन लोपस्तत्र तत्र 'आतः' इत्यंशेन लोपस्य साधनीयत्वाच्च। हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १३२, १३३; मुद्रित पृष्ठ १६३।

विवरण—संख्या सर्वत्र निर्वर्तिका होती है, यह पहले सप्तदश सामिधेनी प्रकरण (पृष्ठ १०२) में कह चुके। तदनुसार 'वाच्' शब्द द्व्यच् कहा जा सकता है। इसलिये एकवर्णवत् अतिदेश का विधान किया। यदि कहो कि दीर्घ में सर्वत्र ही द्व्यच्त्व होने से **सावेकाचः** (६।१।१६२) सूत्र की प्रवृत्ति कहां होगी? तो इसका उत्तर है—**त्वचा त्वचा** जहां ह्रस्व वर्ण है, वहां अवकाश प्राप्त हो जायेगा। अतः गो नौ ग्रहण सामान्यरूप से सर्वविषयक कल्पित होता है, ऐसा भर्तृहरि ने कहा है। यहां यह विवेचनीय है कि **सावेकाचः०** (६।१।१६२) के विषय में भी **न गोश्वन्साववर्ण०** (६।१।१७६) में गो का प्रतिषेध करना इस बात का ज्ञापक हो जायेगा कि **वाचा वाचे** आदि में एकाच्लक्षण स्वर हो जाता है।

कैयट ने भर्तृहरि के **सर्वविषयं कल्पते** को यथावत् न समझकर लिखा है—"गो नौ ग्रहण सामान्यरूप से ज्ञापक है—'वर्णावयवाश्रयकार्य नहीं होने से'। इस से **अग्ने एहि** में **एङः पदान्तादति** (६।१।१०५) से 'एहि' के एकार के आदि भाग को अकार मानकर पूर्वरूप नहीं होता।" इसकी व्याख्या में नागेश ने लिखा है—'जहां वर्णों के अवयव भेद से प्रतीत नहीं होते, वहां वर्णाश्रय कार्य नहीं होता। जहां वर्णावयव भेद से प्रतीयमान होता है, वहां वर्णावयव आश्रित कार्य हो जाता है, जैसे **मातॄणाम्** में णकार।' वस्तुतः कैयट और नागेश का उक्त ज्ञापक से 'अभेद से प्रतीयमान वर्णावयवाश्रित कार्य के अभाव' का ज्ञापन चिन्त्य है, क्योंकि यह विषय अगले वार्तिक का है। गो नौ ग्रहण के ज्ञापक का ही इतना विस्तार करने पर अगले वार्तिक की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः गो नौ ग्रहण से इतना ज्ञापन करना युक्त है कि दीर्घ में द्व्यच्-लक्षण विधि नहीं होती, वह एकाच् ही माना जाता है। वस्तुतः **मातॄणाम्** में भी **ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्** वार्तिक से अथवा **क्षुभ्नादि गण** (८।४।३९) में तृप्नोति के ग्रहण के ज्ञापक से णत्व होता है, ऐसा जानना चाहिये।

[भाष्यम्] अयं तु सर्वेषामेव परिहारः—

नाव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु ॥९॥

नाऽव्यपवृक्तस्यावयवस्यावयवाश्रयो विधिर्भवति, 'यथा द्रव्येषु'। तद्यथा द्रव्येषु—'सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति' इति, न सप्तदशाऽरत्निमात्रं काष्ठमग्नावभ्याधीयते।

विषम उपन्यासः। प्रत्यृचं चैव हि तत्कर्म चोद्यते, असंभवश्चाऽग्नौ वेद्यां च। यथा तर्हि 'सप्तदश प्रादेशमात्रीराश्वत्थीः समिधोऽभ्यादधीत' इति, न सप्तदशप्रादेशमात्रं काष्ठमग्नावभ्याधीयते। अत्रापि प्रतिप्रणवं चैतत्कर्म चोद्यते, तुल्यश्चासंभवोऽग्नौ वेद्यां च ॥

व्याख्या—यह तो सभी [दोषों] का परिहार (=निवारण) है—

अव्यपवृक्त (=अपृथक्) के अवयव में अवयवाश्रित विधि नहीं होती, जैसे द्रव्यों में।

अव्यपवृक्त (=अपृथक्) के अवयव को अवयवाश्रित विधि नहीं होती है, जैसे द्रव्यों में। जैसे द्रव्यों में—'सत्रह सामिधेनी [=सहचरित समिधाएं] होती हैं,' वहां सप्तदश अरत्नि-परिमाणवाला काष्ठ अग्नि (=अग्निकुण्ड) में नहीं रखा जाता है। अर्थात् सत्रह अरत्नि लम्बे एक काष्ठ में अरत्नि-परिमाण के सत्रह अवयव मानकर व्यवहार नहीं होता।

यह दृष्टान्त विषम है। प्रतिऋचा वह कर्म (=अग्नि में अरत्नि-परिमाण समिधा का रखना) कहा है, अग्नि (=अग्निकुण्ड) में और वेदि में [सप्तदश अरत्नि-परिमाण के काष्ठ को रखना) असम्भव भी है। अच्छा तो जैसे—'सत्रह प्रादेश-परिमाणवाली अश्वत्थ (=पीपल) की समिधाओं को [अग्नि में] रखता है' इस विधि से सत्रह प्रादेश-परिमाण का काष्ठ अग्नि में नहीं रखा जाता है। यहां भी प्रति प्रणव (=ओम्) यह कर्म (=प्रादेशमात्री समिधा का अग्नि में रखना) कहा है, और [सत्रह प्रादेश-परिमाण के काष्ठ को] अग्नि वा वेदि में रखना पूर्व के समान ही असम्भव है।

विवरण—सामिधेनी अग्नि-समिन्धन के लिये प्रयुक्त ऋक्-मन्त्रों की संज्ञा है। यहां साहचर्य सम्बन्ध से सामिधेनी सहचरित समिधाएं सामिधेनी कही गई हैं। क्योंकि सामिधेनी के मन्त्रों का उच्चारण करते हुए प्रति मन्त्र उक्त समिधाओं को अग्नि में रखा जाता है। सामिधेनियों की सत्रह संख्या के विषय में पूर्व पृष्ठ १०२-१०३ पर कह चुके हैं। भाष्यकार प्रकृतियाग-गत उत्सर्ग पन्द्रह सामिधेनियों का निर्देश न करके वैश्य के लिये अथवा विकृति-याग में विहित सप्तदश सामिधेनियों का ही निर्देश क्यों करते हैं, यह विचारणीय है।

प्रकृत विषय को समझाने के लिये हम सामान्यरूप से स्वीकृत पन्द्रह सामिधेनी पक्ष के अनुसार प्रकृत विषय में लिखते हैं—

दर्शपौर्णमास में आवहनीय अग्नि के समिन्धन के लिये १५ सामिधेनीसंज्ञक मन्त्रों[१] का पाठ करते हुए एक-एक समिधा का प्रक्षेप करते हैं। प्रतिमन्त्र के अन्त में **प्रणवष्टेः** (८।२।८९) के नियम से टि भाग को प्लुत ओ३म् का आदेश होता है[२], और इनका पाठ **सन्तन्वन्निव**(शत० ११।२।६।३)=परस्पर मन्त्रों को संयुक्त-सा करते हुए किया जाता है। यथा—

भूर्भुवः स्वरोम्—प्रवोवाजाअभिद्यवोहविष्मन्तोघृताच्या। देवाञ्जिगातिसुम्नयो३म्, [३]प्रवोवाजाअभिद्यवोहविष्मन्तोघृताच्या। देवाञ्जिगातिसुम्नयो३म्,

१. मूलभूत ११ सामिधेनी मन्त्रों की प्रतीकों का निर्देश पूर्व पृष्ठ १०३ की टिप्पणी में देखें।

२. शास्त्रीय व्यवस्था को न जाननेवाले अनेक याज्ञिकंमन्य पारायणयज्ञों में प्रतिमन्त्र के अन्त में ओ३म् का निर्देश करके 'स्वाहा' बोलते हैं।

३. यहां **'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्'** (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०१) के नियम से 'प्रवोवाजा' मन्त्र का तीन बार पाठ किया है।

प्रवोवाजाअभिद्यवोहविष्मन्तोघृताच्या। देवाञ्जिगातिसुम्नयो३म्, अग्नआयाहिवीतयेगृणानोहव्यदातये। निहोतासत्सिबर्हिषो३म्……इत्यादि।

इध्म=समित्—दर्शपौर्णमास में सामान्यरूप से १८ इध्म होते हैं, और ३ परिधिसंज्ञक काष्ठ, दोनों मिलकर २१ होते हैं। कुछ आचार्य २१ इध्म और ३ परिधिसंज्ञक काष्ठ मिलाकर २४ मानते हैं। द्र०—कात्या० श्रौत १।३।१८-२०।

इध्म=समित् परिमाण—इध्म=समित् परिमाण के विषय में शाखाभेद से अन्तर है। कात्यायन श्रौत के टीकाकार विद्याधर शास्त्री ने का० श्रौत १।३।१८ के भाष्य में इध्म का **हस्त** (=२४ **अङ्गुल**) परिमाण लिखा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी यही मत है (द्र०—संस्कारविधि सामान्य प्रकरण)। माध्यन्दिन आह्निक सूत्रावलि (सं० ६, सन् १९२३) पृष्ठ ८३ में **अरत्नि**(=२२ **अङ्गुल**) परिमाण लिखा है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १। ६।१/की भाष्यवृत्ति में वैलिकि आचार्य के मत में **दो प्रादेश**(=प्रादेश=अङ्गुष्ठ और तर्जनी का फैलाव=११ अंगुल, २ प्रादेश=२२ **अङ्गुल**) प्रमाण लिखा है—**द्विः प्रादेश इध्म इति वैलिकेरिति**(द्र०—मैसूर सं० भाग १, पृष्ठ ५१, टि० संख्या ४ का पाठ; दर्शपौर्णमास प्रकाश आनन्दाश्रम, पृष्ठ १७३)। इसी व्याख्या में स्वमत में इध्म का परिमाण **प्रादेश** (=११ **अङ्गुल**) लिखा है।

सप्तदश सामिधेनी—भाष्योद्धृत पाठ के अनुसार सप्तदश सामिधेनी पक्ष में **सामिधेनी-विवृद्धौ काष्ठानि विवर्धन्ते** (आप० श्रौत० २।४।१२।६) वचन के अनुसार २ संख्या की वृद्धि होने से १८ के स्थान में २० इध्म होंगे।

प्रति ऋक् समिद् आधान—श्रौतसूत्रों में प्रतिप्रणव समिद् का आधान उपदिष्ट है। प्रणव का आदेश प्रत्येक ऋचा के टि भाग को होता है। अतः उसके निर्देश से उपदिष्ट इध्माधान प्रति ऋक् के ही अन्त में होता है। अगले सन्दर्भ में भाष्यकार ने 'प्रतिप्रणव' का निर्देश किया है।

१८ समित् पक्ष में १ इध्म अनुयाज के लिये, २ इध्म आघारानन्तर आहवनीय के दक्षिणोत्तर भाग में रोपने (=गाड़ने) के लिये हैं (द्र०—श्रौतपदार्थनिर्वचन पृष्ठ १३, विषयाङ्क ६२, तथा आप० श्रौत २।३।६।९-१०)। कात्यायन श्रौत २।८।२-३ के अनुसार २ इध्म अग्नि में आधान के लिये हैं। शेष १५ समित् सामिधेनी मन्त्रों के साथ अग्नि में छोड़ने के लिये हैं। सप्तदश सामिधेनी पक्ष में १७ सामिधेन्यर्थ, २ आघारार्थ, १ अनुयाजार्थ=२०।

१५ समिधाओं के छोड़ने के सम्बन्ध में श्रौतसूत्रों में कई मत हैं। एकमत के अनुसार १० सामिधेनीसंज्ञक मन्त्रों के साथ एक-एक करके १० समिधाएं देने के पश्चात् ग्यारहवें मन्त्र के अन्त में 'समिद्धः' इस १२वें मन्त्र से पूर्व ही अवशिष्ट ५ समिधाएं एक साथ अग्नि में छोड़ी जाती हैं (द्र०—का० श्रौत० ३।१।११; आप० श्रौ० २।४।१३।६)। दूसरे पक्ष के अनुसार

प्रतिसामिधेनी एक-एक समिधा का प्रक्षेप होता है—**प्रतिसामिधेनीं वा**[1] (द्र०—सत्याषाढ श्रौत २।१, पृष्ठ १८०) । यही पक्ष महाभाष्यकार को इष्ट है। तृतीय पक्ष भी सत्याषाढ श्रौत में (द्वितीय पक्ष के रूप में) लिखा है—११ मन्त्रों से ११ समिधाएं देकर उत्तमा=अन्तिम १५ वीं ऋचा में अवशिष्ट ४ समिधाएं छोड़ें (बीच के मन्त्रों का पाठमात्र करे)। सत्याषाढ श्रौत २।१, पृष्ठ १७६।

असम्भवश्चाग्नौ वेद्यां च—अग्नि शब्द से साहचर्य से आहवनीय अग्नि का कुण्ड लिया जाता है। श्रौत कर्म प्रायः उसी में होते हैं। दर्शपौर्णमासस्थ आहवनीय और वेदि का परिमाण इस प्रकार है—

आहवनीय कुण्ड एक अरत्नि (२२ अंगुल), और पक्षान्तर में एक हस्त (२४ अङ्गुल) परिमाण का चौकोर होता है।

वेदि का परिमाण आप० श्रौत २।१।१।११ में यजमानमात्र अर्थात् यजमान के हाथ से ३॥ साढ़े तीन हाथ अथवा अपरिमित अर्थात् पूर्व प्रमाण से अधिक कहा है। प्रत्येक श्रौतसूत्र में वेदि के परिमाण में थोड़ा बहुत भेद है। भर्तृहरि और कैयट ने वेदि का परिमाण अर्धचतुर्हस्त (=आधा चौथा हाथ है जिसमें) अर्थात् ३॥ हाथ ही लिखा है।

सप्तदश अरत्नि=१७×२२=३७४ अङ्गुल=१५ हाथ ४४ अंगुल का काष्ठ न तो १ अरत्नि वा १ हाथ के आहवनीय में रखा जा सकता है, और नाही ३॥ (साढ़े तीन) हाथ की वेदि में।

यतः समित् का अरत्नि-प्रमाण मानने पर सप्तदश अरत्नि परिमाण के काष्ठ का अग्नि और वेदि में रखना सम्भव नहीं, अतः दूसरा पक्ष प्रादेश (=११ अंगुल) परिमाणवाली समिधा का उपस्थित किया है। यह परिमाण पूर्व का आधा है। सप्तदश प्रादेश=१७×११=१८७ अङ्गुल=७ हाथ १६ अंगुल परिमाण के काष्ठ को भी पूर्ववत् अग्नि वा वेदि में रखना असम्भव है, और प्रतिप्रणव समिद् आधान कहा है, वह भी नहीं बनता। अतः यह दृष्टान्त दोनों पक्षों में विषम है।

पं० चारुदेव जी ने नवाह्निक के अनुवाद में **सप्तदश अरत्निमात्रं** का अर्थ 'सत्तरह हाथ लम्बा', और **सप्तदश प्रादेशमात्रम्** का अर्थ 'सत्तरह बालिश्त लम्बा' किया है (द्र०—पृष्ठ ८७), वह अशुद्ध है। हस्त और अरत्नि, तथा वितस्ति और प्रादेश की लम्बाई में भेद सभी कोशकारों ने माना है।

---

१. मुद्रितपाठ **प्रतिसामिधेनीर्वा** अशुद्ध है। हमारे द्वारा उद्धृत पाठ कई हस्तलेखों में मिलता है। देखो—पृष्ठ १८०, टि० १। लौकिक नियम के अनुसार **'प्रतिसामिधेनि वा'** पाठ होना चाहिये। सूत्र में ह्रस्वाभाव **'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति'** के नियम से जानना चाहिये।

[भाष्यम्] यथा तर्हि 'तैलं न विक्रेतव्यम्', 'मांसं न विक्रेतव्यम्' इति । व्यपवृक्तं च न विक्रीयते, अव्यपवृक्तं च गावः सर्षपाश्च विक्रीयन्ते । तथा 'लोमनखं स्पृष्ट्वा शौचं कर्तव्यम्' इति । व्यपवृक्तं स्पृष्ट्वा नियोगतः कर्तव्यम्, अव्यपवृक्ते कामचारः ॥

व्याख्या—अच्छा तो जैसे [धर्मशास्त्र का नियम है]—'तैल नहीं बेचना चाहिये', 'मांस नहीं बेचना चाहिये'। [इस नियम के अनुसार] पृथक् हुआ-हुआ [तैल और मांस] नहीं बेचा जाता है, अव्यपवृक्त (=जिस समुदाय में से तैल और मांस पृथक् नहीं हुआ है, वह) पदार्थ गौवें और सरसों बेची जाती हैं। तथा 'लोम और नख को छूकर शौच (=हस्त-प्रक्षालन) करना चाहिये'। [इस नियम के अनुसार शरीर से] पृथक् हुए [लोम-नख] को छूकर नियमतः [हस्तप्रक्षालन] करना चाहिये, अव्यपवृक्त में कामचार हैं [=चाहे हस्त-प्रक्षालन करो, या न करो] है।

विवरण—भर्तृहरिकृत भाष्य-दीपिका से ज्ञात होता है कि उसके काल में भाष्य में **'यथा तर्हि घृतं न विक्रेतव्यम्, तैलं न विक्रेतव्यम् इति'** पाठ था। **'मांसं न विक्रेतव्यम्'** पाठ नहीं था। भर्तृहरि-द्योतित भाष्यपाठ मानने पर भी **'अव्यपवृक्तं च गावः सर्षपाश्च विक्रीयन्ते'** पाठ में पहले **गावः**, और बाद में **'सर्षपाः'** पाठ उचित है। **'मांसं न विक्रेतव्यम्'** पाठ होने पर क्रमशः **'सर्षपा गावश्च विक्रीयन्ते'** पाठ होना चाहिये।

गौ में घृत की और सर्षप में तैल की सम्भावना होने पर भी अव्यपवृक्त होने से गौ और सर्षप का विक्रय होता है। यदि सम्भवमात्र से प्रतिषेध होवे, तो गोविक्रयी मांसविक्रयी हो जावे। भर्तृहरि ने इन उदाहरणों में दोष देते हुए लिखा है कि—"उक्त न्याय दूषित होता है—**'माषा न भोक्तव्याः'** कहने पर व्यामिश्रित भी नहीं खाये जाते, और **'सुरा न पेया'** कहने पर जलादि से व्यामिश्रित भी नहीं पी जाती है।" शिवरामेन्द्र सरस्वती ने भर्तृहरि-उक्त **माषा न भोक्तव्या—व्यामिश्रा अपि न भुज्यन्ते** का समाधान किया है—**'माषा न भोक्तव्या** निषेध माषविकार साधारण का होने से माष की दाल और बड़े आदि भी नहीं खाये जाते। परन्तु **सुरा न पेया व्यामिश्रिताऽपि न पीयते** का समाधान नहीं किया।' हमारे विचार में पूर्व दृष्टान्त में भर्तृहरि-निर्दशित दोष होने से भाष्यकार ने स्वयं असन्तुष्ट होकर लोम-नख-स्पर्श का नया दृष्टान्त दिया है।

अव्यपवृक्तम्—यहां **'सामान्ये नपुंसकम्'** नियम से नपुंसकलिङ्ग, और जाति में एकवचन है।

इस प्रकार जहां ए ओ में अ इ उ वर्ण अव्यपवृक्त (=अस्पष्टरूप से मिले हुए हैं, उन का समाधान करके ऐ औ में जहां अ इ उ वर्ण व्यपवृक्त=पृथक्-पृथक् सुनाई पड़ते हैं, उनके विषय में आगे कहते हैं।

[भाष्यम्] यत्र तर्हि व्यपवर्गोऽस्ति । क्व च व्यपवर्गोऽस्ति ? सन्ध्यक्षरेषु ।

सन्ध्यक्षरेषु विवृतत्वात् ॥१०॥

यदत्राऽवर्णं, विवृततरं तदन्यस्मादवर्णात् । ये अपीवर्णोवर्णे विवृततरे ते अन्याभ्यामिवर्णोवर्णाभ्याम् ॥

व्याख्या—**अच्छा तो जहां पृथक्ता है । कहां पृथक्ता है ? सन्ध्यक्षरों में ।**

सन्ध्यक्षरों में विवृत होने से [ग्रहण नहीं होगा] ।

जो यहां [सन्ध्यक्षरों=ऐ औ में] अवर्ण है, वह विवृततर है, अन्य अवर्ण से । और जो इवर्ण और उवर्ण हैं, वे भी विवृततर हैं अन्य इवर्ण और उवर्ण से ।

विवरण—वार्तिक में विवृत शब्द विवृततर के लिये प्रयुक्त हुआ है । इसलिये भाष्यकार ने व्याख्या में **विवृततरे** लिखा है । यह ऐ औ के अकार में विवृतत्व का प्रकर्ष अकार के विवृतत्व की अपेक्षा से है । अतः यहां तरप् प्रत्यय का प्रयोग किया है । शिक्षा के अनुसार ए ऐ विवृततम हैं ।

पाणिनीय शिक्षा में स्वरों के प्रयत्नबोधक सूत्र हैं— **विवृतकरणाः स्वराः, तेभ्य ए ओ विवृततरौ, ताभ्यामै औ, ताभ्यामाकारः** (६।८-११)। ये सूत्र न्यास और पदमञ्जरी में १।१।६ के व्याख्यान में उद्धृत हैं । **ताभ्यामै औ** का तात्पर्य है—ऐ औ का विवृततर से कुछ विशिष्ट विवृतत्व है । और उन से भी आकार अधिक विवृत है । दूसरे शब्दों में ऐ औ और आकार को विवृततम के समीप मान सकते हैं । अथवा ऐ औ को विवृततम माना जाये, तो आकार को उस से भी अधिक विवृततम मानना होगा । 'आपिशल-शिक्षा' के उपलब्ध पाठ में **'ताभ्यामाकारः'** सूत्र नहीं है । श्लोकात्मक 'पाणिनीय-शिक्षा' के अनुसार भी आकार के विशेष प्रयत्न का उल्लेख नहीं है । उस का पाठ इस प्रकार है—

स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्यो विवृततरावेङौ ताभ्यामैचौ तथा स्मृतौ ॥ इति ।

पाणिनीय सवर्ण संज्ञा के अनुसार **'ताभ्यामाकारः'** सूत्रोक्त आकार का प्रयत्नान्तर नहीं मानना चाहिये । अन्यथा संवृत के विवृतोपदेश होने पर भी अकार की आकार के साथ सवर्ण संज्ञा नहीं होगी । 'पाणिनीयशिक्षा' के लघुपाठ में **तेभ्य ए ओ विवृततरौ, ताभ्यामै औ, ताभ्यामाकारः** सूत्र नहीं है । द्र०—हमारे द्वारा सम्पादित **'शिक्षासूत्राणि'** पृष्ठ २१ ।

भाष्यकार ने **नाज्झलौ** (१।१।१०) सूत्र में स्वरों का विवृत प्रयत्न माना है । वहां विवृततर विवृततम भेद नहीं किये । इन सभी पक्षों में जो भेद है, उस का **'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति'** (ऋलृक् भाष्ये) नियम से समाधान करना चाहिये ।

नागेश ने **यथासंख्य** (१।४।१०) सूत्र में लिखा है—'अन्य व्याख्याता कहते हैं कि इस (=१।४।१० सूत्र में प्रस्तुत) भाष्य के प्रामाण्य से ए ओ इन के अकारांश में संवृतत्व ही है, इतरांश (=इ-उ) में ही विवृतत्व है । विवृतांश के उपराग से संवृतांश का लौकिक में स्पष्ट अवभास नहीं होता । ऐ औ इनके अकारांश में भी विवृतत्व ही है ।'

[भाष्यम्] अथवा पुनर्न गृह्यन्ते ।

अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेषु ऋकारग्रहणम् ॥११॥

अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेष्वृकारस्य ग्रहणं कर्तव्यम् । 'तस्मान्नुड् द्विहलः' [७।४।७१], 'ऋकारे च' इति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—आनृधतुः आनृधुरिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते, 'द्विहलः' इत्येव तस्य सिद्धम् । यस्यापि न गृह्यन्ते, तस्याप्येष न दोषः । द्विहल्ग्रहणं न करिष्यते । 'तस्मान्नुड्' भवतीत्येव । यदि न क्रियते, आटतुः आटुरित्यत्रापि प्राप्नोति । अश्नोतिग्रहणं नियमार्थं भविष्यति—'अश्नोतेरेवाऽवर्णोपधस्य नान्यस्याऽवर्णोपधस्य' इति ॥

व्याख्या—अथवा [वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] नहीं गृहीत होते ।

[वर्णैकदेशों का वर्ण-ग्रहण से] ग्रहण न होवे, तो नुड्विधि लादेश और विनाम (=णत्व विषय) में ऋकार का ग्रहण करना चाहिये ।

[वर्णैकदेशों का वर्णग्रहण से] ग्रहण न होवे, तो नुड्विधि लादेश और विनाम (=णत्व विषय) में ऋकार का ग्रहण करना चाहिये । तस्मान्नुड् द्विहलः (७।४।७१) (=दीर्घ हुए अभ्यास के अवर्ण से परे द्विहल् अङ्ग को नुट् का आगम हो जाता है), यहां 'ऋकार होने पर भी होता है', ऐसा कहना चाहिये । जिससे यहां भी हो जावे—आनृधतुः आनृधुः । जिसके [मत में वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] गृहीत होते हैं, उसके यहां 'द्विहलः' से ही सिद्ध है [='आ ऋध् अतुस्' इस अवस्था में दीर्घ हुए अभ्यास से परे 'ऋध्' में ऋ के अन्तर्गत रेफ और धकार दो हल् होने से नुट् स्वतः हो जायेगा] । जिसके मत में [वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] गृहीत नहीं होते, उस के मत में भी यह दोष नहीं है । द्विहल् का ग्रहण सूत्र में नहीं करेंगे । तस्मान्नुट् से ही [दीर्घ हुए अभ्यास के अवर्ण से परे अङ्ग को नुट्] हो जायेगा । यदि [द्विहल् ग्रहण] नहीं करते, तो आटतुः आटुः यहां भी [नुट्] प्राप्त होता है [क्योंकि यहां भी अभ्यास का आकार दीर्घ होता है] । [अश्नोतेश्च (७।४।७२) में] अश्नोति ग्रहण नियमार्थ हो जायेगा—'अवर्णोपध अङ्ग को नुट् होवे, तो अश्नोति (=अशूङ् व्याप्तौ) को ही होवे, अन्य अवर्णोपध को न होवे' ।

विवरण—वार्तिककार का विचार है कि दीर्घ तथा ए ऐ आदि में वर्णों का समुदाय नहीं है, जात्यन्तरयुक्त समुदायवत् प्रतिभासित वर्ण भिन्न स्वतन्त्र जात्यन्तररूप हैं । यथा जात्यन्तरयुक्त गो और गवय में भी किञ्चित् सादृश्य के कारण दूर से देखने पर गवय में गौ की अथवा गो में गवय की भ्रान्ति होती है, तद्वत् ही यहां वर्णसमुदाय की प्रतीति भ्रान्ति है । इस विचार से वार्तिक पढ़ा है—**नुड्विधिलादेश०** ।

विनाम—यह दन्त्य वर्ण स्थानीय मूर्धन्य वर्ण की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है । इस से षत्व णत्व दोनों गृहीत होते हैं । द्र०—**विनामे**(शु० य० प्राति० ४।१६३) सूत्र की उव्वट व्याख्या । अथर्व प्रातिशाख्य(३।४।२।७७c), पृष्ठ १६५ पर विनत शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

अश्नोतेरेव—यह नियम सामान्यापेक्ष नियम का ज्ञापक है। इस कारण अश्नोति के ग्रहण से अश्नाति (=अश भोजने, क्र्यादि) की निवृत्ति नहीं होती।

[भाष्यम्] लादेशे च ऋकारग्रहणं कर्तव्यम्। 'कृपो रो लः' [८।२।१८], 'ऋकारस्य च' इति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—क्लृप्तः क्लृप्तवानिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते, 'र' इत्येव तस्य सिद्धम्। यस्यापि न गृह्यन्ते, तस्याप्येष न दोषः। ऋकारोऽप्यत्र निर्दिश्यते। कथम्? अविभक्तिको निर्देशः—कृप उः रः लः="कृपो रो लः" इति। अथवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते—'रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति' इति॥

व्याख्या—लादेश में ऋकार का ग्रहण करना चाहिये। कृपो रो लः (८।२।१८), यहां 'ऋकार को भी [लकारादेश होता है' ऐसा] कहना चाहिये। जिससे यहां भी लकारादेश हो जावे—क्लृप्तः क्लृप्तवान्। जिसके मत में [वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] गृहीत होते हैं, उसके मत में 'रः' ग्रहण से ही सिद्ध है। जिस के भी मत में [वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] गृहीत नहीं होते, उस के मत में भी यह दोष नहीं है। यहां (=कृपो रो लः में) ऋकार भी निर्दिष्ट है। कैसे? अविभक्तिक निर्देश है—कृप उः रः लः=कृपो रो लः। अथवा दोनों (=र—ल) ओर से स्फोटमात्र निर्दिष्ट है—'र श्रुति को ल श्रुति होती है।'

विवरण—अविभक्तिक निर्देश—'कृप उः'; यहां कृप में अविभक्तिक निर्देश है। 'उः' ऋकार की षष्ठी का एकवचन है। ऋकार ग्रहण के अनवकाश होने से सामर्थ्य से अवयवरूप में श्रुत रेफ को लत्व हो जायेगा। **स्फोटमात्रम्**—भर्तृहरि ने इस की अनेकविध व्याख्या की है, उसे दीपिका ग्रन्थ में देखें। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"रत्व लत्व जाति के आश्रयण से तत्सदृश साधारण्य के द्वारा ध्वनिमात्र का निर्देश है। इस से 'र' यह श्रुति वा श्रवण जिसमें है वह र श्रुति—'र' और 'ऋ' दोनों को ल श्रुति='ल' और 'लृ' क्रमशः होते हैं, यह भाष्यकार का अभिप्राय है। इस से र ल जातिस्फोट विवक्षित है।"

[भाष्यम्] विनामे ऋकारग्रहणं कर्तव्यम्। 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' [८।४।१], 'ऋकाराच्च' इति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—मातृणां पितृणामिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते, 'रषाभ्याम्' इत्येव तस्य सिद्धम्। न सिध्यति। यत्तद् रेफात् परं भक्तेस्तेन व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति। मा भूदेवम्। 'अड्व्यवाय' इत्येव सिद्धम्। न सिध्यति। वर्णैकदेशाः के वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते, ये व्यपवृक्ता अपि वर्णा भवन्ति। यच्चापि रेफात् परं भक्तेः, न तत्क्वचिदपि व्यपवृक्तं दृश्यते॥

व्याख्या—विनाम में ऋकार का ग्रहण करना चाहिये। रषाभ्यां नो णः समान-पदे (८।४।१) में 'ऋकार से भी [न को ण होता है', ऐसा] कहना चाहिये। जिससे यहां भी हो जावे—मातृणाम्, पितृणाम्। जिसके [मत में वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] गृहीत होते हैं, उस के मत में रषाभ्याम् निर्देश से ही णत्व सिद्ध है। नहीं सिद्ध होता, रेफ भाग से परे जो

है उस के व्यवधान से [णत्व] प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार अर्थात् रषाभ्याम् से णत्व न होवे। अड्व्यवाये (द्र०—८।४।२) इस से सिद्ध हो जायेगा। नहीं सिद्ध होता। वर्णों के कौन से एकदेश वर्ण के ग्रहण से गृहीत होते हैं, जो व्यपवृक्त (=पृथक्=स्वतन्त्र) भी वर्ण होते हैं। यह जो भी [ऋकार में] रेफ भाग से परे है, वह कहीं भी व्यपवृक्त (=पृथक् वर्ण-रूप से) उपलब्ध नहीं होता।

विवरण—'रेफात्परं भक्तेः' यहां रेफाद् भक्तेः परं ऐसा सम्बन्ध जानना चाहिये। दोनों में समानाधिकरण पञ्चमी है। न सिद्ध्यति—ऋकार में रेफ भाग से परे जो अंश है, वह स्फुटरूप से प्रतिभासित ही नहीं होता। अतः उस में अत्वादि जाति की अभिव्यक्ति न होने से अकारादि के ग्रहण से गृहीत नहीं होता।

[भाष्यम्] एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते—'रषाभ्यां नो णः समानपदे'। ततः—'व्यवाये'—व्यवाये च रषाभ्यां नो णो भवतीति। ततः—'अट्कुप्वाङ्नुम्भिः' इति। इदमिदानीं किमर्थम्? नियमार्थम्—'एतैरेवाक्षरसमाम्नायिकैर्व्यवाये नान्यैः' इति। यस्यापि न गृह्यन्ते, तस्याप्येष न दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'भवत्यृकारान्नो णत्वम्' इति, यदयं क्षुभ्नादिषु (८।४।३८) नृनमनशब्दं पठति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। वृद्ध्यर्थमेतत्स्यात्—नार्नमनिः। यर्त्तहि तृप्नोतिशब्दं पठति। यच्चापि नृनमनशब्दं पठति। ननु चोक्तम्—'वृद्ध्यर्थमेतत्स्याद्' इति। बहिरङ्गा वृद्धिरन्तरङ्गं णत्वम्। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'। अथवा उपरिष्टाद् योगविभागः करिष्यते—'ऋतः' नो णो भवति। ततः—'छन्दस्यवग्रहात्', 'ऋतः' इत्येव॥

व्याख्या—अच्छा तो योगविभाग करेंगे—'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१)। इसके पश्चात्—'व्यवाये'=व्यवाय में भी र ष से परे न को ण होता है। इसके पश्चात्—'अट्कुप्वाङ्नुम्भिः' [=अट् कवर्ग पवर्ग आङ् और नुम् के व्यवधान होने पर भी न को ण हो जावे]। अब यह किस लिये है? नियम के लिये—'इन्हीं अक्षरसमाम्नायस्थ वर्णों के व्यवधान में [न को ण होवे,] अन्य के व्यवधान में न होवे।' जिस के मत में भी [वर्णैकदेश वर्ण-ग्रहण से] गृहीत नहीं होते, उसके मत में भी यह दोष नहीं है। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—'ऋकार से परे न को ण होता है', जो यह [आचार्य] क्षुभ्नादिगण [८।४।३८] में नृनमन शब्द को पढ़ता है।

यह ज्ञापक नहीं है। वृद्धि [जहां होती है, वहां] के लिये यह (='नृनमन' का पाठ) होगा—नार्नमनिः [=नृनमन का पुत्र—अत इञ् (४।१।९५) से इञ् प्रत्यय। यहां रषाभ्यां० (८।४।१) से णत्व की प्राप्ति होती है]। अच्छा तो जो [क्षुभ्नादिगण में] तृप्नोति शब्द का पाठ करते हैं [वह ज्ञापक होगा]। और भी जो नृनमन शब्द का पाठ करते हैं [वह भी ज्ञापक होगा]। अभी तो कहा है—'वृद्धि के लिये यह होगा' ['नार्नमनि' में णत्व न होवे]। [नृनमन में] वृद्धि बहिरङ्ग है [अपत्यार्थ में इञ् करने पर वृद्धि होती है, उसके पश्चात् णत्व की प्राप्ति होती है], णत्व अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग कार्य के प्रति बहिरङ्ग कार्य असिद्ध

होता है।' [अतः नृनमन का ग्रहण नार्नमनि में णत्व के निषेध के लिये नहीं होगा। इस प्रकार नृनमन शब्द का क्षुभ्नादिगण में पाठ ज्ञापनार्थ ही है]। अथवा आगे (=८।४।२५ में) योगविभाग करेंगे—'ऋतः' (=ऋकार से परे) न को ण होता है। उसके पीछे—'छन्दस्यवग्रहात्', यहां 'ऋतः' की अनुवृत्ति है [अर्थ होगा—छन्द में ऋकारान्त अवग्रह से परे न को ण होता है]। [यथा—नृऽमनाः—नृमणाः, पितृऽयानम्—पितृयाणम्।]

विवरण—**'एतैरेवाक्षरसमाम्नायिकैः'**—अक्षरसमाम्नाय में पठित अकारादि वर्णों के द्वारा जो अकारादि वर्ण गृहीत होते हैं, वे भी आक्षरसमाम्नायिक हैं। किन्तु ऋकारस्थ रेफ भाग से परे का अंश न किसी वर्ण से प्रत्याय्य है, और न वह अन्यों का प्रत्यायक। **'नृनमनशब्दं पठति'** यहां संज्ञारूप शब्द अभिप्रेत है, अत एव आगे **'तस्याऽपत्यम्'** (४।१।९२) अर्थ में **नार्नमनिः** शब्द का प्रयोग किया है। संज्ञारूप होने से नृनमन शब्द में अवग्रह भी नहीं होता। ऐसा नागेश ने प्राचीन व्याख्याताओं का मत उद्धृत किया है। हमें नृनमन शब्द उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिला। अवग्रह का सम्बन्ध संहिता के मन्त्रगत पदों के साथ होता है, अतः 'नृनमन में अवग्रह नहीं होता', यह कथन कहां तक सत्य है, यह हम नहीं जानते।

'बहिरङ्गा वृद्धिः'—'त्रिपादी में भी बहिरङ्ग परिभाषा प्रवृत्त होती है', यह वार्तिककार का मत है। इस मत के अनुसार 'नृनमन' शब्द ज्ञापकार्थ होता है। भाष्यकार के मत में तो **'तृप्नोति'** शब्द ही ज्ञापक है।

ऋतः—छन्दस्यृदवग्रहात् (८।४।२५) सूत्र में 'ऋत्' अविभक्त्यन्त पद है। उसका योगविभाग करके पञ्चमी विभक्ति से योग करके 'ऋतः' ऐसा पढ़ा है। **ऋतः—नो णो भवति।** यहां तपर करने से ह्रस्व ऋकार से परे ही न को ण होगा। **मातॄणाम्** यहां दीर्घ प्राप्त नहीं होगा। इसका समाधान यह है कि **मातॄणाम्** में जो दीर्घत्व **नामि**(६।४।३) से होता है, वह नाम् की अपेक्षा रखने से बहिरङ्ग है, वह णत्व करने में असिद्ध होगा, अतः ह्रस्व ऋकार मानकर णत्व हो जायेगा। अथवा **प्रशास्तॄणाम्** (द्र०—सूत्र ६।४।११) के ज्ञापन से 'मातॄणाम्' में दीर्घ हो जायेगा। अथवा **'ऋतः'** में तकार को मुख-सुखार्थ मानना चाहिये।

[भाष्यम्] प्लुतावैच इदुतौ ॥१२॥

एतच्च वक्तव्यम्। यस्य पुनर्गृह्यन्ते, 'गुरोष्टेः' इत्येव प्लुतया तस्य सिद्धम्। यस्यापि न गृह्यन्ते, तस्याप्येष न दोषः। क्रियत एतन्न्यास एव॥

व्याख्या—'ऐच् के इकार उकार प्लुत होते हैं', यह कहना चाहिये।

जिसके मत में [वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] गृहीत होते हैं, उसके मत में 'गुरु की टि' [को प्लुत होता है,] इसी प्लुतकरण से उसका [इकार उकार का प्लुतत्व] सिद्ध है। जिस के मत में भी [वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] गृहीत नहीं होते, उसके मत में भी यह दोष नहीं है। यह (=प्लुतावैच इदुतौ) न्यास (=पाठ) में किया ही है।

विवरण—**प्लुतावैच इदुतौ**—का अर्थ है—ऐच् को प्लुत की प्राप्ति होने पर उसके अवयवभूत इकार उकार को प्लुत प्राप्त होता है। यथा—**ऐ३तिकायनः, औ३पगवः।** यहां ऐच् का श्रूयमाण उत्तरभाग इ उ है, उसको प्लुत होता है।

'गुरोष्टेः'—**गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्**(८।२।८६) से दूर से आह्वान आदि अर्थ में अनन्त्य गुरु को और टि को एक-एक करके प्लुत होता है। यहां पर सूत्रगत गुरु पद को टि के साथ सम्बद्ध करने पर—गुरु की टिभाग को गुरु होगा। उस अवस्था में वर्णैकदेश वर्णग्रहण से गृहीत होते हैं। इस मत में **ऐतिकायनः औपगवः** में गुरु जो ऐ औ इनकी टि भाग=अन्त्य अच् इ उ को स्वतः ही प्लुत हो जायेगा। **प्लुतावैच इदुतौ** कहने की आवश्यकता नहीं। परन्तु टि को गुरु के साथ जोड़ने पर स्वयं गुरु को प्लुत नहीं होगा। जैसे—**यज्ञद३त्त, य३ज्ञदत्त।** यहां **संयोगे गुरु** (१।४।११) से ह्रस्व अकार भी गुरुसंज्ञक है। इसका समाधान कैयट ने किया है कि तन्त्रावृत्ति न्याय से गुरु के स्थान पर भी प्लुत हो जायेगा।

क्रियते न्यास एव—सभी व्याख्याकारों ने एवकरण का प्रयोजन दिया है कि यदि वर्णैकदेश वर्णग्रहण से गृहीत होते हैं, यह पक्ष मान भी लें, तब भी इस वचन के विना कार्य नहीं चलेगा। क्योंकि **ऐ औ** में अ इ उ का सम भाग मानें, तो इकार उकार के विवृततर वा विवृततम होने से प्रयत्नभेद से इकार उकार के ग्रहण से एच्स्थ इ उ का ग्रहण नहीं होने से अच् संज्ञा नहीं होगी। **ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्** के नियम से इ उ की सार्ध मात्रा मानें, तब भी डेढ़ मात्रा की अच् संज्ञा नहीं होगी। अतः इस पक्ष में भी **प्लुतावैच इदुतौ** अवश्य कहना पड़ेगा। अतः एवकार से अवश्यकर्तव्यता बोधित होती है। हमारे विचार में यह व्याख्या भाष्यकार के अभिप्राय के अनुकूल नहीं है। भाष्यकार सर्वत्र पक्षान्तर में जहां-जहां यथास्थित पाठ के विषय में 'करना चाहिये' ऐसा दोष दिया जाता है, वहां सर्वत्र **क्रियते न्यास एव** ऐसी ही शब्दानुपूर्वी पढ़ते हैं। इसका अभिप्राय होता है—यहां अविहित का विधान नहीं करना पड़ता। यह वचन तो सूत्रकार ने यथास्थित पाठ में इसी प्रकार पढ़ा है। यदि सूत्रपाठ में अपठित अंश कहना पड़े, तो वह दोषावह होता है। अब यदि यह कहा जाये कि जब 'गृह्यन्ते' पक्ष में भी प्रयत्नभेद से अथवा उत्तरभूयस्त्व से एच् अन्तर्गत इ उ की अच् संज्ञा ही नहीं, तब पूर्वपक्षी के यहां भी यह दोष होगा ही। इसका समाधान यह है कि वर्णैकदेश वर्णग्रहण से गृहीत होते हैं, इस पक्ष को माननेवाला न ऐच्स्थ इ उ को विवृततर मानता है, और न उन में उत्तरभूयस्त्व=डेढ़ मात्रा मानता है। ये दोनों पक्ष तो सिद्धान्ती के हैं। यथास्थित पक्ष को ध्यान में रखकर ही ग्रन्थ की व्याख्या होनी चाहिये। अवश्यकर्तव्यता-बोधक एवकार को मानने पर बहुत्र **क्रियते न्यास एव** में एवकार असमर्थित ही रह जायेगा।

[भाष्यम्] तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनविधिः ॥१३॥

तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनाश्रयो विधिर्न सिध्यति—कुक्कुटः, पिप्पली, पित्तमिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते, तस्य द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ। यस्यापि न गृह्यन्ते, तस्यापि द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ। कथम्? मात्राकालोऽत्र गम्यते।

न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति। अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम्, असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम्? ॥३-४॥

व्याख्या—तुल्य रूपवाले संयोग में दो व्यञ्जनों के आश्रयवाली विधि [सिद्ध नहीं होती]।

[वर्णैकदेश वर्णग्रहण से गृहीत नहीं होते पक्ष में] तुल्यरूपवाले संयोग में दो व्यञ्जनों के आश्रयवाली विधि सिद्ध नहीं होती—कुक्कुटः, पिप्पली, पित्तम् [तुल्यरूप अवयव होने से संयोग=संयोगार्ह में एकवर्णत्व होने से हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७) से संयोग संज्ञा नहीं होगी, और उसके अभाव में संयोगे गुरु (१।४।११) से संयोग से पूर्व की गुरु संज्ञा नहीं होगी]। जिसके मत में [वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] गृहीत होते हैं, उसके मत में दो ककार, दो पकार और दो तकार हैं। [अतः द्विव्यञ्जनाश्रय विधि से संयोग संज्ञा हो जायेगी, और तदाश्रयपूर्व की गुरु संज्ञा भी हो जायेगी।] जिसके मत में [वर्णैकदेश वर्णग्रहण से] गृहीत नहीं होते, उसके मत में भी दो ककार, दो पकार और दो तकार हैं। कैसे? [प्रथम और द्वितीय अचों के मध्य] मात्राकाल जाना जाता है (=गृहीत होता है[1])। मात्राकालवाला कोई व्यञ्जन नहीं है। [मात्राकालवाला व्यञ्जन] अनुपदिष्ट होते हुए कैसे जाना जा सकता है? और असत् होते हुए उसकी प्रतिपत्ति कैसे कराई जा सकती है, अर्थात् असत् का उपदेश कैसे किया जा सकता है?

विवरण—'तुल्यरूपे' पद 'संयोगे' का विशेषण है। अतः संयोग के तुल्यरूप अवयव होने से संयोग को तुल्यरूप कहा है। 'वर्णैकदेश वर्णग्रहण से गृहीत होते हैं' इस पक्ष को माननेवाला दूसरे पक्ष में जहां संयोग संज्ञा मानी जाती है, वहां तुल्यरूप अवयव में वर्णैकत्व मान कर आक्षेप करता है, अतः यहां अर्थ होगा तुल्यरूप अवयवत्वेन मिले हुए प्रतीयमान वर्ण में हमारे मतानुसार होनेवाली दो हलाश्रित विधि प्राप्त नहीं होती, एक वर्ण होने से। अथवा इस प्रकार भी व्याख्यान किया जा सकता है। आक्षेप्ता कहता है—हमारे मतानुसार जहां तुल्यरूप वर्णों का संयोग है, वहां तुम्हारे मत में वर्ण का एकत्व होने से द्विव्यञ्जनाश्रय विधि नहीं होगी।

आक्षेप्ता यह समझता है कि जैसे वर्णसमाम्नाय में एकमात्रिक अकार इकार के उपदिष्ट होने पर सवर्णग्राहक शास्त्र से द्विमात्रिक त्रिमात्रिक अकार की भी सत्ता मानी जाती है, इसी प्रकार अक्षरसमाम्नाय में अर्धमात्रिक व्यञ्जनों के उपदेश होने पर भी जहां दो अचों के मध्य व्यञ्जन में मात्राकाल गृहीत होता है, वहां मात्राकालिक व्यञ्जन की सत्ता माननी चाहिये। और जैसे दीर्घरूप आकार ईकार में **दण्ड अग्रम्=दण्डाग्रम्** के समान दो-दो एकमात्रिक इकार उकार माने जा सकते हैं, उसी प्रकार **कुक्कुटः पिप्पली पित्तम्** आदि में मात्राकालिक ककार पकार तकार में दो-दो अर्धमात्रिक ककार पकार तकार माने जा सकते हैं।

अनुपदिष्टं सत्—अनुपदेश से यहां अक्षरसमाम्नाय में पाठ न होना, तथा सवर्ण ग्राहक शास्त्र आदि गृहीत न होना दोनों अभिप्रेत हैं। **असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम्**—यहां अन्तर्भावित

१. द्र०—उत्तरवाक्य—अत्रापि मात्राकालो गृह्यते।

ण्यर्थ मानने से अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट हो जाता है, और पूर्ववाक्य से एकवाक्यता भी हो जाती है—'जो वस्तु है ही नहीं, उसका प्रतिपादन=उपदेश कैसे हो सकता है ? अतः तात्पर्य है—यतः लोक और वेद में मात्रिक व्यञ्जन नहीं है। अतः आचार्य ने उनका उपदेश नहीं किया, और उपदेश न होने से उन की शास्त्र से प्रतीति भी नहीं होती। एकमात्रिक अकारादि के समान स्थान-प्रयत्नवाले द्विमात्रिक त्रिमात्रिक वर्ण लोक-वेद में देखे जाते हैं। अतः उनकी समानवर्णता के आधार पर सवर्ण संज्ञा कही है, और सवर्णग्राहकशास्त्र से उनका ग्रहण होता है।

[भाष्यम्] यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुं, यत्रैतन्नास्ति—'अण्सवर्णान् गृह्णाति' इति। इह तु कथम्—सय्ँयन्ता, सव्ँवत्सरः, यल्ँलोकम्, तल्ँलोकमिति, यत्रैतदस्त्यण्सवर्णान् गृह्णातीति ? अत्रापि मात्राकालो गृह्यते। न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति। अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम्, असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम् ? ॥३-४॥

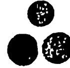
व्याख्या—यद्यपि यहां पर (=कुक्कुटः, पिप्पली, पित्तम् में) यह कहा जा सकता है, जहां यह [नियम प्राप्त] नहीं है—'अण् सवर्णों को ग्रहण करते हैं'। यहां कैसे कहोगे—सय्ँयन्ता, सव्ँवत्सरः, यल्ँलोकम्, तल्ँलोकम्, जहां यह [नियम प्राप्त] है—'अण् सवर्णों को प्राप्त करते हैं' ? यहां भी [एक] मात्राकाल गृहीत होता है। और कोई मात्राकालवाला व्यञ्जन नहीं है। उपदेश न होने से कैसे जाना जा सकता है, और असत् होता हुआ कैसे बताया जा सकता है ?

विवरण—पूर्वपक्षी ने सिद्धान्ती के मात्राकालिक व्यञ्जनों के अभाव में जो हेतु दिया था, उसे यथावत् न समझकर इतना अभिप्राय ही समझा है कि द्विमात्रिक अकार आदि तो इस लिये माने जाते हैं कि उनका ग्रहण करानेवाला **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६८) शास्त्र है। ककारादि वर्ण अण् में उपदिष्ट नहीं हैं, अतः **अणुदित्०** सूत्र की प्रवृत्ति न होने से एकमात्राकालवाले ककारादि की प्रतीति नहीं होगी। इसीलिये कहता है—**यत्रैतन्नास्ति—अण् सवर्णान् गृह्णाति। सय्ँयन्ता** आदि में श्रूयमाण य व ल वर्ण अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत हैं, अतः यहां **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** सूत्र की प्रवृत्ति होने से द्विमात्रिक अकार इकार आदि के समान सय्ँयन्ता आदि मात्रिक य व ल का ग्रहण होगा। तब **वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते** पक्ष में एक य व ल के होने से संयोग संज्ञा नहीं होगी। इस आक्षेप का भी पूर्व समाधान किया है। और उससे द्योतित किया है कि दीर्घ प्लुत अवर्ण इवर्ण की प्रतीति सवर्णग्राहक शास्त्र से नहीं होती, अपितु वर्णों की सत्ता में लोक और वेद प्रमाण हैं। लोक और वेद में य व ल एकमात्रिक नहीं हैं, अतः एकमात्रिक य व ल की सत्ता ही नहीं है। अतएव इन का उपदेश भी शास्त्रकार ने नहीं किया। इसी को शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस रूप में कहा है—"**अत्रापि**—'अणुदित् सवर्णस्य' शास्त्र 'विद्यमान सवर्ण=समान वर्ण का अण् से ग्रहण होता है' इतना ही बोधन कराता है। अप्रसिद्ध सवर्ण की कल्पना नहीं करता[1]।"

१. अत्रापीति—अणुदित् सवर्णस्येति शास्त्रं सतः सवर्णस्याणा ग्रहणं भवतीत्येतावन्मात्रं बोधयति, न तु अप्रसिद्धं सवर्णं कल्पयतीति। हमारा हस्तलेख पृष्ठ १४१; मुद्रित पृ० १७०।

पूर्व उदाहरणों से सय्ँयन्ता आदि में यह विषमता है कि क प ल वर्ण लोक में एकविध ही हैं। य व ल लोक में सानुनासिक और निरनुनासिक दोनों होते हैं। अतः इसकी परस्पर सवर्ण संज्ञा होने से, तथा अण् में पाठ करने से सानुनासिक य व ल का भी ग्रहण होता है।

दीपिका—वस्तुतः अकार इकारादि के द्विमात्रिक त्रिमात्रिक भेद मानने, और व्यञ्जनों के एकमात्रिक भेद न मानने में बीज यह है कि अकारादि के द्विमात्रिक त्रिमात्रिक का उच्चारण एकप्रयत्नप्रेरित करणध्वनि ध्वन्यन्तर को आरम्भ करने से पूर्व अनुपरत होते हुए कालभेद को प्राप्त होती है, और व्यञ्जनों में समान वर्णसंयोग में भी एकप्रयत्नप्रेरित करणध्वनि व्यञ्जन को उच्चारण करके उपरत हो जाती है, और दूसरा वर्ण पुनः प्रयत्नान्तर से उच्चरित होता है। अर्थात् द्विमात्रिक त्रिमात्रिक में उच्चारण-प्रयत्न एक ही होता है, काल के भेद से ध्वनिभेद होता है, और दो समान व्यञ्जनों के संयोग में दो पृथक्-पृथक् प्रयत्न करने होते हैं। प्रयत्न का भेद होने से संहितया उच्चार्यमाण वर्णों में अति सूक्ष्म कालव्यवधान भी मानना होता है, अन्यथा प्रयत्नभेद उपपन्न ही नहीं होगा। इस अन्यथासिद्ध कालभेद की विवक्षा न करके अवग्रह (अप्स्वित्यप्ऽसु) में अर्धमात्रा काल व्यवधान माना जाता है। द्र०—कैयट **'हलोऽनन्तराः'** (१।१।७) सूत्र के आरम्भ में। अवश्यंभावी काल की विवक्षा करके कई आचार्य अवग्रह में मात्राकाल मानते हैं—**अवग्रहो ह्रस्वसमकालः** (कात्या० प्राति० ५।१)॥



[भाष्यम्] हयवरट् ॥५॥

सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टाः। अयं हकारो द्विरुपदिश्यते—पूर्वश्चैव परश्च। यदि पुनः पूर्व एवोपदिश्येत, पर एव वा, कश्चात्र विशेषः?॥

व्याख्या—सब वर्णों का [वर्णसमाम्नाय में] एक बार उपदेश किया है। इस हकार का दो बार उपदेश किया जाता है—पूर्व (='हयवरट्' सूत्र में) भी और पर (='हल्' सूत्र में) भी। यदि पूर्व ही उपदेश किया जाये, अथवा पर ही, **यहां क्या विशेष(=भेद)** होगा?

विवरण— पूर्व पर उच्चारण क्रियाभेद से एक ही हकार का पूर्व पर व्यपदेश किया है। **'अयं'** और 'द्विरुपदिश्यते' पदों से स्पष्ट है कि यहां एक 'ह' व्यक्ति ही अभिप्रेत है। **यदि पुनः पूर्व एवोपदिश्येत**—प्रश्नकर्ता के मतानुसार हकार के उपदेश के अभाव में इत् संज्ञक 'ल्' का भी ग्रहण नहीं होगा। इस पक्ष में जहां-जहां सूत्रों में 'हल्' प्रत्याहार का ग्रहण है, वहां-वहां 'हर्' का ग्रहण करना होगा। नागेश ने लिखा है—"अन्यों का कहना है कि पर हकार के अभाव में भी 'ल्' इतना सूत्र करना चाहिये, जिससे प्रातिशाख्यादि-प्रसिद्ध हलादि प्रत्याहार सिद्ध हो सकें।" यह चिन्त्य है। प्रातिशाख्यों में 'हल्' प्रत्याहार तो क्या, किसी भी प्रत्याहार का प्रयोग नहीं किया गया है।

[भाष्यम्] हकारस्य परोपदेशेऽड्ग्रहणेषु हग्रहणम् ॥१॥

हकारस्य परोपदेशेऽड्ग्रहणेषु हग्रहणं कर्तव्यम् । 'आतोऽटि नित्यम्' [८।३।३] 'शश्छोऽटि' [८।४।६२], 'दीर्घादटि समानपादे' [८।३।९] 'हकारे च' इति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—महाँ हि सः ॥

व्याख्या—हकार के पर-उपदेश में अट् के ग्रहणों में हकार का ग्रहण करना चाहिये ।

हकार के पर-उपदेश में अट् के ग्रहणों में (=जहां-जहां अट् प्रत्याहार का ग्रहण किया है, वहां सर्वत्र) हकार का ग्रहण करना चाहिये । आतोऽटि नित्यम् (८।३।३) [=अट् परे रहने पर 'रु' के पूर्व वर्तमान आकार के स्थान में नित्य अनुनासिक होता है], शश्छोऽटि (८।४।६२) [=झय् से उत्तर शकार को अट् परे रहने पर छकारादेश होता है], दीर्घादटि समानपादे (८।३।९) [=दीर्घवर्ण से उत्तर पदान्त नकार को रु होता है, अट् परे रहने पर] । यहां 'हकार परे' ऐसा कहना चाहिये । जिससे यहां भी ['अट् परे' कहे कार्य हकार परे भी] हो जावें—महाँ हि सः [यहां हकार के परे महान् के नकार को रु और उससे पूर्व आकार को अनुनासिक हो जावे] ।

विवरण—अड्ग्रहणेषु—अट् का ग्रहण किया है जिन सूत्रों में उन में । भाष्य में 'शश्छोऽटि' सूत्र अट् प्रत्याहार के प्रसङ्ग से पढ़ा गया है । हकार परे है जिस शकार के ऐसा शकार अप्रयुक्त है । यह भी सम्भव है, पहले कदाचित् भाष्य में शश्छोऽटि सूत्र न रहा हो । इस का उपोद्बलक प्रमाण है, एक उदाहरण में लगनेवाले तृतीय पाद के दो सूत्रों के मध्य अप्रासङ्गिक निर्देश । अट्कुप्वाङ्नुम्० (८।४।२) सूत्र में भी अर्हेण में णत्व करने के लिये हकार ग्रहण करना पड़ेगा । अतः सूत्रनिर्देश उदाहरणमात्र हैं । भर्तृहरि ने लिखा है—वार्तिक में अट् ग्रहण 'अश्' का उपलक्षक भी है । अतः भो हसति आदि में रु को 'य्' आदेश करने के लिये हकार का ग्रहण करना पड़ेगा ।' वस्तुतः अट् ग्रहण 'इण्' का भी उपलक्षक मानना चाहिये । इण् ग्रहण में भी हकार का ग्रहण करना चाहिये । जिससे लिलिहिढ्वे-लिलिहिध्वे यहां विभाषेटः (८।३।७९) से मूर्धन्य=ढत्व विकल्प से हो जावे ।

[भाष्यम्] उत्त्वे च ॥२॥

उत्त्वे च हकारग्रहणं कर्तव्यम् । 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' [६।१।१०९] 'हशि च' [६।१।११०], 'हकारे च' इति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—पुरुषो हसति, ब्राह्मणो हसतीति ॥

व्याख्या—उत्त्व में भी [हकार का ग्रहण करना चाहिये] ।

उत्त्व में भी हकार का ग्रहण करना चाहिये । 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' 'हशि च' (६।१।१०९, ११०) [=एकमात्रिक अकार से परे 'रु' को उकारादेश होता है, हश् परे

रहने पर]; यहां भी 'हकार के परे भी [उकार होता है]' ऐसा कहना चाहिये। जिससे यहां भी हो जावे—पुरुषो हसति, ब्राह्मणो हसति।

विवरण—यहां **'अतो रोरप्लुतादप्लुते'** सूत्र का निर्देश अनुवृत्ति-निदर्शनार्थ है। **'हशि च'** सूत्र में हश् ग्रहण वस्तुस्थिति के अनुसार है। **'हयवरट्'** सूत्र में हकार का ग्रहण न करने पर 'हश्' प्रत्याहार भी नहीं बनेगा। अतः उसके अभाव में 'यश्' प्रत्याहार बनाकर **'यशि च'** सूत्र पढ़ना होगा, और **यशि च** पाठ में हकार का ग्रहण करना होगा।

[भाष्यम्] अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः

पूर्वोपदेशे कित्त्वक्सेड्विधयो झल्ग्रहणानि च ॥३॥

यदि पूर्वोपदेशः कित्त्वं विधेयम्—स्निहित्वा, स्नेहित्वा; सिस्निहिषति, सिस्नेहिषति। 'रलोऽव्युपधाद्धलादेः' [१।२।२६] इति कित्त्वं न प्राप्नोति। क्सविधिः—क्सश्च विधेयः—अधुक्षत्, अलिक्षत्। 'शल इगुपधादनिटः क्सः' [३।१।४५] इति क्सो न प्राप्नोति। इड्विधिः—इट् च विधेयः—रुदिहि, स्वपिहि। वलादिलक्षण इण्न प्राप्नोति।

झल्ग्रहणानि च। किम्? अहकाराणि स्युः। तत्र को दोषः? 'झलो झलि' [८।२।२६]। इतीह न स्यात्—अदाग्धाम्, अदाग्धम्।

तस्मात्पूर्वश्चैवोपदेष्टव्यः परश्च। यदि च किञ्चिदन्यत्राप्युदेशे प्रयोजनमस्ति, तत्राप्युदेशः कर्तव्यः॥

व्याख्या—अच्छा तो पूर्वोपदेश होवे।

पूर्व उददेश में कित्त्व-क्स-इट्विधि [कहनी होगी,] और झल्ग्रहण भी [हकाररहित होंगे]।

यदि पूर्व में (=इस सूत्र में) उपदेश होवे, तो कित्त्व का विधान करना होगा—स्निहित्वा, स्नेहित्वा; सिस्निहिषति, सिस्नेहिषति। रलोऽव्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) से [सूत्रगत 'रल्' प्रत्याहार में हकार का अन्तर्भाव न होने से] कित्त्व प्राप्त नहीं होता। क्सविधि—'क्स' का विधान करना होग—अधुक्षत्, अलिक्षत्। शल इगुपधाद् अनिटः क्सः (३।१।४५) से [शल् में हकार का निर्देश न होने से] क्स प्रत्यय प्राप्त नहीं होता। इड्विधिः—इट् का भी विधान करना होगा—रुदिहि, स्वपिहि। [वल् में हकार का निर्देश न होने से] वलादिलक्षण इट् प्राप्त नहीं होता।

और झल् ग्रहण भी। क्या? हकाररहित होंगे। [अर्थात् झल् में हकार का निवेश न होने से जिन-जिन सूत्रों में झल् ग्रहण किये हैं, वे सब हकार से रहित होंगे]। वहां क्या दोष होगा? झलो झलि (८।२।२६) [से विहित सकार-लोप] यहां नहीं होगा—अदाग्धाम्, अदाग्धम्।

इसलिये पूर्व (='हयवरट्' सूत्र में) भी उपदेश करना चाहिये, और परे (='हल्' सूत्र में) भी। और यदि कहीं अन्यत्र भी उपदेश में प्रयोजन है, तो वहां भी उपदेश करना चाहिये। [अर्थात् अक्षरसमाम्नाय में वर्णों का उपदेश प्रयोजन-विशेष के लिये किया है, वर्णों के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये नहीं किया। वर्णों का परिज्ञान तो लोक से सिद्ध है[1]।]

विवरण—पूर्व ही हकारोपदेश मानने पर (='हल्' सूत्रस्थ) हकार नहीं है, तो उसके साथ पठित 'ल्' अनुबन्ध भी नहीं रहेगा। अतः रल् शल् वल् झल् प्रत्याहार भी नहीं बनेंगे। इन्हें शषसर् के रेफ् से रर् शर् वर् झर् बनाना होगा। इस अवस्था में भाष्य में रल् शल् वल् झल् का निर्देश यथास्थित पाठ के अनुसार 'ल्' से निष्पन्न जानना चाहिये।

[भाष्यम्] इदं विचार्यते—अयं रेफो यकारवकाराभ्यां पूर्व एवोपदिश्येत—'हरयवट्' इति, पर एव वा यथान्यासमिति। कश्चात्र विशेषः?

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेधः ॥४॥

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनुनासिकस्य—स्वर्नयति, प्रातर्नयतीति, 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' [८।४।४४] इत्यनुनासिकः प्राप्नोति। द्विर्वचनस्य—मद्रह्लदः, भद्रह्लद इति, 'यरः' इति द्विर्वचनं प्राप्नोति। परसवर्णस्य—कुण्डं रथेन, वनं रथेन, 'अनुस्वारस्य ययि' [८।४।५७] इति परसवर्णः प्राप्नोति॥

व्याख्या—यह विचार किया जाता है कि—इस रेफ का यकार वकार से पूर्व ही उपदेश करें—'हरयवट्'। अथवा परे ही, जैसा का न्यास (=पाठ) है। इसमें क्या भेद है?

रेफ के पर-उपदेश में अनुनासिक-द्विर्वचन-परसवर्ण का प्रतिषेध कहना चाहिये।

रेफ के पर-उपदेश में अनुनासिक-द्विर्वचन-परसवर्ण का प्रतिषेध कहना चाहिये। अनुनासिक का—स्वर्नयति, प्रातर्नयति, यहां 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (८।४।४४) [=**अनुनासिक परे रहने पर यर् को अनुनासिक होता है।**] **इससे रेफ को अनुनासिक प्राप्त होता है।** द्विर्वचन का—मद्रह्लदः, भद्रह्लदः, यहां ['अचो रहाभ्यां द्वे' (८।४।४५)=**अच् से परे जो रेफ और हकार उससे परे यरों को द्विर्वचन होता है, नियम से रेफ के] यर् होने से द्विर्वचन प्राप्त होता है।** परसवर्ण का—कुण्ड रथेन, वनं रथेन, यहां 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (८।४।५७) [=**यय् परे रहने पर अनुस्वार को परसवर्ण होता है] इससे ['रेफ' परे रहने पर अनुस्वार को] परसवर्ण प्राप्त होता है।**

विवरण—'इदं विचार्यते' रेफ के यकार वकार से पूर्व तथा पर दोनों स्थानों में उपदेश करने पर दोष प्राप्त होने से विचार किया है। हमारा विचार है कि पाणिनि से पूर्व आपिशलादि किसी आचार्य के व्याकरण में **'ह र व य ट्'** ऐसा सूत्र रहा होगा। उसी को दृष्टि में रखकर वार्तिककार ने यह विचार प्रस्तुत किया है। **स्वर्नयति, प्रातर्नयति**—यहां रेफ को अनु-

१. द्र०—सिद्धो वर्णसमाम्नायः। कातन्त्र १।१।१॥

नासिक **स्थानेन्तरतमः** (१।१।४९) के नियम से णकार प्राप्त होता है। यहां सवर्णग्रहण नहीं है, अतः रेफ को समानस्थानी अनुनासिक णकार पाता है। **मद्र्ह्रदः, भद्र्ह्रदः**—में रेफ को द्विर्वचन हो जाने पर **रो रि** (८।३।१४) से रेफ का लोप प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि **रो रि** सूत्र की दृष्टि में द्विर्वचन असिद्ध हो जाता है। **हलो यमां यमि लोपः** (८।४।६३) से प्राप्त लोप पाक्षिक है। अतः पक्ष में दो रेफों का श्रवण प्राप्त होगा। **कुण्ड रथेन, वनं रथेन**—यहां **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (८।४।५७) से परसवर्णत्व की प्राप्ति में अनुनासिक ही परसवर्ण होवे, ऐसा नियम न होने से रेफ का सवर्णी रेफ हो जायेगा। **रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति** (पाणिनीय शिक्षा ६।१२) से रेफ के अन्य वर्णों के साथ सावर्ण्य का प्रतिषेध किया है। रेफ का रेफ के साथ तो सावर्ण्य है ही। परसवर्ण के असिद्ध होने से **रो रि** (८।३।१४) से एक रेफ का लोप नहीं होगा।

[भाष्यम्] अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः।

पूर्वोपदेशे कित्त्वप्रतिषेधो व्यलोपवचनं च ॥५॥

यदि पूर्वोपदेशः, कित्त्वं प्रतिषेध्यम्—देवित्वा, दिदेविषति, 'रलोऽव्युपधात्' [१।२।२६] इति कित्त्वं प्राप्नोति। नैष दोषः। नैवं विज्ञायते—'रलः व्युपधाद्' इति। किं तर्हि? 'रलः अव्व्युपधाद्' इति। किमिदम्—'अव्व्युपधाद्' इति? अवकारान्ताद् व्युपधादव्व्युपधादिति।

'व्यलोपवचनं च'। व्योश्च लोपो वक्तव्यः। गौधेरः, पचेरन्, यजेरन्, 'जीवे रदानुक्' जीरदानुः। वलीति लोपो न प्राप्नोति। नैष दोषः। रेफोऽप्यत्र निर्दिश्यते—'लोपो व्यो वलि' इति। रेफे च वलि चेति ॥

व्याख्या—अच्छा तो पूर्व (='ह र य व ट्' ऐसा) उपदेश होवे।

[य व से] पूर्व [रेफ का] उपदेश करने पर कित्त्व का प्रतिषेध और वकार यकार लोप कहना चाहिये।

यदि [य व से] पूर्व [रेफ का] उपदेश किया जाता है, तो कित्त्व का प्रतिषेध करना चाहिये। देवित्वा, दिदेविषति, यहां रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) से कित्त्व प्राप्त होता है। यह दोष नहीं है। [सूत्र का पदविभाग] इस प्रकार नहीं जाना जाता—रलः व्युपधात्। तो कैसे? रलः अव्व्युपधात्। यह क्या है—अव्व्युपधात्? अवकारान्त और उकार इकार जिसकी उपधा में है उससे।

'व्यलोपवचन भी'—वकार यकार का लोप भी कहना चाहिये। गौधेरः, पचेरन्, यजेरन्, 'जीव से रदानुक्'=जीरदानु। यहां वल् परे कहा गया लोप प्राप्त नहीं होता। यह दोष नहीं है। रेफ का भी यहां निर्देश किया है—लोपो व्यो वलि। रेफ परे और वल् परे [वकार यकार का लोप होता है]। [इस प्रकार रेफ के पूर्व पाठ में जो दोष प्राप्त होते थे, उन का समाधान भाष्यकार ने कर दिया है।]

विवरण—**'कित्त्वं प्रतिषेध्यम्'**—यकार से पूर्व रेफ का 'ह र य व ट्' के रूप में उपदेश करने पर रल् प्रत्याहार में वकार का भी ग्रहण हो जाने से **देवित्वा-दिदेविषति** यहां **रलो व्युपधात्०** (१।२।२६) सूत्र से विकल्प से कित्त्व प्राप्त होता है। **रलः अव्व्युपधात्**—सूत्रपाठ का प्रवचन शास्त्रकार ने संहितारूप में किया है। अतः **'रलोव्युपधात्'** का विच्छेद **रलः अव्व्युपधात्** रूप से हो सकता है। **'अव'** यह लुप्तपञ्चम्यन्त शब्द है। संहितापाठ में एक वकार का लोप **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६४) से हो जाता है।

गौधेरः में **'गोधाया ढ्रक्** (४।१।१२९) से ढ्रक् प्रत्यय होता है। गोधा ढ्रक्=गौधा एय्र=गौध् एय्र=गौध् एर=गौधेरः। पचेरन्—पच् शप् सीयुट् झ=पच् अ सीय् रन्=पच् अ ईय् रन्=पच् अ ई रन्=पचेरन्। इसी प्रकार—यजेरन्। रेफ का पूर्व उपदेश करने पर उक्त उदाहरणों में रेफ से पूर्व जो 'य्' है, उसका लोप प्राप्त नहीं होता। जीव् रदानुक्=जीव् रदानु=जीरदानु। यहां भी रेफ से पूर्व व् है, उसका लोप प्राप्त नहीं होता।

जीवे रदानुक् यह दशपादी उणादिपाठ (१।६३) का सूत्र है। यहां संहितापाठ **'जीवेरदानुक्'** में 'जीवेः रदानुक्' तथा 'जीवेः अदानुक्' दोनों प्रकार का पदविच्छेद हो सकता है। 'रदानुक्' प्रत्यय मानने पर **जीरदानु** शब्द निष्पन्न होगा। और 'अदानुक्' प्रत्यय मानने पर **जीवदानु** शब्द उपपन्न होगा। तैत्तिरीय सं० १।१।९; मैत्रायणी सं० १।१।१०; काठक सं० १।९ में **'जीरदानुम्'** पाठ मिलता है। इसी का पाठान्तर शुक्लयजुर्वेद १।२८ में **जीवदानुम्** है। ऊपर जैसे **जीवेरदानुक्** (द० उ० १।६३) सूत्र के दो प्रकार के पद-विच्छेद के द्वारा जीर-दानु और जीवदानु शब्दों का साधुत्व दर्शाया है, उस प्रकार इनके एक पद होने से पदकारों द्वारा निर्दिष्ट **जीरऽदानुम्, जीवऽदानुम्** ऐसा अवग्रह प्राप्त नहीं होता। इसका समाधान तो भाष्यकार के शब्दों में **'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्, यथालक्षणं पदं कर्तव्यम्**(महा० ३।१।१०९)। अर्थात् व्याकरणशास्त्र को पदकारों का अनुसरण नहीं करना चाहिये। पदकारों को व्याकरणशास्त्र का अनुसरण करना चाहिये। इसलिये यथाशास्त्र पद-विभाग करना चाहिये। भाष्यकार ने १।१।४ के भाष्य में **नैतज्जीवे रूपम्, रक्येतज्ज्यः सम्प्र-सारणं भवति** लिखकर 'जीर+दानु' को समस्तपद भी माना है। अतः उभयथा व्याख्यान युक्त जानना चाहिये। विशेष द्रष्टव्य हमारे द्वारा सम्पादित दशपादी उणादिवृत्ति १।६३ की टिप्पणी। तथा गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु विरचित यजुर्वेदभाष्यविवरण १।२८ में **'जीवदानुम्'** पद की व्याकरण-प्रक्रिया (पृष्ठ १२८, द्वि०सं०)। **लोपो व्यो र्वलि** में 'व्योर्' पद के रेफ का **रो रि** (८।३।१४) से लोप हो जाता है।

[भाष्यम्] अथवा पुनरस्तु परोपदेशः। ननु चोक्तम्—"रेफस्य परोपदेशेऽनु-नासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेधः" इति। अनुनासिकपरसवर्णयोस्तावत् प्रतिषेधो न वक्तव्यः—'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' [द्र०—पाणिनीयशिक्षा ६।१२]। द्विर्वचने-ऽपि—नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विर्वचनस्य। किं तर्हि ? निमित्तमिमौ रहौ द्विर्वचनस्य। तद्यथा—'ब्राह्मणा भोज्यन्तां माठरकौण्डिन्यौ परिवेविषाताम्' इति। नेदानीं तौ भुञ्जाते॥

व्याख्या—अथवा [रेफ का यकार वकार से] परे ही उपदेश होवे। अभी तो कहा

है—'रेफ के पर-उपदेश में अनुनासिक द्विर्वचन और परसवर्ण विधि का प्रतिषेध कहना चाहिये।' अनुनासिक और परसवर्ण का तो प्रतिषेध नहीं कहना चाहिये—'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' (पा० शिक्षा ६।१२)। अर्थात् रेफ और ऊष्म वर्णों के सवर्ण नहीं हैं। [रेफ का सानुनासिक सवर्णी न होने से स्वर्नयति और कुण्ड रथेन में क्रमशः अनुनासिक और परसवर्ण की प्राप्ति नहीं होगी।]. द्विर्वचन (=मद्रह्लदः, भद्रह्लदः) में भी—ये (='रहाभ्याम्' से निर्दिष्ट) रेफ और हकार द्विर्वचन के कार्यी नहीं हैं (=इनको द्विर्वचन कार्य नहीं होना है)। तो क्या हैं ? ये रेफ हकार द्विर्वचन के निमित्त हैं। [यद्यपि कार्यीरूप से निर्दिष्ट यर् में रेफ भी सम्मिलित है, तथापि र ह को द्विर्वचन का निमित्त कह देने से रेफ का कार्यित्व नष्ट हो जाता है।] जैसे—'ब्राह्मणों को भोजन कराओ, माठर और कौण्डिन्य परोसें। [यद्यपि माठर और कौण्डिन्य के ब्राह्मण होने से भोजन-क्रिया प्राप्त होती है, तथापि उनका परोसने में निर्देश कर देने से] वे इस समय (=ब्राह्मणों के भोजन करते हुए) स्वयं नहीं खाते।

विवरण—'स्वर् नयति'—स्थानेऽन्तरमे (द्र०—भाष्य १।१।४६) पाठ में आदेश की अपेक्षा से जो स्थान और प्रयत्न से अन्तरतम स्थानी होगा (यथा **चित् मयम्=चिन्मयम्**) वहां आदेश होगा। इस पक्ष में अनुनासिक ङकारादि आदेशों का स्थान प्रयत्न से अन्तरम स्थानी रेफ नहीं है, क्योंकि रेफ का अनुनासिक रूप नहीं है। अतः भाष्यकारोक्त **'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति'** इस वचन से साक्षात् दोष की निवृत्ति नहीं होती है। **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४६) सूत्र के सप्तम्यन्त पाठ (=**स्थानेऽन्तरतमे**) का सहारा लेना पड़ता है। **पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति** (ऋलृक् भाष्य) वचनानुसार प्रकृत दोष का समाधान सप्तम्यन्त पाठ से ही होता है। **स्थानेऽन्तरतमः** प्रथमान्तपाठ में अन्तरतमता आदेश की दृष्टि से गृहीत होती है। अतः रेफ का स्थान से अनुनासिकों में णकार अन्तरतम मिल जाता है। काशिकाकार ने **'स्थानेऽन्तरतमः'** प्रथमान्त पाठ में आकृतिपक्ष मानकर इस प्रकार समाधान किया है—'आकृति पदार्थ में समुदाय में लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति एक बार होती है। इस मत में **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (८।४।४४) की प्रवृत्ति जहां स्वस्थान और गुण से अन्तरतमता होती है, जैसे गकारादि के ङकारादि, वहां हो जाती है। जहां केवल स्थान से अथवा केवल गुण से, अथवा जो स्थान वा गुण किसी से भी अन्तरतम नहीं हैं, वे सब निर्वतित हो जाते हैं। इसलिये स्थानमात्र से रेफ का अन्तरतम णकार नहीं होता।

कुण्डं रथेन—में अनुस्वार को पर रेफ का सवर्ण इसलिये नहीं होता कि रेफ का सानुनासिक सवर्ण रूप नहीं है। काशिकाकार ने यहां भी पूर्ववत् **सकृल्लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते** न्याय का आश्रय लेकर अनुस्वार के जो अन्तरतम परसवर्ण वह होता है। रेफ का कोई अनुस्वार का अन्तरतम नहीं है, अतः सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

मद्रह्लदः—'नेमौ रहौ कार्यिणौ' का अभिप्राय है कि जैसे हकार सदा द्विर्वचन का निमित्त ही होता है, कार्यी नहीं होता, तद्वत् रेफ भी निमित्त ही है, कार्यी नहीं है। यहां पर यह कहा जा सकता है कि हकार कार्यी 'यर्' के अन्तर्गत नहीं आता, अतः उसको द्विर्वचन की प्राप्ति नहीं होती, वह केवल निमित्त ही होता है। परन्तु रेफ द्विर्वचन का निमित्त भी है, और 'यर्' के अन्तर्गत होने से निमित्तान्तर को मानकर कार्यी भी हो सकता है। अतः लौकिक

दृष्टान्त दिया है—**ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्** आदि। शब्दार्थ-सम्बन्धज्ञान में जैसे लोक-व्यवहार प्रमाण होता है, वैसे ही कार्यीरूप सामान्य विधि और निमित्तरूप विशेष विधि में बाध्य-बाधकभाव भी लोक-व्यवहार से गम्य है। अतः उक्त लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किया है। **अचो रहाभ्यां द्वे** (८।४।४५) में रेफ हकार का निमित्तभाव प्रत्यक्ष है, और रेफ का कार्यित्व यर् के अन्तर्गत पाठ से अनुमेय है। अतः **प्रत्यक्षमनुमानाद् बलीयः** न्याय से रेफ का निमित्तभाव ही माना जायेगा, कार्यीभाव बाधित होगा। इसी नियम से **इको यणचि** (६।१।७४) में अच् निमित्त है। इक् अच् के अन्तर्गत होने से इक् को यणादि कार्य नहीं होना चाहिये। यह दोष नहीं है। यहां स्थिति पूर्व से विपरीत है। '**इको यणचि**' में 'इक्' कार्यीरूप से साक्षात् निर्दिष्ट है। अच् के अन्तर्गत होने से इकों का निमित्तभाव अनुमेय है। यदि यह कहा जाये कि एक को ही जहां निमित्तत्व और कार्यित्व हो, वहीं 'ब्राह्मणभोजन' न्याय प्रवृत्त होता है। अतः **दध्युदकम्** में कार्यी इक् निमित्तभूत अच् से भिन्न है। अतः यणादेश हो जायेगा। तब इसी प्रकार **मद्ह्रदः** में भी निमित्तत्व हकार कौर कार्यी रेफ भिन्न-भिन्न हैं, अतः द्विर्वचन होना चाहिये। भर्तृहरि ने यहां आकृतिपक्ष में **सकृल्लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते** का आश्रय लेकर दोष का परिहार किया है। सकृत् प्रवृत्ति में तो हकार और रेफ दोनों निमित्त ही होते हैं। कैयट ने **तस्मादित्युत्तरस्य** (१।१।६६) आदि के ज्ञापन से समाधान किया है।

परिवेविषाताम्—यहां भर्तृहरि का पाठ **परिवेविष्टाम्** है।

[भाष्यम्] इदं विचार्यते—इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते, श्रूयन्ते च। तेषां कार्यार्थ उपदेशः कर्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः? विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमाः। कथं पुनरयोगवाहाः? यदयुक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते। क्व पुनरेषामुपदेशः कर्तव्यः?॥

व्याख्या—यह विचार किया जाता है कि—ये अयोगवाह [अक्षरसमाम्नाय में] कहीं उपदिष्ट नहीं हैं, [किन्तु प्रयोगशास्त्र तथा लोक-वेद में] सुने जाते हैं। उनका कार्य के लिये उपदेश करना चाहिये। वे अयोगवाह कौन से हैं? विसर्जनीय जिह्वामूलीय उपध्मानीय अनुस्वार नासिक्य और यम। ये अयोगवाह कैसे हैं (=क्यों कहाते हैं)? जो ये अयुक्त हुए (=शास्त्र से सम्पर्क न रखते हुए) [शास्त्रीय कार्य का] वहन करते हैं (=कार्य को प्राप्त होते हैं) और [अक्षरसमाम्नाय में] उपदिष्ट न होते हुए भी सुने जाते हैं। कहां इनका उपदेश करना चाहिये?

विवरण—उक्त अयोगवाहों में: विसर्जनीय, ᳵजिह्वामूलीय, ᳵउपध्मानीय, और ं अनुस्वार का स्वरूप स्पष्ट है, और सर्वत्र समानरूप से निर्दिष्ट है। परन्तु नासिक्य और यम के स्वरूप में मतभेद है। ऋक्तन्त्र (१।२-३) में अनुस्वार के दो भेद कहे हैं—

'अथानुस्वारौ। अं आं इत्यनुस्वारौ। ह्रस्वाद्दीर्घो दीर्घाद्ध्रस्वः।'

अनुस्वार के ह्रस्व और दीर्घ दो भेद हैं। ह्रस्व से परे दीर्घ होता है, और दीर्घ से परे ह्रस्व। याज्ञवल्क्य-शिक्षा (श्लोक ६३) में कहा है—

ह्रस्वादग्रे भवेद् दीर्घो दीर्घादग्रे भवेल्लघुः ।
संयोगे च परे ह्रस्वः सिꣳह्यासि निदर्शनम् ॥ इति ।

यही निर्देश याज्ञवल्क्य-शिक्षा में श्लोक १३८-१४२ तक विस्तार से किया है।

माध्यन्दिन शुक्ल यजुः के पाठ में भी अनुस्वार के ये दोनों भेद हैं, और उनकी व्यवस्था भी यही है। माध्यन्दिन पाठ में दोनों प्रकार के अनुस्वारों के लिये दो प्रकार के संकेत हैं। पर प्रायिक संकेत हैं—ह्रस्व का ꣳ, और दीर्घ का ꣴ। इनका उच्चारण माध्यन्दिनी वेदपाठी प्रायः **'ग्वम्'** ध्वनि के रूप में करते हैं, जो कि अशुद्ध है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में इनका अनुस्वार[1] और रङ्ग[2] के नाम से निर्देश मिलता है। यथा—**अङ्गुष्ठाङ्कुञ्चनं लघ्वनुस्वारे त्वपाꣳ रसम् । दीर्घे रङ्गे च तर्जन्याः प्रसारः परिकीर्तितः** (या० शि० ६२)। सामवेद के कुछ संस्करणों में अनुस्वार के लिये ꣳ का चिह्न मिलता है। पर ह्रस्व दीर्घ की व्यवस्था और चिह्न-भेद उपलब्ध नहीं होता। ऋक्तन्त्र सामवेदीय है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वकाल में माध्यन्दिन पाठ के समान साम के पाठ में भी अनुस्वार के दोनों भेद व्यवस्थित रूप से प्रयुक्त होते थे। और चिह्न भी दो पृथक्-पृथक् थे, जो उत्तरकाल में नष्ट हो गये[3]। ꣳ ꣴ का पाठ अनुस्वार के रूप में ही होना चाहिये, यह इससे स्पष्ट है (विशेष देखें—हमारा सम्पादित माध्यन्दिन पदपाठ, परिशिष्ट ३, पृष्ठ ६३८-६४०)।

नासिक्य का स्वरूप वाजसनेय प्रातिशाख्य में **हुँ इति नासिक्यः** (८।२३) लिखा है। ऋक्तन्त्र में इसे **हुँ [4]इत्यनुनासिकः**(१।२) कहा है। यदि यह नासिक अथवा अनुनासिक लोक में ँ चिह्न से बोधित स्वरों के अनुनासिकत्व का बोधक हो, तो सानुनासिक स्वरों के वर्णान्तर न होने से चिन्त्य होगा। उव्वट ने **हुँ इति नासिक्यः** (वा० प्रा० ८।२३) की व्याख्या में इतना ही लिखा है कि 'यह ऋग्वेद में प्रसिद्ध है।' इतने से उसका तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। ऋक्प्रातिशाख्य के आदि में विष्णुमित्र-व्याख्यात दो वर्गों में वर्णोपदेश के प्रकरण में **अः ꣵ क ꣶ प** अं सूत्र द्वारा अनुस्वार का उपदेश तो मिलता है, पर नासिक्य नाम से अभिप्रेत किसी वर्ण का उल्लेख नहीं है। परन्तु ऋक्प्रातिशाख्य (१।४८) के **नासिक्ययमानुस्वारान्** सूत्र में **नासिक्य** का निर्देश है। उव्वट की व्याख्या के कई पाठान्तर हैं—ꣴ **इति नासिक्यः, हुँ इति नासिक्यः, ऊँ इति नासिक्यः** (डा० मंगलदेव शास्त्री संस्क०, पृष्ठ ४१)। इस चिन्तन से हम **नासिक्य के** किसी निश्चित स्वरूप पर नहीं पहुंच सके।

---

१. याज्ञवल्क्य-शिक्षा १३८-१४२ तक भी ꣳ ꣴ के लिये अनुस्वार का प्रयोग मिलता है।

२. रङ्ग के उच्चारण का विशेष प्रकार पाणिनीय-शिक्षा के श्लोक २६ में दर्शाया है—यथा—'सौराष्ट्रिका नारी तक्राँ इत्यभिभाषते। एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः खे अराँ इव खेदया' ॥

३. अभी-अभी ज्ञात हुआ कि कतिपय सामवेदी ꣳ ꣴ दोनों का अनुस्वाररूप में ही उच्चारण करते हैं।

४. मुद्रित ऋक्तन्त्र में **'हुमित्यनुनासिकः'** पाठ है। यही दोष ऋग्वेद के कई हस्तलेखों वा मुद्रित संस्करणों में **'ऊँ इति'** के स्थान पर **'ऊम् इति'** के रूप में मिलता है।

नासिक्य पर विशेष विचार—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में **हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्** (२१।१४)सूत्र से हकार से न ण म परे होने पर नासिक्य आगम किन्हीं आचार्यों के मत में होता है। सोमार्य ने इसी सूत्र के त्रिरत्नभाष्य में स्पष्ट लिखा है—**सानुनासिक्यो हकारः स्यादित्यर्थः** अर्थात् **मह्ना गृह्णातु ब्रह्म** शब्दों में, जैसे पलिक्क्नी आदि में सानुनासिक ककार होता है, वैसे ही सानुनासिक हकार का आगम होता है। हकार का नासिक्य आगम अन्य शिक्षाकार नहीं मानते। गार्ग्य गोपाल ने वैदिकाभरण टीका में स्पष्ट लिखा है—**शिक्षाकारास्त्वेतं नासिक्यं नेच्छन्ति।**

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के इस सूत्र से इस बात की सम्भावना होती है कि जैसे **कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः** (वा० प्रा० ८।२४) सूत्र से पलिक्क्नी आदि में यमसंज्ञक सानुनासिक ककार आदि माने जाते हैं, ऐसे ही **हुँ इति नासिक्यः** (वा० प्र० ८।२३) में **मह्ह्ना** आदि में तैत्तिरीय वचन प्रातिपादित नासिक्य हकार का निर्देश होता हो। इस व्याख्यानुसार भाष्यकारोक्त नासिक्य शब्द की व्याख्या भी **सानुनासिक हकारागम** हो सकती है।

महाभाष्य, वाजसनेय प्रातिशाख्य और ऋक्तन्त्र में 'नासिक्य' का अयोगवाहों में परिगणन किया है। कौशिकी शिक्षा के अनुसार अयोगवाह आठ हैं।[1] कौशिकी शिक्षा का एतद्-विषयक जो पाठ उद्धृत मिलता है, तदनुसार उसमें अयोगवाहों की आठ संख्या लिखकर भी विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, और ४ यमों (=७ अयोगवाहों) का ही निर्देश है।[2] वहां अनुस्वार का पाठ कैसे रह गया, यह विचारणीय है।

कौशिकी-शिक्षा में यम के विषय में स्पष्ट कहा है—पलिक्क्नी आदि में नासिक्यरूप से उच्चरित नकारादि पञ्चम वर्ण से अव्यवहित पूर्व प्रयुक्त ककारादि यम हैं।[3] यमों से पूर्व के क ख आदि शुद्ध वर्ण हैं। कौशिकी-शिक्षा के अनुसार अयोगवाहों की आठ ही संख्या मानें, तो महाभाष्य में नासिक्य पद यम का विशेषण हो सकता है। 'यम' जोड़े का वाचक है, पलिक्क्नी आदि उदाहरणों के दो क, दो ख, दो ग, दो घ श्रुत हैं। इनमें नासिक्य यम= द्विरुक्त वर्ण का अयोगवाहों में पाठ जानना चाहिये। यह भाष्यकार का तात्पर्य वर्णित किया

१. द्रष्टव्य अगली टिप्पणी में उद्धृत कौशिकी-शिक्षा का वचन।

२. सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते॥
≍क ≍पयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः।
पलिक्क्नी चख्ख्नतुर्जग्गिमर्जघ्घ्नुरित्यत्र यद् वपुः॥
नासिक्येनोक्त कादीनां त इमे यमाः। तेषामुकारः सस्थानवर्गीयलक्षकः॥
पाणिनीय शिक्षा (वर्णोच्चारण-शिक्षा) प्रकरण ७॥

कौशिकी-शिक्षा के ये श्लोक स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा उपलब्ध और हिन्दी व्याख्या सहित **'वर्णोच्चारण-शिक्षा'** के नाम से प्रकाशित पाणिनीय-शिक्षा (सूत्रात्मिका), के ७वें प्रकरण में मिलते हैं। सूत्रात्मिका पाणिनीय-शिक्षा के वृद्ध पाठ में ये वचन उपलब्ध नहीं होते। द्र०—हमारे द्वारा प्रकाशित **'शिक्षासूत्राणि-संग्रह'** पृष्ठ १५ और ३३।

जा सकता है। कौशिकी-शिक्षा में भी पलिक्क्नी आदि उदाहरणों का निर्देश करके **नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमे यमाः**[1] के द्वारा इसी तत्त्व का संकेत मिलता है।

यद्यपि **कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः** (द्र०—वाज० प्राति० ८।२४, ऋक्तन्त्र १।२ आदि) के अनुसार चार यम माने जाते हैं। परन्तु यम के लक्षणों के अनुसार वर्ग के पञ्चम अनुनासिक वर्ण के परे पूर्व के किसी भी वर्ग के प्रथम चार अक्षर अनुनासिक धर्म से उपरञ्जित होने के कारण वर्णान्तरभाव को प्राप्त होकर यमसंज्ञक होते हैं। यथा—

अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः। ऋक्तन्त्र १।२॥

स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपराद् आनुपूर्व्यान्नासिक्याः। तै० प्राति० २१।१२॥

स्पर्शा यमान् अननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु। ऋक्प्राति० ६।२६॥

इन सब का भाव यही है कि स्पर्श वर्गों के प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ वर्ण से परे पञ्चम अनुनासिक वर्ण होवे, तो मध्य में पूर्वसदृश अनुनासिक वर्ण का आगम होता है।

इस प्रकार पांच वर्गों में चार-चार यम होकर २० यम होते हैं। उव्वट वाज० प्राति० ८।२४ के तथा ऋक्प्राति० ६।३३ के भाष्य में स्पष्ट रूप से २० यम स्वीकार करता है। यथा **यस्माद् यमा नासिकास्थानाश्चत्वारः**[2] **सन्तो विंशतिस्थानिनां स्वरूपा लक्ष्यन्ते।** इस प्रकार यमों की २० संख्या होने पर भी अक्षरसमाम्नाय में यम **कुँ खुँ गुँ घुँ** ये चार ही गिने जाते हैं। इस का स्पष्टीकरण कौशिकी-शिक्षा के पूर्व प्रस्तुत पाठ के **तेषामुकारः सस्थानवर्गीयलक्षकः** कुँ खुँ गुँ घुँ में जो उकार है, वह तत्तद् वर्ग के समानस्थानवाले वर्ण का लक्षक है।

यमों के विषय में विशेष विचार—स्वामी दयानन्द सरस्वती की मूल सूत्रात्मिका पाणिनीय शिक्षा का अनुसन्धान करते हुए वि० सं० १९३६ में एक खण्डित हस्तलेख मिला था। उन्होंने उसको भाषानुवाद सहित संवत् १९३६ के अन्त में प्रकाशित किया था।[3] उस की भूमिका में यम के सम्बन्ध में तीन बातें लिखी हैं—

१—चार यमों को वर्णमाला के तिरसठ अक्षरों की गणना पूरी करने के लिये माना है।

२—कुँ खुँ गुँ घुँ यह चार हैं, तो चुँ छुँ जुँ इत्यादि यम क्यों नहीं?

३—यदि यह कहो कि पलिक्क्नी आदि में क् ख् ग् घ् यम कहाते हैं, और प्रातिशाख्य में भी प्रसिद्ध हैं, तो क्या इस बात को वे नहीं जानते थे कि वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते···।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के उक्त आक्षेप वस्तुतः विचारणीय हैं। यम माननेवाले २० यम स्वीकार करते हुए भी चार यम इसी लिये गिनते हैं कि अक्षरसमाम्नाय की गणना पूरी हो जाये।

---

१. द्र०—पूर्व टिप्पणी २ में उद्धृत वचन।

२. मूल भाष्यपाठ कुछ भ्रष्ट है। प्रकरणानुसार शोध कर दिया है।

३. यह भाषार्थ बहुत अशुद्ध है। अशुद्धि का कारण या तो प्रेस की नई व्यवस्था रही होगी (वैदिक यन्त्रालय में यही प्रथम पुस्तक छपी थी), अथवा भाषानुवाद उनके सहयोगी पण्डितों ने किया होगा। वेदाङ्गप्रकाश, जिसके प्रथम भाग के रूप में वर्णोच्चारण-शिक्षा प्रकाशित हुई थी, के सभी भागों के लेखक भीमसेन ज्वालादत्त आदि पण्डित थे। द्र०—हमारा ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास, 'वेदाङ्गप्रकाश-प्रकरण' (पृष्ठ १४१-१५४)।

स्वामी दयानन्द सरस्वती यमों को, चाहे वे चार हों चाहे बीस, स्वतन्त्र वर्ण नहीं मानते थे। यह विचार उन के 'वे वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते' कथन से स्पष्ट है। स्वामी दयानन्द का मत वस्तुतः वस्तुस्थिति पर अवलम्बित है। उनके कथन (=यम वर्णान्तर नहीं) की उपपत्ति दो प्रकार से हो सकती है—

१—पञ्चम अनुनासिक वर्ण परे रहने पर **पलिक्क्नी** आदि में अव्यवहित पूर्व ककार आदि में जो अनुनासिकत्व की प्रतीति होती है, वह परे वर्तमान अनुनासिक वर्ण के उपराग के कारण है। अर्थात् शुद्ध ककार आदि में ही कुछ अनुनासिक धर्म की प्रतीति होती है, जैसे स्फटिक के पात्र में जवाकुसुम के पुष्पों के कारण रक्तत्व का प्रतिभान होता है। (पूर्व पृष्ठ १६२, पं० २६) में हमने तै० प्राति० २१।१४ का **हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्** सूत्र उपस्थित किया है। इसके अनुसार **मह्ना गृह्णातु ब्रह्म** आदि में **न ण म** से पूर्व सानुनासिक हकार का आगम होता है[1]। व्याख्याकार प्रस्तुत सूत्र से पूर्व सूत्र में **'एके'** की अनुवृत्ति मानते हैं। गार्ग्य गोपाल यज्वा ने स्पष्ट लिखा है कि—इस सानुनासिक हकारागम को कई आचार्य नहीं मानते[2]। दोनों पक्षों की संगति और उच्चारण की एकरूपता के लिये यही मानना होगा कि जो 'मह्ना' आदि में अनुनासिक हकार नहीं मानते, उनके यहां भी अनुनासिक वर्ण परे होने पर अनुनासिकत्व की उपरागता तो होगी ही। इसी प्रकार यमों में भी पृथक् वर्णत्व की समस्या है। यदि यमों (=सानुनासिक ककारादिकों) को पृथक् वर्ण ही मानें, तो इन्हें चार न मानकर बीस ही मानना होगा। इतना ही नहीं, यदि अनुनासिक परे होने से ककारादि में जो अनुनासिकत्व की प्रतीति होती है, उसके कारण यदि उन्हें पृथक् वर्ण माना जाये, तो य्ँ व्ँ ल्ँ को पृथक् वर्ण क्यों न माना जावे? और सानुनासिक अच् भी स्वतन्त्र वर्ण क्यों न होवें?

यमों की चार संख्या की अति प्रसिद्धि के कारण अनेक विविधशास्त्रज्ञान-विरहित वैदिक **पत्नी आत्मा** इत्यादि में तकार को यम न मानकर ककार का प्रक्षेप करके **पत्क्नी आत्क्मा** इत्यादि रूप से वैदिक पाठ का शोधन करने लगे हैं।[3]

इसी प्रकार यमों के प्रसङ्ग में एक प्रश्न और भी विचारणीय है। **पलिक्क्नी चख्ख्नतुः जग्ग्मुः जघ्घ्नुः** में शब्द का स्वरूप दो ककार दो खकार दो गकार दो घकार वाला है, अथवा एक ककार एक खकार एक गकार और एक घकारवाला? व्याकरण के नियम से मुख्यरूप एक ककार एक खकार एक गकार और एक घकारवाला ही है। उसी में **अनचि च** (८।४।४६) के नियम से विकल्प से द्विर्वचन करते हैं। इस प्रक्रियानुसार प्रातिशाख्यादि में उक्त यमों के लक्षण के अनुसार नासिक्य ककारादि वर्णों का आगम कहां हुआ? व्याकरणशास्त्र के अनुसार

१. 'सानुनासिको हकारः स्यात्' इति त्रिरत्नभाष्यकार सोमार्य। तै० प्रा० टीका २२।१४।

२. 'शिक्षाकारास्त्वेतं नासिक्यं नेच्छन्ति इत्यनेन (=एके ग्रहणेन) ध्वन्यते।' तै० प्रा० टीका २२।१४।

३ द्र०—वाजसनेय संहिता, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९५० शकाब्द १८७२ का संस्करण।

तो दोनों ही ककारादि शुद्ध वर्ण हैं। अतः प्रातिशाख्यों और पाणिनीय-शास्त्र की एकवाक्यता के लिये यही मानना उचित होगा कि व्याकरणशास्त्रानुसार जहां व्यञ्जनों को द्विर्वचन होता है, वहां अनुनासिक(पञ्चम)वर्ण परे रहने पर पूर्व वर्ण में अनुनासिकत्व का जो उपराग होता है, उसे ही प्रातिशाख्यकारों ने यमरूप में अनुनासिक पूर्व वर्ण सदृश आगम कह दिया है। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती का वर्णोच्चारणशिक्षा की भूमिका में उल्लिखित यमविषयक मन्तव्य ठीक है।[1]

यदयुक्ता वहन्ति—वर्णों का उपदेश दो प्रकार से किया है। अक्षरसमाम्नाय में साक्षात् पाठ के द्वारा, और **अणुदित् सवर्णस्य०** (१।१।६८) रूप ग्राहकशास्त्र के द्वारा। अयोगवाहों का दोनों प्रकार से उपदेश नहीं है। यतः ये अनुपदिष्ट हैं, अतः अयुक्त हैं। अर्थात् अनुपदिष्ट अयुक्त होते हुए सुने जाते हैं। उक्त मुद्रित पाठ (**अनुपदिष्टाश्च**)में चकार हेत्वर्थ में है। कुछ ग्रन्थों में 'चकार' का पाठ नहीं है। उस अवस्था में **अयुक्ता वहन्ति** का ही अर्थ कहा है—**अनुपदिष्टाः श्रूयन्ते**।

[भाष्यम्] अयोगवाहानामट्सु, णत्वम् ॥६॥

अयोगवाहानामट्सूपदेशः कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्? 'णत्वम्'। उरःकेण, उर ≍ केण; उरःपेण, उर ≍ पेण। 'अड्व्यवाये' इति णत्वं सिद्धं भवति।

शर्षु जश्भावषत्वे ॥७॥

शर्षूपदेशः कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्? जश्भावषत्वे। अयमुब्जिरुपध्मानीयोपधः पठ्यते। तस्य जश्त्वे कृते उब्जिता उब्जितुमित्येतद्रूपं यथा स्यात्॥

व्याख्या—**अयोगवाहों का अटों में** [उपदेश करना चाहिये], **णत्व** [प्रयोजन हैं]।

अयोगवाहों का अटों में उपदेश करना चाहिये। क्या प्रयोजन है? णत्व। उरःकेण, उर ≍ केण; उरःपेण, उर ≍ पेण। यहां अट् के व्यवधान में [(द्र०=८।४।२) **से जो णत्व होता है, वह**] **णत्व सिद्ध हो जाता है।**

[**अयोगवाहों का**] **शरों में** [उपदेश करना चाहिये], **जश्त्व और षत्व** [**प्रयोजन हैं**]।

[**अयोगवाहों का**] **शरों में उपदेश करना चाहिये। क्या प्रयोजन है? जश्त्व और षत्व। यह उब्ज धातु उपध्मानीय उपधावाला पढ़ा जाता है। उसको जश्त्व (=ब्) कर लेने पर जिससे उब्जिता, उब्जितुम् ये रूप सिद्ध हो जावें।**

विवरण—शरों में उपदेश का साक्षात् प्रयोजन जश्त्व नहीं है। शर् प्रत्याहार में अयोग-

१. इसी वर्णोच्चारण-शिक्षा में वर्णगणना के प्रसङ्ग में यम के नाम से ꣳ ँ ँ ळ का निर्देश किया है, वह चिन्त्य है। ꣳ ँ तो अनुस्वार ही हैं, यह इसी प्रकरण से व्यक्त हैं। ँ यह सानुनासिकत्व(महाँ इन्द्र)का बोधक चिह्न है। ळ यह वैदिक स्वतन्त्र निरनुनासिक वर्ण है।

धातुओं का पाठ होने पर उपध्मानीय झल् के ग्रहण से गृहीत होगा। और उसे **झलां जश् झशि** (८।४।५२)से जश्=ब् हो जायेगा। **उपध्मानीयोपधः पठ्यते**—वार्तिककार ने किन्ही आचार्यों के मत में स्वीकृत उपध्मानीयोपध पाठ की दृष्टि से शरों में उपदेश कहा है। **उब्ज** धातु के सम्बन्ध में दो मत हैं—उपध्मानीयोपधत्व और दकारोपधत्व। दोनों की विवेचना आगे करते हैं।

[भाष्यम्] यद्युब्जिरुपध्मानीयोपधः पठ्यते, उब्जिजिषतीत्युपध्मानीयादेरेव द्विर्वचनं प्राप्नोति। 'दकारोपधे पुनर् 'न न्द्राः संयोगादयः' [६।१।३] इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति।

यदि दकारोपधः पठ्यते, का रूपसिद्धिः? उब्जिता, उब्जितुमिति। असिद्धे भ उद्जेः। इदमस्ति—'स्तोः श्चुना श्चुः' [८।४।३९] इति, ततो वक्ष्यामि—'भ उद्जेः'। उद्जेः श्चुना सन्निपाते भो भवतीति। तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। निपातनादेव सिद्धम्। किं निपातनम्? 'भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः' [७।३।६१] इति। इहापि तर्हि प्राप्नोति—अभ्युद्गः, समुद्ग इति। अकुत्वविषये तन्निपातनम्। अथवा नैतदुब्जे रूपम्, गमेरेतद् द्व्युपसर्गाड्डो विधीयते—अभ्युद्गतोऽभ्युद्गः, समुद्गतः समुद्ग इति॥

व्याख्या—यदि 'उब्ज' धातु को उपध्मानीयोपध पढ़ा जाता है, तो उब्जिजिषति में अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से उपध्मानीयादि (=ᳵज) को ही द्विर्वचन प्राप्त होता है [उस अवस्था में इष्टरूप उब्जिजिषति सिद्ध नहीं होगा]। और दकारोपध मानने पर [संयोगादि दकार का] न न्द्राः संयोगादयः(६।१।३) से प्रतिषेध सिद्ध होता है।

यदि ['उब्ज' धातु को] दकारोपध (=उद्ज) पढ़ा जाता है, तो [तृजादि प्रत्ययों में] क्या रूप सिद्ध होगा? उब्जिता, उब्जितुम्। [कैसे?] असिद्ध-प्रकरण में उद्ज के द् को भ होता है [ऐसा कहेंगे]। यह है—स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९), उसके पीछे कहेंगे—भ उद्जेः। उद्ज [के दकार] को शकार चवर्ग के सन्निपात में भ हो जाता है। तो क्या ['भ उद्जेः'] कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये। निपातन से ही [दकार को भकार] सिद्ध है। क्या निपातन है? भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः (७।३।६१)। [निपातन से दकार को भकार मानने पर] यहां भी तो प्राप्त होता है—अभ्युद्गः, समुद्गः। अकुत्व के विषय में (=जहां चवर्ग को कवर्ग नहीं होता) वह निपातन है [उब्जिता आदि में कुत्व का विषय नहीं है, अतः दकार को भकार हो जायेगा। अभ्युद्गः, समुद्गः में कुत्व हो रहा है, अतः दकार को भकार नहीं होगा]। अथवा यह (=अभ्युद्गः, समुद्गः) उब्ज धातु के रूप नहीं हैं, दो उपसर्ग वाली गम धातु से यह 'ड' का विधान है—अभ्युद्गतो अभ्युद्गः, समुद्गतः समुद्गः (द्र०—डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते (३।२।४८)।

विवरण—उपध्मानीयादेरेव—जश्भाव से पूर्व द्विर्वचन की प्रवृत्ति होवे, चाहे उपध्मानीय को जश्त्व=बकार कर देने पर **पूर्वत्रासिद्धम्**(८।२।१)से बकारादेश असिद्ध होकर द्विर्वचन होवे, दोनों प्रकार से उपध्मानीय को ही द्विर्वचन होगा। इस तरह दोनों प्रकार से इष्ट रूप

सिद्ध नहीं होगा। यदि **पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने** परिभाषा की प्रवृत्ति कर, तो जश्त्व के असिद्ध न होने पर 'ब' को द्विर्वचम प्राप्त होगा, तब भी इष्ट रूप उपपन्न नहीं होगा।

उब्ज को दकारोपध मानने पर भी भकार-विधान के असिद्ध प्रकरण में होने से **पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने** परिभाषा से भकार के असिद्ध न होने से भकार को द्विर्वचन प्राप्त होता है। इसका समाधान कैयट ने इस प्रकार किया है—न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३) द्विर्वचन नहीं करता, वह तो द्विर्वचन का प्रतिषेधक है, अतः **पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने** परिभाषा यहां व्यापृत नहीं होगी, भत्व असिद्ध होगा, दकार माना जायगा, और उसके द्विर्वचन का निषेध हो जायेगा।

निपातनात् सिद्धम्—निपातन पक्ष में द्विर्वचनविषयक रूपसिद्धि कैसे होगी? इस का समाधान कैयट ने किया है—दकारोपदेश सामर्थ्य से द्विर्वचन करने के पश्चात् बत्व प्रवृत्त होता है। अर्थात् बत्व निपातन द्विर्वचन की प्रतीक्षा करता है (भर्तृहरि)।

अभ्युद्गः समुद्गः—यद्यपि उभयथा रूपसिद्धि हो जाती है, तथापि अवग्रह में भेद होगा। उसका समाधान **न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्** (३।१।१०९) भाष्य-वचनानुसार जानना चाहिये।

[भाष्यम्] षत्वं च प्रयोजनम्। सर्पिःषु, धनुःषु। 'शर्व्यवाये' इति षत्वं सिद्धं भवति। 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' [८।३।५८] इति विसर्जनीयग्रहणं न कर्तव्यं भवति। नुमश्चापि तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथं सर्पींषि, धनूंषि? अनुस्वारे कृते 'शर्व्यवाये' इत्येव सिद्धम्। अवश्यं नुमो ग्रहणं कर्तव्यम्। अनुस्वारविशेषणं नुम्ग्रहणम्। नुमो योऽनुस्वारस्तत्र यथा स्याद्, इह मा भूत् पुंस्विति॥

व्याख्या—षत्व भी[शरों में अयोगवाहों के उपदेश में]प्रयोजन है—सर्पिःषु, धनुःषु। 'शर् के व्यवधान में षत्व होता है', से षत्व सिद्ध हो जाता है। 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (८।३।५८) में विसर्जनीय ग्रहण नहीं करना पड़ता। और नुम् के भी तब ग्रहण विना किये कार्य चल सकता है। कैसे सिद्ध होंगे—सर्पींषि, धनूंषि? [नुम् के नकार को] अनुस्वार कर लेने पर 'शर्व्यवाये' इसी से सिद्ध हो जायेगा। [अयोगवाहों का शर् में उपदेश करने पर भी] नुम् का ग्रहण अवश्य करना चाहिये। अनुस्वार के विशेषण के लिये नुम् का ग्रहण करना चाहिये। नुम् का जो अनुस्वार वहां [षत्व] होवे, यहां न होवे—पुंसु।

विवरण—'**अवश्यं नुमो ग्रहणम्**' का भाव यह है कि शरों में अयोगवाहों का उपदेश करने पर भी अनुस्वार को विशेषित करने के लिये नुम् का ग्रहण करना होगा, और शरों में उपदेश न करने पर नुम् को व्यवधान मानकर षत्व हो जायेगा। इस प्रकार नुम् ग्रहण स्थित रहा।

[भाष्यम्] अथवाऽविशेषेणोपदेशः कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्?

अविशेषेण संयोगोपधासंज्ञाऽलोन्त्यद्विर्वचनस्थानिवद्भावप्रतिषेधाः ॥८॥

अविशेषेण संयोगसंज्ञा प्रयोजनम्—ऊ३ब्जक। 'हलोऽनन्तराः संयोगः' [१।१।७] इति संयोगसंज्ञा, 'संयोगे गुरु' [१।४।११] इति गुरुसंज्ञा, 'गुरोः' इति प्लुतो भवति।

चाऽप्रत्ययस्य' [८।३।४१] इति षत्वं सिद्धं भवति। नतदस्ति प्रयोजनम्। नेह इदुदुपधग्रहणेन विसर्जनीयो विशेष्यते। किं तर्हि? सकारो विशेष्यते—'इदुदुपधस्य सकारस्य यो विसर्जनीयः' इति। अथ वोपधाग्रहणं न करिष्यते। इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीयं विशेषयिष्यामः—'इदुद्भ्यामुत्तरस्य विसर्जनीयस्य' इति॥

व्याख्या—अथवा सामान्यरूप से [जहां-जहां आवश्यकता हो, वहां-वहां अयोगवाहों का] उपदेश करना चाहिये। क्या प्रयोजन है।

अविशेष से [अयोगवाहों का उपदेश करने में] संयोगसंज्ञा, उपधासंज्ञा, अलोऽन्त्य, द्विर्वचन और स्थानिवद्भाव-प्रतिषेध प्रयोजन है।

अविशेष से [अयोगवाहों का उपदेश करने में] संयोग संज्ञा प्रयोजन है—ऊ३ब्जक। 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (१।१।७) से संयोग संज्ञा होवे, और उससे 'संयोगे गुरु' (१।४। ११) से गुरु संज्ञा, और 'गुरोः०' (८।२।८६) से प्लुत होता है।

और उपधासंज्ञा प्रयोजन है—दुष्कृतम् निष्कृतम्; दुष्पीतम् निष्पीतम्। यहां इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य (८।३।४१) से षत्व हो जाता है। यह प्रयोजन नहीं है। यहां इकारोपध उकारोपध के ग्रहण से विसर्जनीय विशेषित नहीं होता है। तो क्या होता है? सकार विशेषित होता है—'इकारोपध उकारोपध सकार का जो विसर्जनीय।' अथवा उपधा का ग्रहण नहीं करेंगे। इत् उत् से परे विसर्जनीय को विशेषित करेंगे—'इकार उकार से उत्तर जो विसर्जनीय, उस को [षत्व होता है]।'

विवरण—'अविशेषेण' का भाव है—प्रयोजन-विशेष की अपेक्षा न करके जिस-जिस प्रदेश में उपदेश करने से प्रयोजन सिद्ध होवे, वहां-वहां उपदेश करना चाहिये। **संयोगसंज्ञा**—हल् संज्ञा के लिये ह् से लकार पर्यन्त का भी उपदेश कर देना चाहिये, जिससे संयोग-संज्ञा हो जावे। **कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्** (=जहां संज्ञा परिभाषा का कार्य होवे वहीं इनकी उपस्थिति होती है) पक्ष में संयोगसंज्ञा **संयोगे गुरु**(१।४।११)स्थानीय है। यहां उब्जक में जश्त्व के असिद्ध होने से उपध्मानीय के हलों में न माना जावे, तो संयोग संज्ञा, और संयोग परे पूर्व उकार की गुरुसंज्ञा, तथा **गुरोरनृतो०** (८।२।८६) से प्लुत आदेश न होवे।

इदुदुपधस्य—अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा(१।१।६४)से उपधासंज्ञा के लिये अयोगवाहों का (=उपध्मानीय का)अलों में उपदेश करना चाहिये। **इदुदुपधस्य सकारस्य**—यहां सकार ग्रहण विजसर्जनीय के स्थानी का उपलक्षक है। इस से 'निर्' के इकारोपध रेफ को जो विसर्जनीय होता है, उसको भी मूर्धन्य होकर **निष्कृतम्** रूप सिद्ध हो जाता है।

[भाष्यम्] अलोन्त्यविधिः प्रयोजनम्—वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति। 'अलोन्त्यस्य विधयो भवन्ति' इत्यलोन्त्यस्य सत्वं सिद्धं भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्—'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति विसर्जनीयस्यैव भविष्यति।

द्विर्वचनं प्रयोजनम्—उर≍≍कः, उर≍≍पः। 'अनचि च' [८।४।४६] अच उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं सिद्धं भवति।

स्थानिवद्भावप्रतिषेधश्च प्रयोजनम्। यथेह भवति—उरःकेणः, उरःपेणेति। 'अड्व्यवाये' इति णत्वम्। एवमिहापि स्थानिवद्भावात् प्राप्नोति—व्यूढोरस्केन, महोरस्केनेति। तत्र 'अनल्विधौ' इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति॥

व्याख्या—**अलोन्त्यविधि** प्रयोजन है—वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति। यहां 'अन्त्य अल् को विधियां होती हैं' से अन्त्य अल् [विसर्जनीय] को सत्व सिद्ध हो जाता है। यह भी प्रयोजन नहीं है। 'निर्दिश्यमान को आदेश होते हैं' इस [परिभाषा] से विसर्जनीय को ही [सत्व] हो जायेगा [क्योंकि 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) में विसर्जनीय का साक्षात् निर्देश करके सत्व का विधान किया है]।

द्विर्वचन प्रयोजन है—उर≍≍कः, उर≍≍पः। यहां अनचि च (८।४।४६)—अच् से उत्तर यरों को द्विर्वचन होता है, से [जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को यरों के अन्तर्गत मानकर] द्विर्वचन सिद्ध होता है।

स्थानिवद्भाव-प्रतिषेध भी प्रयोजन है। जैसे यहां होता है—उरःकेण, उरःपेण। यहां 'अट् के व्यवधान में [णत्व होता है]' से [विसर्ग को अट् के अन्तर्गत मानकर] णत्व होता है। इसी प्रकार यहां भी स्थानिवद्भाव से [विसर्जनीय] प्राप्त होता है—व्यूढोरस्केन, महोरस्केन [विसर्ग को अट् के ग्रहण से गृहीत होने से विसर्गस्थानीय सकार भी स्थानिवद्भाव से विसर्गकार्य को प्राप्त होता है]। वहां [स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१।१।५५) में] अनल्विधौ (=अल्सम्बन्धी विधि में स्थानिवत् नहीं होता) से स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध सिद्ध होता है।

विवरण—'निर्दिश्यमानस्य'—जैसे 'व्याघ्रपात्' का गोत्रापत्य 'वैयाघ्रपाद्यः' में यञ् प्रत्यय (४।१।१०१) परे **'पादः पत्'** (६।४।१३०) में निर्दिश्यमान 'पात्' के स्थान पर पद् आदेश होता है, अनेकाल् होने से **व्याघ्रपात्** सारे के स्थान पर पत् आदेश नहीं होता। इसी प्रकार यहां भी **अलोऽन्त्यस्य** (१।१।५१) के उपस्थित न होने पर भी **'विसर्जनीयस्य सः'** (८।३।३४) सूत्र में विसर्जनीय का निर्देश होने से उसके स्थान पर सकारादेश हो जायेगा।

द्विर्वचनम्—उर≍≍कः, उर≍≍पः।' इस पर नागेश लिखता है—'विसर्ग जिह्वामूलीय आदि के द्विरुच्चारण में विशेष (=द्वित्वविशिष्ट श्रुति) के अगृहीत होने से, और द्वित्व उच्चारण के न कर सकने से शास्त्र की प्राप्तिमात्र के निर्देश से ही यह कथन है, ऐसा सन्तोष करना चाहिये।' नागेश ने यहां क प परे विसर्ग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के द्वित्वविशिष्ट श्रुति के अगृहीत होने और उच्चारण न कर सकने का जो निर्देश किया है, वह विसर्गादि तक ही सीमित नहीं जानना चाहिये। भाष्यकार तो सामान्यरूप से इस विषय में कहेंगे—**'नहि व्यञ्जनपरस्यानेकस्यैकस्य वा श्रवणेऽस्ति कश्चिद्विशेषः'** (महा० ६।४।२२; ७।१।७२)। अर्थात्—व्यञ्जन से परे दो समान व्यञ्जनों के अथवा व्यञ्जन परे रहने पर पूर्व दो समान वर्णों के उच्चारण में कोई विशेषता नहीं होती। इस नियम से **कर्त्ता कार्य्यं ब्रह्म** में रेफ हकार से परे

दो 'त', दो 'य', दो 'म' के, तथा पुत्र मित्र[1] में रेफ परे रहने पर दो तकारों के श्रवण में कोई भेद नहीं होता। यदि भाष्यकार का कथन स्वीकार करें, तो शास्त्रकार ने **'अचो रहाभ्यां द्वे, अनचि च'** (८।४।४५, ४६) से विकल्प से द्विर्वचन का विधान ही क्यों किया, यह प्रश्न उपपन्न होता है। इसका समाधान हम यथास्थान आगे (हयवरट् के भाष्य व्याख्यान में) करेंगे।

व्यूढोरस्केन महोरस्केन—'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्[2]**'** (=पूर्वत्रासिद्धम् के प्रकरण में स्थानिवद्भाव नहीं होता) नियम **'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'** (१।१।५६) सूत्र के विषय में है, **'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'** (१।१।५५) के विषय में नहीं है। अतः विसर्ग को अल् मानकर स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध सिद्ध हो जाता है। भर्तृहरि स्थानिवद्भाव का अन्यथा प्रतिपादन करते हैं। ग्रन्थ का पाठ सन्दिग्ध है।

[भाष्यम्] किं पुनरिमे वर्णा अर्थवन्तः, आहोस्विदनर्थकाः ?

अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् ॥९॥

अर्थवन्तो वर्णाः। कुतः ? धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात्। धातव एकवर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते—एति, अध्येति, अधीत इति। प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति—आभ्याम्, एभिः, एषु। प्रत्यया एकवर्णा अर्थवन्तः—औपगवः, कापटवः। निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः—अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ, ए अपक्राम। धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनान्मन्यामहे—'अर्थवन्तो वर्णाः' इति॥

व्याख्या—**क्या ये वर्ण अर्थवान् हैं, अथवा अनर्थक हैं ?**

वर्ण अर्थवान् हैं, एकवर्णरूप धातु प्रातिपदिक प्रत्यय निपातों के अर्थ देखे जाने से।

वर्ण अर्थवान् हैं। कैसे ? एकवर्णरूप धातु प्रातिपदिक प्रत्यय और निपातों के अर्थ देखे जाने से (=उपलब्ध होने से)। एकवर्णरूप धातुएं अर्थवान् देखी जाती हैं—एति, अध्येति **[में 'इण्' धातु], अधीते [में 'इङ्' धातु]। प्रातिपदिक एकवर्ण अर्थवान् [देखे जाते हैं]**—आभ्याम्, एभिः, एषु **[में 'इदम्' शब्द का 'अ' अथवा आ-ए वर्ण]। प्रत्यय एकवर्ण अर्थवान्**

१. पुत् त्रः—'पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा' निरुक्त २।११॥ मिद् धातु से त्र प्रत्यय (उणादि-कोष ४।१६५, 'मिदि' पाठ में, द्र०—उज्ज्वलदत्तादि का पाठ)। एक तकार पक्ष में—पुञ् धातु से त्र प्रत्यय (उणादिकोष ४।१६६), मि धातु से त्र प्रत्यय (उणादिकोष ४।१६५) स्वामी दयानन्द का पाठ। सत्यार्थप्रकाश में 'मित्र' शब्द का निर्वचन 'ञिमिदा' धातु से दर्शाया है (समु० १, पृष्ठ २५, रामलाल कपूर ट्रस्ट आर्यसमाजशताब्दी संस्करण २) एक तकार पक्ष में **अनचि च** (८।४।४६) से द्विर्वचन।

२. द्र०—'पूर्वत्रासिद्धे च।' पूर्वत्रासिद्धे च न स्थानिवद् भवतीति वक्तव्यम्। महा० 'न पदान्त०' १।१।५७॥

[देखे जाते हैं]—औपगवः, कापटवः [में 'अ' प्रत्यय]। निपात एकवर्ण अर्थवान् [देखे जाते हैं]— अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ, ए अपक्राम। एकवर्णरूप धातु प्रातिपदिक प्रत्यय और निपातों के अर्थदर्शन से हम मानते हैं कि—'वर्ण अर्थवान् हैं।'

विवरण—शाकपूणि आदि कतिपय प्राचीन आचार्य शब्दों के प्रत्यक्षर अर्थों का निर्देश करते थे। यथा—**अग्निः—एनेकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीपरः** इति (निरुक्त ७।१४)। इसी प्रकार प्रत्यक्षर अर्थनिर्देश की शैली ब्राह्मण-उपनिषदों में भी देखी जाती है। यथा—

'एतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। यम् इत्येकाक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद।' बृह० उप० ५।३।१॥

यह तीन अक्षरोंवाला 'हृदयम्' है। 'हृ' एक अक्षर है, इसके लिये हरण करते हैं……। 'द' एक अक्षर है, इसके लिये देते हैं……। 'यम्' एक अक्षर है, स्वर्गलोक को प्राप्त होता है, जो इस प्रकार जानता है।

इसी प्रकार 'भर्ग' शब्द के प्रत्यक्षर **'भासयति इमान् लोकान्, रञ्जयति इमानि भूतानि, गच्छत्यस्मिन् आगच्छत्यस्मा इमाः प्रजाः'** अर्थ मैत्रायणी उपनिषद् ६।२ में दर्शाये हैं।

व्याकरण में भी एकवर्ण धातु प्रातिपदिक प्रत्यय और निपातों के अर्थ उपलब्ध होते हैं। अतः वार्तिककार ने यह विचार किया है कि जिन धात्वादि में प्रत्यक्षर अर्थ स्पष्ट उपलब्ध नहीं होता, वहां भी प्रत्यक्षर अर्थ सामान्यतोदृष्ट अनुमान से मानना चाहिये। अथवा 'प्रत्यक्ष अनुमान से प्रबल होता है,' इस न्याय से जहां एकाक्षर का अर्थ उपलब्ध होता है, वहां एकाक्षर को अर्थवान् जानना चाहिये। और जहां प्रत्यक्षर अर्थ उपलब्ध नहीं होता, वहां समुदाय को अर्थवान् जानना चाहिये। वार्तिककार प्रथम वर्णों की अर्थवत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

[भाष्यम्] वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात् ॥१०॥

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनान्मन्यामहे—'अर्थवन्तो वर्णाः' इति। कूपः सूपो यूप इति। 'कूप' इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते। 'सूप' इति ककाराऽपाये सकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। 'यूप' इति ककारसकाराऽपाये यकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। ते मन्यामहे—'यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य, यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्य' इति॥

व्याख्या—और वर्ण के परिवर्तन में अर्थान्तर की प्राप्ति होने से [वर्ण अर्थवान् हैं]।

और वर्ण के परिवर्तन में अर्थान्तर की प्राप्ति होने से हम मानते हैं कि—'वर्ण अर्थवान् हैं।' कूपः सूपः यूपः। ककारसहित 'कूप' शब्द से कोई ['कुआ' रूप] अर्थ जाना जाता है। 'सूप' यहां ककार को हटाने और सकार को लगाने पर ['दाल' रूप] अर्थान्तर जाना जाता है। 'यूप' यहां ककार सकार दोनों को हटाने और यकार को जोड़ने पर ['खूंटा' रूप]

अर्थान्तर जाना जाता है। इस से हम मानते हैं कि—'कूप' में जो 'कुआ' अर्थ है, वह ककार का है; सूप में जो 'दाल' अर्थ है, वह सकार का है, और यूप में जो खूंटा अर्थ है, वह यकार का है।'

विवरण—व्यत्यय शब्द का अर्थ अदला बदली होता है। यथ—कृत धातु के 'क' की जगह 'त' और 'त' की जगह 'क' (=तृक रूप) होकर तर्क शब्द उपपन्न होता है। वैसी दो वर्णों की यहां परस्पर अदला-बदली नहीं हुई है। एक वर्ण हटा है और दूसरा उसकी जगह आया है। इसलिये यहां वर्ण का अपगम और अन्य वर्ण का अभ्युपगम ही व्यत्यय शब्द का अर्थ जानना चाहिये। इस प्रकार यहां वर्ण की अर्थवत्ता सिद्ध करनेवाले ने 'ऊप' शब्द की क्या स्थिति होगी, इस पर ध्यान नहीं दिया है।

[भाष्यम्] **वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः ॥११॥**

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेर्मन्यामहे—'अर्थवन्तो वर्णाः' इति। वृक्ष ऋक्षः; काण्डीर आण्डीरः। 'वृक्ष' इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यते, 'ऋक्ष' इति वकाराऽपाये सोऽर्थो न गम्यते। 'काण्डीर' इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते, 'आण्डीर' इति ककाराऽपाये सोऽर्थो न गम्यते। किं तह्युच्यते—'अनर्थगतेः' इति? न साधीयो ह्यत्राऽर्थस्य गतिर्भवति?

एवं तर्हीदं पठितव्यं स्यात्—'वर्णानुपलब्धौ चाऽतदर्थगतेः' इति। किमिदम्—'अतदर्थगतेः' इति? तस्यार्थस्तदर्थः, तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः, न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति। अथवा सोऽर्थस्तदर्थः, तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः, न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति। स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः? न कर्तव्यः। उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। तद्यथा—उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः, खरमुखः। एवमतदर्थगतेरनर्थगतेरिति॥

व्याख्या—**और वर्ण की अनुपलब्धि होने पर अनर्थगति[1] होने से [वर्ण अर्थवान् हैं]।**

और वर्ण की अनुपलब्धि होने पर अनर्थगति[1] होने से हम मानते हैं कि—'वर्ण अर्थवान् हैं'। वृक्षः ऋक्षः; काण्डीरः आण्डीरः। 'वृक्षः' यहां वकारसहित शब्द से कोई अर्थ जाना जाता है, 'ऋक्ष' में वकार के हट जाने पर वह अर्थ नहीं जाना जाता है। 'काण्डीर' यहां ककारसहित शब्द से कोई अर्थ जाना जाता है, 'आण्डीर' में ककार के हट जाने पर वह अर्थ नहीं जाना जाता है। [जब वकार ककार के हट जाने पर कोई अर्थ जाना जाता है] तो क्या कहते हो—'अर्थ नहीं जाना जाता है'? [क्या इन शब्दों का जो अर्थ है] वह यहां अच्छी तरह नहीं जाना जाता है?

अच्छा तो यह पढ़ना चाहिये—'वर्ण की अनुपलब्धि होने पर उस अर्थ की प्रतीति नहीं

१. इस शब्द पर भाष्यकार आगे विचार करेंगे, अतः यहां मूलभूत शब्द का ही प्रयोग किया है।

होती' [जो अर्थ उस वर्णसहित से जाना जाता था। [यह क्या शब्द है (=यहां क्या समास है)—अतदर्थगतेः ? तस्यार्थः (=उसका अर्थ) तदर्थः, तदर्थस्य गतिः (=उसके अर्थ की प्रतीति) तदर्थगतिः, न तदर्थगतिः अतदर्थगतिः, अतदर्थगतेः। अर्थात् वर्ण की अनुपलब्धि से पूर्व जो वृक्ष-काण्डीर शब्द था, उसका जो अर्थ प्रतीत होता था, वह वकार ककार की अनुपलब्धि होने पर ऋक्ष आण्डीर शब्दों से नहीं जाना जाता है। अथवा—स अर्थः। (=वह=वृक्षादि से प्रतीयमान अर्थ) तदर्थः, तदर्थस्य गतिः (=उस अर्थ का ज्ञान) तदर्थगतिः, न तदर्थगतिः अतदर्थगतिः, अतदर्थगतेः। तो क्या वैसा (=अतदर्थगतेः) निर्देश करना चाहिये ? नहीं करना चाहिये। यहां उत्तरपद (=तद्) का लोप जानना चाहिये। जैसे कि—उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य (=ऊंट के मुंह की तरह मुंह है इसका) उष्ट्रमुखः, खरमुखः [यहां 'उष्ट्र' से उत्तर 'मुख' पद का लोप हो गया है]। इसी प्रकार—अतदर्थगतेः =अनर्थग :।

विवरण—'उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः'—दृष्टान्त में तो उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य में उत्तरपद के लोप का विधान होने से 'मुख' शब्द का लोप हो जाता है, परन्तु न तदर्थगतेः=अनर्थगतेः में नञ् के साथ समास करते समय उत्तरपद नहीं है, अतः दृष्टान्त उपपन्न नहीं होता। दृष्टान्त का सामञ्जस्य दर्शाने के लिये कैयट ने कहा है—"अर्थ का परिज्ञान हो जाने से 'मुख' शब्द का अप्रयोग ही मुखशब्द के लोप से कहा गया है। प्राणी प्राण्यन्तर का मुख नहीं हो सकता, अतः 'उष्ट्र' शब्द विशिष्टावयव वृत्तिवाला सादृश्यरूप लक्षणा से मुख को विशिष्ट करता है। अतः उष्ट्रो मुखमस्य यही विग्रह करना चाहिये। इसी प्रकार यहां भी अर्थ शब्द से प्रक्रान्त का अर्थ ही कहा जाता है, अर्थमात्र नहीं। अतः 'तत्' शब्द का अप्रयोग होता है।" भर्तृहरि के लेख का भी यही अभिप्राय है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने दूसरे रूप से भाष्य की संगति लगाने का प्रयत्न किया है—"यहां उत्तरं पदम्=उत्तरपदम्=अगला पद अर्थ विवक्षित है, न कि समास का अन्त्य अवयव। उत्तरं पदं=अगला अवयव अभिप्राय गृहीत होने से तत् शब्द का नञ् के साथ समास न होने पर भी नञ् से उत्तरत्व होने से तत् का लोप हो जाता है।"

[भाष्यम्] सङ्घातार्थवत्त्वाच्च ॥१२॥

सङ्घातार्थवत्त्वाच्च मन्यामहे—'अर्थवन्तो वर्णाः' इति। येषां सङ्घाता अर्थवन्तोऽवयवा अपि तेषामर्थवन्तः। येषां पुनरवयवा अनर्थकाः, समुदाया अपि तेषामनर्थकाः। तद्यथा—एकश्चक्षुष्मान् दर्शने समर्थः, तत्समुदायश्च शतमपि समर्थम्। एकश्च तिलस्तैलदाने समर्थः, तत्समुदायश्च खार्यपि तैलदाने समर्था। येषां पुनरवयवा अनर्थकाः, समुदाया अपि तेषामनर्थकाः। तद्यथा—एकोऽन्धो दर्शनेऽसमर्थः, तत्समुदायश्च शतमप्यसमर्थम्। एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था, तत्समुदायश्च खारीशतमप्यसमर्थम् ॥

व्याख्या—और संघात के अर्थवान् होने से [वर्ण अर्थवान् हैं]।

और संघात (=समुदाय) के अर्थवान् होने से हम मानते हैं कि—'वर्ण अर्थवान् हैं।' जिनके संघात अर्थवान् होते हैं, उनके अवयव भी अर्थवान् होते हैं। और जिनके अवयव

अनर्थक होते हैं, उनके समुदाय भी अनर्थक होते हैं। जैसे—एक आंखोंवाला देखने में समर्थ है, तो उनका समुदाय सौ भी [देखने में] समर्थ है। एक तिल तैल देने में समर्थ है, तो उनका समुदाय खारी भी [तैल देने में] समर्थ है। जिनके अवयव अनर्थक होते हैं, उनका समुदाय भी अनर्थक होता है। जैसे एक अन्धा देखने में असमर्थ है, तो उनका समुदाय सौ भी [देखने में] असमर्थ होता है। और एक बालू का दाना तैल देने में असमर्थ है, तो उनका समुदाय सौ खारी भी [तैल देने में] असमर्थ है।

विवरण—भाष्य में **'अवयवा अपि तेषामर्थवन्तः'** के आगे **'येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः'** पाठ उपलब्ध होता है। इसके सम्बन्ध में महाभाष्य (निर्णयसागर सं०) के सम्पादक पं० शिवदत्त दाधिमथ ने पृ० ११९, टि० ३ में लिखा है—'सब भाष्य-पुस्तकों में उपलभ्यमान भी यह पाठ प्रक्षिप्त है। आगे इस पाठ के उपलब्ध होने से।' हमारे विचार में यहां प्रकरणानुसार भाष्यपाठ—**'येषां पुनरवयवा अर्थवन्तः, समुदाया अपि तेषामर्थवन्तः'** पाठ होना चाहिये। ऐसा पाठ होने पर अगले भाष्योदाहरण का सम्बन्ध भी उपपन्न हो जाता है।

एका च सिकता—सिकता शब्द **'अप्सुमनस्समासिकतावर्षाणां बहुत्वं च'** (लिङ्गानुशासन) सूत्र के अनुसार स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। नागेश ने लिखा है—'भाष्यकार के प्रयोगसामर्थ्य से सिकता शब्द का एकवचनान्तत्व जानना चाहिये।' यह कथन चिन्त्य है। भाष्य से प्राचीन ग्रन्थों में सिकता शब्द का एकवचन तथा पुल्लिङ्ग में भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—

यत् सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते। मै० सं० १।६।३॥

स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं...असृजत। शत० ६।१।१।१३॥

अतः लिङ्गविधि का सामान्यरूप से प्रायिकत्व मानना चाहिये। इस स्थिति में **लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य** यह असकृत् उक्त वचन भी उपपन्न हो जाता है।

[भाष्यम्] यदि तर्हीमे वर्णा अर्थवन्तः, अर्थवत्कृतानि प्राप्नुवन्ति। कानि? 'अर्थवत्प्रातिपदिकम्' इति प्रातिपदिकसंज्ञा, 'प्रातिपदिकात्' इति स्वाद्युत्पत्तिः, 'सुबन्तं पदम्' इति पदसंज्ञा। तत्र को दोषः? 'पदस्य' इति नलोपादीनि प्राप्नुवन्ति—धनं वनमिति॥

व्याख्या—अच्छा तो यदि वर्ण अर्थवान् हैं, तो इन्हें अर्थवत् को कहे गये कार्य प्राप्त होते हैं। कौनसे? 'अर्थवत् प्रातिपदिकम्' (अ०—१।२।४५) **से प्रातिपदिक संज्ञा,** प्रातिपदिकात्' (अ०—४।१।१) **से स्वादि की उत्पत्ति (अ०—४।१।२), और** 'सुबन्तं पदम्' (अ०—१।४।१४) **से पद संज्ञा। वहां (=पद संज्ञा में) क्या दोष होता है?** 'पदस्य' **(=पद संज्ञा के) नलोप आदि प्राप्त होते हैं**—धनन् वनम्।

विवरण—प्रस्तुत भाष्य के व्याख्याकारों का प्रायः मतभेद है। सभी व्याख्याकारों ने बहुत खींचातानी से व्याख्यान किया है। नागेश ने कैयट के कथन का खण्डन किया है। हमारे विचार में यहां भाष्यकार का प्रतिपादन प्रकृत प्रसङ्ग तक ही सीमित है। प्रतिवर्ण अर्थवत्ता

मानने पर जो आपाततः स्थिति उत्पन्न होती है, उसका ही निदर्शन है। **नलोपादीनि**—धन वन के केवल 'न्' की प्रातिपदिक संज्ञा और उससे सु की उत्पत्ति होने पर **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (८।२।७) से नकार लोप प्राप्त होता है। आदि शब्द से शब्दविशेषों में जश्त्व कुत्व ढत्व आदि दोषों का निदर्शन कराया जा सकता है। यथा धन के 'ध्' वर्ण से सुबुत्पत्ति होने पर पदान्त में **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३९) की प्राप्ति होगी।

हमारे विचार में यहां प्रतिवर्ण प्रातिपदिक संज्ञा और सुबुत्पत्ति का प्रसङ्ग केवल व्यञ्जनों और 'सु' प्रत्यय तक ही सीमित है। क्योंकि पूर्व **वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात्, वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः** वार्तिकों के उदाहरणों का सम्बन्ध भी व्यञ्जनों से ही है। व्यञ्जनों की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर उन से उत्पन्न 'सु' का लोप **हल्ङ्याब्भ्यः०** (६।१।६६) से सिद्ध है। अन्य सुपों का लोप प्राप्त नहीं होता। यदि धन वन कुमारी आदि के प्रत्येक अच् से भी स्वाद्युत्पत्ति होने का विचार वार्तिककार अथवा भाष्यकार के मन में होता, तो इन से परे स्वादि के श्रवण का दोष भी उपस्थित करते। वर्णों की और समुदाय की दो प्रातिपदिक संज्ञा मानकर प्रतिवर्ण उत्पन्न सुपों का **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से लोप मानना कैयट का प्रौढिवादमात्र है। अतएव नागेश ने कैयट के इस व्याख्यान को चिन्त्य कहा है। और अन्यथा व्याख्यान करने का प्रयास किया है। व्यर्थ की खींचातानी करने से यही अच्छा है कि भाष्यकार के उक्त दोषनिदर्शक वचन को व्यञ्जनों तक और 'सु' प्रत्यय तक ही सीमित रखा जाये।

[भाष्यम्] सङ्घातस्यैकार्थ्यात् सुबभावो वर्णात् ॥१३॥

सङ्घातस्यैकत्वमर्थः। तेन वर्णात् सुबुत्पत्तिर्न भविष्यति॥

व्याख्या—संघात के एक अर्थवाला होने से वर्ण से सुप् का अभाव होगा।

संघात का एकत्व (=एक अर्थविशिष्ट) अर्थ है। उससे वर्ण से सुप् की उत्पत्ति नहीं होगी।

विवरण—वन, धन, वृक्ष, ऋक्ष आदि में अवयव और अवयवी दोनों गम्यमान होते हैं। अवयवी के ग्रहण से अवयव गृहीत हो जाते हैं। जैसे वृक्ष वायुवेग से हिलता है, तो उसके अवयवों में भी गति होती है। अवयवी के एक होने से प्रतिवर्ण सुबुत्पत्ति नहीं होगी। उनके अवान्तर अर्थ भी अवयवी के अर्थ से गतार्थ हो जाते हैं। अतः वार्तिकोक्त संघात का तात्पर्य अवयवी जानना चाहिये। अथवा संघात से समुदाय ही ग्रहण करना इष्ट हो, तो भी वनवत् एकत्व अर्थ जानना चाहिये। **वनं दग्धम्** कहने से दहन का सम्बन्ध उसके वृक्षों के साथ स्वयं ज्ञात हो जाता है। जैसे—**वनं दग्धम्** कहने पर **वृक्षा दग्धाः** कहने की आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार वर्णसमुदाय का जो अर्थ है, उसके एक होने से प्रतिवर्ण एकत्व के कहने के लिये स्वाद्युत्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। भर्तृहरि ने यहां कई पक्ष उपस्थित किये हैं। और अन्त में लिखा है—**'काकदन्तपरीक्षणमिदम्—किं वर्णा अर्थवन्तोऽनर्थका वा इति'**। अर्थात् कौवे के दांत गिनना जैसे अनर्थक होता है, वैसे ही वर्ण अर्थवान् हैं अथवा अनर्थक, यह विचार भी व्यर्थ है। कैयट ने भर्तृहरि द्वारा उपस्थापित एक पक्ष का ही आश्रय किया है।

[भाष्यम्] अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः ॥१४॥

अनर्थकास्तु वर्णाः । कुतः ? 'प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः' । न हि प्रतिवर्णमर्था उपलभ्यन्ते । किमिदं प्रतिवर्णमिति ? वर्णं वर्णं प्रति प्रतिवर्णम् ॥

व्याख्या—**वर्ण अनर्थक हैं, प्रतिवर्ण अर्थ की उपलब्धि न होने से ।**

वर्ण अनर्थक हैं । कैसे ? 'प्रतिवर्ण अर्थ की उपलब्धि न होने से ।' प्रतिवर्ण अर्थ की उपलब्धि नहीं होती । 'प्रतिवर्ण' यह क्या है ? वर्ण वर्ण के प्रति = प्रतिवर्ण ।

विवरण—प्रतिवर्ण में वीप्सा में समास होने से जहां अनेक वर्णों का समुदाय होगा, उन्हीं के वर्णों की अनर्थकता इस वचन से कही है । एकवर्णरूप धातु प्रातिपदिक निपात आदि में तो धात्वादि का अर्थ देखा ही जाता है । एकवर्णवाले धात्वादि के अर्थों को स्वीकार करना भी शास्त्रीय दृष्टि से है । अन्यथा लोक में तो सुबन्त तिङन्तरूप शब्दसमुदाय से ही अर्थ की प्रतीति होती है । उस अवस्था में प्रकृति प्रत्यय आदि की कल्पना भी असत् ही है । **प्रतिवर्णम्**—में **प्रति वर्णम्** असमस्तरूप भी गृहीत हो सकता है, और समस्त रूप भी । अतः शब्द के स्वरूप के प्रति प्रश्न है—**किमिदं प्रतिवर्णम् । वर्णं वर्णं प्रति** के निर्देश से बताया है कि यहां वीप्सा में अव्ययीभाव समास जानना चाहिये ।

[भाष्यम्] वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात् ॥१५॥

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनान्मन्यामहे—'अनर्थका वर्णाः' इति । वर्णव्यत्यये—कृतेस्तर्कुः, कसेः सिकताः, हिंसेः सिंहः । वर्णव्यत्ययो नार्थव्यत्ययः । अपायो लोपः—हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् । वर्णापायो नार्थापायः । उपजन आगमः—लविता, लवितुम् । वर्णोपजनो नाऽर्थोपजनः । विकार आदेशः—घातयति, घातकः । वर्णविकारो नार्थविकारः । यथैव हि वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारा भवन्ति, तद्वदर्थव्यत्ययापायोपजनविकारैर्भवितव्यम् । न चेह तद्वत् । अतो मन्यामहे 'अनर्थका वर्णाः' इति ॥

व्याख्या—**वर्ण के व्यत्यय अपाय उपजन और विकार होने पर अर्थ दिखाई पड़ने से [वर्ण अनर्थक हैं] ।**

वर्ण के व्यत्यय (=बदलने), **अपाय** (=नाश=अदर्शन), **उपजन** (=आगम) **और विकार** (=आदेश) **होने पर अर्थ के देखे जाने से हम मानते हैं—'वर्ण अनर्थक हैं ।'** वर्णव्यत्यय—कृत धातु से तर्कुः[1], कस धातु से सिकताः[2], हिंस (=हिसि) धातु से सिंहः[3] [**शब्द वर्णों के आद्यन्तविपर्यय से निष्पन्न होते हैं । इनमें**] **वर्णों का व्यत्यय होता है, अर्थ का व्यत्यय नहीं देखा जाता है ।** अपाय=लोप—हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् । यहां [हन्

१. कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च । उणादि १।१६ से उ प्रत्यय ।
२. औणादिक (५।३४) इतच्प्रत्ययो बाहुलकात् कसेरपि ।
३. हिनस्तीति सिंहः, पचाद्यच् ।

धातु के] वर्ण का लोप (='हत:' में नकार का, अन्यों में अकार का) देखा जाता है, अर्थ का लोप नहीं देखा जाता। उपजन=आगम—लविता, लवितुम्। यहां [तृच् और तुमुन् प्रत्यय को इट् रूप] वर्ण का आगम देखा जाता है, अर्थ का आगम नहीं देखा जाता। विकार =आदेश—घातयति, घातकः। यहां [हन् धातु के हकार को घ रूप] वर्ण का आदेश देखा जाता है, अर्थ का आदेश नहीं देखा जाता। [वर्णों के अर्थवान् मानने पर] जैसे ही [उक्त प्रयोगों में] वर्ण का व्यत्यय अपाय उपजन और विकार होते हैं, उसी प्रकार अर्थ का व्यत्यय अपाय उपजन और विकार भी होने चाहियें। वैसे यहां नहीं देखे जाते हैं। इससे हम मानते हैं कि—'वर्ण अनर्थक हैं।'

विवरण—यह 'वर्णव्यत्यय' आदि वर्णों के आनर्थक्य का बोधक हेतु नहीं है, अपितु वर्णों के अर्थवत्व पक्ष में वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात् वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः हेतुओं की अनैकान्तता=हेतुओं के व्यभिचार का बोधक है।

[भाष्यम्] उभयमिदं वर्णषूक्तम्—'अर्थवन्तोऽनर्थकाः इति च' किमत्र न्याय्यम्? उभयमित्याह। कुतः? स्वभावतः। तद्यथा समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते, अपरे न। न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुम्। कश्चिद्वाऽनर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्—यद्धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता एकवर्णा अर्थवन्तोऽतोऽन्येऽनर्थका इति। स्वाभाविकमेतत्।

कथं य एष भवता वर्णानामर्थवत्तायां हेतुरुपदिष्टः—'अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनाद् वर्णव्यत्यये चाऽर्थान्तरगमनाद् वर्णानुपलब्धौ चाऽनर्थगतेः सङ्घातार्थवत्त्वाच्च' इति?

सङ्घातान्तराण्येवैतान्येवंजातीयकान्यर्थान्तरेषु वर्तन्ते—कूपः सूपो यूप इति। यदि हि वर्णव्यत्ययकृतमर्थान्तरगमनं स्यात्, भूयिष्ठः कूपार्थः सूपे स्यात्, सूपार्थश्च कूपे, कूपार्थश्च यूपे, यूपार्थश्च कूपे, सूपार्थश्च यूपे, यूपार्थश्च सूपे। यतस्तु खलु न किञ्चित्सूपस्य वा यूपे, यूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा यूपे, सूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा सूपे, यूपस्य वा सूपे। अतो मन्यामहे—'सङ्घातान्तराण्येतान्येवंजातीयकान्यर्थान्तरेषु वर्तन्ते' इति। इदं खल्वपि—भवता वर्णानामर्थवत्तां ब्रुवता साधीयोऽनर्थकत्वं द्योतितम्। यो हि मन्यते—यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य, य सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति, ऊपशब्दस्तस्याऽनर्थकः स्यात्।

तत्रेदमपरिहृतम्—'सङ्घातार्थवत्त्वाच्च' इति। एतस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञायां परिहारं वक्ष्यति॥

व्याख्या—वर्णों के विषय में दोनों बातें कहीं हैं—'वर्ण अर्थवान् हैं, और वर्ण अनर्थक हैं'। यहां न्याय्य क्या है? दोनों ही न्याय्य हैं। किस प्रकार? स्वभाव से। जैसे समानरूप से प्रयत्न करनेवालों और पढ़नेवालों में कुछ अर्थ (=अभीप्सित) युक्त हो जाते हैं, कुछ नहीं होते। यतः कोई अर्थवान् (अभीप्सित से युक्त) हो गया, इसलिये सब अर्थवान् नहीं हो

सकते, और अर्थ से रहित रह गये तो सभी अर्थ से रहित नहीं हो सकते । इस विषय में हम क्या कर सकते हैं कि धातु प्रातिपदिक प्रत्यय निपात एकवर्णरूप अर्थवान् होते हैं, और इनसे भिन्न वर्ण अनर्थक होते हैं । यह स्वाभाविक है ।

जो आपने वर्णों की अर्थवत्ता में हेतु दिये हैं—'वर्ण अर्थवान् हैं एकवर्णरूप धातु प्रातिपदिक प्रत्यय निपातों के अर्थ देखे जाने से', 'वर्ण के व्यत्यय होने पर अर्थान्तर की प्राप्ति होने से', 'वर्णों की अनुपलब्धि में अर्थ की गति न होने से', और संघात के अर्थवान् होने से' । इन का क्या समाधान होगा ?

इस प्रकार के समुदायान्तर ही इस प्रकार के अर्थान्तरों में विद्यमान हैं—कूपः सूपः यूपः । यदि इन में वर्णव्यत्ययकृत अर्थान्तर की प्राप्ति होवे, तो [इन शब्दों में 'ऊप' रूप अधिक भाग की समानता के कारण] कूप का अधिक अर्थ सूप में होवे, और सूप का अर्थ कूप में, कूप का अर्थ यूप में, और यूप का अर्थ कूप में, तथा सूप का अर्थ यूप में और यूप का अर्थ सूप में । यतः निश्चय से कुछ भी अर्थ सूप का यूप में, अथवा यूप का कूप में, अथवा कूप का यूप में, अथवा सूप का कूप में, अथवा कूप का सूप में, अथवा यूप का सूप में नहीं है । इससे हम मानते हैं कि—'इस प्रकार के (=कूप सूप यूपरूप) समुदायान्तर ही इस प्रकार के अर्थान्तरों में वर्तमान हैं ।' और भी—आपने वर्णों की अर्थवत्ता को कहते हुए [वर्णों की] अनर्थकता अच्छी प्रकार प्रकट कर दी । जो यह मानता है कि—जो कूप में कूपार्थ है वह ककार का है, जो सूप में सूपार्थ है वह सकार का है, और जो यूप में यूपार्थ है वह यकार का है, उसके मत में 'ऊप' शब्द तो अनर्थक होगा ।

वहां यह [दोष] अपरिहृत (=असमाहित) है—'संघात के अर्थवान् होने से भी वर्ण अर्थवान् हैं' । इसका भी प्रातिपदिक संज्ञा (अर्थवद्० १।२।४५ सूत्र के भाष्य) में परिहार [वार्तिककार] कहेंगे ।

विवरण—'संघातान्तराण्येवंजातीयकानि'—इस विषय को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इस प्रकार व्यक्त किया है—

न कूप-सूप-यूपानाम् अन्वयोऽर्थस्य विद्यते ।
अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते ॥ काण्ड २, कारिका १७० ॥

अर्थात्—कूप सूप यूप शब्दों में किसी अर्थ का अन्वय=अनुगमन=एकरूपता नहीं है । इसलिये इनमें समुदाय की ही अर्थान्तरवचनता जानी जाती है ।

एतस्यापि परिहारम्—प्रातिपदिक संज्ञाविधायक अर्थवद् (१।२।४५) सूत्र में वार्तिककार **'संघातस्यार्थवत्त्वाच्चेति चेद् दृष्टो ह्यतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः'** वार्तिक से उक्त दोष का समाधान करेंगे । वहीं भाष्यकार ने 'रथाङ्ग के दृष्टान्त द्वारा 'रथचक्र' के अवयवों में अदृष्ट गति के असामर्थ्यरूप गुण से समुदाय रथ-चक्र का गुणित्व गति-सामर्थ्य देखा जाता है' व्याख्यान किया है । भर्तृहरि ने **'दृष्टा ह्यन्यार्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थवत्ता सुराङ्गवत् रथाङ्गवदिति'** में सुराङ्ग का भी दृष्टान्त दिया है । कैयट ने भी भर्तृहरि वचन का ही अनुवदन किया है । महाभाष्य १।२।४५ के भाष्य में रथाङ्ग का दृष्टान्त तो मिलता है, पर सुराङ्ग का दृष्टान्त

उपलब्ध नहीं होता। क्या वहां भाष्य का पाठ नष्ट हुआ है, अथवा भर्तृहरि ने सुरङ्ग का दृष्टान्त अपनी ओर से जोड़ दिया है, यह विचारणीय है।

[भाष्यम्] अ इ उ ण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्—

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न।

य एतेऽक्षु प्रत्याहारार्था अनुबन्धाः क्रियन्ते, एतेषामज्ग्रहणेन ग्रहणं कस्मान्न भवति? किं च स्यात्? दधि णकारीयति, मधु णकारीयतीति 'इको यणचि' [६।१।७४] इति यणादेशः प्रसज्येत॥

व्याख्या—अ इ उ ण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च् [इन सूत्रों में]—

प्रत्याहार के निमित्त जो अनुबन्ध हैं, उनका अच् के ग्रहण में ग्रहण क्यों नहीं होता?

जो ये अचों के भीतर प्रत्याहारों के लिये [ण् क् ङ् च्] अनुबन्ध लगाये हैं, उनका अच् के ग्रहण से ग्रहण क्यों नहीं होता। क्या हो जायगा [=यदि अच् के ग्रहण से अनुबन्धों का ग्रहण होवे]? दधि णकारीयति, मधु णकारीयति, यहां इको यण् अचि (६।१।७४) से यणादेश हो जाये।

विवरण—पूर्व (पृष्ठ १५७, पं० ४-५) हकार के दो बार के पाठ पर विचार करते हुए सिद्धान्त किया था कि यहां वर्णों का उपदेश कार्यार्थ है, स्वरूप-निदर्शनार्थ नहीं है। तदनुसार **अइउण्** आदि सूत्रों में उपदिष्ट णकार आदि का पुनः पाठ भी कार्यार्थ होगा। इस प्रकार जैसे हकारों का विविध प्रत्याहारों के ग्रहण से ग्रहण होता है, उसी प्रकार अच् के ग्रहण से णकार आदि अनुबन्धों का भी ग्रहण होना चाहिये। इस आशङ्का को मन में रखकर वार्तिककार ने **प्रत्याहारेऽनुबन्धानाम्** वार्तिक पढ़ा है।

'प्रत्याहारे' का अर्थ नागेश ने लक्षणा से 'अक्षर-समाम्नाय' किया है। '**चर्मणि द्वीपिनं हन्ति**' (काशिका २।३।३६) के समान निमित्त सप्तमी मानने पर विना लक्षणा के भी शब्दार्थ उपपन्न हो जाता है। **अज्ग्रहणेषु**—का अर्थ नागेश ने 'अच् प्रत्याहार के ग्राहकसूत्रों में' किया है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—'यह विचार अक्षरसमाम्नाय से सम्बद्ध समस्त प्रत्याहारों के विषय में यथायोग्य जानना चाहिये। इस प्रकार यहां '**अज्ग्रहणेषु**' में बहुवचन 'अजादि ग्रहणों में' उपपन्न होता है। '**य एतेऽक्षु**'—अजादि प्रत्याहार विषयों में[1]।' नागेश ने खींचातानी से इस मत का खण्डन किया है।

[भाष्यम्] आचारात्

किमिदमाचारादिति? आचार्याणामुपचारात्। नैतेष्वाचार्या अच्कार्याणि कृतवन्तः।

---

१. श्लोकवार्तिकं व्याख्यातुं विषयत्वेनाक्षरसमाम्नायिकसकलप्रत्याहारविषयतया यथास्वमयं विचारो ज्ञेयः। एवं चाज्ग्रहणेषु इति बहुवचनमजादिग्रहणेषु इत्येवं सूपपन्नं भवति। अक्षु—अजादिप्रत्याहारविषयेषु। द्र०—हमारा हस्तलेख पृष्ठ १६०; मुद्रित पृष्ठ १८६।

अप्रधानत्वात्

अप्रधानत्वाच्च। न खल्वप्येतेषामक्षु प्राधान्येनोपदेशः क्रियते। क्व तर्हि? हल्षु। कुत एतत्? एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते—यत्तुल्यजातीयाँस्तुल्यजातीयेषूपदिशति—अचोऽक्षु हलो हल्षु।

लोपश्च बलवत्तरः ॥१॥

लोपः खल्वपि तावद् भवति ॥

व्याख्या—आचार से [अनुबन्धों का अज्ग्रहणों में ग्रहण नहीं होता]।

अह आचारात् क्या है (=इस का क्या अर्थ है)? आचार्यों के उपचार(=व्यवहार अथवा प्रयोग) से। इन (=अनुबन्धार्थ णकारादि) में आचार्य ने अच् कार्य नहीं किया है।

अप्रधान होने से [अनुबन्धों का अज्ग्रहणों में ग्रहण नहीं होता]।

और [अनुबन्धार्थ प्रयुक्त णकारादि वर्णों के] अप्रधान होने से [इनका अज्ग्रहणों में ग्रहण नहीं होता]। इन (=अनुबन्धार्थ पढ़े गये णकारादि) का अचों में प्रधानरूप से उपदेश नहीं किया है। तो कहां किया है? हलों में। यह कैसे जाना? यही आचार्य की शैली दिखाई पड़ती है—जो यह समानजातीय वर्णों का समानजातीय वर्णों में उपदेश करता है—अचों का अचों में, हलों का हलों में।

और लोप के अधिक बलवान् होने से भी [अनुबन्धों का अज्ग्रहणों में ग्रहण नहीं होता]।

लोप निश्चय से [प्रत्याहारसूत्र (=आदिरन्त्येन सहेता १।१।७०) की प्रवृत्ति से पूर्व ही] हो जाता है।

विवरण—आचार=व्यवहार। उपचार शब्द निरुक्त १।४ (द्र०—स्कन्द स्वामी की टीका)में 'प्रयोग' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1]। आचार्यों का व्यवहार अथवा प्रयोग—श्रीणीभुवोऽनुपसर्गे (३।३।२४), तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य (१।२।२५) यहां 'श्री' के आगे णकार और मृषि के इकार के आगे ककार का पाठ होने पर अच्कार्य इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश नहीं किया है। आचार्यस्य—नागेश ने प्रत्याहारसूत्रों को शिवप्रोक्त मानकर आचार्यपद से अनादि पुरुष (=महादेव) का ग्रहण किया है, जो चिन्त्य है। आचार्य शब्द यहां पाणिनि का ही बोधक है। इस विषय में देखें—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ११२ (संवत् २०३०)। शैली—शीलं=स्वभावः, तत्र भवा—शैली=स्वाभाविक प्रवृत्ति। कैयट आदि ने समवधानपूर्विका प्रवृत्तिः अर्थ किया है। भर्तृहरि और शिवरामेन्द्र सरस्वती ने समाधानपूर्विका प्रवृत्तिः लिखा है।

---

१. 'नेन्द्रं देवममंसत इति प्रतिषेधार्थीयः। पुरस्तादुपचारस्तस्य यत् प्रतिषेधति। दुर्मदासो न सुरायाम् इत्युपमार्थीयः। उपरिष्टादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति।' स्कन्दस्वामी की टीका से अन्यत्र 'उपाचारः' पद का प्रयोग मिलता है।

आचार्यस्य शैली लक्ष्यते—आचार्य की एक शैली यह भी है कि वह सर्वत्र प्रत्याहार की निष्पत्ति के लिये व्यञ्जनों का ही आश्रय लेता है, अचों का नहीं लेता। तथा व्यञ्जनों में सर्वत्र अकार का निर्देश उच्चारणार्थ करता है, प्रत्याहारार्थ नहीं करता। इस शैली के वर्तमान होने पर भी आधुनिक भर्तृहरि प्रभृति वैयाकरण '**लण्**' सूत्र में अकार को उच्चारणार्थ न मान कर प्रत्याहारार्थ इत्संज्ञक मानते हैं, और उसे रेफ से संयुक्त करके 'र' प्रत्याहार बनाते हैं। और उसका **उरण् रपरः** (१।१।५०) सूत्र में निर्देश मानकर ऋकार को रपर और ऌकार को लपर करते हैं। यह आचार्य की शैली से विपरीत होने से चिन्त्य है। नागेश भट्ट ने इसी प्रकरण में 'र' प्रत्याहार का खण्डन किया है। वह लिखता है—'**अतो लान्तस्य**'[1] (७।२।२) सूत्र में लकार के उच्चारण से '**लण्**' सूत्रस्थ अकार के अनुनासिकत्वाभाव का ज्ञापन होता है। इस प्रकार उसका अनुबन्धत्व ही नहीं है, किन्तु उच्चारणार्थत्व ही है। इसीलिये भाष्य में **अइउण्** इत्यादि चार सूत्रों का ही निर्देश करके प्रकृत विचार किया है। श्लोक में 'अज्ग्रहणेषु' ऐसा ही कहा है। तथा **उरण् रपरः** (१।१।५०) सूत्र में लपरत्व का उपसंख्यान ही करना चाहिये, ऐसा **तुल्यास्यप्रयत्नम्**० (१।१।९) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहेंगे। आश्चर्य इस बात का है कि यही नागेश भट्ट आगे **लण्** सूत्र के भाष्य में **उरण् रपरः** (१।१।५०) सूत्र के विचारप्रसंग में 'र' प्रत्याहार को स्वीकार करता है।

यदि कोई कहे कि अतुल्यजातीयों में णकारादि का पाठ होने से प्राधान्य माना जाये, तो इसका समाधान शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार किया है—'लोक में जैसे ब्राह्मण-सभा में दो चार अन्य वर्णस्थ व्यक्तियों के होने पर भी उनकी उपस्थितिमात्र से प्रधानता नहीं होती, उसी तरह यहां भी जानना चाहिये। वस्तुतः **आदिरन्त्येन सहेता** (१।१।७०) यहां '**अन्त्येन**' में '**सहयुक्तेऽप्रधाने**' (२।३।१९) से अप्रधान में तृतीया होने से अक्षर-समाम्नाय में इत्संज्ञकों का अप्राधान्य मानना उचित है।'[2]

लोपः तावद् भवति—अर्थात् सर्वतः प्रथम इत्संज्ञकों का लोप होता है। परत्व से अथवा नित्यत्व से **आदिरन्त्येन सहेता**(१।१।७०) से अच् संज्ञा विधान से पूर्व ही णकारादि इत्संज्ञकों का लोप हो जाता है। अतः उन के लोप हो जाने से उनकी अच् संज्ञा नहीं होती। अतः अनुबन्ध उच्चारणमात्र में हैं, इत्संज्ञा सम्बन्ध ही उन के उच्चारण का प्रयोजक है। वे स्वयं किसी कार्य को प्राप्त नहीं होते।

ऊकालोऽजिति वा योगस्तत्कालानां यथा भवेत्।
अचां ग्रहणमच्कार्यं तेनैषां न भविष्यति ॥२॥

१. सूत्रपाठेषु काशिकादिव्याख्यानग्रन्थेषूपलभ्यमानः '**अतो ल्रान्तस्य**' इत्यपपाठः।

२. ननु अतुल्यजातीयेषु पाठमात्रेणाप्राधान्यं कथ जातमिति चेत् शृणु, यथा ब्राह्मणसभायां द्वित्राः शूद्रा विद्यमाना अप्रधानभूताः, यथा वा शूद्रसभायां द्वित्रा ब्राह्मणाः, एवमच्समुदाये पठ्यमाना णकारादयोऽप्रधानभूता भवन्ति। हल्षु पठ्यमानोऽप्यकार इति। वस्तुतस्तु अन्त्येन सहेतेति अप्रधाने तृतीयानिर्देशादेवानुबन्धानामक्षरसमाम्नाये अप्राधान्यमुचितम्। हमारा हस्त-लेख, पृष्ठ १६१; मुद्रित पृष्ठ १६०।

अथवा योगविभागः करिष्यते—'ऊकालोऽच्' । उ ऊ ऊ३ इत्येवंकालोऽज् भवति । ततो 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः'—ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञश्च भवति—ऊकालोऽच् । एवमपि कुक्कुट इत्यत्रापि प्राप्नोति । तस्मात् पूर्वोक्त एव परिहारः ।

एष एवार्थः । अपर आह—

ह्रस्वादीनां वचनात् प्राग्यावत्तावदेव योगोऽस्तु ।
अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कालेष्वचु कार्याणि ॥

व्याख्या—'ऊकालोऽच्' इतना ही सूत्र होवे, जिससे तत्कालवाले अचों का ही ग्रहण 'अच्' पद से होवे।[1] इस से इनको (=अनुबन्धों को) अच् कार्य नहीं होगा।

अथवा योग-विभाग करेंगे—'ऊकालोऽच्' । उ ऊ ऊ३ ऐसे कालवाला अर्थात् एक मात्रिक दो मात्रिक और तीनमात्रिक कालवाला अच् होता है। उसके पश्चात् 'ह्रस्वदीर्घ-प्लुतः'—ह्रस्व दीर्घ प्लुतसंज्ञक होते हैं, क्रमशः उ ऊ ऊ३ कालवाले अच् । इस प्रकार कुक्कुट में भी [दो ककारों की अच् संज्ञा] प्राप्त होती है [क्योंकि दो ककारों का एक मात्राकाल है]। इसलिये पूर्वोक्त ही समाधान ठीक है।

यही [उक्त वार्तिक का] अर्थ है। दूसरे आचार्य कहते हैं—

ह्रस्वादि के वचन से पूर्व जितना भाग (=ऊकालोऽच्) है। उतना ही सूत्र होवे। जिस से तत्कालों (=एकमात्रिक द्विमात्रिक त्रिमात्रिकों) में ही अच् कार्य होवे। [इससे अर्ध-मात्रिक णकारादि अनुबन्धों में अच् कार्य नहीं होगा।]

विवरण—अचां ग्रहणमच्कार्यम्—इसका तात्पर्य है कि अचों का ग्रहण करके जो अच् कार्य कहा है, वह अनुबन्धरूप व्यञ्जनों को नहीं होगा, क्योंकि उनका काल आधी मात्रा है। अच्संज्ञा न्यूनातिन्यून एकमात्रिक को होती है।

पूर्वोक्त एव परिहारः—कैयट के अनुसार आक्षेप्ता अक्षरसमाम्नाय में ककाराकृति का उपदेश मानकर एकमात्राकाल का अच्त्व मानता है। यद्यपि इस विषय में **एओङ् ऐऔच्** सूत्र के भाष्य में कहा हुआ **न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति** (द्र०—पृष्ठ १५२) समाधान दिया जा सकता है, पुनरपि यहां पूर्वोक्त समाधान के सर्वथा निर्दुष्ट होने से उसे ही सिद्धान्तरूप से स्वीकार करने के लिये इस पक्ष का उपपादन नहीं किया। हमारा विचार है कि यहां **'तस्मात् पूर्वोक्त एव परिहारः'** से **'एओङ् ऐऔच्'** सूत्र भाष्योक्त **'न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति'** का ही निर्देश है। **'तस्मात्'** पद यहां 'तत्र' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। ऐसा मानने से द्वितीय श्लोक-वार्तिक द्वारा किया गया समाधान भी निर्दुष्ट हो जाता है, और अगला शब्दान्तर-संनिर्दिष्ट समाधान भी। अन्यथा उसमें भी यही दोष उपस्थित होगा।

एष एवार्थः—जो अभिप्राय **'ऊकालोऽच्०'** श्लोकवार्तिक से आचार्य ने कहा है, वही अर्थ अन्य आचार्य ने **'ह्रस्वादीनां०'** वार्तिक से कहा है।

---

१. तत्कालानामचां ग्रहणमच्पदेन यथा स्यादिति योगविभागः कार्य इत्यन्वय इति नागेशः।

[भाष्यम्] अथ किमर्थमन्तःस्थानामण्सूपदेशः क्रियते ? इह सय्ँय्ँयन्ता सव्ँव्ँवत्सरः यल्ँल्ँलोकं तल्ँल्ँलोकमिति परसवर्णस्यासिद्धत्वादनुस्वारस्यैव द्विर्वचनम्। तत्र परस्य परसवर्णे कृते तस्य यय्ग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत्—'द्विर्वचने परसवर्णत्वं सिद्धं वक्तव्यम्' इति। यावता सिद्धत्वमुच्यते, परसवर्ण एव तावद् भवति ॥

व्याख्या—अन्तःस्थों का अणों में किसलिये उपदेश किया जाता है ? यहां सय्ँय्ँयन्ता, सव्ँव्ँवत्सरः, यल्ँल्ँलोकम्, तल्ँल्ँलोकम् में परसवर्ण के असिद्ध होने से अनुस्वार को ही द्विर्वचन होता है। वहां (=दो अनुस्वारों में से) पर अनुस्वार को परसवर्ण (=सानुनासिक अन्तःस्थ आदेश) कर देने पर उसका 'यय्' ग्रहण से ग्रहण होने से पूर्व [अनुस्वार] को भी परसवर्ण (=सानुनासिक अन्तःस्थ आदेश) हो जावे। यह प्रयोजन नहीं है। आगे आचार्य कहेंगे—'द्विर्वचन में परसवर्णत्व को सिद्ध कहना चाहिये'। जब [परसवर्ण का] सिद्धत्व कहा जाता है, तब पहले परसवर्ण (=अनुस्वार को सानुनासिक अन्तःस्थवर्ण) ही होता है।

विवरण—अणों में अन्तःस्थों के उपदेश का प्रयोजन है—**अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६८) से यकारादि अपने सवर्णों का ग्रहण करें। इण् प्रत्याहार की दृष्टि से अन्तस्थों का इसी स्थान पर उपदेश करना आवश्यक है। जिससे इण् के ग्रहण से अन्तस्थों का ग्रहण होकर **इण्कोः** (८।३।५७) के अधिकार में **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५९)से गीर्षु धूर्षु में रेफ से उत्तर मूर्धन्य हो जावे। **अण् सवर्णान् गृह्णाति** इस नियम के अनुसार अन्तःस्थों के यहां पाठ में कुछ फल है वा नहीं, इतना ही इस विचार का प्रयोजन है।

टीकाकारों ने 'इण् के लिये अन्तःस्थों का यहां पाठ आवश्यक है' यह मानकर लिखा है कि भाष्यकार का अभिप्राय यह नहीं है कि—'यहां अन्तःस्थों का पाठ क्यों किया ? अपितु उनका अभिप्राय यह है कि **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६८) में 'अजुदित्' ग्रहण क्यों नहीं किया' हमारे विचार में एकदेश (=अण्विषयक अन्तःस्थों के पाठ) में भाष्यपङ्क्ति यथावत् उपपन्न हो जाती है, तब उसका अन्यथा व्याख्यान करना क्लिष्ट कल्पनामात्र ही है। यदि भाष्यकार को यही अभिप्राय इष्ट होता कि 'अणुदित्' सूत्र में 'अजुदित्' क्यों नहीं पढ़ा, तो वे उसी रूप में प्रश्न कर सकते थे।

[भाष्यम्] परसवर्णे तर्हि कृते तस्य यय्ग्रहणेन ग्रहणाद् द्विर्वचनं यथा स्यात्। मा भूद् द्विर्वचनम्। ननु च भेदो भवति—सति द्विर्वचने त्रियकारकम्, असति द्विर्वचने द्वियकारकम्। नास्ति भेदः। सत्यपि द्विर्वचने द्वियकारकमेव। कथम् ? 'हलो यमां यमि लोपः' [८।४।६३] इत्येवमेकस्य लोपेन भवितव्यम्। एवमपि भेदः। सति द्विर्वचने कदाचिद् द्वियकारकम्, कदाचित् त्रियकारकम्। असति द्वियकारकमेव। स एष कथं भेदो न स्यात् ? यदि नित्यो लोपः स्यात्। विभाषा च स लोपः। यथाऽभेदस्तथाऽस्तु ॥

व्याख्या—परसवर्ण (=अनुस्वार को सानुनासिक अन्तःस्थादेश) कर लेने पर उस(=

सानुनासिक अन्तस्थ वर्ण का) 'यर्' के ग्रहण से ग्रहण होने से द्विर्वचन हो जावे। द्विर्वचन न होवे। [द्विर्वचन न करने पर शब्द के रूप में] भेद होता है—द्विर्वचन करने पर तीन यकार-वाला ('सय्ँय्ँयन्ता' रूप)होगा और द्विर्वचन न करने पर दो यकारवाला (सयँयन्ता)। कोई भेद नहीं है। द्विर्वचन करने पर भी दो यकारवाला ही रूप होगा। कैसे? हलो यमां यमि लोपः (८।४।६३) [=हल् से परे जो यम् उसका लोप होता है, यम् परे रहने पर]इससे एक (यकार) का लोप होना चाहिये। इस प्रकार (='हलो यमां यमि लोपः' से एक यकार का लोप होने पर) भी भेद ही होता है। द्विर्वचन करने पर [लोप का विकल्प होने से] कभी [लोप होने पर] दो यकारवालारूप होगा, कभी [लोप न होने पर] तीन यकारवालारूप। [द्विर्वचन] न होने पर दो यकारवाला ही रूप होगा। यह भेद कैसे नहीं होगा? यदि लोप नित्य होवे [तो भेद न होवे] वह लोप तो विभाषा होता है। जैसे भेद न होवे वैसे ही होवे।

विवरण— 'विभाषा च'—यहां 'च' पद 'तु' के अर्थ में है—'विभाषा तु स लोप इत्यर्थः। **ननु च भेदो भवति**—का अर्थ कैयट ने 'श्रुतिकृत भेद' किया है। हमारे विचार में यहां वर्ण संख्या का गणनाकृत भेद ही मानना चाहिये। महाभाष्यकार ६।४।२२ तथा ७।१।७२ में कहेंगे—'**न व्यञ्जनपरस्यानेकस्यैकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति**' (=व्यञ्जन से परे दो समानवर्णों के अथवा व्यञ्जन परे है जिसके ऐसे पूर्व दो समान वर्णों के श्रवण में कोई भेद नहीं है। अतः कैयट का लेख महाभाष्य से विरुद्ध है। श्रुतिभेद के लिये उच्चारण भेद होना ही चाहिये। अतः भाष्यकार के उक्त वचन से यह भी गतार्थ होता है कि व्यञ्जन से परे अथवा व्यञ्जन परे रहने पर दो समान व्यञ्जनों का उच्चारण ही नहीं होता है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि यदि व्यञ्जन से परे कि वा व्यञ्जन परे रहने पर दो समान व्यञ्जनों का उच्चारण नहीं होता, और श्रुतिभेद नहीं होता,तो शास्त्रकारों ने व्यञ्जनों के द्वित्व का विधान ही क्यों किया? इसका उत्तर हमें किसी ग्रन्थ में नहीं मिला। परन्तु उच्चारण पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि **कर्ता आर्य** में रेफ सामान्य प्रयत्न से बोला जाता है, **कर्त्ता आर्य्य** में रेफ पर कुछ बल दिया जाता है। इसे याज्ञवल्क्यशिक्षा के अनुसार प्रथम में रेफ को लघु और द्वितीय में रेफ को गुरु कह सकते हैं (वहां गुरु लघु लघुतर भेद य व के ही कहे हैं, उनका ही हमने अतिदेश किया है)। इसी प्रकार **प्रत्न वल्मीक** में तकार लकार का उच्चारण सामान्य प्रयत्न से होगा,और **प्रत्त्न वल्ल्मीक** में तकार और लकार का उच्चारण बल देकर किया जायेगा (पूर्ववत् यहां भी लघु गुरु भेद जानना चाहिये)। **संयोगे गुरु**(१।४।११) से विहित गुरु संज्ञा का भी यही प्रयोजन है। **यजति यज्ञ** यहां पूर्व उदाहरण में अकार लघु है,उसका सामान्य प्रयत्न से उच्चारण होता है। यज्ञ में गुरु अकार के उच्चारण में बल दिया जाता है। इस व्याख्या के अनुसार सूत्रकार का द्विर्वचन का शासन भी अपने स्थान पर यथावत् उपपन्न हो जाता है और भाष्यकार का कथन 'श्रुतिभेद' (=एक से अधिक व्यञ्जनों का सुनाई पड़ना) नहीं होता' भी उपपन्न हो जाता है। **यथाऽभेदः**—का तात्पर्य कैयट के अनुसार है—'विभाषा की अनुवृत्ति न आवे'। भाष्यकार के **न व्यञ्जनपरस्य** इत्यादि वचन के अनुसार अर्थ होगा—चाहे विभाषा की अनुवृत्ति आवे, चाहे न आवे। श्रुति में कोई भेद नहीं होता।

[भाष्यम्] अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि यद्वारयत्ययं द्वित्वम् ।

यदयं 'शरोऽचि' [८।४।४८] इति द्विर्वचनप्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः 'अनुवर्तते विभाषा' इति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

नित्ये हि तस्य लोपे प्रतिषेधार्थो न कश्चित् स्यात् ॥

यदि नित्यो लोपः स्यात्, प्रतिषेधवचनमनर्थकं स्यात् । अस्त्वत्र द्विर्वचनम्, 'झरो झरि सवर्णे' [८।४।६४] इति लोपो भविष्यति, पश्यति त्वाचार्यो 'विभाषा स लोपः' इति, ततो द्विर्वचनप्रतिषेधं शास्ति ॥

व्याख्या—विभाषा का अनुवर्तन है, जो 'शरोऽचि' से द्वित्व का वारण आचार्य करते हैं ।

जो यह आचार्य 'शरोऽचि' (८।४।४८) [=अच् परे रहने पर अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४५) से प्राप्त शर् को द्विर्वचन नहीं होता—कर्षः वर्षः] से द्विर्वचन का प्रतिषेध करते हैं, वे ज्ञापन करते हैं कि [लोप विषय में] विभाषा की अनुवृत्ति आती है। यह ज्ञापक कैसे है ?

उसके नित्य लोप होने पर प्रतिषेध का कोई प्रयोजन न होवे ।

यदि लोप (८।४।६४) नित्य होवे तो प्रतिषेधवचन अनर्थक हो जावे । [कर्षति वर्षति] यहां [रेफ से उत्तर षकार को] द्विर्वचन हो जावे, झरो झरि सवर्णे (८।४।६४)[=हल् से उत्तर झर् का लोप होता है, सवर्ण झर् परे रहने पर] से [एक षकार का] लोप हो जायेगा। आचार्य देखते हैं कि वह (=झर् का) लोप विभाषा है, अर्थात् सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति है । इस कारण द्विर्वचन का प्रतिषेध करते हैं ।

विवरण—'अनुवर्तते विभाषा'—'वा पदान्तस्य' (८।४।५८)से विकल्पार्थक 'वा' की अनुवृत्ति आ रही है । विभाषा स लोपः—'झरो झरि सवर्णे' में विकल्प की अनुवृत्ति आने पर हलो यमां यमि लोपः इस पूर्व सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति आयेगी ही । उसके आने पर रूपभेद अवश्य होगा ।

[भाष्यम्] नैतदस्ति ज्ञापकम् । नित्येऽपि तस्य लोपे स प्रतिषेधोऽवश्यं वक्तव्यः । यदेतत् 'अचो रहाभ्याम्' [८।४।४५] इति द्विर्वचनम्, लोपापवादः स विज्ञायते । कथम् ? 'यरः' इत्युच्यते । एतावन्तश्च यरो यदुत झरो वा यमो वा । यदि चाऽत्र नित्यो लोपः स्याद् द्विर्वचनमनर्थकं स्यात् । किं तर्हि तयोर्योगयोरुदाहरणम् ? यदकृते द्विर्वचने त्रिव्यञ्जनः संयोगः—प्रत्तम् अवत्तम् आदित्य्यः । इहेदानीं कर्त्ता हर्त्तेति द्विर्वचनसामर्थ्याल्लोपो न भवत्येवमिहापि लोपो न स्यात्कर्षति वर्षतीति । तस्मान्नित्येऽपि लोपेऽवश्यं स प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

तदेतदत्यन्तं सन्दिग्धं वर्त्तते आचार्याणाम्—'विभाषाऽनुवर्त्तते नवा' इति ॥५॥

व्याख्या—यह ज्ञापक नहीं है। झरो झरि सवर्णे से प्राप्त षकार के नित्य लोप होने पर भी वह [शरोऽचि] प्रतिषेध अवश्य कहना चाहिये। जो यह अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४५) [=अच् से उत्तर जो रेफ हकार उनसे परे यर् को द्विर्वचन होता है] से द्विर्वचन कहा है, वह लोप का अपवाद जाना जाता है। कैसे ? 'यरः' (यर् के स्थान में) ऐसा कहा है। इतने ही यर् हैं, जो झर् हैं और यम् हैं। यदि यहां नित्य लोप होवे तो द्विर्वचन अनर्थक हो जावे। तो फिर उन दोनों (=हलो यमां यमि लोपः, झरो झरि सवर्णे ८।४।६४-६५) सूत्रों का क्या उदाहरण है, अर्थात् इनसे यम् और झर् का कहां लोप होगा ? जहां द्विर्वचन विना किये तीन व्यञ्जन वाला संयोग है—प्रत्तम् अवत्तम् आदित्य्यः। और यहां कर्त्ता हर्त्ता में द्विर्वचन सामर्थ्य से लोप नहीं होता। इसी प्रकार यहां भी लोप न होवे—कर्षति वर्षति। इसलिये लोप के नित्य होने पर भी वह [शरोऽचि] प्रतिषेध अवश्य कहना चाहिये।

इस प्रकार यह अत्यन्त संदिग्ध है आचार्यों के लिये भी कि विभाषा की अनुवृत्ति है वा नहीं है।

विवरण—लोपापवादः सः (द्विर्वचनम्)—'चतुर्ष्षु' इत्यादि में लोप की अप्राप्ति में अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४५) से द्विर्वचन कहा है, तथापि द्विर्वचन कर लेने पर एक षकार का लोप हो जाने पर द्विर्वचन विधान व्यर्थ होता है, इसलिये भाष्यकार ने कहा है—'अचो रहाभ्यां द्वे' लोप का अपवाद है। 'चतुर्ष्षु' उदाहरण शिवरामेन्द्र सरस्वती ने दिया है। नागेश ने 'हर्य्यनुभवः' का निर्देश करके यही प्रसंग लिखा है।

प्रत्तम् अवत्तम्—यहां प्र और अवपूर्वक दा धातु से क्त प्रत्यय के परे रहने पर अच उपसर्गात्तः (७।४।४७) से अजन्त प्र और अव उपसर्ग से उत्तर 'दा' धातु को 'त्' (=दो तकार) आदेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय परे रहने पर। सो यह 'त्' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'दा' धातु के स्थान पर होगा। प्र दा त=प्र त्त् त=प्रत्तम्, अवत्तम्। यहां विना द्विर्वचन के ही तीन व्यञ्जनों का संयोग है। **आदित्य्यः** यहां 'आदित्य' शब्द से भवादि अर्थ में दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः (४।१।८५) से 'ण्य' प्रत्यय होता है। यस्येति च (६।४।१४८) से अकार का लोप हो जाने पर एक तकार और दो यकार=तीन व्यञ्जनों का संयोग है। कुछ मुद्रित पुस्तकों में **आदित्त्य** ऐसा तीन तकार वाला पाठ मिलता है वह अशुद्ध है।

अत्यन्तं सन्दिग्धम्—इसका भाव भर्तृहरि ने इस प्रकार प्रकट किया है—'ज्ञापक आदि अनुमित विभाषा की अनुवृत्ति ज्ञापकों के अनैकान्तिक होने से 'ज्ञापक अनुमित विभाषा अनुवृत्ति' भी सन्दिग्ध ही होती है"। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—'जिस कारण लोप के नित्य होने पर भी शरोऽचि (८।४।४८) प्रतिषेध करना ही पड़ता है। इस कारण 'वा' ग्रहण का अनुवर्तन सन्दिग्ध है, अर्थात् शरोऽचि से इसका निर्णय नहीं हो सकता। इस प्रकार 'वा' ग्रहण की अनुवृत्ति में सम्प्रदाय परम्परा ही प्रमाण है।' महाभाष्यकार आगे लण् (प्रत्याहार सूत्र ६) के भाष्य (पृष्ठ १९२) में विभाषा स लोपः अर्थात् 'विभाषा की अनुवृत्ति आती है' ऐसा कहेंगे।

—:०:—

[भाष्यम्] लण् ॥६॥

अयं णकारो द्विरनुबध्यते—पूर्वश्चैव परश्च । तत्राऽण्ग्रहणेष्विण्ग्रहणेषु च सन्देहो भवति 'पूर्वेण वा स्युः,परेण वा' इति । कतमस्मिंस्तावद् अण्ग्रहणे सन्देहः ? 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' [६।३।११०] इति ॥

व्याख्या—यह णकार दो बार अनुबन्ध के रूप में लगाया जाता है—पूर्व(='अ इ उ ण्' सूत्र में) भी और पर (='ल ण्' सूत्र में) । वहां (णकारानुबन्ध साध्य) अण् प्रत्याहार के ग्रहणों में और इण् प्रत्याहार के ग्रहणों में सन्देह होता है—[वह अण् वा इण् का ग्रहण] पूर्व णकार से होवे अथवा पर णकार से । किस अण् ग्रहण में सन्देह होता है ? ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण: (६।३।११०) में ।

विवरण—भर्तृहरि ने लिखा है—'इस प्रकरण में छः पक्ष उपस्थापित किये हैं—आसत्ति व्याप्ति सामर्थ्य प्रसिद्धि लिङ्ग और लाघव । इनके अनुसार भाष्य की व्याख्या भर्तृहरि-कृत दीपिका में ही देखनी चाहिये । कैयट आदि ने 'क्या प्रत्यासत्ति आश्रित है,अथवा व्याप्ति?' दो पक्षों का ही उपपादन किया है । अर्थात् कहां प्रत्यासत्ति(=पूर्व णकार से ग्रहण)इष्ट है, और कहां व्याप्ति (=पर णकार से ग्रहण) ।

कतमस्मिन्—यहां अनेक अण् ग्रहणों और इण् ग्रहणों में से एक को पृथक् करके प्रश्न किया है । कहीं-कहीं **कतरस्मिन्** पाठ भी है । यह पाठ भी '**किं यत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्**(५।३।९२)में 'द्वयोः' उपाधि के प्रत्याख्यान कर देने से उपपन्न होता है, यह नागेश का कथन है ।

[भाष्यम्] असन्दिग्धम्[1]

असन्दिग्धम्[2] । पूर्वेण, न परेण । कुत एतत् ?

पराऽभावात्

नहि ढ्रलोपे परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—आतृढः, आवृढ इति । एवं तर्हि सामर्थ्यात् पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्याद् अण्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । 'ढ्रलोपे

१. क्वचिदयं वार्तिकांशो नोपलभ्यते । परन्तु श्लोकवार्तिकस्याद्यंशत्वाद् अस्येह निर्देशो ह्यावश्यक: । तथा ह्याह छायाकारो वैद्यनाथ: पायगुण्ड:—

"असन्दिग्धं पराभावात् सवर्णेऽण् तपरं ह्यृ ऋत् ।
य्वोरन्यत्र परेणेण् स्याद् व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः ॥

इति श्लोकवार्तिकं खण्डशो व्याचष्टे—असन्दिग्धमिति । इदं चाक्षिप्तं भवति—क्रियाविशेषणम् ।"

२. क्रियाविशेषणत्वात् 'वर्तते' पदमध्याहृत्य सर्वत्र स्वतन्त्रं वाक्यं ज्ञेयम्—'असन्दिग्धं वर्तते' इति ।

पूर्वस्य दीर्घोऽचः' इत्येव ब्रूयात् । अथवैतदपि न ब्रूयात् । अचो ह्येतद्भवति 'ह्रस्वो दीर्घः प्लुतः' इति ॥

व्याख्या—**असन्दिग्ध है [पूर्व णकार से ग्रहण है] ।**

असन्दिग्ध है । पूर्व [णकार] से ग्रहण है, पर [णकार] से [ग्रहण] नहीं है । यह कैसे? पर [णकार से गृह्यमाण वर्णों] का अभाव होने से ।

ढकार और रेफ के लोप के परे पर अण् (=पर णकार से अण् प्रत्याहार में गृहीत होनेवाले वर्ण) नहीं है । यह जो है—आतृढः आवृढः । [यहां ढकार के लोप परे रहने पर परणकार ऋकार है (देखो विवरण) ।] अच्छा तो [अण् ग्रहण] सामर्थ्य से पूर्व णकार से ग्रहण है, पर णकार से ग्रहण नहीं है । यदि पर णकार से ग्रहण होवे, तो अण् का ग्रहण अनर्थक होवे—'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः' इतना ही कहे । अथवा यह (=अचः) भी न कहे । अचों को ही ये ह्रस्व दीर्घ प्लुत कार्य होते है ।

विवरण—असन्दिग्धम्—यह स्वभावतः आक्षिप्यमाण 'भवति' क्रिया का विशेषण है । अर्थात् 'असन्दिग्धम्' क्रियाविशेषण है ।[1]

'आतृढः आवृढः'—आङ्पूर्वक तृह वृह धातु से क्त प्रत्यय । उसके परे कित्वाद् गुणाभाव होने पर **हो ढः** (८।२।३१) से ह को ढ, **झषस्तथोर्धोऽधः** (८।२।४०) से 'त' को धकारादेश, **ष्टुना ष्टुः** (८।४।४०) से ढ के योग में धकार को ढकार, **ढो ढे लोपः** (८।३।१३) से पूर्व ढकार का लोप । इस ढकार लोप से पूर्व ऋकार को पर णकार से अण् प्रत्याहार मानने पर दीर्घ प्राप्त होता है । **इत्येव**—यद्यपि **अणः** अथवा **अचः** कहने में कोई शब्दकृत लाघव नहीं है, फिर भी वर्णग्रहण कृत लाघव है । पर णकार से **'अणः'** कहने पर लकार पर्यन्त वर्णों का ग्रहण होता है, **'अचः'** कहने में औ पर्यन्त वर्णों का ही ग्रहण होता है । इसी लाघव की दृष्टि से **इत्येव** कहा, अन्यथा **इत्येवं** कहना चाहिये था । **अचो ह्येतद् भवति**—ह्रस्व दीर्घ प्लुतों के शासन में **अचश्च** (१।२।२८) सूत्र से **'अचः'** पद के उपस्थित होने से अचों को ही ह्रस्व दीर्घ प्लुत होते हैं ।

उद्योतकार नागेश ने **'वर्ढा'** में पर णकार से अण् के ग्रहण होने पर रेफ को दीर्घ ऋकार की प्राप्ति का समाधान **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** परिभाषा से दर्शाया है । छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड ने भी इसकी व्याख्या में रेफ को दीर्घ ॠकार हो जाने पर ढ-लोप को असिद्ध मानकर **उपधायाश्च** (७।१।१०१) से इत्वादेश और रपर होने पर **'आद् गुणः'** (६।१।८४) से गुण होकर 'वेर्ढा' अनिष्ट रूप की प्राप्ति दर्शाई है । नागेश आदि का 'वर्ढा' उदाहरण में रेफ को दीर्घ ॠकार की प्राप्ति दर्शाना ही चिन्त्य है, क्योंकि **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** में पर णकार से अण् ग्रहण मानने पर भी **'अचश्च'** से 'अचः' की उपस्थिति तो होगी ही । उस अवस्था में 'ढकार वा रेफ लोप के परे **अण् जो अच्** उसको दीर्घ होता है' ऐसा अर्थ

१ द्र०—इस स्थान पर मूल पाठ पर निर्दिष्ट टिप्पणी १ ।

जाना जायेगा। रेफ अच् है ही नहीं, अतः इसको दीर्घ की प्राप्ति भी नहीं होगी। इसीलिये भाष्यकार ने कहा—**'अचः' इत्येव। अथवा एतदपि न ब्रूयात्।**

[भाष्यम्] अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—'केऽणः' [७।४।१३] इति। असन्दिग्धम्। पूर्वेण, न परेण। कुत एतत्? 'पराऽभावात्'। नहि के परेऽणः सन्ति। ननु चायमस्ति—'गोका' 'नौका' इति। एवं तर्हि सामर्थ्यात् पूर्वेण, न परेण। यदि हि परेण स्याद् अण्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। 'केऽचः' इत्येव ब्रूयात्। अथवैतदपि न ब्रूयात्। अचो ह्येतद् भवति 'ह्रस्वो दीर्घः प्लुतः' इति॥

व्याख्या—**अच्छा तो इस अण् ग्रहण में सन्देह है—केऽणः (७।४।१३)। असन्दिग्ध है। पूर्व णकार से ग्रहण है,** पर णकार से ग्रहण नहीं है। **यह कैसे ? पर [अण् प्रत्याहार से गृह्यमाण पर वर्णों] के न होने से। 'क' [प्रत्यय] के परे पर अण् नहीं हैं। यह जो है—** गोका नौका। **अच्छा तो [अण् ग्रहण के] सामर्थ्य से पूर्व णकार से ग्रहण है, पर णकार से ग्रहण नहीं है। यदि पर णकार से ग्रहण होवे, तो अण् ग्रहण अनर्थक होवे,** केऽचः **इतना ही कहे, अथवा यह** (=अचः) **भी न कहे। अचों को ही ये ह्रस्व दीर्घ प्लुत कार्य होते हैं।**

विवरण—यहां भी **नहि के परेऽणः सन्ति** लेख पर कैयट ने लिखा है—**अल्पा उपानत् उपानत्का** में **केऽणः** (७।४।१३) से ह्रस्वत्व प्रसङ्ग में **नहो धः** (८।२।३४) से कृत धकार के असिद्ध होने पर हकार और अण् मिलता है, इसी प्रकार **गीष्का** में विसर्ग के असिद्ध होने से रेफ पर अण् है। पर णकार से अण् के ग्रहण में इनमें दोष आवेगा। इसके उत्तर में कैयट शिवरामेन्द्र सरस्वती आदि ने **न मु ने** (८।२।३) सूत्र में **'न'** योगविभाग से धत्वादि के असिद्धत्व का प्रतिषेध कर देने से दोषाभाव कहा है। नागेश ने **'न मु ने'** सूत्र के योगविभाग के भाष्यासंमत होने तथा भाष्यकार के **गोका नौका** उदाहरण देने से उपानत्का गीष्का प्रयोग अनभिधान से नहीं होते, यह कहना उचित ठहराया है।

ये सभी टीकाकार व्यर्थ में खींचातानी करके भाष्य के कथन में कहीं स्खलन दिखाकर अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देते हैं, पर भाष्यकार को **अशेषशेमुषी-सम्पन्न** (=सर्वज्ञ) मानते हुए ये लोग इतना भी नहीं सोचते कि क्या हमारे द्वारा उद्भावित न्यूनताएं भाष्यकार की अशेषशेमुषी में नहीं आईं ? वास्तविकता यह है कि भाष्यकार प्रस्तुत दीर्घ ह्रस्व विधायक सूत्रों में 'अचश्च' परिभाषा की उपस्थिति मानकर (=अणों में जो अच्, ऐसा अर्थ मानकर) यह जानते हैं कि **उपानत्का गीष्का** में असिद्ध होकर भी जो ह् र् वर्ण उपस्थित होते हैं, उनमें ह्रस्वत्व की प्राप्ति ही नहीं होती, तो दोष कहां आयेगा ?

[भाष्यम्] अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' [८।४।५६] इति। असन्दिग्धम्। पूर्वेण, न परेण। कुत एतत्? पराऽभावात्। न हि पदान्ताः परेऽणः सन्ति। ननु चायमस्ति 'कर्तृ हर्तृ' इति। एवं तर्हि सामर्थ्यात् पूर्वेण, न परेण। यदि हि परेण स्याद् अण्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। 'अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' इत्येव ब्रूयात्। अथवैतदपि न ब्रूयात्, अच एव हि प्रगृह्या भवन्ति॥

व्याख्या—अच्छा तो इस अण् ग्रहण में सन्देह है—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः(८।४।५६)। असन्दिग्ध है। पूर्व णकार से ग्रहण है, पर णकार से ग्रहण नहीं है। यह कैसे ? पर [अण् प्रत्याहार से गृह्यमाण पर वर्णों] के न होने से। पदान्त में पर अण् नहीं हैं। यह जो है—कर्तृ हर्तृ। अच्छा तो [अण् ग्रहण के] सामर्थ्य से पूर्व णकार से ग्रहण है, पर णकार से ग्रहण नहीं है। यदि पर णकार से ग्रहण होवे,तो अण् का ग्रहण अनर्थक होवे। 'अचोऽप्रगृह्य-स्यानुनासिकः' इतना ही कह देवें। अथवा यह भी न कहे अच् ही प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं। [उनका प्रतिषेध करने से तत्सदृश अचों को ही अनुनासिक आदेश होगा।]

विवरण—यद्यपि **अणोऽप्रगृह्यस्य** (८।४।५६) सूत्र में पदान्त की अनुवृत्ति नहीं है,तथापि **वाऽवसाने** (८।४।५५) से 'अवसाने' की अनुवृत्ति है, अवसान से पूर्व वर्ण पदान्त में ही वर्तमान होता है। अतः भाष्यकार ने **'नहि पदान्ता अणः सन्ति'** ऐसा कहा है। **कर्तृ हर्तृ** नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया का एकवचन है।

कैयट ने **वृक्षव् करोति** उदाहरण में पदान्त वकार को अनुनासिकत्व की प्राप्ति दर्शाई है। उक्त उदाहरण में पदान्त पर अण् से ग्रहणार्ह 'व्' है। यहां 'वृक्षव्' इतना स्वरूप ही उदाहरणरूप में अभिप्रेत है। क्योंकि अवसान संज्ञा वाक्य के अन्त में होती है—**विरामोऽवसानम्** (१।४।१०९)। अतः 'करोति' पद परे अवसान के अभाव से वह उदाहरणाङ्ग नहीं हो सकता। 'वृक्षव्' जब अवसान में होगा, तब **अणोऽप्रगृह्यस्य** सूत्र में पर णकार से प्रत्याहार के ग्रहण में अनुनासिक प्राप्त होता है। इसका समाधान कैयट और शिवरामेन्द्र ने **'अप्रगृह्यस्य में नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः'** (=नञ् और इव से युक्त में तत्सदृश अर्थ की प्रतीति होती है) न्याय (द्र०—महाभाष्य ३।१।१२) से प्रगृह्य संज्ञा यतः अचों की ही होती है, अतः अप्रगृह्य ग्रहण से भी अजन्तों को ही अनुनासिक होगा, हल् 'व्' को अनुनासिक नहीं होगा' इस प्रकार किया है।

कैयट ने **'वृक्षव्'** की सिद्धि इस प्रकार की है—**वृक्षं वृश्चतीति** इस अर्थ में वृक्षपूर्वक व्रश्च् से क्विप् प्रत्यय, **ग्रहिज्यावयिव्यधि** (६।१।१६) से सम्प्रसारण—वृक्ष-वृश्च्। **वृक्षवृश्चं आचष्टे—तत्करोति तदाचष्टे** (महा० ३।१।२६; धातुसूत्र १०।३३८, ३३९) से णिच् **णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य** (६।४।१५५) से इष्ठवद्भाव होकर **टेः** (६।४।१५५) से 'टि' (=ऋश्च्) का लोप। णिजन्त से विच् प्रत्यय, विच् के वकार का **वेरपृक्तस्य** (६।१।६५) से लोप—**वृक्षव्**। ऐसी ही साधनिका ८।३।१७ के भाष्य के व्याख्यान में भी कैयट ने दर्शाई है। वहां किन्हीं व्याख्याकारों के मत में **'वृक्षवन्तमाचष्टे'** में वृक्षवत् (=मतुप् प्रत्ययान्त) से णिच् और **णाविष्ठवत्** (वा० ६।४।१५५) से इष्ठवद्भाव होकर **टेः** (६।४।१५५) से टि का लोप होता है' लिखकर इसका खण्डन किया है कि इष्ठवद्भाव से **'विन्मतोर्लुक्'** (५।३।६५) से इष्ठन् प्रत्यय के परे कहा गया मतुप् का लुक् होगा, 'टि' का लुक् कैसे होगा ? हमारे विचार में पुराने व्याख्याताओं का मत ठीक है। णिच् को जिस प्रकरण में इष्ठवद्भाव का विधान किया है, वहां 'टि' लोप आदि का प्रकरण है। मतुप् लोप प्रकरण से बहिर्भूत है। अतः उनके मत में वार्तिककार ने टिलोप आदि प्रकृत कार्यों में ही णिच् को इष्ठवद्भाव का विधान किया है।

नागेश ने कैयट के 'अप्रगृह्यस्येति पर्युदासेनाच एव अनुनासिकेन भाव्यम्, नतु हल इत्युक्तम्—नहि पदान्ता इति कार्यभाज इति' वचन का अर्थ बलात् 'एवं चानुनासिकप्राप्ति-योग्याः पदान्ता न सन्ति' अर्थात् 'अनुनासिक प्राप्ति योग्य पदान्तवर्ण नहीं है' करके कैयट का खण्डन किया है। और अष्टमाध्याय में उक्त 'वृक्षव्करोति' उदाहरण को लक्ष्य में रखकर कहे गये भाष्य को एकदेश्युक्ति कहा है। कैयट ने भी अष्टमाध्याय के प्रकरण को एकदेश्युक्ति ही कहा है। परन्तु यहां उसने 'वृक्षव्' शब्द की सत्ता को स्वीकार करके कथचित् अनुनासिकत्व का प्रतिषेध किया है। महाभाष्य के सम्पादक पं० शिवदत्त दाधिमथ ने नवाह्निक निर्णयसागर संस्करण पृष्ठ १२७, की टिप्पणी ७ में 'वृक्षव्' शब्द को प्रामाणिक माना है। इस पर विशेष विचार यथास्थान (८।३।१७ में) करेंगे।

[भाष्यम्] अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—'उरण् रपरः' [१।१।५०] इति। असन्दिग्धम्। पूर्वेण, न परेण। कुत एतत्? पराभावात्। न ह्यृ: स्थाने परेऽणः सन्ति। ननु चायमस्ति 'कर्त्रर्थम्,हर्त्रर्थम्' इति। किं च स्याद् यद्यत्र रपरत्वं स्यात्? द्वयो रेफयोः श्रवणं प्रसज्येत। 'हलो यमां यमि लोपः' [८।४।६३] इत्येवमेकस्याऽत्र लोपो भविष्यतीति। विभाषा स लोपः, विभाषा श्रवणं प्रसज्येत। अयं तर्हि नित्यो लोपः 'रो रि' [८।३।१४] इति। 'पदान्तस्य' इत्येवं सः। न शक्यः स 'पदान्तस्य' इत्येवं विज्ञातुम्। इह हि लोपो न स्यात्, जर्गृधेर्लङ् अजर्घाः, पास्पर्द्धेः—अपास्पा इति॥

व्याख्या—**अच्छा तो इस अण् ग्रहण में सन्देह है—**उरण् रपरः (१।१।५०)। **असन्दिग्ध है। पूर्व णकार से ग्रहण है, पर णकार से ग्रहण नहीं है। यह कैसे? पर [अण प्रत्याहार गृह्यमाण पर वर्णों] के न होने से। ऋकार के स्थान में पर अण् विहित नहीं है। यह जो है—कर्त्रर्थम् हर्त्रर्थम् (ऋकार के स्थान पर हुआ रेफ)। क्या होवे, यदि यहां (=रेफादेश को) रपर हो जावे? दो रेफों का श्रवण प्राप्त होवे।** हलो यमां यमि लोपः (८।४।६३) **से एक रेफ का लोप हो जायेगा [—कर्तृ अर्थम्, यणादेश, रेफ को रपर—** कर्त् र् र् अर्थम्=कर्त् र् अर्थम्=कर्त्रर्थम्]। **वह (=हलो यमां यमि लोपः) विभाषा होता है, पक्ष में दो रेफों का श्रवण प्राप्त होगा। अच्छा तो यह नित्य लोप है—**रो रि(८।३।१४)। **यह पदान्त-विषयक रेफ का लोप है। इसे पदान्त-विषयक नहीं मान सकते। [पदान्त विषयक मानने पर] यहां [रेफ का] लोप नहीं होगा—जर्गृध् (=यङ्लुगन्त गृध्) से लङ्—** अजर्घाः, **पास्पर्द्ध् (=यङ्लुगन्त स्पर्ध्) से—**अपास्पाः।

विवरण—'रो रि' (८।३।१४) सूत्र त्रिपादी है, और **इको यणचि** (६।१।७४) से रेफ को जो रपर हुआ,वह त्रिपादी से पूर्व का है। त्रिपादी का सूत्र पूर्व सपाद सप्ताध्यायी सूत्र के प्रति असिद्ध होता है। यहां तो **इको यणचि** से प्राप्त रेफादेश को **उरण् रपरः** से जो रपर हुआ है, वह **रो रि** सूत्र की दृष्टि में सिद्ध है। अतः रेफ का लोप हो जायेगा, और **रो रि** से जो लोप होता है, वह नित्य लोप है। इस सीधे से समाधान को व्याख्याकारों ने उलझन भरा बना दिया। यथा—

एक परिभाषा है—**असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** (=अन्तरङ्ग कार्य करने के लिये बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है)। अन्तरङ्ग का अर्थ है—**'अल्पापेक्षमन्तरङ्गम्'** जिस कार्य के करने

में अन्य की अपेक्षा अल्प हो। इससे उलटा बहिरङ्ग का अर्थ है—**बह्वपेक्षं बहिरङ्गम्**, जिस कार्य के करने में बहुत की अपेक्षा पड़े, वह बहिरङ्ग होता है। संज्ञा और परिभाषा में दो पक्ष हैं—**कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्** (=कार्य का जो काल स्थान होता है, वही संज्ञा-परिभाषा का काल स्थान होता है), और **यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्** (=संज्ञा और परिभाषा जिस स्थान पर पढ़ी गई हैं, वही उसका स्थान होता है)। पहली परिभाषा के अनुसार संज्ञा-परिभाषासूत्रों की उन्हीं सूत्रों के साथ स्थिति मानी जाती है, जहां उनसे संबद्ध कार्य हो रहा है। अर्थात् संज्ञा-परिभाषासूत्र वहीं उपस्थित होता है। दूसरे पक्ष में संज्ञा-परिभाषासूत्र जहां पढ़े गये हैं, वहीं वर्तमान रहते हैं। और जिन सूत्रों को उनसे कार्य होता है, वे उनके पास पहुंचते हैं। ये ही दोनों पक्ष **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** परिभाषा के विषय में भी जानने चाहियें। यथोद्देश पक्ष में परिभाषाएं जिस सूत्र से ज्ञापित होती हैं,वही स्थान उस परिभाषा का माना जाता है। इस परिभाषा का ज्ञापन **वाह ऊठ्** (६।४।१३२) सूत्र में किया है, अतः इसका यही स्थान है।

नागेश ने इस परिभाषा को उपस्थित करके लिखा है कि '**असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** परिभाषा त्रिपादी प्रकरण में नहीं लगती, अतः बहिरङ्ग जो यणादेश है, वह अन्तरङ्ग रेफलोप में असिद्ध नहीं होता।' शिवदत्त दाधिमथ ने इसी पर टिप्पणी देकर लिखा है—'यथोद्देश पक्ष में ऐसा जानना चाहिये। अर्थात् यथोद्देश पक्ष में असिद्ध-परिभाषा जो कि त्रिपादी से पूर्व की है, उसकी दृष्टि में **रो रि** (८।३।१४) सूत्र असिद्ध होने से है ही नहीं, तब अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कार्य का विचार कैसे होगा?'

इको यणचि और **रो रि** सूत्र का बहिरङ्ग अन्तरङ्गभाव इस प्रकार जानना चाहिये—**कर्तृ अर्थम्** में ऋ और अ दो वर्णों की अपेक्षा में यणादेश होता है, अकार अन्यपदस्थ भी है। यणादेश रेफादेश होने के साथ ही रपर हो जाता है—**कर्त् र् र् अर्थम्**। **रो रि** सूत्र उन दो रेफों को मानकर ही यहां प्रवृत्त होता है, जो सहभावी हैं। इन सहभावी दो रेफों से अतिरिक्त किसी की **रो रि** सूत्र को आवश्यकता नहीं, अतः **रो रि** से लोप यणादेश की अपेक्षा अन्तरङ्ग है। अतः यथोद्देशपक्ष में असिद्ध परिभाषा की दृष्टि में **रो रि** के असिद्ध होने से परिभाषा की प्रवृत्ति ही नहीं होती।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **उरण् रपरः** (१।१।५०) सूत्र के भाष्य में कार्यकाल पक्ष में **रो रि** सूत्र के विषय में असिद्ध-परिभाषा की प्रवृत्ति दर्शाई है। इस पर विचार वहीं पर **पैतृष्वसेयः** के प्रसङ्ग में करेंगे।

अजर्घाः—गृध् यङ्—गृध् गृध् यङ्—गृ गृध्—जर्गृध् शप् सिप्—जर्गृध् स्—जर् गर्ध् स्—(भष्भाव—)जर्घर्ध् स्—अजर्घर्द् स्—अजर्घर् रु स्—अजर्घर् र्—अजर्घर्= अजर्घाः। अभ्यास को रुगागम, लङ् में सिप् परे शप्, उसका लुक्, भष् भाव, जश्त्व, रुत्व, स लोप, **रो रि** से रेफ लोप, पूर्व को दीर्घ (६।३।११०)। इसी प्रकार स्पर्ध यङ्लुगन्त से लुङ् सिप् में **अपास्पाः** जानना चाहिये।

[भाष्यम्] इह तर्हि—मातॄणां पितॄणामिति रपरत्वं प्रसज्येत। आचार्यप्रवृत्ति-

ज्ञापयति—'नाऽत्र रपरत्वं भवति' इति, यदयम्—'ॠत इद्धातोः' [७।१।१००] इति धातुग्रहणं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? धातुग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्, इह मा भूत्—मातॄणां पितॄणामिति । यदि चात्र रपरत्वं स्याद्धातुग्रहणमनर्थकं स्यात् । रपरत्वे कृतेऽनन्त्यत्वादित्त्वं न भविष्यति । पश्यति त्वाचार्यो—'नात्र रपरत्वं भवति' इति, ततो धातुग्रहणं करोति । इहापि तर्हि न प्राप्नोति—'चिकीर्षति जिहीर्षति' इति । मा भूदेवम् । 'उपधायाश्च' [७।१।१०१] इत्येवं भविष्यति । इहापि तर्हि प्राप्नोति—'मातॄणां पितॄणाम्' इति । तस्मात्तत्र धातुग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

व्याख्या—अच्छा तो यहां—मातॄणाम् पितॄणाम् में ['नामि' (६।४।३) से ऋकार को दीर्घ करने पर] रपरत्व प्राप्त हो जावे । आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—'यहां रपर नहीं होता', जो यह ॠत इद् धातोः (७।१।१००) में धातु का ग्रहण करता है । कैसे यह ज्ञापक है ? धातुग्रहण का यही प्रयोजन है कि यहां—मातॄणाम पितॄणाम् में [इत् आदेश न होवे] । यदि यहां (मातॄणाम् पितॄणाम् में दीर्घ करते हुए) रपरत्व होवे, तो धातु का ग्रहण अनर्थक हो जावे । [मातॄणाम् पितॄणाम् में] रपर कर देने पर [ॠकार के] अन्त में न होने से ही इत्त्व नहीं होगा । आचार्य देखते हैं कि—'यहां (मातॄणाम् पितॄणाम् में) दीर्घ नहीं होता', इसी से धातुग्रहण करते हैं । [धातुग्रहण के ज्ञापक से अधातु के दीर्घ के रपरत्व का प्रतिषेध होता है, धातु के ऋकार को दीर्घ होने पर तो रपर होगा ही, यह समझकर आक्षेप करता है—] यहां भी तो [ॠत इद् धातोः से इत्त्व] प्राप्त नहीं होता—चिकीर्षति, जिहीर्षति [यहां 'कृ स' 'हृ स' इस अवस्था में अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से ऋ को दीर्घ ॠकार रपर होगा] । इस प्रकार (=चिकीर्षति में दीर्घ ॠकार के रपर होने पर ॠत इद् धातोः से) इत्त्व न होवे । उपधायाश्च (७।२।१०१) (=अङ्ग की उपधा में जो दीर्घ ॠकार उसको इदादेश होता है) से इत्त्व हो जायेगा । तो यहां—'मातॄणाम् पितॄणाम् में [दीर्घ के रपर होने पर और धातु ग्रहण न करने पर उपधायाश्च से इदादेश] प्राप्त होता है' । इसलिये वहां धातुग्रहण करना चाहिये ।

विवरण—'गॄ' धातु के अनुकरण की प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'गॄ ङस्' इस अवस्था में प्रकृतिवदनुकरणं भवति (=अनुकरण प्रकृति के समान होता है) इस परिभाषा का आश्रय न करने पर 'गॄ' को इत्त्व के वारण के लिये धातुग्रहण आवश्यक है । इसलिये ॠत इद् धातोः (७।१।१००) सूत्रस्थ धातुग्रहण से मातॄणाम् पितॄणाम् में दीर्घादेश के रपरत्व का अभाव ज्ञापित नहीं किया जा सकता (द्र०—शिवरामेन्द्र सरस्वती) । इसलिये भाष्यकार ने अगला वचन कहा है—एवं तर्हि ।

[भाष्यम्] एवं तर्हि सामर्थ्यात् पूर्वेण, न परेण । यदि परेण स्याद्, अण्ग्रहणमनर्थकं स्यात् 'उरज्रपरः' इत्येव ब्रूयात् ॥

व्याख्या— अच्छा तो सामर्थ्य से पूर्व णकार से ग्रहण है, पर णकार से ग्रहण नहीं है । यदि पर णकार से ग्रहण होवे, तो अण् का ग्रहण अनर्थक होवे । उरज् रपरः इतना ही कहे ।

विवरण—यहां नागेश ने कहा है कि 'पर णकार से अण् के ग्रहण करने पर 'गम्लृ दा'

(तृतीयैकवचन) इस अवस्था में यणादेश में लपर के लिये पर णकार से अण् का ग्रहण होवे, अतः सामर्थ्यात् कैसे कहा ?' इसका उत्तर दिया है कि ऋकारांश में [कर्तृ आ=कर्त् र् र् आ में] रो रि सूत्र से लोप की प्रवृत्ति होने से रादेश को रपर करना व्यर्थ होता है। इसी प्रकार लृकारांश में भी लादेश को लपर करने में भी प्रवृत्ति नहीं होती। र ल की समानश्रुति होने से वहां (=गम्लृ आ=गम्ल् ल् आ में) भी रो रि सूत्र की प्रवृत्ति होती है, ऐसा किन्हीं का मत है। लृकार में यण् घटित रूप (='गम्ला' आदि) इस भाष्य के प्रामाण्य से अनभिधान से नहीं होते, ऐसा अन्यों का मत है।

यहां नागेश ने **उरण् रपरः** सूत्र में 'र' प्रत्याहार मानकर 'गम्लृ आ' इस अवस्था में लादेश को लपर प्रयोजन स्वीकार करके भाष्यकथन **सामर्थ्यात्** पर शङ्का उपस्थित की है। पर स्वयमेव पूर्वत्र (पृष्ठ १८२, पं० ७-१२) नागेश ने बलपूर्वक 'र' प्रत्याहार का खण्डन किया है। अतः यह कथन उसका परस्पर विरोधरूप है। इस आशङ्का को उपस्थित करके जो **अन्ये** आदि पदों के द्वारा समाधान दर्शाये हैं, वे अत्यन्त ही निर्बल हैं। र ल की समानश्रुति भी कैसे है ? 'र' मूर्धन्य है और 'ल' दन्त्य। लृकार को जहां यणादेश होता है, उन पदों को अनभिधान से हटाना, और उसमें प्रस्तुत भाष्य का ही प्रामाण्य देना नितान्त चिन्त्य है। जैसे अन्य अन्त्य अनुबन्ध सहित कृञ् आदि के रूप स्वादि विभक्तियों में प्रयुक्त होते हैं, तब **गम्लृ** लृकारानुबन्ध-घटित के प्रयोगों को कौन रोक सकता है ? **उरण् रपरः** सूत्र में 'र' प्रत्याहार का भाष्यकार द्वारा आश्रय न करने से अनभिधान में भाष्य-प्रामाण्य प्रस्तुत करना अशुद्ध भी है।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस अंश के व्याख्यान में लिखा है—"भाष्योक्त **अनर्थकम्** का अर्थ 'सन्देहजनक होने से [पर णकार से अण्] अप्रयुक्त है' ऐसा है। **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः०** परिभाषा से यहां पूर्व णकार से अण् ग्रहण होता है, यह निर्णय है। यथाश्रुत भाष्य का तो यही अभिप्राय है कि [कर्त् र् र् आ में] रपर प्रयोग अतीव दूषित नहीं है।"

पिछले प्रकरणों में कतिपय स्थलों पर टीकाकारों की ऊंची और लम्बी उड़ानों के कुछ प्रसङ्ग निदर्शनार्थ लिखे हैं। इनसे पाठकों को भले प्रकार ज्ञात हो जायेगा कि महाभाष्य, जो अत्यन्त सरल है, उसे टीकाकारों ने महा कठिन एवं उलझनमय बना दिया है। आगे हम टीकाकारों के ऐसे स्थलों को, जिसमें उन्होंने महाभाष्य को उलझाकर कठिन बना दिया, उद्धृत नहीं करेंगे। यथाशक्य महाभाष्य के अभिप्राय को ही खोलने का प्रयत्न करेंगे।

[भाष्यम्] अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—'अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' [१।१।६८] इति। असन्दिग्धम्। परेण, न पूर्वेण। कुत एतत् ?

सवर्णेऽण् तपरं ह्युऋत्

यदयम् 'उऋत्' [७।४।७] इत्यृकारं तपरं करोति। तज्ज्ञापयत्याचार्यः—'परेण, न पूर्वेण' इति॥

व्याख्या—अच्छा तो इस अण् ग्रहण में सन्देह है—अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६८)। असन्दिग्ध है। पर णकार से ग्रहण है, पूर्व णकार से ग्रहण नहीं है। यह कैसे ?

सवर्ण में अण् [पर णकार से है] उॠत् को तपर करते हैं।

जो यह आचार्य उॠत् (७।४।७) में ऋकार को तपर करते हैं, उससे आचार्य बताते हैं कि—[अणुदित् सवर्णस्य० सूत्र में] पर णकार से ग्रहण है, पूर्व णकार से ग्रहण नहीं है।

विवरण—'कॄत् संशब्दने' णिजन्त से लुङ् लकार में 'अ कॄत् णिच् चङ् त' इस अवस्था में उॠत् (७।४।७) [=चङ्परक णि परे रहने पर ॠवर्ण के स्थान पर ऋकारादेश विकल्प से होता है] से दीर्घ ॠकार के स्थान में ह्रस्व ऋकार आदेश होता है। यदि 'अणुदित्'० सूत्र में पूर्व णकार से ग्रहण होवे, तो तपर करना व्यर्थ है। सवर्णग्रहण के अभाव में ऋकार सवर्णों का ग्रहण ही नहीं करेगा, तपर करना व्यर्थ होगा। वास्तविकता तो यह है कि यदि पूर्व णकार से अण् ग्रहण होवे, तो 'उः' पद भी ऋकार के सवर्णियों का ग्रहण न करे। उस अवस्था में कॄत् का दीर्घ ॠकार स्थानी भी नहीं बनेगा। जब स्थानी ही नहीं होगा, तो आदेश किसको प्राप्त होगा? इस तरह तपर करना सब प्रकार व्यर्थ होता है। व्यर्थ होकर तपरकरण ज्ञापन करता है कि अणुदित्० सूत्र में अण् ग्रहण पर णकार से है।

पं० शिवदत्त दाधिमथ ने वार्तिक का पाठ **सवर्णेऽण् तु परं ह्युॠत्** ऐसा माना है। इस विषय में उनके द्वारा सम्पादित नवाह्निक निर्णयसागर प्रेस का पृष्ठ ११९ देखें।

[भाष्यम्] इण्ग्रहणेषु तर्हि सन्देहः। असन्दिग्धम्। परेण, न पूर्वेणेति। कुत एतत्?

य्वोरन्यत्र परेणेण् स्यात्।

यत्रेच्छति पूर्वेण, संमृद्य ग्रहणं तत्र करोति—'य्वोः' इति। तच्च गुरु भवति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? तत्र विभक्तिनिर्देशे संमृद्यग्रहणे चार्द्धचतस्रो मात्राः, प्रत्याहारग्रहणे पुनस्तिस्रो मात्राः। सोऽयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे सति यद् गरीयांसं यत्नमारभते, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—'परेण, न पूर्वेण' इति॥

व्याख्या—अच्छा तो इण् ग्रहणों में सन्देह है। असन्दिग्ध है। पर णकार से ग्रहण है, पूर्व णकार से ग्रहण नहीं है। यह कैसे?

'य्वोः' निर्देश से अन्यत्र इण् पर णकार से होवे।

जहां आचार्य पूर्व णकार से इण् (=इ उ) का ग्रहण चाहते हैं, वहां संमर्दन(=रूपान्तर करके 'य्वोः' ऐसा ग्रहण करते हैं। वह (='य्वोः' ग्रहण) गुरु होता है। यह ज्ञापक कैसे है? वहां ['य्वोः' ऐसा] विभक्तिनिर्देश सहित संमृद्य ग्रहण करने पर साढ़े तीन मात्रा होती हैं, ['इणः' ऐसा] प्रत्याहार के ग्रहण करने पर तीन ही मात्राएं होती हैं। सो यह आचार्य लघु न्यास (=पाठ) से सिद्ध होने पर जो ['य्वोः' ऐसा] गरीयान् प्रयत्न करते हैं, वे ज्ञापन करते हैं कि—['इण् प्रत्याहार] पर णकार से गृहीत होता है, पूर्व णकार से नहीं होता।'

विवरण—'य्वोः' में संमृद्य निर्देश इकार का है, उसे यणादेश करके प्रयुक्त किया जाता है। नागेश ने **आदेशेन तौ निर्वर्त्येत्यर्थः** (=आदेश यकार वकार से उनको निष्पन्न करके) अर्थ

किया है, वह चिन्त्य है । 'य्वोः' निर्देश 'यू' की षष्ठी के द्विवचन का है। इसमें निर्देशनिमित्तक संमर्दन तो वस्तुतः इकार का हुआ है । उकार को जो वकार हुआ है, वह तो विभक्ति-निमित्तक है । अर्धचतस्रः=अर्धेन चतस्रः ऐसा विग्रह जानना चाहिये, अर्थात् चौथी मात्रा की आधी है अर्थात् साढ़े तीन मात्रा । य् व् की आधी-आधी मिलकर १ मात्रा, ओ की दो मात्रा, विसर्ग की आधी मात्रा=३॥ मात्रा । य्वोः का ग्रहण **अचि श्नुधातुभ्रु वां य्वोरियङुवङौ** (६।४।७७) सूत्र में किया है । 'इणः' ग्रहण में तीन मात्रा कहीं हैं, यह पृथक् पद-निर्देश की दृष्टि से गणना है । 'इ' की १ मात्रा, 'ण्' की आधी मात्रा, 'अ' की १ मात्रा, विसर्ग की आधी मात्रा=३ मात्रा । सूत्र में संहितापाठ ०**भ्रु वामिण इयङुवङौ** में विसर्ग के लोप हो जाने पर ढाई मात्रा ही रह जाती है ।

यहां भाष्यकार ने आधी मात्रा के गौरव लाघव के विचार से ज्ञापन-विशेष का जो निर्देश किया है, उसी से नवीन पाणिनीय वैयाकरणों ने **'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'** (=आधी मात्रा के लाघव से वैयाकरण पुत्रोत्सव के समान हर्ष मनाते हैं) परिभाषा का ज्ञापन किया है ।

[भाष्यम्] किं पुनर्वर्णोत्सत्ताविवाऽयं णकारो द्विरनुबध्यते ?

व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः ॥

एतज्ज्ञापयत्याचार्यो, भवत्येषा परिभाषा—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति ।'अणुदित्सवर्णस्य' इत्येतत्परिहाय पूर्वेणाऽण्ग्रहणम्, परेणेण्ग्रहणम्' इति व्याख्यास्यामः ।

[असंदिग्धम् पराऽभावात् सवर्णेऽण् तपरं ह्यृदृत् ।
य्वोरन्यत्र परेणेण् स्याद् व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः ॥[1]] ॥६॥

व्याख्या—**क्या यह वर्ण के उच्छेद के समान (=दूसरा कोई वर्ण अनुबन्ध लगाने को नहीं मिला तब) यह णकार का दूसरी बार अनुबन्ध लगाया है ?**

णकार की द्विरुक्ति (=पुनः प्रयोग) से 'व्याख्यानाच्च' [यह ज्ञापित होती है] ।

[णकार की द्विरुक्ति से] आचार्य यह बताते हैं कि यह परिभाषा होती है—'व्याख्यान से विशेष अर्थ का परिज्ञान होता है, सन्देहमात्र से कार्य अलक्षण (=लक्षणविहीन) नहीं होता ।' अतः 'अणुदित् सवर्णस्य **इस[अण् ग्रहण] को छोड़कर सब पूर्व णकार से अण् ग्रहण हैं, और इण् ग्रहण पर णकार से', ऐसा व्याख्यान करेंगे ।**

विवरण—अणादि के ग्रहण में बड़े प्रयत्न से सन्देह का परिहार किया है, अतः लाघव से प्रतिपत्ति के लिये वर्णान्तर का अनुबन्ध ही क्यों नहीं लगा दिया, यह मन में रखकर प्रश्न करता है—**किं पुनरिति । वर्णोत्सत्ति**=वर्णनाश । अनेक ग्रन्थों में **'व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः'** पाठ नहीं मिलता । यहां भी नागेश ने पूर्व (द्र०—पृष्ठ १८१) के समान आचार्य पद से शिव का

१. मुद्रितग्रन्थेष्वनुपलब्धमपीदं श्लोकवार्तिकं भाष्यशैलीमनुसृत्येह संगृहीतम् ।

ग्रहणं किया है, वह चिन्त्य है। अणुदित्सवर्णस्य इत्येतत् परिहाय इत्यादि भाष्योक्त अभिप्राय किसी वैयाकरण ने इस प्रकार ग्रथित किया है—

परेणैवेण्ग्रहणाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥ इति॥

व्याख्यास्यामः—भाष्यकार ८।२।३ में कहेंगे—'इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रनिबन्धनेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते।' तदनुसार यहां णकार के दो बार अनुबन्ध से उक्त अभिप्राय प्रकट होता है।

कोष्ठान्तर्गत श्लोक खण्डशः व्याख्यात हो चुका है ॥६॥

—:०००:—

[भाष्यम्] ञ म ङ ण न म् ॥७॥ झ भ ञ् ॥८॥

किमर्थमिमौ मुखनासिकावचनावुभावनुबध्येते, न ञकार एवानुबध्येत? कथं यानि मकारेण ग्रहणानि? सन्तु ञकारेण। कथं 'हलो यमां यमि लोपः' [८।४।६३] इति? अस्तु ञकारेण—'हलो यञां यञि लोपः' इति। नैवं शक्यम्। झकारभकारपरयोरपि झकारभकारयोर्लोपः प्रसज्येत। न झकारभकारौ झकारभकारयोः स्तः॥

व्याख्या—किस लिये ये (=म् ञ्) दोनों मुखनासिकावचन अनुबन्ध लगाये जाते हैं, केवल ञकार ही अनुबन्ध न लगाया जाये [अर्थात् 'ञ म ङ ण न झ भ ञ्' ऐसा एक सूत्र न पढ़ देवें]? तो मकार से ग्रहण होनेवाले (=प्रत्याहार) कैसे ग्रहण होंगे? ञकार से होवें। [मकार हटा देने पर] 'हलो यमां यमि लोपः' (८।४।६३) ग्रहण कैसे होगा? ञकार से होवे—हलो यञां यञि लोपः। ऐसा नहीं हो सकता। झकार भकार परे रहने पर भी झकार भकार का लोप प्राप्त होगा। झकार भकार हैं ही नहीं [अत: यञां यञि कहने पर कोई दोष नहीं होगा]।

विवरण—'मुखनासिकावचनौ'—इस शब्द की सिद्धि पर मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (१।१।८) सूत्र के भाष्य में विचार किया है। अतः वहीं देखें। इसका तात्पर्य यह है कि मुख और नासिका से जिसका वचन=उच्चारण होता है, वह मुखनासिकावचन कहाता है। न झकारभकारौ—का भाव यह है कि कोई ऐसा शब्द नहीं है, जिसमें हल् से परे दो झकार वा दो भकार प्रयुक्त होवें। यदि क्वचित् कल्पना की भी जावे, तो जश्त्व के प्रति 'हलो यमां यमि लोपः' के असिद्ध हो जाने से पूर्व भकार को बकार और पूर्व झकार को जकार हो जायेगा (द्र०—शिवरामेन्द्र सरस्वती)। नागेश काल्पनिक संयुक्त दो भकार और दो झकार वर्णों के प्रयोग की दृष्टि से कहता है कि अज्रहित हल् मात्र का अनुकरण होता ही नहीं। अतः कहीं इकट्ठे दो भकार और दो झकार नहीं मिलेंगे।

[भाष्यम्] कथं 'पुमः खय्यम्परे' [८।३।६] इति? एतदप्यस्तु ञकारेण—'पुमः खय्यञ्परे' इति। नैवं शक्यम्। झकारभकारपरेऽपि हि खयि रुः प्रसज्येत। न झकारभकारपरः खयस्ति।

कथं 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' [८।३।३२] इति ? एतदप्यस्तु ञकारेण—'ङञो ह्रस्वादचि ङञुण्नित्यम्' इति । नैवं शक्यम् । झकारभकारयोरपि हि पदान्तयोर्झकारभकारावागमौ स्याताम् । न झकारभकारौ पदान्तौ स्तः । एवमपि पञ्चागमास्त्रय आगमिनो वैषम्यात्सङ्ख्यातानुदेशो न प्राप्नोति । सन्तु तावद् येषामागमानामागमिनः सन्ति । झकारभकारौ पदान्तौ न स्त इति कृत्वा आगमावपि न भविष्यतः ॥

व्याख्या—[मकार हटा देने पर] 'पुमः खय्यम्परे' (८।३।६) [='पुम्' शब्द को रु होता है, अम् परे है जिससे ऐसे खय् परे रहने पर] कैसे होगा ? यह भी ञकार से होवे—'पुमः खय्यञ्परे' । ऐसा नहीं हो सकता । झकार भकार परे हैं जिसके, ऐसे खय् परे ['पुम्' शब्द को] रु प्राप्त हो जायगा । झकार भकार परे हैं जिसके, ऐसा खय् है ही नहीं ।

[मकार हटा देने पर] 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' (८।३।३२) [=ह्रस्व से परे जो पदान्त में ङम् उसको अच् परे रहने पर नित्य ङमुट् आगम होता है—प्रत्यङ्ङास्ते] कैसे होगा ? यह भी होवे ञकार से—ङञो ह्रस्वादचि ङञुण् नित्यम् । ऐसा नहीं हो सकता । पदान्त झकार भकार को भी झकार भकार आगम प्राप्त होवेंगे । झकार भकार पदान्त में नहीं हैं [पदान्त में 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से जश् ब् ज् हो जाते हैं] । इस प्रकार भी [ङ ण न झ भ] पांच आगम होंगे, और [ङ ण न] तीन आगमी । संख्या के वैषम्य से संख्यातानुदेश प्राप्त नहीं होता है । [संख्यातानुदेश से पहले जिन आगमों के आगमी हैं, वे होवें । झकार भकार पदान्त में नहीं हैं, इस कारण आगम भी नहीं होंगे ।

विवरण—'सन्तु तावत्'—इसका भाव यह है कि सूत्रोच्चारण-समकाल उद्देश और अनुदेश की प्रतिपत्ति काल में संख्या-साम्य की प्रतीति होते ही यथासंख्य सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है ।

इस प्रकार तीनों सूत्रों में ञकार से प्रत्याहार के ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं रहता । फिर भी अमन्ताड्डः (उणादि १।११४) सूत्र में 'अम्' ग्रहण के लिये मकारानुबन्ध रहना चाहिये । अञन्ताड्डः न्यास में भकारान्त झकारान्त धातु से भी 'ड' प्रत्यय होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । इसीलिये भाष्योक्त प्रत्याख्यानपक्ष का प्रायः अनुसरण करनेवाले चन्द्राचार्य ने भी मकार ञकार दोनों अनुबन्ध प्रयुक्त किये हैं ।

[भाष्यम्] अथ किमिदमक्षरमिति ?

अक्षरं न क्षरं विद्यात्,

न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरम् ।

अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम् ।

अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः 'सरन्' प्रत्ययः । अश्नुत इत्यक्षरम् ।

वर्णं वाऽऽहुः पूर्वसूत्रे,

अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते ॥

व्याख्या—यह 'अक्षर' शब्द क्या है ?

अक्षर को क्षय न होनेवाला जाने।

जो क्षय नहीं होता, अथवा जो नाश को प्राप्त नहीं होता, वह अक्षर है।

अथवा अश्नोति (अशूङ् व्याप्तौ) से सर होकर अक्षर बनता है।

अथवा 'अशूङ् व्याप्तौ' से पुनः यह औणादिक सरन् प्रत्यय है। जो व्याप्त होता हैं, वह अक्षर है।

अथवा पूर्व सूत्र में वर्ण को [अक्षर] कहते हैं।

अथवा पूर्व सूत्र में वर्ण की अक्षरसंज्ञा की है।

विवरण—'अक्षरसमाम्नाय' प्रयोग में तथा पूर्व (पृष्ठ २७ में) श्रुत **'यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति'** वचन में अक्षर शब्द उपलब्ध होता है। इसी प्रकार **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'** आदि ऋङ्मन्त्रों में भी अक्षर शब्द का प्रयोग देखा जाता है, अतः प्रश्न किया है—**किमिदमक्षरम्**।

न क्षीयते न क्षरतीति—यास्क ने भी अक्षर का निर्वचन **न क्षरति न क्षीयते** (निरुक्त १३।१२) ऐसा ही किया है। ये निर्वचन तथा अगला औणादिक निर्वचन शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म दोनों की दृष्टि से किये हैं। दोनों ही नित्य हैं।

अश्नोतेर्वा—उणादि में **अशेः सरन्** (=पञ्चपादी ३।७०, दशपादी ८।५०) सूत्र है। वार्तिक में 'सरः' प्रयोग अनुबन्धलोप किये हुए का अनुकरणरूप है। भट्टोजिदीक्षित ने 'प्रौढ़ मनोरमा' (पृष्ठ ७७६) में लिखा है—'उज्ज्वलदत्त आदि 'अशेः सरन्' सूत्र पढ़ते हैं। वह ठीक नहीं, नित्स्वर की प्राप्ति होने से। अक्षर शब्द प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त इष्ट है। वेद में सर्वत्र अक्षर शब्द मध्योदात्त ही है। इसीलिये द्वितीय आह्निक के अन्त में भाष्यकार ने **अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्** कहा है।' दीक्षित का यह कहना तो ठीक है कि अक्षर शब्द वेद में सर्वत्र मध्योदात्त है। पर भाष्यकार की इस विषय में जो सम्मति उद्धृत की है, वह चिन्त्य है। उन्होंने जो वचन उद्धृत किया है, वह श्लोकवार्तिक का है। श्लोकरचना के लिये सरन् के नकार का लोप करके निर्देश किया है। क्योंकि भाष्यकार ने श्लोकवार्तिक का जो व्याख्यान किया है, उसमें सरन् यही पाठ है। कैयट का भी यही मत है।

उणादि के पञ्चपादी तथा दशपादी दोनों पाठों में 'सरन्' पाठ मिलता है। 'सरन्' प्रत्यय की अनुवृत्ति पांच छः सूत्रों में जाती है (द्र०—पञ्चपादी ३।७०-७४, दशपादी ८।५०-५४)। अक्षर मध्योदात्त है, वत्सर अन्तोदात्त है। प्रत्येक पाठ में स्वरसिद्धि के लिये 'बाहुलकात्' का आश्रय लेना ही पड़ता है। सायण ने ऋग्वेदमाष्य १।३४।४ में औणादिक 'क्सर' प्रत्यय कहा है, वह चिन्त्य है।

वर्णं वाऽऽहुः—पूर्व आचार्यों के मत में 'अक्षर वर्णों की पारिभाषिक' संज्ञा है। भर्तृहरि ने पूर्वाचार्यों का सूत्र उद्धृत किया है—**एवं ह्यन्ये पठन्ति— 'वर्णा अक्षराणि' इति**। पूर्व सूत्र शब्द

का प्रयोग महाभाष्य में १।२।६८; ४।१।१४; ६।१।१६३; ७।१।१८; ८।४।७ इन पांच स्थानों में मिलता है। सर्वत्र इसका अर्थ 'प्राचीन वैयाकरणों के सूत्र' है।

[भाष्यम्] किमर्थमुपदिश्यते ॥१॥

अथ किमर्थमुपदेशः क्रियते ?

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते ॥२॥

सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः। पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः। सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चाऽस्य ज्ञाने भवति। मातापितरौ चाऽस्य स्वर्गे लोके महीयेते [इति] ॥७-८॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य
प्रथमे पादे द्वितीयमाह्निकम् ॥२॥

व्याख्या—**किसलिये [अक्षरसमाम्नाय का] उपदेश किया जाता है ?**

किस लिये [अक्षरसमाम्नाय का] उपदेश किया जाता है ?

वर्णों का ज्ञान वाणी का विषय है, पद वाक्यरूप वाणी को बांधकर रखता है, और जिसमें (=वाणी में) ब्रह्म=वेद=ज्ञान वर्तमान है। अर्थात् समस्त ज्ञान वाणी के आश्रित है, और वाणी के वर्णात्मक होने से उसकी इकाई वर्ण हैं। उन वर्णों के परिज्ञान के लिये, इष्ट बुद्धि=ज्ञान[1] के लिये, और लाघवता के लिये उपदेश किया जाता है।

वह यह अक्षरसमाम्नाय वाणी का समाम्नाय है। पुष्पित (=पुष्पों से युक्त) फलित (=फलों से युक्त) और चन्द्रतारकवत् [स्वरों एव व्यञ्जनों से] सुशोभित ब्रह्मराशि=शब्दब्रह्मराशि=वेदराशि जाननेयोग्य है। सब वेदों के पुण्यफलों की प्राप्ति इस (=अक्षरसमाम्नाय) के ज्ञान होने पर हो जाती है। इस (=अक्षरसमाम्नाय के ज्ञाता के) मातापिता स्वर्गलोक में पूजित होते हैं॥

विवरण—समस्त प्रकार के मानव-ज्ञान का आधार वाक् है। उसी लघुभूत उपाय से मनुष्य सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् अभिप्रायों को प्रकट करने में समर्थ होता है। मानव वाक् वर्णमूलिका है। वर्ण ही इसकी इकाईभूत हैं। अतः इनके यथावत् प्रयोग से यथार्थ ज्ञान होता है, और अयथार्थ प्रयोग से अशुद्ध ज्ञान होता है। यथा—**अस्वो देवदत्तः** (धनरहित देवदत्त), यदि कोई प्रमाद से बिहारियों और बङ्गालियों के समान दन्त्य 'स' को तालव्य 'श' के रूप में **अश्वमानय** प्रयोग करे, तो इस का अर्थ होगा—घोड़े को लाओ। अतः इष्ट बुद्धि=ज्ञान के लिये शब्दों के यथावत् स्वरूप का जानना अत्यावश्यक है।

भर्तृहरि आदि व्याख्याताओं ने इस वचन का व्याकरणशास्त्र से सम्बद्ध अर्थ इस प्रकार

१. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। न्याय १।१।१५॥

किया है—**वर्णज्ञानम्**—जिस से वर्ण जाने जाते हैं, वह शास्त्र **वाग्विषयः**—वाणी को बांधने वाला है, क्योंकि वाणी का परिज्ञान शास्त्र से ही होता है। और जिस पदरूपवाणी में **ब्रह्म**—वेद वर्तमान है, उस ब्रह्म का=लौकिक-वैदिक शब्दों का शास्त्र विषय है। **तदर्थम्**—उस शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये, **इष्टबुद्ध्यर्थम्**—कलादिदोषरहित इष्ट वर्णों के परिज्ञान के लिये, और **लघ्वर्थम्**—अनुबन्ध जोड़कर लाघव से उपदेश के लिये।

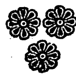
सोऽयमक्षरसमाम्नायः—यह किसी प्राचीन ग्रन्थ का अक्षरसमाम्नाय के विषय में प्रशंसा-परक अर्थवाद है। मीमांसकों के मतानुसार **अर्थवादानां स्वार्थे प्रामाण्यं नास्ति**, अर्थात् अर्थ-वाद के वचन से जो आपाततः अर्थ प्रतीयमान होता है, उसमें अर्थवादों का प्रामाण्य नहीं होता =वह अर्थ उनका प्रतिपाद्य नहीं होता। वे तो विधिवाक्य के स्तावक होते हैं। इस नियम के अनुसार अक्षरसमाम्नाय के ज्ञान से सर्ववेदफलों की प्राप्ति, और जाननेवाले के माता-पिता का स्वर्ग में पूजित होना फल कहा है। वह यथार्थ में नहीं है, अपितु वह **अक्षरसमाम्नायो वेदितव्यः** इस विधिवाक्य की प्रशंसा में है।

पुष्पितः फलितः—ये दोनों 'वेदराशि' के विशेषण हैं। व्याख्याकारों के मतानुसार **पुष्पितः**=दृष्टफल से अथवा लौकिक सुख से युक्त, और **फलितः**=अदृष्टफल से अथवा निःश्रेयस मोक्षसुख से युक्त यह अर्थ है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। निरुक्तकार यास्क ने **वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्** (ऋ० १०।७१।५) ऋगंश का व्याख्यान करते हुए लिखा है—**यो वाचं श्रुतवान् भवति अफलाम् अपुष्पाम्।……अर्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवता अध्यात्मे वा** (नि० १।२०), अर्थात् जो फलरहित और पुष्परहित वाणी को सुनता है। वाणी का फल है—अर्थज्ञान। वेदरूपवाणी के क्रमशः पुष्प और फल हैं—यज्ञ-विषयक और देवताविषयक विज्ञान अथवा देवताविषयक और अध्यात्मविषयक विज्ञान। तदनुसार यहां **पुष्पितः फलितः** का अर्थ होगा—यज्ञ-विषयक ज्ञान और देवताविषयक विज्ञान(=पदार्थविज्ञान) अथवा पदार्थ-विज्ञान और अध्यात्मविज्ञान। अधियज्ञ अधिदैवत और अध्यात्म ये तीन ही वेद के विषय हैं। कहा भी है—

> **अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्।**
> **मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु चैव श्रुतमित्यभिधीयते॥** शांखायन गृह्य १।२।१८॥

चन्द्रतारकवत्—पद से टीकाकारों ने अनादि होने से वाग्व्यवहार का नित्यत्व दर्शाया है। आधुनिक मीमांसक और जैन दर्शनकार सृष्टि को अकर्तृक और अनादि मानते हैं॥

इति युधिष्ठिरमीमांसककृते महाभाष्यस्याऽऽर्यभाषाव्याख्याने
प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे 'प्रत्याहाराह्निकं' नाम
द्वितीयमाह्निकं समाप्तम्॥



अथ तृतीयमाह्निकम्

[भाष्यम्] वृद्धिरादैच् ॥१।१।१॥

कुत्वं कस्मान्न भवति 'चोः कुः' [८।२।३०] पदस्येति ? भत्वात्। कथं भसंज्ञा ? 'अयस्मयादीनि च्छन्दसि' [१।४।२०] इति। छन्दसीत्युच्यते, न चेदं छन्दः। छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति। यदि भसंज्ञा, 'वृद्धिरादैजदेङ्गुणः' इति जश्त्वमपि न प्राप्नोति। उभयसंज्ञान्यपि च्छन्दांसि दृश्यन्ते। तद्यथा—'स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन' [ऋ० ४।५०।५] पदत्वात् कुत्वम्, भत्वाज्जश्त्वं न भवति। एवमिहापि पदत्वाज्जश्त्वम्, भत्वात् कुत्वं न भविष्यति ॥

व्याख्या—कुत्व क्यों नहीं होता 'चो कुः' (८।२।३०) से पदान्त [के चकार] को ? 'भ' [संज्ञा] होने से। 'भ' संज्ञा कैसे है ? 'अयस्मयादीनि चछन्दसि' (१।४।२०) से। 'छन्द में' [भ संज्ञा होती है] ऐसा कहा है, यह छन्द नहीं है। छन्द के समान सूत्र होते हैं। यदि भ संज्ञा है, तो 'वृद्धिरादैजदेङ्गुणः' यहां जश्त्व भी प्राप्त नहीं होता। दोनों संज्ञाओं वाले भी छन्द देखे जाते हैं, अर्थात् छन्द में एक पद में ही दोनों संज्ञाएं देखी जाती हैं। जैसे—सु सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन (ऋ० ४।५०।५) यहां (='ऋक्वता' में) पद संज्ञा होने से [ऋच् के चकार को] कुत्व, और भ संज्ञा होने से ['क्' को] जश्त्व नहीं होता। इसी प्रकार यहां (='आदैच्' में) भी पद संज्ञा होने से जश्त्व हो जायेगा, और भ संज्ञा होने से कुत्व नहीं होगा।

विवरण—इस '**वृद्धिरादैच्**' सूत्र में दो पक्ष हैं। एक पक्ष में इस में दो पद हैं—**वृद्धिः आदैच्**। इस में प्रमाण है, भाष्यकार का इसी सूत्र के भाष्य का वचन—'**कृतमनयोः साधुत्वम्** ······'। द्वितीय पक्ष में सूत्र में तीन पद हैं—**वृद्धिः आत् ऐच्**। इसमें पस्पशाह्निक (पृष्ठ ७९) में उक्त वचन—'**न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः आत् ऐच् इति**।' द्विपद पक्ष में '**आच्च ऐच्च=आदैच्**' समाहारद्वन्द्व है। **विभाषा समासान्तो भवति** (भाष्य ६।२।१९७) अथवा **समासान्तविधिरनित्यः** परिभाषा से वहां **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्** (५।४।१०६) से प्राप्त टच् प्रत्यय का अभाव जानना चाहिये। **आदैच्** में **चोः कुः** (८।२।३०) से कुत्व क्यों नहीं होता, इस साधारण से प्रश्न को व्याख्याकारों ने बहुत जटिल बना दिया है। यद्यपि संस्कृतभाषा के मूल शब्द जातिशब्द क्रियाशब्द और गुणशब्द ही हैं (द्र०—पूर्व पृष्ठ ११६, ११७), तथापि संस्कृतभाषा की व्यावहारिक शक्ति अति विपुल है। उसके द्वारा किन्हीं कृत्रिम संज्ञाओं एवं अन्य भाषा के शब्दों का भी संस्कृतीकरण अतिसरलता से हो जाता है। तदनुसार यहां '**ऐच्**' वैयाकरणीय कृत्रिम संज्ञा का भी संस्कृतीकरण हुआ है। उससे भी स्वाद्युत्पत्ति होती है, और

व्याकरण के नियम उनमें व्यवहृत होते हैं। इस दृष्टि से ही **कुत्वं कस्मान्न भवति** शङ्का उपस्थित होती है। व्याख्याकारों ने वैयाकरणीय कृत्रिम 'ऐच्' संज्ञा को भी नित्य सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा की है।

शब्द दो प्रकार के मानने ही होंगे—एक स्वाभाविक=नित्य, जिनमें क्रियाशब्द जाति शब्द और गुणशब्दों का समावेश है। दूसरे—भाष्यकार के मत में यदृच्छाशब्द। इन्हीं का एक प्रकार कृत्रिम संज्ञाएं हैं, ये अनित्य हैं। यतः व्याकरणशास्त्र में यदृच्छाशब्दों का विवेचन नहीं किया गया है, अतः वैयाकरण शब्दों का नित्यत्व पक्ष मानते हैं। मीमांसक भी वैदिक शब्दों का ही विवेचन करते हैं, अतः वे भी शब्दों को नित्य मानते हैं। कृत्रिम=यदृच्छा अथवा अपभ्रंश शब्द जो कि अनित्य हैं, इनके क्षेत्र से बाहर हैं। इसलिये इनके यहां अनित्य शब्दों का विचार ही नहीं किया गया। शब्दों के नित्यत्वानित्यत्व दो भेदों का प्रतिपादन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस प्रकार किया है—

'**शब्दो द्विविधः—नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति, ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्तन्ते, ते कार्याश्च। कुतः? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः, तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद् वेदानां नित्यत्वम्।**' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदनित्यत्वविचार (द्र०—ऋग्भाष्य भाग १, पृष्ठ ३३, रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण)।

इसका तात्पर्य यह है कि—"शब्द नित्य और कार्य (=अनित्य) भेद से दो प्रकार का है। जो परमात्मा के ज्ञान में वर्तमान शब्द अर्थ और उनका सम्बन्ध है, वे नित्य हैं। और जो हम लोगों के शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे अनित्य हैं। अर्थात् मनुष्यों के द्वारा घड़े गये शब्द, उनका संकेतित अर्थ, तथा शब्द अर्थ का सम्बन्ध सब अनित्य हैं।"

स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में संस्कृतभाषा का आदिमूल वेद हैं। अतः उन से लोक में आगत शब्द अर्थ और सम्बन्ध भी नित्य हैं। और जिन्हें यदृच्छा अथवा कृत्रिम संज्ञा आदि के रूप में मनुष्यों ने घड़ा है, वे अनित्य हैं। मीमांसकों का लोक-वेदाधिकरण (अ० १, पाद ३) इसी आधार पर स्थित है। संस्कृतभाषा की विभक्तियों का उनके साथ प्रयोग होने से वे संस्कृतवद्भासित होते हैं।

छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति पर कैयट ने लिखा है—'व्याकरण के वेदाङ्ग होने से उसके सूत्र छन्दोवत् हैं, वैशेषिक आदि के नहीं।' यह चिन्त्य है। सामान्य सूत्र का विशेष विषय में संकोच में कोई प्रमाण नहीं है। यदि व्याकरण वेदाङ्ग है, तो वैशेषिक आदि भी तो वेद के उपाङ्ग हैं। सूत्रों के छन्दोवत्व में मूल कारण है—सूत्र शब्द का अपना अर्थ। सूत्र की सुन्दर परिभाषा यह है—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

तदनुसार सूत्र की विशेषताएं हैं—अल्पाक्षरता, असन्दिग्धता, सारवत्ता, व्यापक अर्थ का प्रकाशकत्व, अर्थविहीन शब्द से राहित्य और विशुद्ध रचना। इन सब सूत्रगुणों का चरम

उत्कर्ष वेद और वैदिक मन्त्रों में है। 'सूत्र' चौरादिक धातु का अर्थ है—सूत्र=धागे का वेष्टन =बांटना। जैसे धागे में सहस्रशः लक्षशः सूक्ष्म अवयवों का वेष्टन होता है, इसी प्रकार सूत्रों में उक्त सभी गुणों का वेष्टन होने से **सूत्रमिव सूत्रम्** 'सूत्र' कहाते हैं। यदि **सूचनात् सूत्रम्** व्युत्पत्ति मानें, तो यह अर्थ भी वैदिक मन्त्रों में पूर्णतया घटता है। वे भी विविध अर्थों का प्रकाशन करते हैं।

ऐच् अच् इच् आदि प्रत्याहारों में जश्त्व कार्य तो देखा जाता है। यथा—**नाज्झलौ** (१।१।१०), **इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः** (३।१।३६), पर कुत्व कहीं नहीं किया जाता। इसका कारण यह है कि कुत्व कर देने पर अक् प्रत्याहार और अच् प्रत्याहार में कोई भेद ज्ञात नहीं होगा। **अल्पाच्तरम्** (२।२।३४) के स्थान पर यदि कुत्व कर दें, तो **अल्पाक्तरम्** में सन्देह होगा –यहां अक् प्रत्याहार है अथवा अच्। इसी प्रकार यदि अच् के चकार को कुत्व हो जावे, तो **नाग्लोपिशास्वृदिताम्** (७।४।२) में सन्देह होगा कि—जिन में अक् का लोप हुआ है वे, अथवा अच् का लोप हुआ है वे। इसी कारण आज तक वैयाकरण **अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः** व्यवहार करते चले आ रहे हैं। इस व्यवहार में भाष्यकार का **अचो अक्षु हलो हल्षु** (द्र० पूर्व पृष्ठ १८१) प्रयोग विचारणीय हो जाता है कि अक्षु में कुत्व कैसे हो गया? सम्भव है भाष्यकार ने पूर्वनिर्दिष्ट **अचः** पद के योग से असन्देह मानकर 'अक्षु' में कुत्व कर दिया।

[भाष्यम्] किं पुनरिदं तद्भावितग्रहणम्—वृद्धिरित्येवं ये आकारैकारौकारा भाव्यन्ते तेषां ग्रहणम्, आहोस्विदादैज्मात्रस्य? किं चातः?

यदि तद्भावितग्रहणं, शालीयः मालीय इति वृद्धलक्षणश्छो न प्राप्नोति। आम्रमयम् शालमयम्—वृद्धलक्षणो मयण्न प्राप्नोति। आम्रगुप्तायनिः शालगुप्तायनिः—वृद्धलक्षणः फिञ् न प्राप्नोति।

अथादैज्मात्रस्य ग्रहणं—सर्वो भासः सर्वभासः, इति 'उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च' [६।२।१०५] इत्येष विधिः प्राप्नोति। इह च तावती भार्याऽस्य तावद्भार्यः यावद्भार्यः—'वृद्धिनिमित्तस्य' [६।३।३८] इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोति ॥

व्याख्या—**क्या यह [आदैच् का ग्रहण] तद्भावित का ग्रहण है—'वृद्धि' इस शब्द के द्वारा जो आकार ऐकार औकार सत्ता में लाये जाते हैं (=निष्पन्न किये जाते हैं) उनका ग्रहण है, अथवा आदैच्मात्र का। इस [विचार] से क्या [प्रयोजन]?**

यदि तद्भावित का ग्रहण है, तो शालीयः मालीयः **में वृद्धसंज्ञा-लक्षण छ** (४।२।११३) **प्राप्त नहीं होता है [क्योंकि शाला माला प्रातिपदिक में जो आकार है, वह वृद्धि शब्द से निष्पादित नहीं है, अतः इसकी वृद्धि संज्ञा नहीं होगी। वृद्धि-संज्ञा न होने से** वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (१।१।७२) **से शाला माला की वृद्ध-संज्ञा नहीं होगी। वृद्ध संज्ञा न होने से** वृद्धाच्छः (४।२।११३) **से छ प्रत्यय नहीं होगा]।** आम्रमयम् शालमयम् **में वृद्धसंज्ञा-लक्षण मयट्** (४।३।१४२) **प्राप्त नहीं होता है [क्योंकि यहां भी आम्र शाल शब्द का आकार वृद्धि-संज्ञाभावित नहीं है। अतः न वृद्धि संज्ञा होगी, और न वृद्धि-संज्ञानिमित्तक वृद्धसंज्ञा होगी। तब** नित्यं वृद्धशरादिभ्यश्च (४।३।१४२) **से मयट् भी नहीं होगा]।** आम्र-

गुप्तायनिः शालगुप्तायनिः में वृद्ध-संज्ञा-लक्षण फिञ् (४।१।१५७) प्राप्त नहीं होता है [यहां भी पूर्ववत् वृद्धि-संज्ञा के अभाव में वृद्ध-संज्ञा का अभाव होगा। वृद्ध-संज्ञा के अभाव में उदीचां वृद्धात्० (४।१।१५७) से प्राप्त फिञ् का अभाव होगा]।

यदि आदैच्मात्र का ग्रहण है, अर्थात् आदैच्मात्र की वृद्धि-संज्ञा होती है, तो सर्वो भासः सर्वभासः में 'उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च' (६।२।१०५) यह (=पूर्वपदान्तोदात्तत्वरूप) विधि प्राप्त होती है। और तावती भार्याऽस्य तावद्भार्यः यावद्भार्यः में वृद्धिनिमित्तस्य० (६।३।३८) से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त होता है [क्योंकि आदैच्मात्र की वृद्धि संज्ञा होने से 'भार्या' में आकार वृद्धि-संज्ञक है। इस कारण उत्तरपद वृद्धिवाला है। और तावती में आ सर्वनाम्नः (६।३।९०) से विहित वृद्धि-संज्ञक आकार का वतुप् प्रत्यय निमित्त है]।

विवरण—'**वृद्धलक्षणो मयट्**' इसके स्थान पर कहीं-कहीं **वृद्धिलक्षणो मयट्** पाठान्तर मिलता है। नागेश ने इसी पाठ की संगति खींचातानी से लगाकर 'वृद्धलक्षणो मयट्' पाठ भी दर्शाया है। प्रकृत प्रसङ्ग में तीन दोष उपस्थित किये हैं, उनमें प्रथम और तृतीय में **वृद्धलक्षणः** पाठ सर्वसम्मत है, तब मध्य में **वृद्धिलक्षणः** पाठ कैसे हो सकता है? **फिञ् न प्राप्नोति**—'आम्रगुप्तायनिः, शालगुप्तायनिः' में वृद्ध-संज्ञा न होने पर **प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्** (४।१।१६०) से फिन् होकर भी रूप तथा स्वर की सिद्धि हो जायेगी। **आम्रगुप्तायनीभार्यः** वृद्धिनिमित्तक फिञ् के अभाव में '**वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्य**' (६।३।३८) से प्राप्त होनेवाले पुंवद्भाव का प्रतिषेध **जातेश्च** (६।३।४०) से हो जायगा। फिर फिञ् की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि **आम्रगुप्तायनेरपत्यं युवा** इस अर्थ में **ण्यक्षत्रियार्षञितः०** से ञित् से युवार्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् हो जावे। **आम्रगुप्तायनिः पिता आम्रगुप्तायनिः पुत्रः** प्रयोग इष्ट है। वह फिन् प्रत्यय करने पर सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि फिन् ञित् नहीं है। और यदि यह कहो कि **अब्राह्मणगोत्रमात्राद् युवप्रत्ययस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्** (वा० २।४।५८) से युवप्रत्यय का लुक् हो जायगा, तो यह भी ठीक नहीं। ब्राह्मणगोत्र में उक्त वार्तिक की प्रवृत्ति न होने से युवार्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् नहीं होगा।

[भाष्यम्] अस्तु तर्हि—आदैज्मात्रस्य ग्रहणम्। ननु चोक्तम्—'सर्वो भासः सर्वभासः, इति उत्तरपदवृद्धौ सर्वं चेत्येष विधिः प्राप्नोति' इति। नैष दोषः। नैवं विज्ञायते—'उत्तरपदस्य वृद्धिरुत्तरपदवृद्धिरुत्तपदवृद्धौ' इति। कथं तर्हि? 'उत्तरपदस्य' [७।३।१०] इत्येवं प्रकृत्य या वृद्धिस्तद्वत्युत्तरपदे, इत्येवमेतद्विज्ञायते। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। तद्भाविलग्रहणे सत्यपीह प्रसज्येत—सर्वः कारकः सर्वकारक इति।

यदप्युच्यते 'इह तावती भार्याऽस्य तावद्भार्यः यावद्भार्य इति च वृद्धिनिमित्तस्येति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोति' इति। नैष दोषः। नैवं विज्ञायते—वृद्धेर्निमित्तं वृद्धिनिमित्तं, वृद्धिनिमित्तस्येति। कथं तर्हि? वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन् सोऽयं वृद्धिनिमित्तः, वृद्धिनिमित्तस्येति। किं च वृद्धेर्निमित्तम्? योऽसौ ककारो ञकारो णकारो वा। अथवा यः कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम्। कश्च कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम्? यस्त्रयाणामाकारैकारौकाराणाम्॥

व्याख्या—अच्छा तो—आदैच्मात्र का ग्रहण होवे। अभी तो कहा है—'सर्वो भासः सर्वभासः में उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च (६।२।१०५) यह (=पूर्वपदान्तोदात्तत्वरूप) विधि प्राप्त होती है।' यह दोष नहीं है। इस प्रकार नहीं जाना जाता है कि—'उत्तरपद की वृद्धि=उत्तरपदवृद्धि, उसके परे रहने पर'। तो कैसे जाना जाता है? 'उत्तरपदस्य (७।३।१०) इस प्रकार अधिकार करके जो वृद्धि कही है, उससे युक्त उत्तरपद के परे रहने पर' इस प्रकार यह अर्थ जाना जाता है। और यह [अर्थ] अवश्य इसी प्रकार जानना चाहिये। [क्योंकि] तद्-भावितग्रहण होने पर भी यहां [पूर्वपदान्तोदात्तत्व] प्राप्त हो जायेगा—सर्वः कारकः सर्वकारकः [यहां 'कारक' उत्तरपद में अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धिशब्द द्वारा विहित अर्थात् तद्भावित वृद्धि है। इस कारण यहां पूर्वपदान्तोदात्तत्व प्राप्त होगा, जो इष्ट नहीं है]।

और जो कहा है कि—'यहां तावती भार्याऽस्य तावद्भार्यः और यावद्भार्यः में वृद्धिनिमित्तस्य (६।३।३८) से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त होता है।' यह दोष नहीं है। इस प्रकार नहीं जाना जाता है कि—'वृद्धि का निमित्त=वृद्धि-निमित्त, उस वृद्धिनिमित्त को'। तो कैसे जाना जाता है? 'वृद्धि का निमित्त है जिसमें वह वृद्धिनिमित्त, उस वृद्धि-निमित्त को।' वृद्धि का निमित्त क्या है? जो यह ककार ञकार और णकार है। [इस प्रकार वतुप् में वृद्धि का निमित्त ककारादि के न होने से वह वृद्धिनिमित्त तद्धित नहीं है।] अथवा जो सम्पूर्ण वृद्धि का निमित्त होवे। सम्पूर्ण वृद्धि का निमित्त कौन है? जो तीनों आकार ऐकार औकाररूप वृद्धि का निमित्त होवे। [वतुप् प्रत्यय तो आ सर्वनाम्नः (६।३।९०) से केवल आकाररूप वृद्धि का ही निमित्त है। इसलिये तावती भार्याऽस्य तावद्भार्यः में पुंवद्भाव का प्रतिषेध नहीं होगा।]

विवरण—प्रथम पक्ष (=तद्भावितग्रहण) में दोषों का उद्धार सम्भव नहीं है, यह मानकर द्वितीय पक्ष का आश्रयण किया है—अस्तु तर्हि आदैच्मात्रस्य ग्रहणम्। कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम् यह वृद्धि का कार्त्स्न्यं सूत्रार्थ-प्रतिपत्तिकाल में जानना चाहिये। प्रयोग (=लक्ष्य) में तो एक ही वृद्धि उपलब्ध होगी।

[भाष्यम्] संज्ञाधिकारः संज्ञासंप्रत्ययार्थः ॥१॥

'अथ संज्ञा' इत्येवं प्रकृत्य वृद्ध्यादयः शब्दाः पठितव्याः। किं प्रयोजनम्? संज्ञासंप्रत्ययार्थः। वृद्ध्यादीनां शब्दानां 'संज्ञा' इत्येष संप्रत्ययो यथा स्यात्।

इतरथा ह्यसंप्रत्ययो यथा लोके ॥२॥

अक्रियमाणे हि संज्ञाधिकारे वृद्ध्यादीनां 'संज्ञा' इत्येष संप्रत्ययो न स्यात्। इदमिदानीं बहुसूत्रमनर्थकं स्यात्? 'अनर्थकम्' इत्याह। कथम्? 'यथा लोके'। लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते। अर्थवन्ति तावत्—'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन,' 'देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम्' इति। अनर्थकानि—'दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनं, पललपिण्डः, अधरोरुकमेतत्कुमार्याः, स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः' इति ॥

व्याख्या—संज्ञा का अधिकार करना चाहिये, संज्ञा की प्रतीति के लिये।

'अथ संज्ञा' ऐसा कहकर वृद्धि आदि शब्दों को पढ़ना चाहिये। क्या प्रयोजन है ? संज्ञा की प्रतीति (=परिज्ञान) के लिये। जिससे वृद्धि आदि शब्दों की 'संज्ञा' यह प्रतीति होवे। अर्थात् वृद्धि आदि संज्ञा जाने जावें।

अन्यथा ['संज्ञा' ऐसा] संप्रत्यय नहीं होवे, जैसे लोक में।

'संज्ञा' का अधिकार न करने पर वृद्धि आदि शब्दों की 'संज्ञा' यह प्रतीति न होवे। इस स्थिति में बहुत सूत्रों का समाहार अथवा प्रकरण [जिनमें संज्ञा हैं] अनर्थक होवे ? हां, 'अनर्थक' होवे। कैसे ? 'जैसे लोक' में। लोक में अर्थवान् और अनर्थक [दोनों प्रकार के] वाक्य देखे जाते हैं। अर्थवान् वाक्य जैसे—'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लां दण्डेन' (=देवदत्त, सफेद गाय को दण्डे से हांक), 'देवदत्त गाम् अभ्याज कृष्णाम्' (=देवदत्त काली गाय को दण्डे से हांक)। अनर्थक वाक्य जैसे—'दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनम्, पललपिण्डः, अधरोरुकमेतत् कुमार्याः, स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः।'

विवरण—'**वृद्धयादीनाम्** यहां 'सम्प्रत्यय' शब्द की अपेक्षा से कर्म में षष्ठी है। '**यथा लोके**' वार्तिक में दृष्टान्त केवल '**संप्रत्यय**' और 'असंप्रत्ययरूप' एकदेश विषय में जानना चाहिये। क्योंकि दार्ष्टान्त के समान 'अधिकार से अर्थ का संप्रत्यय' और 'अधिकार के विना असम्प्रत्यय' लौकिक दृष्टान्त में सम्भव नहीं है। एकदेश में दृष्टान्त सम्भव है, अतः भाष्यकार ने लोक में प्रयुक्त अर्थवान् वाक्यों (जिनसे अर्थ प्रतीति होती है), और अनर्थक वाक्यों (जिनसे अर्थप्रतीति नहीं होती) के उदाहरण दिये हैं।

बहुसूत्रम्—'**बहूनां सूत्राणां समाहारः बहुसूत्रम्**' में **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते** (वा० २।४।३०) से विहित स्त्रीत्व का **पात्रादिभ्यः प्रतिषेधः** (वा० २।४।३०) से अभाव जानना चाहिये। पात्रादि आकृतिगण है। वास्तविकता यह है शिष्टप्रयोग सामर्थ्य से '**बहुसूत्रम्**' में स्त्रीत्वाभाव जानना चाहिये। जैसे **षण्मासाण्ण्यच्च** (५।१।८२) के प्रयोग से **षण्मास** शब्द मे स्त्रीत्व की प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु **त्रिसूत्री चतुःसूत्री** आदि में नियत-संख्याविशेषबोधक शब्द के साथ समास होने पर स्त्रीत्व ही होता है। अथवा बहुव्रीहि समास होगा—**बहूनि सूत्राणि यस्मिन् प्रकरणे तद् बहुसूत्रं प्रकरणम्**। '**अनर्थकानि वाक्यानि**'—यद्यपि अन्वितार्थपद-समूह का नाम वाक्य होता है। उस अवस्था में अनन्वितार्थ अर्थात् अनर्थकपदसमूह वाक्य ही नहीं कहाता। इसलिये यहां भाष्यकार ने **पदसमूहो वाक्यम्** (तुलना करो—वात्स्यायनभाष्य २।१। ५५) लक्षणानुसार पदसमूह को वाक्य मानकर उसके अर्थवत् और अनर्थक दो भेद दर्शाये हैं, ऐसा जानना चाहिये। **दश दाडिमानि** आदि उदाहृत वाक्यों में यथासम्भव दो-दो वा तीन-तीन पदों का कुछ अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु समुदायार्थ कुछ भी प्रतीत न होने से ये भी अनर्थक है। न्यायभाष्य में वात्स्यायनमुनि ने भी **अपार्थक** नाम निग्रहस्थान में ये ही उदाहरण दिये हैं, वहां पाठ कुछ अशुद्ध है। **पललपिण्डः**—मांस का पिण्ड। पं० चारुदेवजी ने '**पलालपिण्डम्**' पाठ मानकर 'फलशून्य काण्डों का समूह' अर्थ किया है। **अधरोरुकमेतत् कुमार्या**—कुमारी के अधःभाग का आच्छादक वस्त्र (पेटीकोट, घाघरा, लंहगा)। **स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीनः**—स्फयकृत के अपत्य स्फैयकृत का पिता (=स्फयकृत) शीतक (द्र०—५।२।७२) = ठण्डा=

आलसी। पं० चारुदेव जी ने 'प्रतिश्याययुक्त' अर्थ किया है, वह चिन्त्य है। यही पाठ महा० १।२।४५ भाग २ पृष्ठ १०२। में भी आया है।

[भाष्यम्] संज्ञासंज्ञ्यसन्देहश्च ॥३॥

क्रियमाणेऽपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः। कुतो ह्येतत्—वृद्धिशब्दः संज्ञा, आदैचः संज्ञिन इति, न पुनरादैचः संज्ञा, वृद्धिशब्दः संज्ञीति ?

यत्तावदुच्यते—'संज्ञाधिकारः कर्तव्यः संज्ञासंप्रत्ययार्थः' इति। न कर्तव्यः।

आचार्याचारात् संज्ञासिद्धिः, यथा लौकिकवैदिकेषु ॥४॥

आचार्याचारात् संज्ञासिद्धिर्भविष्यति। किमिदम्—'आचार्याचाराद्' इति ? आचार्याणामुपचारात्। तद्यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावन्माता-पितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्वाते—देवदत्तः, यज्ञदत्त इति। तयोरुप-चारादन्येपि जानन्ति—'इयमस्य संज्ञा' इति। वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति—स्फ्यः, यूपः, चषाल इति। तत्रभवतामुपचारादन्येऽपि जानन्ति—'इयमस्य संज्ञा' इति। एवमिहापि। इहैव तावत् केचिद्व्याचक्षाणा आहुः—'वृद्धिशब्दः संज्ञा, आदैचः संज्ञिनः' इति। अपरे पुनः—'सिचि वृद्धिः' [७।२।१] इत्युक्त्वाऽऽकारैकारौकारान् उदाहरन्ति। तेन मन्यामहे—'यया प्रत्याय्यन्ते सा संज्ञा, ये प्रतीयन्ते ते संज्ञिनः' इति ॥

व्याख्या—और संज्ञा-संज्ञी का असन्देह कहना चाहिये।

'संज्ञा' का अधिकार करने पर संज्ञा-संज्ञी का असन्देह (=सन्देह का निराकरण) कहना चाहिये। यह कैसे [जाना जायगा कि]—वृद्धि शब्द संज्ञा है और आदैच् संज्ञी हैं; आदैच् संज्ञा और वृद्धि शब्द संज्ञी नहीं है ?

और यह जो कहते हो—'संज्ञाधिकार करना चाहिये, संज्ञा के सम्प्रत्यय के लिये'। नहीं करना चाहिये।

आचार्याचार से संज्ञा की सिद्धि [हो जायेगी], जैसे लौकिक वैदिक [सिद्धान्तों] में।

आचार्याचार से संज्ञा की सिद्धि हो जायेगी। यह 'आचार्याचार' क्या है ? आचार्यों का उपचार (=व्यवहार[1])। जैसे लौकिक और वैदिक सिद्धान्तों में। लोक में पहले माता-पिता उत्पन्न हुए पुत्र का चारों ओर से ढके स्थान अर्थात् घर के भीतर 'देवदत्त' अथवा 'यज्ञदत्त' ऐसा नाम करते हैं। उनके व्यवहार से अन्य भी जानते हैं—'यह इसकी संज्ञा है।'

---

१. 'आचार्यों के व्यवहार से' का तात्पर्य शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार दर्शाया है—'पाणिन्याचार्यस्य व्यवहारात् तच्छिष्यैर्वृद्धिशब्दः संज्ञा आदैचः संज्ञिन इति ज्ञातम्। तदाचारात् (=तच्छिष्याणामाचारात्) तच्छिष्यैरिति परम्परया आधुनिकास्मदादिपर्यन्तैः सर्वैरेव तथा ज्ञायत इति भावः।' हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १९३; मुद्रित पृष्ठ २२१।

वेद में भी याज्ञिक संज्ञा करते हैं—'स्फ्यः, यूपः, चषालः'। उनके व्यवहार से अन्य भी जानते हैं—'यह इस [पदार्थ] की संज्ञा है'। इसी प्रकार यहां भी। कुछ व्याख्याता यहीं कहते हैं कि—'वृद्धि शब्द संज्ञा है, और आदैच् संज्ञी हैं'। दूसरे व्याख्याकार सिचि वृद्धि० (७।२।१) सूत्र पढ़ कर आकार ऐकार औकार का उदाहरण देते हैं। उससे हम जानते हैं कि—'जिससे [=जिस शब्द से आकार ऐकार औकार का]ज्ञान कराया जाता है वह संज्ञा, और जो प्रतीत (=ज्ञात) होते हैं, वे संज्ञी होते हैं।'

विवरण—**'उपचारात्'** उपचार नाम गौणीवृत्ति का भी है। वह यहां अभिप्रेत नहीं है। यहां उपचार का व्यवहार अर्थ ही इष्ट है। शब्दशक्ति के ग्रहण में जहां अनेक कारण माने गये हैं[1], वहां व्यवहार प्रधान कारण है। **संवृतेऽवकाशे**—माता-पिता घरों में बैठकर अपने इष्ट मित्रों तक सीमित जनों में बालक का नाम रखते हैं। खुले रूप में ड़ोंडी नहीं पीटते, फिर भी नामकरण संस्कार में आगतजनों से अन्य व्यक्ति भी माता-पिता इष्ट-मित्र-बन्धु आदि के व्यवहार को देखकर जान जाते हैं कि इस बालक का यह नाम है।

वेदे—पूर्व पृष्ठ ५६ पर लिख चुके हैं कि वेद शब्द याज्ञिक-संप्रदाय में मन्त्र-ब्राह्मण के लिये पारिभाषिक है, जैसे कि पाणिनीय व्याकरण-सम्प्रदाय में गुणशब्द अकार एकार ओकार के लिये नियत है। यहां स्पष्ट ही **याज्ञिकाः पठन्ति** का निर्देश है। **स्फ्यः**—यह खैर के काष्ठ का बना छुरे (=कृपाण) की आकृति का यज्ञपात्र है। **यूपः**—यजमान के परिणाम का चार कोने का छील तराश कर यज्ञपशु के बन्धन के लिये बनाया गया यज्ञीय द्रव्य है। **चषालः**—यूप के अग्रभाग=ऊपर के भाग पर रखा जानेवाला कडे के आकार का काष्ठ है। **यजमानो वै यूपः** के निर्देश से जब यूप को यजमान कहा,तो यजमान सिर पर जैसे उष्णीष (=पगड़ी) धारण करता है, वैसे चषाल यूप का उष्णीष-स्थानीय पात्र है।

केचिद् व्याचक्षाणाः—**अपरे व्याचक्षाणाः**—पदों द्वारा भाष्यकार ने अष्टाध्यायी के पठन-पाठन की दो प्रकार की पद्धतियों का निर्देश किया है। प्रथम पद्धति के अनुसार कुछ आचार्य संज्ञा-परिभाषासूत्रों का अपने स्थान में ही पदच्छेद, अनुवृत्ति, वृत्ति, उदाहरण, उदाहरणसिद्धि आदि का बोध करा देते थे। और कुछ आचार्य संज्ञा-परिभाषासूत्रों का स्वस्थान में व्याख्यान न करके[2] कार्यकालपक्ष में आगे जिन सूत्रों में संज्ञा-परिभाषासूत्र उपस्थित होते हैं, वहीं इनका अभिप्राय प्रकट कर देते हैं। इन दोनों पद्धतियों में से भाष्यकार संभवतः प्रथम पद्धति के अनुयायी थे(द्र०—पूर्व पृष्ठ ७९—**न केवलं चर्चापदानि व्याख्यानम्**)। काशिकावृत्ति में पदच्छेद समास अनुवृत्ति वृत्ति उदाहरण प्रत्युदाहरण सभी का समावेश प्रत्यक्ष है। स्वामी

---

१. शक्ति-ग्रह के निम्न कारण प्राचीन आचार्यों ने गिनाये हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

मीमांसकों ने वाक्यशेष से शक्तिग्रह के साथ ही 'वाक्योपक्रम' से भी उसे माना है। द्र०—मीमांसा का **'वेदो वा प्रायदर्शनात्'** (३।३।२) सूत्र और उसका भाष्य।

२. ननु क्वचित् संज्ञासूत्राणां वृत्तिरुदाहरणं च नोपलभ्यते, विधिसूत्राणां तु उदाहरणमात्रं दृश्यते। शिवरामेन्द्र सरस्वती, हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १६३; मुद्रित पृष्ठ २२१।

दयानन्द सरस्वती ने भी प्रथम पक्षानुसार अष्टाध्यायी पढ़ाने का निर्देश सत्यार्थप्रकाश (समु० ३, पृष्ठ १११) में किया है। द्वितीय पक्ष में कुछ सरलता अवश्य होती है, पर छात्रों के ज्ञान में उतनी प्रौढता नहीं होती, जितनी प्रथम पक्षानुसार अष्टाध्यायी के पढ़ने से होती है।

आचार्यों के आचार की जो दो प्रकार की व्याख्या भाष्यकार ने की है। उसे यदि शिवरामेन्द्र के शब्दों में (द्र०—पृष्ठ २०६, टि० १) देखें, तो प्रतीत होता है कि दोनों प्रकार के पठन-पाठन (=प्रवचन) का आरम्भ भी पाणिनि से ही हुआ है। हो सकता है कि किन्हीं शिष्यों को प्रथम पक्षानुसार पढ़ाया हो, और किन्हीं को द्वितीय पक्षानुसार। उनमें से प्रथम विधि अधिक उपयोगी होने से तथा अधिक जनों से गृहीत होने से काशिकादि के रूप में सुरक्षित रही। क्या अष्टाध्यायी के वृद्ध और लघु पाठ के साथ इस वृत्ति-प्रवचन का भी कुछ सम्बन्ध है ?

[भाष्यम्] यदप्युच्यते—'क्रियमाणेऽपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः' इति।

संज्ञासंज्ञ्यसन्देहश्च ॥५॥

संज्ञासंज्ञिनोश्चाऽसन्देहः सिद्धः। कुतः? 'आचार्याचारादेव'। उक्त आचार्याचारः।

अनाकृतिः ॥६॥

अथवाऽनाकृतिः संज्ञा, आकृतिमन्तः संज्ञिनः। लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य 'देवदत्तः' इति संज्ञा क्रियते।

लिङ्गेन वा ॥७॥

अथवा—किंचिल्लिङ्गमासज्य वक्ष्यामि—'इत्थंलिङ्गा संज्ञा' इति। वृद्धिशब्दे च तल्लिङ्गं करिष्यते, नादैच्छब्दे॥

व्याख्या—और जो कहा है कि—'संज्ञाधिकार करने पर भी संज्ञा-संज्ञी का असन्देह कहना चाहिये।'

संज्ञा-संज्ञी का असन्देह भी [आचार्याचार से सिद्ध है]।

संज्ञा और संज्ञी का असन्देह सिद्ध है। कैसे? 'आचार्याचार से ही'। आचार्याचार कह दिया है।

आकृतिरहित संज्ञा होती है।

अथवा आकृतिरहित संज्ञा और आकृतिवाले संज्ञी होते हैं। लोक में भी आकृतिमत् मांसपिण्ड (=शरीर) की 'देवदत्त' ऐसी संज्ञा की जाती है।

अथवा लिङ्ग से [संज्ञा का निर्देश करेंगे]।

अथवा—किसी प्रकार का लिङ्ग (=चिह्न) लगाकर कहेंगे—'इस लिङ्गवाली संज्ञा होती है।' उस लिङ्ग को वृद्धि शब्द में लगायेंगे, आदैच् शब्द में नहीं लगायेंगे।

विवरण—'अनाकृतिः'—इस शब्द में बहुव्रीहि समास है—**न विद्यते आकृतिर्जातिरस्मिन् स अनाकृतिः एक इत्यर्थः**, अर्थात् जिसमें आकृति=जाति नहीं है, वह 'अनाकृति' कहाता है। समान बुद्धि को उत्पन्न करनेवाली जाति (=आकृति) अनेकाश्रित रहती है। उसका जिसमें अभाव हो, ऐसा वही पदार्थ होता है जो स्वरूप से एक ही हो। अतः 'अनाकृति' से यहां अभिप्राय एक का है, और आकृतिमान् से तात्पर्य जिनमें आकृति रहती है, उन अनेकों से है। अतः यहां अर्थ होगा—वृद्धि अनाकृति=एक होने से संज्ञा है, और आदैच्=आ ऐ औ तीन होने से आकृतिमान् हैं। इनमें वृद्धित्वरूप आकृति रहती है। 'प्रत्युच्चारण शब्दभेद होता है' इस सिद्धान्त में वृद्धि शब्दों के अनेक होने से उनमें भी वृद्धित्व आकृति है। अतः यहां जिस संज्ञासूत्र में संज्ञा-संज्ञिभाव का विचार इष्ट है, उसी की दृष्टि से आकृति एकत्वविशिष्ट संज्ञा, और आकृतिमान् अनेक संज्ञी होते हैं। यह **लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्** न्याय से अनुमोदित भी है। उक्त पक्ष के अनुसार एक प्रत्ययादर्शन की लुक् श्लु लुप् अनेक संज्ञाएं कैसे होंगी? इसका उत्तर यह है कि—लाघव न्याय वहीं प्रवृत्त होता है, जहां अनेक संज्ञाकरण व्यर्थ होता है। जहां अनेक संज्ञाएं सप्रयोजन होती हैं, वहां एक की भी अनेक संज्ञाएं होती हैं, ऐसा कैयट-नागेश का कहना है। शिवरामेन्द्र सरस्वती का कथन है कि—अदर्शनविशेषों की लुक् श्लु लुप् संज्ञा है. अर्थात् कुछ प्रयोगों में प्रत्ययादर्शनों की लुक् संज्ञा होती है, कुछ की श्लु, और कुछ की लुप्। इस प्रकार संज्ञाव्यवस्था से एक-एक ही संज्ञा होती है, तीन संज्ञाओं का सांकर्य कहीं नहीं है। अतः वार्तिककार का कथन—एकत्वविशिष्ट संज्ञा और अनेकत्वयुक्त संज्ञी होते हैं, यथार्थ है। नागेश भट्ट की अपेक्षा शिवरामेन्द्र का कथन भाष्यानुगत है।

लिङ्गेन—का अभिप्राय है कलादि दोषरूप वर्णों के योग से (शिवरामेन्द्र)।

[भाष्यम्]इदं तावदयुक्तं यदुच्यते—'आचार्याचाराद्' इति। किमत्राऽयुक्तम्? तमेवोपालभ्य 'अगमकं ते सूत्रम्' इति, तस्यैव पुनः प्रमाणीकरणमित्येतदयुक्तम्। अपरितुष्यन् खल्वपि भवाननेन परिहारेण—'अनाकृतिर्लिङ्गेन वा' इत्याह। तच्चापि वक्तव्यम्।

यद्यप्येतदुच्यते—अथवैतर्हि इत्संज्ञा न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः। संज्ञालिङ्गमनुबन्धेषु करिष्यते। न च संज्ञाया निवृत्तिरुच्यते। स्वभावतः संज्ञा संज्ञिनं प्रत्याय्य स्वयं निवर्तते। तेनानुबन्धानामपि निवृत्तिर्भविष्यति। सिद्धयत्येवम्, अपाणिनीयं तु भवति॥

व्याख्या—यह अयुक्त है, जो कहते हो कि—'आचार्यों के आचार से [संज्ञा-संज्ञी की सिद्धि हो जायेगी]'। इसमें क्या अयुक्तता है। उसी (=पाणिनि आचार्य)[1] को उपालम्भ देकर कि 'तुम्हारा सूत्र अगमक (=अबोधक=अनर्थक) है', [ऐसा कहकर] फिर उसी (=पाणिनि

१. भाष्यकार ने पहले **केचिद् व्याचक्षाणा आहुः**—**अपरे पुनः** शब्दों द्वारा प्रमाणरूप से वृत्तिकारों का निर्देश किया है। उसी के अनुसार यहां **तस्यैव पुनः प्रमाणीकरणम्** में तस्य पद का अर्थ पं० चारुदेव जी ने 'उसी के वृत्तिकारों को प्रमाण मानना किया है।' वह चिन्त्य है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि पाणिनीय सूत्रों की द्विविध वृत्ति वा व्याख्या पाणिनिप्रोक्त ही है। अतः अष्टाध्यायी के व्याख्याकारों का प्रमाण देना पाणिनि को ही प्रमाण मानना है। अन्यथा **अगमकं ते सूत्रम्—तस्यैव प्रमाणीकरणम्** में तस्य पद किसका परामर्शक होगा?

आचार्य) को प्रमाण मानना, यह अयुक्त है। और आपने भी इस (=आचार्याचारात्) समाधान से सन्तुष्ट न होकर अनाकृतिः लिङ्गं वा [समाधानान्तर] दिये हैं। और उसे (=लिङ्ग लगाकर अमुक लिङ्गवाला संज्ञा होता है, ऐसा) भी कहना पड़ेगा।

यद्यपि यह (=लिङ्गासंजन) कहना पड़ता है, अर्थात् गौरव होता है [तो भी लाघव है]—इस समय में (=लिङ्गासजन करने पर) इत्संज्ञा नहीं कहनी पड़ती, लोप नहीं कहना पड़ता। संज्ञा का लिङ्ग अनुबन्धों में लगा देंगे। संज्ञा की निवृत्ति नहीं कही जाती है। वह स्व-भावसे संज्ञियों का बोध कराकर स्वयं निवृत्त हो जाती है। उससे अनुबन्धों की भी निवृत्ति हो जायेगी। इस प्रकार सिद्ध तो हो जाता है, [पर शास्त्र] अपाणिनीय (=बदला हुआ) तो हो जाता है।

विवरण—'लिङ्गं न वा' के कथन में भी शास्त्र में लाघव होता है, यह आगे दर्शाया है। **इत्संज्ञा न वक्तव्या**—ऐसा मिलता-जुलता प्रकरण **शब्दानुशासनम्** सूत्र के भाष्य के अन्त में आया है। अतः उसकी सोदाहरण व्याख्या पूर्व पृष्ठ ८७ पर देखें। शिवरामेन्द्र ने इस प्रकरण के विषय में कुछ विशेष विचार किया है, वह उसके ग्रन्थ से ही जानना चाहिये। आधुनिक व्याख्याकारों को सर्वत्र **अदृष्ट** ही दिखाई देता है। इसी दृष्टि से शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **अपाणिनीयं तु भवति** की व्याख्या की है—'अपाणिनीयरूप से जानकर प्रयुक्त [सूत्रगत] शब्दों की स्वर्गजनकता नहीं होगी। अर्थात् पाणिनीय शास्त्र के अध्ययन से वा पाठ से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है, वह नहीं होगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो पाणिनीय व्याकरण को न पढ़कर व्याकरणान्तरों को पढ़ते हैं, वे मूर्ख हैं। इसी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि पाणिनीय सूत्रक्रम के अध्ययन और पाठ से जो अदृष्ट होता है, वह प्रक्रिया-ग्रन्थानुसारी अपाणिनीय क्रम से नहीं होता। अतः प्रक्रियाग्रन्थों को पढ़ने वाले भी मूर्ख हैं।'

वस्तुतः न पाणिनीय ग्रन्थ के पाठ से अदृष्ट होता है, और न अपाणिनीय से उसका अभाव। वास्तविकता यह है कि जिस आचार्य ने जिन शब्दों में जिस क्रम से जो ग्रन्थ रचा, उसे उसी के शब्दों में और उसी क्रम से अध्ययन में **शब्द बोध यथार्थ** होता है और अल्पकाल में होता है। पाणिनीय-व्याकरण के साथ अन्य व्याकरणों की तो कुछ तुलना ही नहीं हो सकती। चान्द्र तथा सरस्वतीकण्ठाभरण को छोड़कर शेष सभी व्याकरण लौकिक शब्दविषयक हैं। और उनमें शब्दों के स्वरों की कोई विवेचना ही नहीं की गई है। क्योंकि उनके काल में लौकिक संस्कृतभाषा से स्वरप्रयोग लुप्त हो चुका था। अतः उनके पढ़ने से जो ज्ञान होता है, वह एक-देशी ही होता है। सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय का कम से कम एक तिहाई भाग साक्षात् वा परम्परया वैदिक वाङ्मय से संबद्ध है। प्राचीनतम संस्कृत-वाङ्मय में तो वैदिक वाङ्मय से भिन्न अंश अतिस्वल्प है, नाममात्र है

[भाष्यम्] यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तम्—'संज्ञाधिकारः संज्ञासंप्रत्ययार्थः, इतरथा ह्यसंप्रत्ययो यथा लोके' इति। न च यथा लोके तथा व्याकरणे। प्रमाण-भूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राऽशक्यं वर्णेनाऽप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण। किमतो यदशक्यम्? अतः संज्ञासंज्ञिनावेव॥

व्याख्या—जैसा पाठ है, वैसा ही रहे। अभी तो कहा है—'संज्ञा का अधिकार करना चाहिये संज्ञा-संज्ञी के परिज्ञान के लिये, अन्यथा ज्ञान नहीं होगा जैसे लोक में।' जैसा लोक में होता है, वैसा व्याकरण में नहीं है। प्रमाण को प्राप्त आचार्य [पाणिनि] दर्भ से निर्मित पवित्र से युक्त हाथवाला, पवित्र स्थान में पूर्व की ओर मुख करके बड़े प्रयत्न से सूत्रों का प्रणयन करता था। वहां (=उसके प्रणीत सूत्रों में) एकवर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, तो फिर इतने बड़े सूत्र का तो कहना ही क्या। इससे क्या कि [एकवर्ण भी अनर्थक] नहीं हो सकता? इससे [यह जाना गया कि वृद्धि और आदैच् शब्द] संज्ञा-संज्ञी ही हैं।

विवरण—न यथा लोके तथा व्याकरणे—भाष्यकार ने अनेक स्थानों पर कहा है—**नहीदं लोकाद् भिद्यते। यदि भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्** (द्र०—इसी सूत्र के भाष्य में आगे), अर्थात् व्याकरणशास्त्र लोक से भिन्न नहीं है। यदि भिन्न होवे, तो विशेष प्रयत्न किया जाये। यहां वे कहते हैं—जैसा लोक में है, वैसा व्याकरण में नहीं है।। यहां दोनों में कोई विरोध नहीं है। सामान्य सिद्धान्त यह है कि जो नियम लोक में व्यवहृत होते हैं, वे ही नियम व्याकरणशास्त्र में भी स्वीकृत हैं। जहां किसी लौकिक नियम का आश्रयण इष्ट नहीं होता, वहां शास्त्रकार स्वनियमों का विधान करते हैं। इसका प्रत्याहारविषयक एक उदाहरण पूर्व पृष्ठ ८१ पर दिया है। प्रकृत प्रसङ्ग में लोक में सावधान और प्रमत्त दोनों प्रकार के पुरुष होते हैं, अतः उनके वाक्य भी अर्थवान् और अनर्थक दोनों प्रकार के देखे जाते हैं। शास्त्र-प्रवचन में प्रमत्त पुरुष का अधिकार ही नहीं है। यह लोक और व्याकरण में भेद है। शास्त्र-प्रवचन का अधिकार कैसे व्यक्ति को है, इसका स्पष्टीकरण **'प्रमाणभूत आचार्यः'** आदि वाक्य से दर्शाया है।

'प्रमाणभूतः'—प्रमाण शब्द भावप्रधान है। द्र०—**अन्तरेण भावप्रत्ययं भावार्थो गम्यते** (तु० महा० १।४।२१)। 'भूत' शब्द **भू प्राप्तावात्मनेपदी** चौरादिक से निष्पन्न है, **अर्थात् प्रामाण्य को प्राप्त। दर्भपवित्रपाणिः**—दर्भ=कुशा से सम्पादित पवित्र, जिससे संध्या में मार्जन आदि किया जाता है, से युक्त हाथवाला। मार्जनादि कर्म सन्ध्या के अन्तरायभूत आलस्य का निवारक होने से कर्तव्यरूप है। इससे यहां **दर्भपवित्रपाणिः** शब्द लक्षणा से प्रमाद के अभाव का बोधक है—प्रमादरहित=आलस्यरहित। **शुचाववकाशे**—अपवित्र दुर्गन्धयुक्त स्थान पर मनुष्य का मन एकाग्र नहीं होता। प्रयत्नविशेष से साध्य संध्यावन्दन आदि कर्म निश्शब्द पवित्र जङ्गल अथवा नदी तट पर किये जाते हैं। अतः **शुचाववकाशे** से तात्पर्य है—सुस्थित एवं स्वस्थ मन से युक्त। **प्राङ्मुख उपविश्य**—उदीयमान सूर्य की किरणों के साथ शरीर का स्पर्श नैरोग्यकारक होता है। अतः इसका तात्पर्य है कि शरीर से पूर्णतया स्वस्थ होते हुए। **महता प्रयत्नेन**—से मन का प्रणिधान=विशेष संयोग कहा गया है। इस विशिष्ट स्थिति में आचार्य ने अष्टाध्यायी का प्रणयन किया। यहां प्रमाद आदि का अभाव होने से प्रवक्ता आचार्य का प्रामाण्य है।

अशक्यं वर्णेनाऽप्यनर्थकेन भवितुम्—यही बात भाष्यकार ने **इको यणचि** (६।१।७४) सूत्र के भाष्य में भी कही है—**'सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्'** अर्थात् सूत्रों के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से मैं पाणिनीय शास्त्र में ऐसा कुछ नहीं देखता, जो अनर्थक होवे।

एक ओर भाष्यकार यह कहते हैं कि शास्त्र में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है, और दूसरी ओर वे सूत्र के अनेक पदों और सूत्रों का प्रत्याख्यान भी करते हैं। इस स्थिति में महाभाष्यकार के तात्पर्य को गम्भीरता से समझना चाहिये। आधुनिक समस्त वैयाकरण भाष्यकार द्वारा प्रत्याख्यात सूत्रांशों वा सूत्रों को दुरुक्त अथवा अनर्थक मानते हैं। इनके मत में भाष्य के लक्षण में ही **उक्त-अनुक्त-दुरुक्त** चिन्ता निहित है। हम समझते हैं कि भाष्यकार के प्रत्याख्यात अंशों को दुरुक्त वा अनर्थक मानना न भाष्यकार के साथ न्याय होगा, और न शास्त्रकार के साथ। यदि भाष्यकार पाणिनीय शास्त्र में इतना महान् अंश दुरुक्त अथवा अनर्थक मानते, तो प्रकृत प्रसङ्ग में सूत्रकार के लिये और उसके शास्त्र के लिये उन्होंने जो कुछ कहा है, उसे प्रमत्त वाक्य मानना होगा, अथवा चारणभाटों के समान झूठी प्रशंसा। इतना ही नहीं, यह भी विचारना चाहिये कि महाभाष्यकार जैसा अशेषशेमुषीसम्पन्न व्यक्ति क्या ऐसे दोषबहुल ग्रन्थ की व्याख्या करने बैटता? साथ ही यह भी सोचना चाहिये कि यदि पाणिनीय शास्त्र इतना दोषबहुल है, तो क्या उत्तरकालीन वैयाकरण उसको अपनाते और उसे प्रमाणभूत मानते?

वस्तुतः ऐसी कोई बात नहीं है। न भाष्यकार प्रत्याख्यात पाणिनीय सूत्रों वा सूत्रांशों को दुरुक्त वा अनर्थक मानते अथवा कहते हैं, न स्थान-स्थान पर अपाणिनीयता की दुहाई देते हैं। भाष्यकार ने जहां भी पाणिनीय सूत्रों वा सूत्रांशों का, नहि नहि वार्तिक और वार्तिकांशों का भी प्रत्याख्यान किया है, उस सब का तात्पर्य प्रकारान्तर से कार्यसिद्धि दर्शानामात्र प्रयोजन है। कहीं-कहीं तो यह प्रकारान्तर अत्यधिक क्लिष्ट भी है। प्रकारान्तर से कार्यसिद्धि दर्शाना शास्त्र के उत्कर्ष का कारण होता है। भावी शास्त्रप्रवक्ता उससे लाभ उठाते हैं। भाष्यकार के प्रत्याख्यान पक्ष से आचार्य चन्द्रगोमी ने स्वशास्त्र के प्रवचन में अत्यन्त साहाय्य लिया है। यह महाभाष्य के प्रत्याख्यात स्थल और चान्द्र व्याकरण के उन प्रकरणों की तुलना से स्पष्ट होता है। इस दृष्टि से आधुनिकों की **यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्** कल्पना भी प्रमाणहीन है। आधुनिकों की मति इतनी कुण्ठित हो गई है कि उन्होंने **घिन्विकृण्व्योर च** (३।१।८०) सूत्र से यह भी प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि सूत्रकार को पहले ही यह ज्ञात था कि मेरे '**न धातुलोप आर्धधातुके**' सूत्र का प्रत्याख्यान हो जायेगा। उस अवस्था में धिन्वि कृण्वि के व लोप से गुण का निषेध नहीं होगा। अतः गुण का निषेध करने के लिये अकारादेश का विधान किया। इससे **यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्** का ज्ञापन होता है (द्र०—नागेश ३।१।८०)।

[भाष्यम्] कुतो नु खल्वेतत्—संज्ञासंज्ञिनावेव' इति, न पुनः साध्वनुशासनेऽस्मिञ्छास्त्रे साधुत्वमनेन क्रियते? कृतमनयोः साधुत्वम्। कथम्? वृधिरस्माद-विशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे, तस्मात् क्तिन् प्रत्ययः। आदैचोऽप्यक्षरसमाम्नाये उपदिष्टाः॥

व्याख्या—यह **कैसे निश्चय होगा कि [वृद्धि और आदैच् शब्द क्रमशः] संज्ञा-संज्ञी ही हैं, साधुत्व का अनुशासन करनेवाले इस शास्त्र में इससे [वृद्धि और आदैच् शब्दों के] साधुत्व का अनुशासन नहीं किया होगा? इन दोनों शब्दों का साधुत्व [शास्त्रकार] कर चुके। कैसे? प्रकृतिपाठ (=धातुपाठ) में वृधु वर्धने धातु का इस (व्याकरणशास्त्र के अध्येता) के लिये**

सामान्यरूप से उपदेश कर चुके (धातु० १।५०९), उससे क्तिन् प्रत्यय का उपदेश (३।३।९४ से) भी कर दिया। और आदैच् का भी अक्षरसमाम्नाय में उपदेश कर दिया। [अतः वृद्धिः आदैच् शब्दों के साधुत्व का अनुशासन यहां इष्ट नहीं है।]

विवरण—'**अनयोः**'—वृद्धि और आदैच् शब्द का। यहां 'आदैच्' को कृतसमास एक मानकर '**अनयोः**' कहा है। **उपदिष्टः**—यहां दो बार निर्दिष्ट **उपदिष्टः** क्रिया का समान ही कर्ता है, यह प्रस्तुत वाक्यविन्यास से स्पष्ट है। प्रकृतिपाठ (=धातुपाठ) में 'वृध' धातु का उपदेष्टा पाणिनि है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। अतः अक्षरसमाम्नाय में आदैच् का उपदेष्टा भी पाणिनि ही है। अर्थात् प्रत्याहारसूत्र पाणिनीय हैं माहेश्वर नहीं हैं, यह इस भाष्यवचन से स्पष्ट है। इसी का उपोद्बलक पूर्व वचन है—**एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते—यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति—अचोऽक्षु हलो हल्षु**। द्र०—हयरवट् सूत्र, पृष्ठ १८१।

[भाष्यम्] प्रयोगनियमार्थं तर्हीदं स्यात्—'वृद्धिशब्दात् परे आदैचः प्रयोक्तव्याः' इति। नेह प्रयोगनियम आरभ्यते। किं तर्हि? संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते। तेषां यथेष्टमभिसंबन्धो भवति। तद्यथा—'आहर पात्रम्, पात्रमाहर' इति॥

व्याख्या—अच्छा तो प्रयोग के नियम के लिये यह होवे—वृद्धि शब्द से परे ही आदैच् (=आकार ऐकार औकार) का प्रयोग करना चाहिये। यहां (=शास्त्र में) प्रयोग का नियम नहीं किया है। तो क्या किया है? संस्कार कर करके पदों को छोड़ दिया जाता है, अर्थात् केवल पदों का ही संस्कार किया जाता है। उन (=संस्कृत पदों) का यथेष्ट (=इच्छानुसार) सम्बन्ध होता है। जैसे—आहर पात्रम्, पात्रमाहर। [यदि वक्ता का 'आहर' क्रिया पर बल देने का अभिप्राय है, तो वह 'आहर' का पहले प्रयोग करेगा, और 'पात्रम्' का पीछे। अभिप्राय होगा कोई सा वर्तन ले आ। यदि 'पात्रम्' पर बल देने का वक्ता का अभिप्राय होगा, तो प्रयोग करेगा—पात्रमाहर। तात्पर्य होगा आधेय वस्तु के योग्य पात्र का लाना।]

विवरण—'**संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि**'—न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि ने १।१।५८ की काशिकावृत्ति के व्याख्यान में पाणिनीय शास्त्र को वाक्यसंस्कारक भी लिखा है—'**शास्त्रकारेण हि—युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः** (१।४।१०५) **इति युष्मद्युपपदे मध्यमादिपुरुषविधानाद् वाक्यसंस्कारप्रयुक्तमपि शास्त्रमेतदिति सूचितम्**।' न्यास भाग १, पृष्ठ १११ (राजशाही संस्करण)।

'**यथेष्टमभिसंबन्धः**'—लोक और वेद में सम्बोधन और क्रियापद के प्रथम प्रयोग और मध्य वा अन्त में प्रयोग होने पर स्वरभेद होता है। वाक्यारम्भ में ये उदात्त होते हैं, और मध्य वा अन्त में अनुदात्त। वहां भी वाक्य के आरम्भ में उदात्त प्रयोग से वाक्यार्थ में उसकी प्रधानता दर्शाई जाती है, और अनुदात्त स्वर से गौणता। इस विषय की सोदाहरण विशद विवेचना हमारे **वैदिक-स्वर मीमांसा** ग्रन्थ (६१-७२, सं० २) में देखें। इस प्रकार यह समझना कि संस्कृतभाषा में किसी पद को कहीं पर भी प्रयोग कर दिया जाये, उससे अर्थ में भेद नहीं

पड़ता, ग़लत है। वाल्मीकि का एक प्रयोग है—**दृष्टा सीता[1] मया राम** (?)। इन चार पदों के क्रम में वक्ता (हनुमान्) का विशिष्ट अभिप्राय है। लङ्का से आकर हनुमान् ने राम को सद्यः आश्वस्त करने के लिये सबसे पहले **दृष्टा** पद का प्रयोग किया। पुनः 'किसे देखा' इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये **सीता** पद का प्रयोग किया। क्या सीता को स्वयं देखा, अथवा अन्यदृष्टा का निर्देश कर रहे हो, इस सन्देह को दूर करने के लिये कहा **मया** = मैंने स्वयं देखा है। सबसे अन्त में **राम** को सम्बोधन किया। लौटे हुए हनुमान् के दर्शनमात्र से राम के अन्तः-करण में जो उद्वेग उत्पन्न हुआ, उसको इन्हीं पदों के क्रम को बदलकर **हे राम मया सीता दृष्टा** कहने से सद्यः शान्त नहीं किया जा सकता है। इसी दृष्टि से वेदमन्त्रों में पदों के विशिष्ट क्रम से जो सूक्ष्म विशिष्ट भाव प्रकट होता है, वह अन्वयपूर्वक अर्थ करने में सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसीलिये ब्राह्मणग्रन्थों एवं निरुक्त में मन्त्रार्थ मन्त्रपदक्रम से ही किया है। मध्यकाल के वेदभाष्यकारों ने मन्त्रपदक्रम के सूक्ष्म तात्पर्य को न समझकर अन्वयानुसार व्याख्यान किया है। वह वैसा ही है, जैसे कोई शिष्य की जगह आचार्य को, और आचार्य के स्थान पर शिष्य को बिठा देवे। वेदव्याख्यानरूपी इस महती भूल को वर्तमान में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने समझा, और अपने वेदभाष्य (संस्कृतभाग) में प्राचीन परम्परा के अनुसार पदक्रम से पदार्थ लिखा। किन्तु जो लोग चिरकालिक अन्वयानुसारी अर्थ समझने के अभ्यासी हो गये थे, उनके लिये अन्वयगर्भित संक्षिप्त अर्थ का भी निर्देश कर दिया। उनका मुख्यार्थ पदार्था-नुसारी ही है, और वह पदार्थ सर्वतोमुखी है।

[भाष्यम्] आदेशास्तर्हीमे स्युः—वृद्धिशब्दस्याऽऽदैच आदेशाः। षष्ठीनिर्दिष्ट-स्यादेशा उच्यन्ते। न चात्र षष्ठीं पश्यामः।

आगमास्तर्हीमे स्युः—वृद्धिशब्दस्यादैच आगमाः। आगमा अपि षष्ठीनिर्दिष्ट-स्यैवोच्यन्ते, लिङ्गेन वा। न चात्र षष्ठी, न खल्वप्यागमलिङ्गं पश्यामः॥

व्याख्या—अच्छा तो ये आदेश हो जावें—वृद्धि शब्द को आकार ऐकार औकार आदेश होवें। षष्ठी से निर्दिष्ट को आदेश कहे जाते हैं। यहां (= वृद्धि शब्द में) षष्ठी को नहीं देखते।

अच्छा तो ये आगम हो जावें—वृद्धि शब्द को आकार ऐकार औकार आगम होवें। आगम भी षष्ठी से निर्दिष्ट को कहे जाते हैं, अथवा लिङ्ग से [प्रतीत होते हैं]। यहां षष्ठी भी नहीं है, और ना ही आगम का कोई [टकार ककार मकार] लिङ्ग देखते हैं।

विवरण—शास्त्र में षष्ठी के अभाव में भी स्थान्यादेशभाव देखा जाता है। यथा—**अ अ**(८।४।६६) [विवृत अकार के स्थान में संवृत अकार होवे] **नाभि नभं च** (५।२।२ गणसूत्र) [नाभि शब्द यत्प्रत्यय को उत्पन्न करता है, और उसको नभ आदेश होता है। नाभये हितम्—

१. यह वचन रामायण में हमें नहीं मिला। तुलना करो—**दृष्टा सीतेति विक्रान्त** (किष्किन्धा ५७।३६); **दृष्टा सीता महाबाहो** (किष्किन्धा ६३।२२); **दृष्टा देवी न सन्देहः** (किष्किन्धा ६३।१७) इत्यादि में सर्वत्र **दृष्टा'** पद का प्रथम प्रयोग, तथा 'सीता' वा 'देवी' पद का द्वितीय स्थान पर प्रयोग मिलता है।

नाम्य तैलम्]। **परस्त्री परशु च** (४।१।१०४ गणसूत्र) [परस्त्री शब्द अञ् प्रत्यय को उत्पन्न करता है, और उसको परशु आदेश होता है—परस्त्रिया अपत्यं पारशवम्]। यहां प्रथमा[1] से स्थानी का निर्देश किया है। भाष्यकार ८।४।७ में लिखेंगे—**अह्नशब्दात् प्रथमा पूर्वत्रसूत्रनिर्देशश्च**। इस पर कैयट ने लिखा है—पूर्वाचार्य जिसको कार्य करना होता है, उसका षष्ठी से निर्देश नहीं करते। तदनुसार **अ अ** सूत्र तथा गणसूत्र पूर्वाचार्यों के संगृहीत हैं, ऐसा जानना चाहिये।

इस प्रसङ्ग में टीकाकारों ने एक-दूसरे का खुल कर खण्डन किया है। कैयट का खण्डन शिवरामेन्द्र सरस्वती ने किया है। कैयट का खण्डन करते हुए नागेश ने शिवरामेन्द्र को **'वदन्ति'** शब्द से उद्धृत किया। नागेशकृत उद्योत की छाया टीका के लेखक, नागेश के पट्ट-शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड ने शिवरामेन्द्र का खण्डन करके कैयट के मत को पुष्ट किया। ये सब शाब्दिक खण्डन-मण्डन ही करते रहे, परन्तु महाभाष्यकार द्वारा ८।४।७ में उद्धृत पूर्वाचार्यों के मत का किसी को ध्यान भी नहीं आया। तदनुसार उक्त सूत्रों को पूर्वाचार्यों का मान लेने पर सारी समस्या सुलझ जाती है। हां, इस प्रसङ्ग में शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४९)=षष्ठी से निर्दिष्ट के स्थान पर आदेश होते हैं, नियम को प्रायिक लिखकर जो समाधान किया है, वह कुछ युक्त है। क्योंकि सभी उत्सर्गापवादरूप पाणिनीय नियम प्रायिक ही हैं।

[भाष्यम्] इदं खल्वपि भूयः—सामानाधिकरण्यमेकविभक्तित्वं च। द्वयोश्चैतद्भवति। कयोः? विशेषणविशेष्ययोर्वा संज्ञासंज्ञिनोर्वा। तत्रैतत्स्याद् विशेषणविशेष्ये इति। तच्च न। द्वयोर्हि प्रतीतपदार्थकयोर्लोके विशेषणविशेष्यभावो भवति। न चादैच्छब्दः प्रतीतपदार्थकः। तस्मात् संज्ञासंज्ञिनावेव॥

व्याख्या—**और ['वृद्धिः' 'आदैच्' पदों में] यह भी आधिक्य है—सामानाधिकरण्य और एकविभक्तित्व। यह [=सामानाधिकरण्य और एकविभक्तित्व] दो में होता है। किन दो में? विशेषण-विशेष्य में, अथवा संज्ञा-संज्ञी में। वहां यह हो सकता है कि ['वृद्धिः' 'आदैच्' पद] विशेषण-विशेष्य होवें। वह सम्भव नहीं है। क्योंकि लोक में जिन दो के अर्थ प्रतीत (=ज्ञात) होते हैं, उनमें विशेषण-विशेष्यभाव होता है। 'आदैच्' शब्द [लोक में] विदित अर्थवाला नहीं है, अर्थात् आदैच् का अर्थ लोक में ज्ञात नहीं है। इसलिये [परिशेष्य से] संज्ञा-संज्ञी ही हैं।**

विवरण—'द्वयोश्चैतत्'—यहां 'च' शब्द नियमार्थ है—'द्वयोरेवैतत्', यह शिवरामेन्द्र सरस्वती का मत है। संज्ञा-संज्ञी में भी विशेषण-विशेष्यभाव होता है। यथा **उद्भिदा यजेत** में मीमांसक 'उद्भिद्' यागविशेष की संज्ञा मानते हैं (द्र०—मीमांसा १।४।१ उद्भिदाधिकरण)। यह उद्भिद् संज्ञा स्वरूप से ही सजातीय यागान्तर से, और विजातीय होमादि से पृथक् करती है। इतना ही नहीं, **उद्भिदा यजेत पशुकामः** वाक्य का अर्थ मीमांसकों के मत में **उद्भिदा यागेन पशून् भावयेत्** होता है। यहां आख्यातोक्त याग का यह विशेषण बनता है।

---

१. **अ अ नाभि नभं च** में 'अ' 'अ' 'नाभि' ये तीन पद लुप्तप्रथमाविभक्त्यन्त हैं।

यहां उद्भिद् संज्ञा शब्द विशेषण है, और तन्नामविशिष्ट याग संज्ञी है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। अतः संज्ञाशब्द विशेषण और संज्ञी विशेष्य होते हैं। इस अवस्था में दोनों का पृथगुपादान गोबलीवर्द न्याय से जानना चाहिये, यह शिवरामेन्द्र सरस्वती का कथन है। गौ शब्द से गाय और बैल दोनों का बोध होने पर भी गावश्चरन्ति बलीवर्दा अपि वाक्य में बलीवर्द का पृथक् निर्देश उनके वैशिष्ट्य द्योतन के लिये है[1] तद्वत् यहां भी विशेषणविशेष्यभाव होने पर भी संज्ञासंज्ञीभाव का वैशिष्ट्य द्योतन अभिप्रेत है।

[भाष्यम्] तत्र त्वेतावान् सन्देहः—'कः संज्ञी का संज्ञा' इति। स चापि क्व सन्देहः? यत्रोभे समानाक्षरे। यत्र त्वन्यतरल्लघु सा संज्ञा, यद् गुरु स संज्ञी। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्राप्ययं नावश्यं गुरुलघुतामेवोपलक्षयितुमर्हति। किं तर्हि? अनाकृतितामपि। अनाकृतिः संज्ञा, आकृतिमन्तः संज्ञिनः। लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते।

व्याख्या— वहां (='वृद्धि आदैच्' पद संज्ञा-संज्ञी ही हैं, ऐसा निश्चय हो जाने) पर इतना सन्देह है कि—'कौन संज्ञी है, और कौन संज्ञा है'। और वह सन्देह भी कहां है? जहां दोनों (संज्ञा-संज्ञी) समान अक्षरोंवाले हैं। जहां तो जो लघु है वह संज्ञा, और जो गुरु है वह संज्ञी है। यह कैसे? लाघव के लिये ही संज्ञा करण होता है। वहां भी केवल गुरुता और लघुता ही देखने योग्य नहीं है। तो क्या है? अनाकृतिपन भी। जो आकृतिरहित है वह संज्ञा है, और जो आकृतिमान् हैं वे संज्ञी हैं। लोक में भी आकृतिमान् मांसपिण्ड को 'देवदत्त' यह संज्ञा की जाती है।

विवरण—'**यत्रोभे**'—जैसे 'प्रत्यय' और 'अनीयर्' समानाक्षर हैं। **लघ्वर्थम्**=लाघवार्थम्। भावप्रधान निर्देश जानना चाहिये। इस समाधान में **अनुलक्षणे** (१।४।८३) में दोष होगा। 'अनु' यह संज्ञी है और लघु है, कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और गुरु है (यद्यपि इसका समाधान महती संज्ञाओं की अन्वर्थता में निहित है। इसका अन्यत्र व्याख्यान करेंगे)। अतः भाष्यकार ने अनाकृतिता को भी ध्यान में रखने का प्रस्ताव किया है। वस्तुतः कर्मप्रवचनीय जिन-

---

१. सामान्यरूप से अरण्य में चरना क्रिया गौएं ही करती हैं। क्योंकि उस समय बैल गाड़ी वा हल में जुते हुए होते हैं। उनका गायों के साथ चरना प्रायः नहीं होता। अतः **गावश्चरन्ति बलीवर्दा अपि** वाक्य से बैलों की स्थितिविशेष बोधित होती है कि या तो ये बैल जोतने के अयोग्य वृद्ध होंगे, अथवा अमावास्या आदि पर्वविशेष में गाड़ी हल आदि में बैलों से काम लेना प्रतिषिद्ध होने से अवकाशयुक्त बैल होंगे। अपभ्रंश भाषाओं में कभी-कभी एक शब्द का विभाग होकर दो शब्द बन जाते हैं, और कभी-कभी दो शब्दों से एक शब्द भी बन जाता है। एक शब्द से दो शब्द बनने का उदाहरण है—**बलीवर्द** शब्द। इसके पूर्वभाग से हिन्दी का बैल शब्द बना है, और उत्तर भाग से **बर्धा**। अलीगढ़ के क्षेत्र में ग्रामीण भाषा में इसी का अपभ्रंश है **बद्द**। यह ऐसा ही अपभ्रंश है, जैसे कर्म से कम्म (पंजाबी), धर्म से धम्म (पाली)। दो शब्द से एक शब्द बनने का उदाहरण है पंजाबी का '**कच्छाकुम्मा**'। यह संस्कृत के एकार्थक कच्छप और कूर्म शब्दों के संयोग से बना है।

जिन निपातों की संज्ञा होती है,उन सब (=अनु,उप,अप,परि,आङ्,अभि,प्रति, सु,अपि,अधि) का समुच्चय करने पर उनकी तुलना में महती कर्मप्रवचनीय संज्ञा भी लघु ही है।

[भाष्यम्] अथवाऽऽवर्तिन्यः संज्ञा भवन्ति। वृद्धिशब्दश्चावर्तते, नादैच्छब्दः। तद्यथा— इतरत्रापि देवदत्ताशब्द आवर्तते,न मांसपिण्डः।

अथवा पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा। कुत एतत्? सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्। तद्यथा—इतरत्रापि सतो मांसपिण्डस्य 'देवदत्तः' इति संज्ञा क्रियते॥

व्याख्या—अथवा जिनका आवर्तन=बार-बार निर्देश वा उच्चारण होता है, वे संज्ञा होती हैं। [शास्त्र में] वृद्धिशब्द का तो बार-बार प्रयोग मिलता है,पर आदैच् शब्द नहीं[आवर्तित] होता है]। जैसे—अन्यत्र (=लोक में) भी देवदत्त शब्द का पुनः पुनः आवर्तन होता है, मांस-पिण्ड का नहीं होता।

अथवा पूर्व उच्चारित संज्ञी होता है, पर उच्चारित संज्ञा। यह कैसे? कार्यी के होने पर ही कार्य को होना चाहिये। जैसे—अन्यत्र (=लोक में) भी विद्यमान (=उत्पन्न हुए) मांसपिण्ड (=शरीर) की देवदत्त संज्ञा की जाती है।

विवरण—'सतो हि'—से (दार्ष्टान्त संज्ञा-संज्ञी भाव में) विद्यमान भावरूप ही विवक्षित नहीं है, क्योंकि अभाव (=अदर्शन) की भी लोप संज्ञा कही है। इसलिये विद्यमान-अविद्यमान संज्ञी को बुद्धि का विषय बनाकर शब्द से जिसका पूर्वनिर्देश किया जाये,वह 'संज्ञी' होता है। सतो हि कार्यिणः का भाव है—कारण होने पर ही कार्य होता है, संज्ञी होने पर ही संज्ञा रखी जा सकती है। सतो मांसपिण्डस्य यह दृष्टान्त एकदेश में है। वैसे लोक में भी बहुधा देखा जाता है कि बालक के उत्पन्न न होने से पूर्व लड़का या लड़की की सम्भावनामात्र से गर्भावस्था में ही नामकरण कर लिया जाता है। लड़का होगा वा लड़की होगी, तो यह नाम रखा जायेगा।

[भाष्यम्] कथं 'वृद्धिरादैज्' इति? एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषकाणि च भवन्ति आयुष्मत्पुरुषकाणि च, अध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति। सर्वत्रैव हि व्याकरणे पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा—'अदेङ् गुणः' [१।१।२] इति यथा॥

व्याख्या—तो वृद्धिरादैच् (१।१।१) में कैसे होगा? [अर्थात् यहां तो संज्ञी आदैच् का पर प्रयोग है, और संज्ञा वृद्धि का पूर्व प्रयोग।] आचार्य की इस एक [अनियमता] को मंगल के लिये सहन कर लो। मङ्गल प्रयोजनवाला आचार्य [पाणिनि] महान् शास्त्रसमूह के मङ्गल के लिये 'वृद्धि' शब्द का आरम्भ में प्रयोग करता है। मङ्गल जिनके आरम्भ में होता है, ऐसे शास्त्र विस्तृत होते (फलते-फूलते) हैं, और वीर (=वाद में जीतनेवाले) पुरुषों से

युक्त, दीर्घआयुवाले पुरुषों से युक्त होते हैं [अर्थात् ऐसे शास्त्रों के पढ़नेवाले पुरुष महाज्ञानी और दीर्घ आयुवाले होते हैं। और अध्येताजन वृद्धियुक्त होते हैं]। सर्वत्र ही व्याकरण में पूर्वोच्चारित संज्ञी है, और परोच्चारित संज्ञा। जैसे—अदेङ्गुणः (१।१।२)।

विवरण—शास्त्रकार द्वारा सम्पादित मङ्गलार्थता के विषय में हम पूर्व पृष्ठ ४५-४७ पर विस्तार से लिख चुके हैं। वही यहां भी ध्यातव्य है। प्रकृत प्रसङ्ग के अनुसार शास्त्रकार ने वृद्धि शब्द का प्रथम प्रयोग करके अपने छात्रों के लिये क्या मङ्गल किया है, यह जानना आवश्यक है। वस्तुतः **वृद्धिरादैजदेङ्गुणः** यह शब्दानुपूर्वी शास्त्रकार पाणिनि की नहीं है। यह प्राचीन किसी श्लोकबद्ध व्याकरण का अंश है[1]। यह अनुष्टुप् छन्द का एक चरण है। यहां छन्दोऽनुरोध से वृद्धि शब्द का पूर्व प्रयोग आवश्यक है। पाणिनीय शास्त्र में अनेकत्र प्राचीन श्लोकबद्ध व्याकरणों के सूत्र उसी आनुपूर्वी में उद्धृत हैं। यथा अष्टाध्यायी के ४।४।३५-३६ के सूत्रों का पाठ है—

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति, परिपन्थं च तिष्ठति।

यह अनुष्टुप् के दो चरणरूप दो सूत्र हैं। शास्त्रीय नियम के अनुसार चकार से जिसका अनुकर्षण इष्ट होता है, तादृश पद के पश्चात् ही चकार पढ़ा जाता है। यहां ३५वें सूत्र से **हन्ति अर्थ** का अनुकर्षण इष्ट है, अतः चकार का पाठ ३६वें सूत्र में **तिष्ठति अर्थ** के आगे **'तिष्ठति च'** के रूप में होना चाहिये। पर पढ़ा है अस्थान में। काशिकाकार ने भी कहा है—**'चकारो भिन्नक्रमः, प्रत्ययार्थं समुच्चिनोति'** अर्थात् चकार क्रमविपरीत पढ़ा है, यह प्रत्ययार्थ **'हन्ति'** का समुच्चय करता है। यहां भी चकार का अस्थान में पाठ श्लोकानुरोध से है।

पाणिनीय व्याकरण वैयाकरणों के अनुसार प्रोक्त है, कृत नहीं है। प्रोक्त ग्रन्थों में प्राचीन ग्रन्थों के पर्याप्त अंश यथातथरूप में संगृहीत होते हैं। प्राचीन परम्परा-प्राप्त विषय का संग्रह करनेवाला शास्त्र ही भारतीय परम्परा में पूजित होता है। इसलिये आयुर्वेदीय चरक-संहिता में पठनीय ग्रन्थों के गुणों में **क्रमागतार्थम्** का भी सन्निवेश किया है। इसलिये पाणिनीय शास्त्र में जो भी अंश शास्त्रकार की स्वीय संज्ञा परिभाषा वा नियम के अनुकूल नहीं है, वह सब पूर्वाचार्यों के अनुसार जानना चाहिये। ऐसे अंश अष्टाध्यायी के अतिरिक्त पाणिनीय धातुपाठ एवं गणपाठ आदि में भी मिलते हैं। यथा—

धातुपाठ में—चते चदे च याचने (क्षीरतरङ्गिणी १।६०८), **लाज लाजि च भर्त्सने** (धातुप्रदीप, पृष्ठ २५)। यहां दोनों सूत्रों में चकार पूर्व अर्थ के समुच्चयार्थ है (द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ ७२, संवत् २०३०)।

गणपाठ में भी कुछ स्थानों पर प्राचीन पाठों का संकलन मिलता है। यथा—**राजा से** ४।१।१०५॥ **वत्कया से** ४।१।८६। (द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ १३९-१४०, संवत् २०३०)। पूर्व पृष्ठ २१७-२१८ पर निर्दिष्ट **नाभि नभं च** और **परस्त्री परशुं च** गणसूत्र।

---

१. देखिये अगले सन्दर्भ में **इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः** भाष्यवचन (पृष्ठ २२२)।

हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २३३-२३५ में अष्टाध्यायी में पूर्वतन्त्रों से संगृहीत अंश के जानने के लिये ७ कसौटियाँ सोदाहरण प्रस्तुत की हैं। जो व्यक्ति भाष्यकार के प्रकृत वचन के आधार पर यह कहते हैं कि—'पाणिनीय शास्त्र वृद्धिरादैच् (१।१।१) से आरम्भ होता है, पूर्व के प्रत्याहारसूत्र अपाणिनीय हैं'। वे भ्रान्ति में हैं। इस विषय में पूर्व पृष्ठ ४६-४७ भी द्रष्टव्य हैं।

सर्वत्रैव हि—उक्त नियम का अपवाद **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः** (१।२।४१) में देखा जाता है। इस पर कैयट ने लिखा है कि **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः** सूत्र परिभाषा है, संज्ञासूत्र नहीं है। नागेश ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है—'परिभाषात्व तो वृद्धिरादैच् में भी सुवच है। इतना ही नहीं, परिभाषा मानने पर **अपृक्तसंज्ञायाम्** (१।२।४१ सूत्रस्थ) इत्यादि भाष्यवार्तिक व्यवहार उपपन्न नहीं होंगे।' नागेश ने कैयट का खण्डन तो किया, पर **अपृक्त एकाल प्रत्ययः** में संज्ञा का पूर्वनिर्देश क्यों है, इसका समाधान नहीं किया। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः** के साथ **अणुदित् सवर्णस्य, तपरस्तत्कालस्य, आदिरन्त्येन सहेता, येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७१) सूत्रों को भी संज्ञासूत्र मानकर दोषरूप में उपस्थित किया है। और **पूर्वोच्चारितः संज्ञी** आदि भाष्यवचन को प्रायिक माना है—**प्रायोभिप्रायेणोक्तम्** लिखना चिन्त्य है। **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः** सूत्र पूर्वाचार्यों का है। अपृक्त महती संज्ञा भी इसके पूर्वाचार्यवचन की बोधिका है। तथा शिवरामेन्द्र द्वारा उदाहृत सूत्र भाष्यकार की दृष्टि में परिभाषासूत्र ही हैं। अतः **सर्वत्रैव** निर्देश में कोई दोष नहीं है, उसका तात्पर्य उन संज्ञा-सम्बन्ध-विधायक सूत्रों से है, जिनकी आनुपूर्वी पाणिनीय है।

[भाष्यम्] दोषवान् खल्वपि संज्ञाधिकारः। अष्टमेऽपि हि संज्ञा क्रियते—'तस्य परमाम्रेडितम्' [८।१।२] इति। तत्रापीदमनुवर्त्यं स्यात्।

अथवाऽस्थानेऽयं यत्नः क्रियते। न हीदं लोकाद् भिद्यते। यदीदं लौकाद् भिद्येत, ततो यत्नार्हं स्यात्। तद्यथा—अगोज्ञाय कश्चिद् गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति—'अयं गौः' इति। न चास्मायाचष्टे 'इयमस्य संज्ञा' इति। भवति चाऽस्य संप्रत्ययः। तत्रैतत्स्यात्—'कृतस्तत्र पूर्वैरभिसम्बन्धः' इति। इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः। कैः? आचार्यैः। तत्रैतत्स्यात्—'यस्मै तर्हि सम्प्रत्युपदिशति तस्याऽकृतः' इति। लोकेऽपि हि यस्मै सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृतः, अथ तत्र कृतः, इहापि कृतो द्रष्टव्यः॥

व्याख्या—संज्ञाधिकार दोषवान् भी है। अष्टम अध्याय में भी संज्ञा की है—'तस्य परमाम्रेडितम्' (८।१।२)। वहां भी अथ संज्ञा का अनुवर्तन करना होगा।

अथवा यह (=अथ संज्ञा ऐसा संज्ञाधिकार करने का) प्रयत्न अस्थान में किया जा रहा है। यह (=व्याकरणशास्त्र) लोक से भेद नहीं रखता। यदि यह लोक से भेद रखे, तो वह यत्न-योग्य होवे। जैसे—किसी गौ को न जाननेवाले को गाय को कोई कान से अथवा सक्थि

(=जंघा भाग) से पकड़ कर बताता है—'यह गौ है।' उसे यह नहीं कहता कि 'इसकी यह (=गौ) संज्ञा है।' फिर भी उसको [संज्ञा-संज्ञी संबन्ध का] ज्ञान होता है। [यदि कहो कि] वहां (= गो संज्ञा ज्ञान में) यह कारण होवे कि 'वहाँ पूर्वाचार्यों ने सम्बन्ध किया हुआ है'। तो यहां भी [वृद्धि आदैच् शब्दों का संज्ञा-संज्ञी] सम्बन्ध पूर्वजनों ने किया हुआ है। किन ने? आचार्यों ने [यदि यह कहो कि] 'वहां (=वृद्धि आदैच् के संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध के विषय में) यह होवे कि जिसके लिये [अध्यापक] इस समय [वृद्धि संज्ञा का] उपदेश करता है, उसके प्रति तो [संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध] नहीं किया हुआ है' [अर्थात् उसे तो प्रथम बार ही बताया जा रहा है]। [इस प्रकार तो] लोक में भी जिसको सम्प्रति [गौ का] उपदेश किया जा रहा है, उसके लिये [गो संज्ञा सम्बन्ध] नहीं किया हुआ है [उसे भी प्रथम बार ही गौ का ज्ञान कराया जा रहा है]। यदि आप वहां [संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध को] किया हुआ मानते हैं, तो यहां भी [वृद्धि आदैच् का संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध] किया हुआ स्वीकार करना चाहिये।

विवरण—**अस्थाने**—अर्थात् संज्ञाधिकार करने का अवसर ही नहीं है। **भिद्यते**—भिन्न होता है=विलक्षण होता है। **तस्याकृतः** का अर्थ नागेश ने 'उसके द्वारा अज्ञात है', और **तत्र कृतः** का 'अनुमानादि से ज्ञात' किया है।

यहां **इहापि कृतः पूर्वैरभिसंबन्धः** वचन बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह बताता है कि **वृद्धिरादैच्** सूत्र पूर्वाचार्यों का है।

[भाष्यम्] सतो वृद्ध्यादिषु संज्ञाभावात् तदाश्रय इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः ॥८॥

सतः संज्ञिनः संज्ञाभावात्, तदाश्रये संज्ञाश्रये संज्ञिनि, वृद्ध्यादिष्वितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः। का इतरेतराश्रयता? सतामादैचां संज्ञया भवितव्यम्, संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते। तदेतदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। तद्यथा—नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति।

ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते। तद्यथा—'नौः शकटं वहति, शकटं च नावं वहति'। अन्यदपि तत्र किञ्चिद् भवति, जलं स्थलं वा। स्थले शकटं नावं वहति। जले नौः शकटं वहति। यथा तर्हि—त्रिविष्टब्धकम्। तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति। इदं पुनरितरेतराश्रयमेव ॥

व्याख्या—[संज्ञियों=आ ऐ औ आदि के] विद्यमान (=निष्पन्न) होने पर [वृद्धि आदि] संज्ञाओं के होने से [और] उन [वृद्धि आदि संज्ञाओं] के आश्रय [संज्ञियों=आ ऐ औ आदि के] होने से वृद्धि आदि [संज्ञाओं] में इतरेतराश्रय (=अन्योन्याश्रय) होने से [वृद्धि आदि संज्ञाओं की] प्रसिद्धि (=अच्छे प्रकार सिद्धि) नहीं होती।

संज्ञियों के निष्पन्न होने पर [वृद्धि आदि] संज्ञाओं के होने से, [और] उन वृद्धि आदि संज्ञाओं के आश्रय संज्ञियों के होने से, वृद्धि आदि में इतरेतराश्रय होने से [वृद्धि आदि संज्ञाओं की] अच्छे प्रकार सिद्धि नहीं होती। इतरेतराश्रयता क्या है। आदैचों के निष्पन्न होने पर

[वृद्धि] संज्ञा को होना चाहिये, और [वृद्धि] संज्ञा से आदैचों को निष्पन्न किया जाता है। यह कार्य एक-दूसरे के आश्रय पर निर्भर है। एक-दूसरे पर निर्भर कार्य सिद्ध नहीं होते। जैसे—नाव में बंधी हुई नाव दूसरे की रक्षा के लिये [समर्थ] नहीं होती।

अच्छा जी, इतरेतराश्रय कार्य भी तो [सिद्ध] होते हैं। जैसे—नाव गाड़ी को ढोती है, और गाड़ी नौका को ढोती है। वहां [उन दोनों से] भिन्न भी कुछ होता है, जल अथवा स्थल। स्थल में गाड़ी नाव को ढोती है और जल में नाव गाड़ी को ढोती है। अच्छा तो जैसे त्रिविष्टब्धक (=तिपाई) होती है [इसके तीनों काष्ठ एक-दूसरे के आश्रय से स्थिर रहते हैं]। वहां (=त्रिविष्टब्धक में) [तीनों को स्थिर रखनेवाला] सूत्रक (=कील आदि कारणान्तर) होता है। यह (=संज्ञा-संज्ञी भाव) तो इतरेतराश्रयरूप ही है।

विवरण—नौ शकट दृष्टान्त का भाव यह है कि कभी नौका गाड़ी को अभिमत स्थानान्तर को प्राप्त कराती है, और कभी गाड़ी नाव को निर्माण स्थल से ढोकर जल तक पहुंचाती है। **सूत्रकम्**—यह तीनों काष्ठों को स्थिर रखनेवाले कीलादि कारणान्तर का उपलक्षक है।

[भाष्यम्] सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात् ॥९॥

सिद्धमेतत्। कथम्? 'नित्यशब्दत्वात्'। नित्याः शब्दाः। नित्येषु शब्देषु सतामादैचां संज्ञा क्रियते। न च संज्ञयाऽऽदैचो भाव्यन्ते।

व्याख्या—सिद्ध तो है नित्य शब्द होने से।

यह सिद्ध है। कैसे? 'नित्य शब्द होने से'। शब्द नित्य हैं। नित्य शब्दों में वर्तमान आदैचों (=आ ऐ औ) की [वृद्धि] संज्ञा की जाती है। [वृद्धि] संज्ञा से आदैचों को उत्पन्न नहीं किया जाता है।

विवरण—नागेश लिखते हैं—यहां **अस्य सूत्रस्य शाटकं वय** में प्रयुक्त भाविनी संज्ञा (द्र०—**इग्यणः** १।१।४४ सूत्रभाष्य) के समान भाविनी संज्ञा मानकर दोष की निवृत्ति हो सकती है, तथापि भाष्यकार वास्तविक समाधान करते हैं—**सिद्धन्तु** इति। नागेश का यह कथन चिन्त्य है, भाविनी-संज्ञा-निदर्शक **इग् यणः सम्प्रसारणम्** सूत्र के भाष्य में इतरेतराश्रयदोष का समाधान पहले **सिद्धन्तु नित्यशब्दत्वात्** देकर लिखा है—**नेद तुल्यमन्यैरितरेतराश्रयैः**। अतः वहां '**सिद्धन्तु नित्यशब्दत्वात्**' से समाधान न होने पर भाविनी संज्ञा का आश्रय लिया है। यह नागेश ने उससे उलटा लिखा है।

[भाष्यम्] यदि तर्हि नित्याः शब्दाः, किमर्थं शास्त्रम्?

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात् सिद्धम् ॥१०॥

निवर्तकं शास्त्रम्। कथम्? मृजिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः। तस्य सर्वत्र मृजिबुद्धिः प्रसक्ता। तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते—'मृजेरक्ङित्सु प्रत्ययेषु मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवति' इति॥

व्याख्या—यदि शब्द नित्य हैं, तो शास्त्र किसलिये है ?

शास्त्र किसलिये है यदि ऐसा कहो, तो निवर्तक होने से [शास्त्र का प्रयोजन]सिद्ध है।

स्त्र निवर्तक है। कैसे ? इस (=शास्त्र के अध्येता) के लिये [पाणिनि के द्वारा] मृज् धातु सामान्यरूप से उपदिष्ट है। उस (=शास्त्र के अध्येता) की सर्वत्र 'मृज्' [ऐसी ऋकारोध] बुद्धि प्राप्त होती है। वहां इस [मृजेर्वृद्धिः सूत्र] से [ऋकारोपध बुद्धि की] निवृत्ति की जाती है—'मृज् धातु से कित् गित् ङित् से भिन्न प्रत्ययों के परे रहने पर मृज् (ऋकारोपध बुद्धि) की प्राप्ति में मार्ज् [धातु वा रूप] साधु होता है'। [अर्थात् मृज् का प्रयोग न करके मार्ज् का प्रयोग करना चाहिये।]

विवरण—'अक्ङित्सु'—यद्यपि मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) सूत्र सामान्यरूप से वृद्धि का विधान करता है, फिर भी प्रकल्प्य चापवादविषयमुत्सर्गः प्रवर्तते (=अपवाद विषय को छोड़ कर उत्सर्ग प्रवृत्त होता है)नियम से क्ङिति च(१।१।५) सूत्र से कित् गित् ङित् प्रत्ययों के परे जो वृद्धि का निषेध किया है, उसे छोड़कर मृजेर्वृद्धिः सूत्र की प्रवृत्ति दर्शाई है।

मृजि-प्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवति—का तात्पर्य यह है कि मृष्टः मृष्टवान् मार्जिता मार्जकः आदि द्विविध प्रयोगों का मूल मृज् और मार्ज् दो स्वतन्त्र धातुएं हैं। पाणिनि ने उनमें से एक मृज् का धातुपाठ में उपदेश करके वृद्धि आदि के रूप में मार्ज् धातु का रूप दर्शाया है। इष्टः इष्टवान्, यष्टा याजकः आदि प्रयोगों में जहां-जहां दो-दो रूप देखे जाते हैं, वहां-वहां भी इज् यज् आदि दो प्रकार की मूल धातुएं हैं। यहां भी वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५) सूत्र से कित् ङित् प्रत्ययों में यज् वप् के स्थान में इज् उप् रूप साधु होता है, अर्थात् यज् वप् की निवृत्ति की जाती है। इस सिद्धान्त को यास्क ने भी निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। निरुक्त २।२॥

अर्थात्—जहां पर स्वर के समीप(=स्वर से अव्यवहित पूर्व अथवा परे)अन्तस्थ वर्ण से युक्त धातु होती है(यथा—यज् वप् अथवा अव्), उसे दो प्रकृतियोंवाले शब्दों का स्थान पूर्वाचार्य कहते हैं (यथा—यज्—यष्टाः याजकः, इज्—इष्टः इष्टवान्, तथा अव्—अविता आवकः, ऊ—ऊतिः)। वहां सिद्ध(=धातुपाठ में पठित)प्रकृति से रूप निष्पन्न न होने पर इतर (कृत सम्प्रसारण) रूप प्रकृति से उपपादन करे।

वस्तुतः सारा व्याकरण इसी नियम पर आश्रित है। इसीलिये प्रकृति में जहां-जहां लोप आगम वर्णविकार आदि कहा गया है, वहां-वहां सर्वत्र उस विधान के द्वारा प्रकृत्यन्तर का निर्देश जानना चाहिये। भाष्यकार ने ऐसे अनेक स्थानों पर प्रकृत्यन्तर से निष्पत्ति का निर्देश किया है। इस विषय को विस्तार से जानने के लिये हमारा 'आविभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्वविवेचनम्' लेख देखना चाहिये, जो 'वेदवाणी' पत्रिका के संवत् २०१८, कार्तिक, मार्गशीर्ष, माघ, फाल्गुन के अंकों में छपा है।

[भाष्यम्] [वृद्धिगुणसंज्ञयोः प्रत्येकं वचनम् ॥

वृद्धिगुणसंज्ञयोः प्रत्येकं ग्रहणं कर्तव्यम् ।][1] प्रत्येकं वृद्धिगुणसंज्ञे भवत इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? समुदाये मा भूतामिति ॥

व्याख्या—[वृद्धि और गुण संज्ञा में प्रत्येक वचन कहना चाहिये ।

वृद्धि और गुण संज्ञा में प्रत्येक ग्रहण करना चाहिये ।] प्रत्येक वृद्धि और गुणसंज्ञक होता है, ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? [आ ऐ औ तथा अ ए ओ] समुदाय वृद्धि और गुण संज्ञक न होवें ।

विवरण—लोक में दोनों ही प्रकार के व्यवहार देखे जाते हैं । यथा—गर्गाः शतं दण्डयन्ताम् आदेश होने पर गर्ग समुदाय पर १०० कार्षापण दण्ड किया जाता है, प्रत्येक व्यक्ति से १०० कार्षापण वसूल नहीं किया जाता । देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्ताम् कहने पर प्रत्येक व्यक्ति को भोजन कराया जाता है । अतः यहां भी विचार उत्पन्न होता है कि वृद्धि गुण संज्ञाएं प्रतिवर्ण की होवें, अथवा समुदाय की । आदैच्, अदेङ् समाहार द्वन्द्व होने से समुदाय की वृद्धि-गुण संज्ञा प्राप्त होती है । इष्ट है कि प्रत्येक की हो । अतः प्रत्येक ग्रहण करना चाहिये ।

[भाष्यम्] अन्यत्र सहवचनात् समुदाये संज्ञाऽप्रसङ्गः ॥११॥

अन्यत्र सहवचनात् समुदाये वृद्धिगुणसंज्ञयोरप्रसङ्गः । यत्रेच्छति सहभूतानां कार्यं, करोति तत्र 'सह' ग्रहणम् । तद्यथा—'सह सुपा' [२।१।४]; 'उभे अभ्यस्तं सह' इति ॥

व्याख्या—अन्यत्र 'सह' वचन होने से [यहां] समुदाय में संज्ञा की प्राप्ति नहीं है ।

अन्यत्र 'सह' वचन होने से [यहां] समुदाय में वृद्धि और गुण संज्ञा की प्राप्ति नहीं है । [आचार्य] जहां सहभूतों (=समुदाय) को कार्य चाहते हैं, वहां 'सह' ग्रहण करते हैं । जैसे कि—'सह सुपा' (२।१।४) [से दोनों सुबन्तों की समास संज्ञा होती है]; 'उभे अभ्यस्तं सह' (द्र०—६।१।५ भाष्य) [दोनों द्विरुक्त भागों की अभ्यस्त संज्ञा होती है] ।

विवरण—'सहवचनात्'—यदि 'समुदाय में वाक्य परिसमाप्ति होती है' इस न्याय से समुदाय की ही समास और अभ्यस्तसंज्ञा होवे, तो उभयत्र सहग्रहण व्यर्थ होवे । अतः सहग्रहण ज्ञापन करता है कि अन्यत्र प्रत्येक को ही कार्य होता है । उभे अभ्यस्तं सह यह वार्तिककार द्वारा योजित 'सह' पद को सूत्र में युक्त करके निर्देश किया है । भाष्यकार ने 'सह' ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है, देखो—६।१।५ का भाष्य ।

---

१. अयं कोष्ठकान्तर्गतो वार्तिकपाठः सव्याख्यांशो हस्तलेखेषु नोपलभ्यते । तथापि संयोगसंज्ञाऽभ्यस्तसंज्ञासूत्रभाष्यसमानशैलीकत्वस्यैव न्याय्यत्वात् 'प्रत्येकमिति वार्तिकेनोच्यते' इति छायापाठस्य प्रामाण्याच्च पाठोऽयमिह निर्दिष्टः ।

[भाष्यम्] प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तेः ॥१२॥

प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यते। तद्यथा—'देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्ताम्' इति। न चोच्यते—'प्रत्येकम्' इति, प्रत्येकं च भुजिः परिसमाप्यते।

ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः—'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' इति। तद्यथा—'गर्गाः शतं दण्डचन्ताम्' इति। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति, न च प्रत्येकं दण्डयन्ति।

सत्येतस्मिन् दृष्टान्ते यदि तत्र सहग्रहणं क्रियते, इहापि प्रत्येकमिति वक्तव्यम्। अथ तत्रान्तरेण सहग्रहणं सहभूतानां कार्यं भवति, इहापि नार्थः प्रत्येकमिति वचनेन॥

व्याख्या—**और प्रति अवयव वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है।**

और प्रति अवयव वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है। जैसे—'देवदत्तयज्ञदत्त-विष्णुमित्रा भोज्यन्ताम्।' **यहां 'प्रत्येक को' ऐसा नहीं कहा, फिर भी प्रत्येक के प्रति भुजि-क्रिया का सम्बन्ध होता है, अर्थात् प्रत्येक को खिलाया जाता है।**

अच्छा जी, यह भी तो दृष्टान्त है—'समुदाय में वाक्य-परिसमाप्ति होती है'। जैसे—'गर्गाः शतं दण्डचन्ताम्।' **[यहां गार्ग्य-समुदाय पर सौ [कार्षापण] दण्ड किया जाता है।] यद्यपि राजा लोग हिरण्य के लोभी होते हैं, फिर भी प्रत्येक को दण्ड नहीं देते।**

इस (=गर्गाः शतं दण्डचन्ताम्) दृष्टान्त के होने पर यदि वहां 'सह' ग्रहण किया जाता है, तो यहां भी 'प्रत्येक' ग्रहण करना चाहिये। यदि वहाँ विना 'सह' ग्रहण के सहभूतों (=समुदाय) को कार्य होता है, तो यहां भी 'प्रत्येक' वचन से कोई प्रयोजन नहीं है।

विवरण—'वाक्यपरिसमाप्तेः'—यहां वाक्य से वाक्यार्थ का ग्रहण है, सहचरित लक्षणा से। यहां देवदत्त आदि प्रधान हैं, भोजन गुणभूत है। अतः प्रत्यवयव गुणभूत भोजन की आवृत्ति होती है।

गर्गाः शतं दण्डचन्ताम्—में 'शतम्' ईप्सिततम होने से प्रधान कर्म है। गर्ग अपादान-स्थानीय होने से गौण कर्म है, जैसे **गां दोग्धि पयः** में गौ अपादान है। शत के प्रधान होने से गुणभूत प्रतिगर्ग शत दण्ड की आवृत्ति नहीं होती। नागेश ने यहां अति खींचातानी करके गर्ग को शाब्दिक प्रधान कर्म बनाकर उसमें लकार का विधान माना है, वह चिन्त्य है। वस्तुतः **'अकथितं च'**(१।४।५१) सूत्र के भाष्य में उक्त दुहादि को उपलक्षण मानकर 'दण्डि' का भी निवेश दुहादि में मानना चाहिये। **अकथितं च** सूत्र-भाष्यानुसार **गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे** अथवा **अप्रधाने दुहादीनां** वचनानुसार अप्रधान कर्म गर्गों में ही लविधि जाननी चाहिये।

कैयट ने **सह सुपा** (२।१।४) सूत्र में भाष्यकार द्वारा 'सह' ग्रहण का प्रत्याख्यान कर देने पर भी 'योगविभाग के लिये सह ग्रहण स्थित है' ऐसा कहा है, वह चिन्त्य है। योगविभाग तो **सतो गतिश्चिन्तनीया** के नियमानुसार अगतिकगति है। अत एव भाष्यकार ने **कुगतिप्रादयः** (२।२।१८) सूत्रस्थ लोकवेद साधारण वार्तिकों का प्रत्याख्यान नहीं किया है।

[भाष्यम्] अथ किमर्थमाकारस्तपरः क्रियते[1]?

आकारस्य तपरकरणं सवर्णार्थम् ॥१३॥

आकारस्य तपरकरणं क्रियते। किं प्रयोजनम्? 'सवर्णार्थम्'। 'तपरस्तत्कालस्य' [१।१।६९] इति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात्। केषाम्? उदात्तानुदात्तस्वरितानाम्।

किं च कारणं न स्यात्?

भेदकत्वात् स्वरस्य ॥१४॥

भेदका उदात्तादयः। कथं पुनर्ज्ञायते—'भेदका उदात्तादयः' इति? एवं हि दृश्यते लोके—य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति, खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति—'अन्यत्त्वं करोषि' इति। अस्ति प्रयोजनमेतत्? किं तर्हीति? ॥

व्याख्या—आकार को तपर किसलिये किया है?

आकार का तपरकरण सवर्णार्थ है।

आकार का तपरकरण किया है। क्या प्रयोजन है? 'सवर्ण के लिये'। 'तपरस्तत्कालस्य' (१।१।६९) से उस (=द्विमात्रा) कालवाले सवर्णों का जिससे ग्रहण हो जावे। किनका? उदात्त अनुदात्त स्वरितों का।

क्या कारण है कि [सवर्णों का] ग्रहण नहीं होगा?

स्वर के भेदक होने से।

उदात्त आदि स्वर भेदक हैं। कैसे जाना जाता है—'उदात्तादि स्वर भेदक हैं'? इस प्रकार लोक में देखा जाता है कि—जो उदात्त [उच्चारण] करने के स्थान में अनुदात्त [उच्चारण] करता है, उसे खण्डिकोपाध्याय चपेड़ लगाता है—'तू अन्यथा [उच्चारण] करता है'। तो क्या [आकार को तपर करने का] यह प्रयोजन है? और क्या?

विवरण—यहां कैयट और नागेश ने आकृतिपक्ष और व्यक्तिपक्ष का झमेला उठाकर क्लेशपूर्वक व्याख्यान किया है। उनकी अपेक्षा शिवरामेन्द्र सरस्वती का व्याख्यान सरल एवं युक्त है। वह लिखता है—**अणुदित् सवर्णस्य०** (१।१।६८) सूत्र से अक्षरसमाम्नायस्थ वर्ण ही सवर्ण के ग्राहक होते हैं, और **तपरस्तत्कालस्य** (१।१।६९) सूत्र पूर्वसूत्र से प्राप्त अतिप्रसक्ति का नियमन करता है कि—तपर वर्ण सभी सवर्णों के ग्राहक नहीं होते, अपितु तत्कालों के ही ग्राहक होते हैं। इस प्रकार आकार को तपर करने का प्रयोजन अज्ञात होने से पूछता है—**अथ किमर्थमाकारस्तपरः क्रियते?**

१. केषुचित् पुस्तकेषु वार्तिकमिदमुपलभ्यते।

सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात्—'**तपरस्तत्कालस्य**' को विध्यर्थ मानकर उत्तर दिया है। अणुदित्० सूत्र अतिप्रसक्त सवर्णग्रहण के नियमार्थ है, अथवा अप्राप्त अंश में (=जहां अक्षर-समाम्नाय के न होने से सवर्णग्रहण प्राप्त नहीं है, वहां) सवर्णग्रहण के विधानार्थ है। इस स्थिति में **अपूर्वत्वाद् विधेः**=विधि अपूर्व की विधायक होती है, अतः नियम की अपेक्षा विधि का प्राबल्य माना जाता है। इसलिये कहा—**सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात्**।

खण्डिकोपाध्यायः—खण्डिक आचार्य को पाणिनि ने **तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण्** (४।३।१०२)में स्मरण किया है। तदनुसार खण्डिक आचार्य से प्रोक्त शाखा के अध्येता खाण्डिकीय कहाते हैं। प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट तित्तिर आदि कृष्णयजुः शाखाओं के प्रवक्ता हैं। अतः उनके साथ निर्दिष्ट खण्डिक आचार्य भी कृष्णयजुः शाखा का प्रवचनकर्ता है। चरण-व्यूह में कृष्णयजुः की ८६ शाखाओं में खण्डिकीयों की पांच शाखाओं का उल्लेख मिलता है। अतः यहां **खण्डिकोपाध्यायः** से तात्पर्य खण्डिक आचार्य के शिष्यों द्वारा प्रोक्त ५ संहिताओं में से किसी संहिता के अध्यापक से है। खाण्डिकीय शाखाएं कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत होने से **चरक** इस सामान्य नाम से व्यवहृत होती हैं। पतञ्जलि सम्भवतः चरक अन्तर्गत कठशाखा के अध्येता थे, यह हम पूर्व पृष्ठ ४ पर लिख चुके हैं। चरकों की ८६ शाखाओं में से खाण्डिकीय शाखा के आचार्य का यहां निर्देश करने का विशेष प्रयोजन होना चाहिये। पर हमें इस विषय में कुछ ज्ञात नहीं। खाण्डिकेयों की कोई शाखा उपलब्ध नहीं। अनेकों के मत में वर्तमान तैत्तिरीय शाखा आपस्तम्बी शाखा है। अनेक हस्तलेखों पर आपस्तम्बी शाखा नाम मिलता है। यदि यह ठीक हो, तो आपस्तम्बी शाखा का खाण्डिकीयों में नाम निर्दिष्ट होने से इस एक खाण्डिकीय शाखा की उपलब्धि कही जा सकती है। अथवा यह भी सम्भव है कि **खण्डिकोपाध्याय** शब्द से खण्डिका-खण्डिका को पढ़ानेवाले अध्यापक का निर्देश हो। खण्डिका कण्डिका का पर्याय है। **अल्पः खण्डः खण्डिका**=छोटा खण्ड। यजुर्वेद की शुक्ल और कृष्ण सभी उपलब्ध शाखाओं में कण्डिका खण्डिका वा खण्डविभाग मिलता है। इस दृष्टि से पतञ्जलि स्वीय कठ शाखा के अध्यापक का भी संकेत कर सकते हैं। कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि खण्डिकोपाध्याय किसी कृष्णयजुर्वेदीय शाखा का अध्येता है। अतः यहां छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड का **खण्डिकेति संज्ञाथर्वणाम्, तदध्यापकः** लिखना सर्वथा ऐतिह्यविरुद्ध है। अथर्व की उपलब्ध शौनक और पैप्पलाद शाखाओं में कण्डिका खण्डिका अथवा खण्ड विभाग भी नहीं है।

[भाष्यम्] 'भेदकत्वाद् गुणस्य' इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? आनुनासिक्यं नाम गुणः, तद्भिन्नस्यापि ग्रहणं यथा स्यात्। किं च कारणं न स्यात्? 'भेदकत्वाद् गुणस्य'। भेदका गुणाः। कथं पुनर्ज्ञायते—'भेदका गुणाः' इति? एवं हि दृश्यते लोके—एकोऽयमात्मोदकं नाम, तस्य गुणभेदादन्यत्वं भवति—'अन्यदिदं शीतम्', 'अन्यदिदमुष्णम्' इति।

ननु च भो अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते। तद्यथा—देवदत्तो मुण्डयपि जटयपि शिख्यपि स्वामाख्यां न जहाति, तथा बालो युवा वृद्धो, वत्सो दम्यो बलीवर्द इति॥

व्याख्या—'गुण के भेदक होने से' ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है ? आनुनासिक्य नाम का गुण है, उससे, भिन्न का भी जिससे ग्रहण हो जावे। क्या कारण है कि [आनुनासिक्य का ग्रहण] न होवे ? 'गुण के भेदक होने से'। गुण भेदक होते हैं। कैसे जाना जाता है कि—'गुण भेदक हैं' ? इस प्रकार लोक में देखा जाता है कि—यह उदक नाम का द्रव्य एकरूप है। उसके गुणों के भेद से भिन्नत्व होता है कि—'यह शीत अन्य है', 'यह उष्ण अन्य है।'

अच्छा जी, गुण अभेदक भी तो देखे जाते हैं। जैसे—देवदत्त सिर मुंडाया हुआ, जटाधारी, शिखाधारी [भिन्न-भिन्न रूपवाला होता हुआ भी] अपने [देवदत्त] नाम को नहीं छोड़ता, तथा बाल युवा वृद्ध [अवस्थाभेद होने पर भी देवदत्त ही होता है। और एक गोपिण्ड ही अवस्थाभेद से] वत्स दम्य और बलीवर्द [कहाता हैं]।

विवरण—पहले **भेदकत्वात् स्वरस्य** कहा था, उससे आनुनासिक्य आदि अन्य गुणों का ग्रहण नहीं होता था। अतः उसे उदात्तादि स्वर अतिरिक्त विषय में भी व्यापक बनाने के लिये कहा है कि—**भेदकत्वाद् गुणस्य**।

[भाष्यम्] उभयमिदं गुणेषूक्तम्—'भेदकाः', 'अभेदकाः' इति। किं पुनरत्र न्याय्यम् ?

'अभेदका गुणाः' इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत् ? यदयम्—'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' [७।१।७५] इति उदात्तग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्योऽभेदका गुणा इति। यदि हि भेदका गुणाः स्युः उदात्तमेवोच्चारयेत्॥

व्याख्या—दोनों बातें गुणों के विषय में कही हैं—'गुण भेदक होते हैं', 'और अभेदक होते हैं।' इन दोनों में न्याय्य क्या है ?

'गुण अभेदक हैं' यही न्याय्य है। यह कैसे ? जो ये आचार्य—"अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः" (७।१।७५) में 'उदात्त' शब्द का ग्रहण करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापन करते हैं कि गुण अभेदक हैं। यदि गुण भेदक होवें, तो [अनङ् के अकार को] उदात्त ही पढ़ देवें।

विवरण—लोक में गुणों के भेदक और अभेदक दोनों प्रकार के दृष्टान्त उपलब्ध होने से पूछता है कि शास्त्र में न्याय्य पक्ष क्या है ? उत्तर है—गुण अभेदक हैं। इस न्याय्य पक्ष में **अस्थिदधि०** (७।१।७५) सूत्र में उदात्तग्रहण ज्ञापक दिया है। इस ज्ञापक से यह भी सिद्ध होता है कि अष्टाध्यायी का पाठ त्रैस्वर्य से भी हो, तो अवश्यमुच्चार्यमाण स्वर भेदक नहीं होगा। उस अवस्था में त्रैस्वर्य से अष्टाध्यायी का पाठ मानना अकिञ्चित्कर ही है। यह अकिञ्चित्करता वेदाङ्गों में नित्य तानस्वर(=एकश्रुतिस्वर)के विधान से भी स्पष्ट है। इतना ही नहीं, **दाण्डिनायन०** (६।४।१७४)सूत्र में स्पष्ट ही भाष्यकार ने एकश्रुतिपाठ स्वीकार किया है। अतः अष्टाध्यायी का पाठ एकश्रुतिस्वर में ही मानना युक्त है। भाष्यकार ने **स्थानिवत्०** (१।१।५५)सूत्र में वधादेश में उदात्त, और **चतुरःशसि** (६।१।१६१)सूत्र के भाष्य में **चतसृ** में आद्युदात्तनिपातन करने का जो निर्देश किया है, वहां **करिष्यते** पद है, न कि **कृतम्**। भाष्यकार

के **करिष्यते** पद से निर्दिष्ट उदात्त आदि विधान को **पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति** न्यायानुसार गुणों को भेदक मानकर स्वीकार किया जा सकता है। **सूत्रकार ने किसी पद को विशिष्ट स्वर में पढ़ा है, इसमें कोई प्रमाण नहीं।** व्याख्याकारों का यत्र-तत्र निपातन से स्वरनिर्देश दर्शाने को केवल दोषपरिहार तक सीमित जानना चाहिये। अष्टाध्यायी का पाठ एकश्रुतिस्वर में है अथवा त्रैस्वर्य में, इस विषय में व्याख्याकारों में न केवल मतभेद ही है, अपितु इस विषय को लेकर भाष्य के टीकाकारों ने एक-दूसरे का पर्याप्त खण्डन-मण्डन किया है।

नागेश का कथन **'यद्यप्यध्येतार ऐकश्रुत्यैवाङ्गानि पठन्ति ब्राह्मणवत्'** भी चिन्त्य है। ब्राह्मणों का पाठ यथाविहितस्वर से ही होता है। जैसे शतपथ एवं तैत्तिरीय का। तान(=एकश्रुति) स्वर तो केवल उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयुक्त होता है, जिनका स्वर लुप्त हो गया है, जैसे ऐतरेय शाङ्खायन आदि।

गुणों के भेदकत्व और अभेदकत्व का प्रस्तुत विचार प्रस्तुत शास्त्र की दृष्टि से किया है। वेद में तो उदात्तादि स्वर न केवल उच्चारणरूप में ही भेदक हैं, अपितु अर्थ की दृष्टि से भी भेदक हैं। जब तक लोक में भी उदात्तादि स्वरों का व्यवहार था, तब तक उदात्तादि स्वर लौकिक वाक् में भी भेदक थे।

[भाष्यम्] यदि तर्ह्यभेदका गुणाः, अनुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते, तत्स्वरितादेः स्वरितान्ताच्च प्राप्नोति। नैष दोषः। आश्रीयमाणो गुणो भेदको भवति। तद्यथा—'शुक्लमालभेत', 'कृष्णमालभेत' इति। तत्र यः शुक्ल आलब्धव्ये कृष्णमालभते, न हि तेन यथोक्तं कृतं भवति॥

व्याख्या—**यदि गुण अभेदक हैं, तो अनुदात्तादि और अन्तोदात्त से जो कार्य कहा है, वह स्वरितादि और स्वरितान्त से भी प्राप्त होता है। यह दोष नहीं है। आश्रीयमाण गुण (=जिस गुण का आश्रय किया जाय, वह) भेदक होता है। जैसे**—शुक्लमालभेत, कृष्णमालभेत में। **वहां जो शुक्ल के आलम्भन के विषय में कृष्ण का आलम्भन करे, उससे यथोक्त** कार्य **नहीं किया हुआ होता है।**

विवरण—'अनुदात्तादेः'—यथा **अनुदात्तादेरञ्** (४।२।४३) से अनुदात्तादि शब्द से समूह अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। **अन्तोदात्तात्**—यथा **उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात्** (४।२।१०८) से अन्तोदात्त बह्वच् उदीच्यग्रामवाची प्रातिपदिक से शैषिक अञ् प्रत्यय होता है। **आश्रीयमाणो गुणो भेदकः**—सूत्रों में शब्दतः जिस गुण का निर्देशपुरःसर कार्य कहा है, वह विशेष विधान के कारण भेदक होता है। अनुदात्त आदि का ग्रहण अच् के उपलक्षण के लिये भी नहीं हो सकता। यदि अच् के उपलक्षण के लिये हो, तो लाघवार्थ अज्ग्रहण ही कर देवे। और अच् के उपलक्षण के लिये कहीं **अनुदात्तादेः**, कहीं **अन्तोदात्तात्** पृथक्-पृथक् ग्रहण भी न करके किसी भी एक स्वर का निर्देश कर दे।

[भाष्यम्] असन्देहार्थस्तर्हि तकारः। 'ऐज्' इत्युच्यमाने सन्देहः स्यात्—किमिमावैचावेव, आहोस्विदाकारोऽप्यत्र निर्दिश्यत इति?

सन्देहमात्रमेतद्भवति। सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते—'व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' इति। 'त्रयाणां ग्रहणम्' इति व्याख्यास्यामः। अन्यत्रापि ह्ययमेवंजातीयकेषु सन्देहेषु न कंचिद्यत्नं करोति। तद्यथा—'औतोम्शसोः' [६।१।६०] इति॥

व्याख्या—अच्छा तो असन्देह के लिये तकार है। [आ+ऐच्=] 'ऐच्' ऐसा उच्चारण करने पर सन्देह होवे—क्या ये दो 'ऐच्' (=ऐ औ) ही हैं, अथवा आकार का भी यहां निर्देश है?

सन्देहमात्र यह होता है। सब सन्देहों में यह [परिभाषा] उपस्थित होती है कि—'व्याख्यान से विशेष अर्थ का ज्ञान होता है, सन्देहमात्र से अलक्षण नहीं होता'। 'तीन का ग्रहण है' ऐसा व्याख्यान कर देंगे। अन्यत्र भी इसी प्रकार के (=सन्धिनिमित्तक) सन्देहों में [सन्देह-निवृत्त्यर्थ सूत्रकार] कोई यत्न नहीं करते। जैसे—औतोऽम्शसोः (६।१।६०)।

विवरण—कैयट ने **व्याख्यानतः** का भाव इस प्रकार प्रकट किया है—"**वृद्धिरैच्** पाठ होने पर ऐच् की वृद्धि-संज्ञा होने से **मालाप्रस्थ** में माला वृद्ध-संज्ञक नहीं होगा। उस अवस्था में **प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम्**(६।२।८७) से पूर्वपदाद्युदात्तत्व सिद्ध होने पर **मालादीनां च**(६।२।८८)में 'माला' शब्द का ग्रहण किया है। वह इस बात का निश्चय कराता है कि '**वृद्धिरैच्**' सूत्र में आकार का प्रश्लेष है।" हमारे विचार में कैयट की यह दूर की उड़ान है। भाष्य के अक्षरों का स्वारस्य तो इसी में है कि इसी सूत्र में हम व्याख्यान कर देंगे कि यहां तीन आ ऐ औ का ग्रहण है। यदि भाष्यकार को कैयटोक्त भाव ही अभिप्रेत होता, तो वे **व्याख्यानतः** परिभाषा का आश्रयण न करके **मालादीनां च**(६।२।८८)में माला शब्द को ज्ञापकार्थ प्रस्तुत कर देते। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने भी कैयट के व्याख्यान का खण्डन किया है। **औतोऽम्शसोः** (६।१।६०)यहां **आ ओतः अम्शसोः** ऐसा पदच्छेद किया जाता है। यहां भी **व्याख्यानतः** परि-भाषा के नियम से आकार का प्रश्लेष स्वीकार किया जाता है।

[भाष्यम्] इदं तर्हि प्रयोजनम्—आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति। खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः। खट्वा उदकं खट्वोदकम्। खट्वा ईषा खट्वेषा। खट्वा ऊढा खट्वोढा। खट्वा एलका खट्वैलका। खट्वा ओदनः खट्वौदनः। खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः। खट्वा औपगवः खट्वौपगव इति॥

व्याख्या—अच्छा तो यह प्रयोजन है—आन्तर्य (=अन्तरतमता=सदृशतमता) से तीन मात्रावाले और चार मात्रावाले स्थानियों को तीन मात्रावाले चार मात्रावाले आदेश न होवें। [मूलवत् उदाहरण, पृष्ठ १३० भी देखें।]

विवरण—यहां आदैचों और अदेङों की संज्ञा कर रहे हैं, आ ऐ औ तथा अ ए ओ को उत्पन्न(=निष्पादन)नहीं कर रहे। अतः यहां **भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न** यह परिभाषा उपस्थित नहीं होती। अतः यहां उपदिष्ट आ ऐ औ तथा अ ए ओ अपने सवर्णियों को ग्रहण करेंगे। उस अवस्था में गुणवृद्धिरूप एकादेश में 'स्थान में अन्तरतम आदेश होते हैं' नियम

से त्रिमात्रिक तथा चतुर्मात्रिक स्थानियों के स्थान में त्रिमात्रिक चतुर्मात्रिक आदेश प्राप्त होते हैं। यद्यपि सामान्यरूप से चतुर्मात्रिक अच् का निर्देश नहीं किया जाता है, तथापि **प्लुतावैच इदुतौ** (८।२।१०६) सूत्र के भाष्य में चतुर्मात्रिक प्लुत का भी विधान किया है। यदि यह कहो कि ऊकालोऽच्० (१।२।२७) से प्लुत संज्ञा त्रिमात्रिक की ही है, तब चतुर्मात्रिक का अच्त्व और प्लुत संज्ञा कैसे होगी? इसका उत्तर वैद्यनाथ पायगुण्ड ने इस प्रकार दिया है—"सूत्र में उ ऊ से आगे जो 'उ' की मात्रा है, उसे एकमात्र द्विमात्र से भिन्नपरक मानना चाहिये। अतः सामान्य अर्थ होगा—एकद्विमात्रा से अधिक मात्रावाला जो 'ऊ' उसके कालवाला अच् प्लुत होता है। इस प्रकार चारमात्रावाले की भी प्लुत संज्ञा उपपन्न हो जायेगी।" शेष व्याख्यान पूर्व पृष्ठ १३० पर देखें।

यहां पर नागेश ने कार्यकालपक्ष में **मृजेर्वृद्धिः** (७।२।११४) के समीप संज्ञासूत्र की उपस्थिति मानकर आ ऐ औ की भाव्यमानता दर्शाकर उसका बड़े क्लिष्ट प्रकार से समाधान करने का प्रयत्न किया है। **यथोद्देश** पक्ष में इस सूत्र के होने से आ ऐ औ की भाव्यमानता उपपन्न ही नहीं होती। इस प्रकार **पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति** मतानुसार यथोद्देश पक्ष को स्वीकार न करके क्लिष्ट कल्पना चिन्त्य है।

[भाष्यम्] अथ क्रियमाणेऽपि तकारे कस्मादेव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति? 'तपरस्तत्कालस्य' [१।१।६९] इति नियमात्।

ननु तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः। नेत्याह। तादपि परस्तपरः। यदि तादपि परस्तपरः 'ऋदोरप्' [३।३।५७] इतीहैव स्याद्—यवः स्तवः। लवः पव इत्यत्र न स्यात्। नैष तकारः। कस्तर्हि? दकारः। किं दकारे प्रयोजनम्? अथ किं तकारे? यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोऽपि। अथ मुखमुखार्थस्तकारः, दकारोऽपि ॥१॥

व्याख्या—**तकार ग्रहण करने पर भी किस हेतु से त्रिमात्रावाले और चतुर्मात्रावाले स्थानियों के स्थान में त्रिमात्र-चतुर्मात्र आदेश नहीं होते?** तपरस्तत्कालस्य (१।१।६९) के **नियम से [तपरवर्ण के कालवाले आदेशों का ही ग्रहण होता है]।**

ननु तः परो यस्मात् **से लेकर** दकारोऽपि **पर्यन्त भाष्य का पूर्वत्र** पृष्ठ १३२-१३४ **पर विस्तार से व्याख्यान कर चुके हैं। अतः यहां पुनः पिष्टपेषण नहीं करते ॥१॥**

—:o:—

[भाष्यम्] इको गुणवृद्धी ॥१।१।३॥

विशेष—सूत्रकार ने गुण वृद्धि के विधायक सूत्रों में गुण वृद्धि किस के स्थान में होवें, इसका विशेष विधान नहीं किया है। अतः प्रस्तुत सूत्र के अभाव में **येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७१) के नियम से सामान्यरूप से अङ्ग के अन्त्य वर्ण को गुण वृद्धि प्राप्त होंगे। अतः प्रस्तुत सूत्र नियमार्थ है। तदनुसार सूत्र का अर्थ है—'गुण और वृद्धि इक् के स्थान में ही होवें।' इसी सूत्रार्थ को मानकर वार्तिककार ने अग्रिम वार्तिक, और भाष्यकार ने वार्तिक की उत्थानिकारूप आशंका उपस्थित की है—

[भाष्यम्] इग्ग्रहणं किमर्थम् ?

इग्ग्रहणमात्सन्ध्यक्षरव्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् ॥१॥

इग्ग्रहणं क्रियते। किं प्रयोजनम् ? आकारनिवृत्त्यर्थं सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थं व्यञ्जननिवृत्त्यर्थं च।

आकारनिवृत्त्यर्थं तावद्—याता, वाता। आकारस्य गुणः प्राप्नोति। इग्ग्रहणान्न भवति। सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थम्—ग्लायति, म्लायति। सन्ध्यक्षरस्य गुणः प्राप्नोति। इग्ग्रहणान्न भवति। व्यञ्जननिवृत्त्यर्थम्—उम्भिता, उम्भितुम्, उम्भितव्यम्। व्यञ्जनस्य गुणः प्राप्नोति। इग्ग्रहणान्न भवति॥

व्याख्या—इक् का ग्रहण किसलिये किया है ?

इक् का ग्रहण आकार सन्ध्यक्षर और व्यञ्जनों की निवृत्ति के लिये है।

इक् का ग्रहण किया जाता है। क्या प्रयोजन है ? आकार की निवृत्ति के लिये, सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये, और व्यञ्जन की निवृत्ति के लिये।

आकार की निवृत्ति के लिये—याता, वाता। यहां ['तृच्' प्रत्यय के परे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) से अङ्ग के अन्त्य] आकार को गुण प्राप्त होता है। इक् के ग्रहण से नहीं होता। सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये—ग्लायति, म्लायति। यहां ['शप्' प्रत्यय के परे पूर्व सूत्र से अङ्ग के अन्त्य] सन्ध्यक्षर (=ऐ) को गुण प्राप्त होता है। इक् के ग्रहण से नहीं होता। व्यञ्जन की निवृत्ति के लिये—उम्भिता, उम्भितुम्, उम्भितव्यम्। यहां [क्रमशः 'तृच्' 'तुमुन्' और 'तव्य' वा 'तव्यत्' प्रत्यय के परे पूर्व सूत्र से अङ्ग के अन्त्य] व्यञ्जन (=भकार) को गुण प्राप्त होता है। इक् के ग्रहण से नहीं होता।

विवरण—प्रस्तुत शङ्का 'इग्ग्रहणं किमर्थम्' और समाधानरूप से प्रस्तुत वार्तिक की पृष्ठभूमि हमने आरम्भ में स्पष्ट कर दी है। परन्तु व्याख्याकारों ने साधारण-सी पृष्ठभूमि को ध्यान में न रखकर इग्ग्रहणं किमर्थम् प्रश्न के विषय में बहुविध कल्पनाएं की हैं। कैयट का कहना है—"वक्ष्यमाण ज्ञापकों के बल से आकारादि की निवृत्ति हो जाने से इक् के स्थान में ही गुण वृद्धि होंगे, फिर इक् ग्रहण क्यों किया है। यह भाव है।" कैयट की व्याख्या करते हुए अन्नम्भट्ट ने लिखा है—"गुणवृद्धी का ग्रहण न धातुलोप आर्धधातुके (१।१।४) आदि में निषेध्य समर्पकरूप (='गुण वृद्धि नहीं होते' इस रूप) से उपयुक्त है। अतः इग्ग्रहणं किमर्थम् प्रश्न किया है।" नागेश ने प्रस्तुत विषय में बड़ी दूर की सोची है। वह लिखता है—'गुण वृद्धी का ग्रहण उत्तर सूत्रों में निषेध्य समर्पणरूप आवश्यक होने पर भी इक् पद का 'इक् के स्थान में' अर्थ के लिये आवश्यक होने पर भी योगविभागविषयक प्रश्न भाष्य में किया है—इग्ग्रहणम् इति।" प्रस्तुत नागेश के वचन की व्याख्या में टिप्पणीकार पं० शिवदत्त दाधिमथ ने लिखा है—'योगविभागेति—न धातुलोप आर्धधातुके इस के साथ ही पढ़ देना चाहिये।' शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—'न धातुलोप आर्धधातुके (१।१।४) आदि में वृद्धिरादैच्

अदेङ् गुणः(१।१।१,२)सूत्रों से वृद्धि और गुण की अनुवृत्ति से निर्वाह हो जायेगा। अतः प्रकृत पूरा सूत्र क्यों किया ? यह प्रश्न का भाव है।' हमारे विचार में ये सब कल्पनाएं निर्मूल हैं। यदि भाष्यकार और वार्तिककार को ये कल्पनाएं इष्ट होतीं, तो वे क्या सीधे-साधे रूप में उन्हें प्रस्तुत नहीं कर सकते थे ?

याता वाता—वृद्धि-विषय में आकारान्त अङ्ग का अभाव होने से, और आकार को आकार करने में भिन्नता न होने से गुण का उदाहरण ही दिया है। यद्यपि **सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु** (७।२।१)वृद्धि-विधान में **अयासीत्** आकारान्त अङ्ग का उदाहरण हो सकता है, तथापि परत्व से **यमरमनमातां सक् च** (७।२।७३) से 'सक्' आगम होने पर आकारान्त अङ्ग नहीं रहता। यदि वृद्धि की प्राप्ति सक् से पूर्व कथंचित् कर लें, तो आकार को आकार वृद्धि करने पर कुछ विशेषता नहीं होती। अकार को अकार गुण करने पर कुछ वैशिष्टय न होने से भाष्यकार ने आकारान्त का उदाहरण **याता वाता** दिया है। इस विषय में कैयट का कहना है कि—'अकारान्त धातु से तृच् आदि के परे प्राप्त गुण को **ण्यल्लोपावियङ्वुङ्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन** (वा० ६।४।४८)से बाधकर **अतो लोपः**(६।४।४८)से अकार-लोप हो जायेगा। अतः आकार के गुण की प्रसक्ति उदाहृत की है—**याता वाता**।' हमारे विचार में जैसे आकार को आकार विधान में वैशिष्टय न होने से वृद्धि का उदाहरण नहीं दिया, इसी प्रकार अकार को अकार विधान में, वैशिष्टय न होने से अकारान्त धातु का गुणविषयक उदाहरण नहीं दिया। यही मानना युक्त है। पूर्वविप्रतिषेध तक दौड़ लगाना अकिञ्चित्कर है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के व्याख्यान का खण्डन किया है। भाष्यकार ने सभी उदाहरण गुण के दिये हैं, वृद्धि के क्यों नहीं दिये ? इस पर शिवरामेन्द्र का कथन है कि वृद्धि के विषय में भाष्यकार आगे **'अथ वृद्धिग्रहणं किमर्थम्'** प्रकरण में विचार करेंगे। अतः प्रस्तुत प्रकरण में वृद्धि-विषयक उदाहरणों के न देने के विषय में कैयट की सभी कल्पनाएं व्यर्थ हैं।

ग्लायति म्लायति—यहां ऐकार को एकार गुण प्राप्त होता है। इस पर कैयट ने लिखा है कि—'एचों के सामान्यरूप से द्विमात्रिक होने से, और प्रयत्नाधिक्य के अभाव होने से ऐकारोपदेश होने पर भी एकार गुण प्राप्त होगा।' यह अशुद्ध है। क्योंकि ए ऐ ओ औ के द्विमात्रिक होने पर भी **ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्**[1] के नियम से ए ऐ में विशेषता है, और ए ओ के विवृततर और ऐ औ के विवृततम प्रयत्न होने से प्रयत्नभेद भी है[2]। अतः कैयट के वचन की अन्नम्भट्ट और नागेश ने संगति लगाने का जो प्रयत्न किया है, वह चिन्त्य ही है।

उम्भिता उम्भितुम् उम्भितव्यम्—यहां मकार को ओकार गुण प्राप्त होता है।

[भाष्यम्] आकारनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'नाका-

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १२८ में उक्त वचन, और उसकी व्याख्या।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ १४६—**'सन्ध्यक्षरेषु विवृतत्वात्'** वार्तिक, भाष्य और हमारा विवरणभाग।

रस्य गुणो भवति' इति। यदयम् —'आतोऽनुपसर्गे कः' [३।२।३] इति ककारमनुबन्धं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? कित्करण एतत्प्रयोजनम्—'किति' इत्याकारलोपो यथा स्यात्। यदि चाऽऽकारस्य गुणः स्यात्, कित्करणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृते द्वयोरकारयोः पररूपेण सिद्धं रूपं स्याद्—'गोदः' 'कम्बलदः' इति। पश्यति त्वाचार्यो—'नाकारस्य गुणो भवति' इति, ततः ककारमनुबन्धं करोति। सन्ध्यक्षर-निवृत्त्यर्थेनापि नाऽर्थः। उपदेशसामर्थ्यात् सन्ध्यक्षरस्य गुणो न भवति। व्यञ्जन-निवृत्त्यर्थेनाऽपि नार्थः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'न व्यञ्जनस्य गुणो भवति' इति, यदयं जनेर्डं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? डित्करण एतत्प्रयोजनम्—'डिति' इति टिलोपो यथा स्यात्। यदि व्यञ्जनस्य गुणः स्याद्, डित्करणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृते त्रयाणामकाराणां पररूपेण सिद्धं रूपं स्यात्—उपसरजो मन्दुरज इति। पश्यति त्वाचार्यो—'न व्यञ्जनस्य गुणो भवति' इति। ततो जनेर्डं शास्ति॥

व्याख्या—आकार की निवृत्ति के लिये [इक् ग्रहण का] कोई प्रयोजन नहीं है। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—'आकार को गुण नहीं होता'। जो ये आचार्य आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३) में ककार अनुबन्ध लगाते हैं। किस प्रकार यह ज्ञापक है? कित् करने में यह प्रयोजन है कि—'कित्' परे रहने पर [आतो लोप इटि च (६।४।६४) से] आकार का लोप हो जावे।' यदि आकार को गुण (अकार) होवे, तो कित् करना अनर्थक होवे। गुण कर देने पर (=गो दा क=गो दा अ=गो द अ) दोनों अकारों के स्थान में पररूप (=गो द अ) से रूप सिद्ध हो जावे—गोदः कम्बलदः। आचार्य देखते हैं कि—'आकार को गुण (=अकार) नहीं होता', इसलिये ककार अनुबन्ध लगाते हैं। सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये भी [इक् ग्रहण का] कोई प्रयोजन नहीं है। उपदेश-सामर्थ्य से सन्ध्यक्षर (=ऐकार) को गुण (=एकार) नहीं होता। व्यञ्जन की निवृत्ति के लिये भी [इक् ग्रहण का] कोई प्रयोजन नहीं है। आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—'व्यञ्जन (=नकार) को गुण (=ओकार) नहीं होता', जो ये आचार्य [सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७) में] 'जन' धातु से 'ड' प्रत्यय का विधान करते हैं। किस प्रकार यह ज्ञापक है? डित् करने का यह प्रयोजन है कि 'डित्' परे रहने पर [टेः (६।४।१४३) से] टि का लोप हो जावे। यदि व्यञ्जन को गुण होवे, तो डित् करना अनर्थक हो जावे। गुण कर देने पर (=उपसर जन् ड=उपसर जन् अ=उपसर ज अ अ) तीनों अकारों को पररूप (=उपसर ज अ अ) से रूप सिद्ध हो जावे=उपसरजः, मन्दुरजः। आचार्य देखते हैं कि—'व्यञ्जन को गुण नहीं होता'। इसलिये जन धातु से 'ड' प्रत्यय का विधान करते हैं।

विवरण—गुण करने पर 'गो दा अ'='गो द अ' इस अवस्था में अतो लोपः (६।४।४८) से अकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु 'आर्धधातुक प्रत्यय के उपदेशकाल में जो अकारान्त उसका लोप होता है' ऐसा अर्थ करने से अकार का लोप नहीं होगा। क्योंकि जब 'क' का उपदेश किया था, तब 'दा' धातु आकारान्त थी।

उपदेशसामर्थ्यात्—कैयट का कहना है कि यदि 'ग्लै' 'म्लै' धातु के ऐकार को गुण एकार हो जावे, तो प्रतिपत्ति के लाघव (=प्रक्रिया के लाघव) के लिये आचार्य एकार

को ही पढ़ देते। नागेश ने 'ऐ' के विवृततम प्रयत्न की अपेक्षा 'ए' का विवृततर प्रयत्न होने से प्रयत्नलाघव भी हेतु दिया है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः**[१] नियम के अनुसार एकार पढ़ने पर भी गुण-विधायक सूत्र की प्रवृत्ति होने से कैयट के प्रतिपत्तिलाघव हेतु को दूषित ठहराया है। पर यह हठवादितामात्र है।

ङितीति टिलोपः—प्रत्यय को ङित् करने से **ति विंशतेर्डिति, टेः** (६।४।१४२) सूत्र से 'टि' का लोप होता है। प्रस्तुत सूत्र में भस्य का अधिकार है। जन से उत्पन्न 'ड' प्रत्यय परे 'भ' संज्ञा नहीं होती। **यचि भम्** (१।४।१८) से भ संज्ञा का विधान यकारादि अजादि स्वादि असर्वनामस्थान प्रत्ययों के परे किया है। यतः प्रत्यय को ङित् करने का सम्पूर्ण शास्त्र में एक ही प्रयोजन 'टि-लोप' है, अतः यहां ङित्करण-सामर्थ्य से भसंज्ञा के अभाव में भी 'टि' का लोप हो जाता है—**ङित्करणसामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः** (परिभाषा)। **उपसरजः**—उपसर पशुओं के गर्भग्रहणकाल का वाचक है, अतः अर्थ होगा—पशुओं के गर्भग्रहणकाल में उत्पन्न हुआ। **मन्दुरजः**—मन्दुरा = घुड़साल, उसमें उत्पन्न हुआ। **ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्** (६।३।६२) से पूर्वपद को ह्रस्व होता है।

कैयट ने ज्ञापक-सामर्थ्य से **मिदेर्गुणः** (७।३।८२) में दकार व्यञ्जन को गुण का निरास होने, तथा इक् ग्रहण के न होने पर गुणविधानसामर्थ्य से सर्वादेश की प्राप्ति दर्शाई है। और **मिद् इः = मिदिः, तस्य मिदेः** = मिद् की इकार को गुण होता है; ऐसा अर्थ करके दोष का समाधान किया है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है कि भाष्यकार इसी सूत्र के भाष्य में आगे अनेक स्थानों पर गुण के सर्वादेश-प्राप्तिरूप दोष और उसके समाधान का निर्देश करेंगे। अतः यहां एकदेश 'मिद' मात्र में दोषोद्भावन और उसके समाधान का उपन्यास करना अनुचित है।

[भाष्यम्] **नैतानि सन्ति ज्ञापकानि। यत्तावदुच्यते—'कित्करणं ज्ञापकं नाऽकारस्य गुणो भवति' इति, उत्तरार्थमेतत् स्यात्—'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' [३।२।५] इति। यर्ताह 'गापोष्टक्' [३।२।८] इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति।**

यदप्युच्यते—'उपदेशसामर्थ्यात् सन्ध्यक्षरस्य गुणो न भवति' इति। यदि—यद्यत्सन्ध्यक्षरस्य प्राप्नोति, तत्तदुपदेशसामर्थ्याद् बाध्यते, आयादयोऽपि तर्हि न प्राप्नुवन्ति। नैष दोषः। यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते। यस्य तु विधेर्निमित्तमेव, नासौ बाध्यते। गुणञ्च प्रत्युपदेशोऽनर्थकः, आयादीनां पुनर्निमित्तमेव।

यदप्युच्यते—'जनेर्डवचनं ज्ञापकम्—न व्यञ्जनस्य गुणो भवति' इति। सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति। न च जनेर्गुणेन सिद्ध्यति। कुतो ह्येतत्—'जनेर्गुण उच्यमानोऽकारो भवति, न पुनरेकारो वा स्यादोकारो वा'

१. इसका भाव यह है कि जैसे—मेघ सूखे और जलयुक्त सभी स्थानों पर समानरूप से बरसता है, उसी तरह लक्षण भी यह नहीं देखता कि यहां मेरी प्रवृत्ति से कुछ लाभ होगा या नहीं होगा, वह तो निमित्तमात्र से प्रवृत्त हो जाता है।

इति ? आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य मात्रिकोऽकारो भविष्यति । एवमप्यनुनासिकः प्राप्नोति । पररूपेण शुद्धो भविष्यति । एवं तर्हि गमेरप्ययं डो वक्तव्यः । गमेश्च गुण उच्यमान आन्तर्यत ओकारः प्राप्नोति । तस्मादिग्ग्रहणं कर्तव्यम् ।।

व्याख्या—ये ज्ञापक नहीं हैं। जो यह कहते हो कि—'कित् करण ज्ञापक है कि आकार को गुण नहीं होता', यह (=कित्करण) उत्तरार्थ होगा—तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः (३।२।५) [यहां कित्करण से वृद्धि और गुण न होवें]। अच्छा तो जो गापोष्टक् (३।२।८) में आचार्य अनन्यार्थ (=जिस कित् का अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है) ककार का अनुबन्ध लगाते हैं[वह इस बात का ज्ञापक होगा कि आकार को गुण नहीं होता।[1] अन्यथा 'साम गै=साम गा टक्=साम गा अ', आकार को गुण='साम ग अ' इस प्रकार आकार को अ गुण होकर पररूप से सामगः रूप सिद्ध हो जाता]।

और जो यह कहते हो कि—'उपदेश-सामर्थ्य से सन्ध्यक्षर (ऐ) को गुण (ए) नहीं होगा।' यदि जो-जो कार्य सन्ध्यक्षर को प्राप्त होता है, वह-वह सब उपदेश-सामर्थ्य से बाधा जाता है, तो आय् आदि भी नहीं प्राप्त होंगे। यह दोष नहीं है। जिस विधि के प्रति उपदेश अनर्थक होता है, वह विधि [उपदेश-सामर्थ्य से] बाधी जाती है, परन्तु जिस विधि का तो [वह उपदेश] निमित्त ही होता है, वह नहीं बाधी जाती। और गुण के प्रति (=ऐ को ए करने में) [ऐकार का] उपदेश अनर्थक है, क्योंकि आय् आदि का तो वह निमित्त ही है।

और जो यह कहते हो कि—"जन को 'ड' प्रत्यय का विधान करना ज्ञापक है कि व्यञ्जन को गुण नहीं होता।" [कार्य के] सिद्ध होने पर आरम्भ की जा रही विधि ज्ञापकार्थ होती है [पर यहां] जन को गुण करने से ['उपसरज' रूप] सिद्ध नहीं होता। यह कैसे होगा कि—'जन को कहा जानेवाला गुण अकार ही होगा, एकार अथवा ओकार नहीं होंगे'? आन्तर्य (=सादृश्य) से अर्धमात्रिक [नकार] व्यञ्जन के स्थान में एकमात्रिक अकार होगा [द्विमात्रिक एकार वा ओकार नहीं होगा]। इस प्रकार (=आन्तर्य से) भी [नकार के स्थान में होने के कारण] अनुनासिक [अकार] प्राप्त होता है। पररूप (उप सर ज अँ अ) से शुद्ध [अकार] हो जायेगा। अच्छा तो गम से भी यह 'ड' प्रत्यय कहना चाहिये। और गम् को गुण कहने पर [मकार के स्थान में] आन्तर्य से ओकार प्राप्त होता है। इसलिये इक् का ग्रहण करना चाहिये।

विवरण—'नैतानि सन्ति ज्ञापकानि'—प्रकृत भाष्य में प्रथम (कित्करण) और तृतीय (डित्करण) ही ज्ञापक हैं। द्वितीय उपदेश-सामर्थ्य ज्ञापन नहीं है। अतः यहां **नैतानि सन्ति ज्ञापकानि** में बहुवचन का निर्देश मीमांसकों के **'भूमा'** न्याय[2], जिसे **'सृष्टिन्याय'** भी

१. यह सन्दर्भ अत्यल्प भेद से पूर्व पृष्ठ १३७ पर भी आया है। इस सन्दर्भ के अन्त का विवरण पृष्ठ १३८-१४० पर भी देखें।

२. कथं त्वसृष्टिषु सृष्टिशब्द इति ? भूम्ना। बहवस्तत्र सृष्टिलिङ्गा मन्त्राः, अल्पशो विलिङ्गाः। शाबर (भाष्य)।

कहते हैं (द्र०—मीमांसा १।४।२७)से जानना चाहिये। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने 'छत्री' न्याय[1] से बहुवचन का समर्थन किया है। नागेश और छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड ने भी छत्री न्याय का ही निर्देश किया है। पर छत्री न्याय का स्वरूप इससे उलटा है—जहां अल्प व्यक्ति, चाहे एक भी छाता लगाये हुए हो, और अधिक व्यक्ति विना छाते के हों, वहां **छत्रिणो यान्ति** का प्रयोग होता है।

आयादयः—आदि शब्द से **जग्लौ** आदि में **आदेच उपदेशेऽशिति** (६।१।४४) से आत्व जानना चाहिये। गुण के समान आत्व की भी उपदेश-सामर्थ्य से बाधा प्राप्त होती है। उसका निषेध **न ध्याख्यापॄमूर्छिमदाम्** (८।२।५७)सूत्र में कृत आत्व 'ध्यै' के निर्देश से जानना चाहिये। इसी प्रसङ्ग में नागेश ने लिखा है—'रै' आदि शब्दों से आचार अर्थ में **सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वा वक्तव्यः** (वा० ३।१।११)से क्विप् होने पर सन्ध्यक्षर को गुण प्राप्त होगा, यह नहीं कहना चाहिये। एजन्तों से आचार अर्थ में इसी भाष्यप्रमाण से क्विप् नहीं होता, यह ज्ञापित होता है। हमारे विचार में यह प्रौढिवादमात्र है। वर्तमान में जिन्हें नाम धातु कहा जाता है, उनकी प्राचीन स्थिति कण्ड्वादि के समान उभयात्मक (धातु और प्रातिपदिकरूप) है। अतः रै गो नौ आदि से धातु पक्ष में **रायति गवति नावति** प्रयोगों का अपलाप कैसे किया जा सकता है? नामधातुओं की प्राचीन स्थिति के विषय में हमने सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ १८-२१ में विस्तार से लिखा है। पाठक उस प्रकरण का गहराई से अनुशीलन करें। उन्हें धातुओं के मूलस्वरूप के विषय में नवीन जानकारी प्राप्त होगी।

पररूपेण शुद्धो भविष्यति—'उपसर ज अँ अ' इस अवस्था में गुण होकर निष्पन्न सानुनासिक 'अँ' और प्रत्यय के शुद्ध अकार को पररूप होकर परप्रत्यय के अकार का जैसा शुद्ध=अनुनासिक धर्मरहित रूप है, वैसा हो जायेगा। तत्पश्चात् 'ज' के अकार के साथ पररूप हुए अकार को पुनः पररूप होगा। इस प्रकार **उपसरजः मन्दुरजः** प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे।

इस प्रक्रिया के अनुसार **सुब्रह्मण्या ओम्**' में स्वरित आकार और उदात्त ओकार को **ओमाङोश्च** (६।१।९२)से पररूप से उदात्त ओकार होना चाहिये। पर १।२।३२ के भाष्य में **स्वरितोदात्तार्थं च** वार्तिक के व्याख्यान में **सुब्रह्मण्योम्** में एकादेश को स्वरित मानकर इसे सिद्धप्रकरण के स्वरित के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। अर्थात् यहां स्वरित 'आ' और उदात्त 'ओ' को **स्थानेऽन्तरतमः** (१।१।४९) से आन्तर्य से स्वरित 'ओ' आदेश किया है। (द्रष्टव्य उक्त सूत्र का व्याख्यान, भाग २, पृष्ठ ६७-६८)। प्रकृत में जैसे सानुनासिक और निरनुनासिक के स्थान में पररूप निरनुनासिक आदेश किया है, उसी प्रकार **सुब्रह्मण्योम्** में भी उदात्त ओकार का आदेश होना चाहिये। परन्तु वैसा न करने से प्रतीत होता है कि भाष्यकार स्वर को रूपवान् नहीं मानते। **तृज्वत् क्रोष्टुः** (७।१।९५) सूत्र में तो भाष्यकार स्पष्ट लिखेंगे **न स्वरो रूपवान्**। इसकी व्याख्या सब ने यही की है कि उदात्तादि स्वर भेदक नहीं होते,

१. यथा छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि छत्रिणा सर्वे लक्ष्यन्ते। द्र०—शाबरभाष्य १।४।२८॥ मीमांसक इसे प्राणभृन्न्याय कहते हैं। द्र०—मीः १।४।२८॥

अतः उसे रूपवान् नहीं मानते। अनुनासिकत्व और उदात्तादि स्वर दोनों श्रोत्रग्राह्य होने से समानरूपवाले धर्म हैं। दोनों वचनों—(१) 'अनुनासिक और निरनुनासिकपन रूपवान् हैं', (२) 'स्वर रूपवान् नहीं है' की संगति के लिये वृद्धिरादैच् सूत्र में उपस्थापित दो पक्ष **भेदका उदात्तादयः, भेदका गुणाः** पर ध्यान देना आवश्यक है। द्वितीय वचन के व्याख्यान में वहीं पर कहा है कि—**'आनुनासिक्यं नाम गुणः'**। इन वचनभेदों से प्रतीत होता है कि उदात्तादि-स्वर और आनुनासिक्य के समानरूप से श्रोत्र-ग्राह्य होने पर भी दोनों में कुछ-कुछ भेद है। इस कारण **अभेदका गुणाः** ऐसा सिद्धान्त करने पर भी उदात्तादि स्वरों को तो शास्त्र में अभेदक, दूसरे शब्दों में रूपरहित मानना चाहिये। पर आनुनासिक्य निरनुनासिक्य गुण को भेदक अर्थात् रूपवान् ही स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा **उञ ऊँ** (१।१।१७) सूत्र में अनुनासिकोच्चारण व्यर्थ होगा। अनुनासिक और उदात्तादि में एक अन्तर यह भी है कि अनुनासिकत्व मूर्खतम व्यक्ति के द्वारा भी श्रोत्रग्राह्य होता है, पर उदात्तादि स्वर अति कुशल परम्परा से अधीत वेदपाठियों, वह भी विशेष करके दाक्षिणात्य वेदपाठियों द्वारा ही ग्राह्य होता है। इसलिये लौकिक दृष्टि से भी अनुनासिक और निरनुनासिक को रूपवान्, और उदात्तादि स्वरों को अरूप कह सकते हैं।

गमेरप्ययं डो वक्तव्यः—इसका अभिप्राय सभी व्याख्याकारों ने इस प्रकार दर्शाया है—**'जनेर्डः'** के प्रकरण में **अन्येष्वपि दृश्यते** (३।२।१०१) सूत्र है। इसमें 'दृशि' का ग्रहण सब उपाधियों के व्यभिचार के लिये है, अतः अन्य उपपद होने पर, और अन्य धातुओं से भी 'ड' हो जाता है। इस से **गमश्च, अन्तात्यन्ताध्व०** (३।२।४८) पर पढ़े वार्तिक नहीं पढ़ने होंगे। इस प्रकार से जन से विधीयमान 'ड' गम से भी कथनीय होगा। हमारे विचार में 'ड' रूप-सामान्य को लेकर **गमश्च अन्तात्यन्ताध्व०** सूत्र से गम से विहित 'ड' की ओर भाष्यकार का संकेत हो सकता है। व्याख्याकारों द्वारा निर्दिष्ट क्लिष्ट कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है।

[भाष्यम्] यदीग्ग्रहणं क्रियते, द्यौः, पन्थाः, सः, इममित्येतेऽपीकः प्राप्नुवन्ति।

संज्ञया विधाने नियमः ॥२॥

संज्ञया ये विधीयन्ते तेषु नियमः। किं वक्तव्यमेतत्? नहि। कथमनुच्यमानं गंस्यते? गुणवृद्धिग्रहणसामर्थ्यात्। कथं पुनरन्तरेण गुणवृद्धिग्रहणमिको गुणवृद्धी स्याताम्? प्रकृतं गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? 'वृद्धिरादैजदेङ्गुणः' इति। यदि तदनुवर्तते 'अदेङ्गुणो वृद्धिश्च' इत्यदेङां वृद्धिसंज्ञाऽपि प्राप्नोति।

संबन्धमनुवर्तिष्यते—'वृद्धिरादैच्'। 'अदेङ्गुणः' इति वृद्धिरादैच्। ततः—'इको गुणवृद्धी' इति, गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते, आदैजदेङ्ग्रहणं निवृत्तम्॥

व्याख्या—यदि इक् का ग्रहण करते हैं, तो द्यौः पन्थाः सः इमम् में ये [औ आत् अ रूप वृद्धि और गुण] भी [दिव् पथिन् इदम् के] इक् के स्थान में प्राप्त होते हैं।

संज्ञा से विधान होने पर नियम [होता है]।

[गुण वृद्धि] संज्ञा से जो [औ आ अ] विहित किये जाते हैं, उनमें नियम होता है। [ये औ आ अ गुण वृद्धि संज्ञा से विहित नहीं हैं। अतः इक् के स्थान में नहीं होंगे।] क्या यह कहना चाहिये? नहीं [कहना चाहिये]। विना कहे कैसे जाना जायेगा? गुण वृद्धि के ग्रहण-सामर्थ्य से। कैसे विना गुण वृद्धि के ग्रहण किये इक् को गुण वृद्धि होंगे? प्रकृत गुण वृद्धि की अनुवृत्ति आ रही है। कहां प्रकृत है? वृद्धिरादैज् अदेङ् गुणः (१।१।१-२)में। यदि वह (=वृद्धि गुण ग्रहण) अनुवर्त्तमान है, तो अदेङ् गुणः में 'वृद्धि' की अनुवृत्ति होने से अ ए ओ की वृद्धि संज्ञा भी प्राप्त होती है।

सम्बन्ध का अनुवर्तन करेंगे—वृद्धिरादैच्। अदेङ् गुणः यहां वृद्धिरादैच् [सम्बद्ध पदों की अनुवृत्ति करेंगे]। उसके पश्चात्—इको गुणवृद्धी, यहां गुण वृद्धि पद आते हैं, आदैच् अदेङ् पद निवृत्त हो गये।

विवरण—भाष्य में द्यौः आदि के साथ सः पद का निर्देश इमम् के संयोग से हुआ है। क्योंकि यहां तत् में कोई इक् है ही नहीं। अथवा तत् में इक् के अभाव के कारण 'अ' आदेश नहीं होगा, यह अभिप्राय जानना चाहिये, ऐसा किन्हीं का मत है। भट्टोजिदीक्षित ने इसी सूत्र के शब्दकौस्तुभ में लिखा है—"यत्तु भाष्ये स इममित्युदाहृतम्, तत् 'स इमं मन्त्रमपश्यत्' इति ब्राह्मणवाक्यैकदेशानुकरणमात्रम्। उदाहरणं तु 'इमम्' इत्येव, न तु 'स' इत्यपि"। हमारी दृष्टि में भट्टोजिदीक्षित का लेख अधिक प्रामाणिक है। 'स इमं मन्त्रमपश्यत्' वचन ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रायः उपलब्ध होता है।

गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते—'गुणवृद्धी' पद की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का रूप होगा—इको गुणवृद्धी गुणवृद्धी। अनुवृत्त 'गुणवृद्धी' पद अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः (द्र०—महा० १।३।९ आदि) न्यायानुसार तृतीयान्त गुणवृद्धिभ्याम् में परिणत होकर अर्थ होगा—गुणवृद्धि-शब्दों के द्वारा कहे गये गुण वृद्धि इक् के स्थान पर होते हैं। द्यौः आदि में जो औ आ अ का विधान है, वह गुणवृद्धि शब्द द्वारा न होकर स्वरूपनिर्देश द्वारा है।

संबन्धमनुवर्तिष्यते—घञजपः पुंसि—इस लिङ्गानुशासन के नियम से घञन्त सम्बन्ध शब्द का पुंल्लिङ्ग में प्रयोग होना चाहिये। भाष्यकार ने नपुंसक में कैसे प्रयोग किया? इस का उत्तर कैयट ने दिया है कि—'घञजपः पुंसि'[1] सूत्र भावार्थक घञन्तविषयक है। यहां सम्बध्यत इति संबन्धम् कर्म में घञ् है। शिवरामेन्द्र ने लिङ्गानुशासन से विरोध और 'घञजपः सूत्र भावार्थक घञ्-विषयक ही है, इसमें प्रमाण न होने से' हेतु देकर कैयट के कथन का खण्डन किया है। उसने सम्बद्धमनुवर्तिष्यते पाठ माना है। नागेश ने घञजपः पुंसि नियम को प्रायिक मानकर भाष्यवचन की उपपत्ति दर्शाई है। और कर्मण्यण् (३।२।१) सूत्र के भाष्य में पठित मांसं भक्षोऽस्य वचन से विरोध दर्शाकर कैयट का प्रत्याख्यान किया है।

लिङ्गविचार—जैसे यहां घञन्त का नपुंसक में भाष्यकार ने प्रयोग किया है, वैसे ही

१. लिङ्गानुशासन में ऐसा सूत्रपाठ नहीं है। वहां 'पुमान्' के अधिकार में घञबन्तः, घाजन्तश्च सूत्र हैं।

भूवादयो धातवः (१।३।१) के भाष्य में ल्युडन्त 'अनुमान' का पुँल्लिङ्ग में प्रयोग किया है—**कोऽसावनुमानः** (द्र०—भाग २, पृष्ठ २३८)। अतः लिङ्ग का अनुशासन चाहे अष्टाध्यायी में हो चाहे लिङ्गानुशासन में, सभी प्रायिक हैं। इसकी प्रायिकता **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** (१।२।२७) में समाहारद्वन्द्व में भी पुँल्लिङ्गनिर्देश से सूत्रकार ने प्रदर्शित की है (द्र०—महाभाष्य भाग २, पृष्ठ १५६ की अन्तिम पंक्ति और अगले पृष्ठ पर)। इसीलिये भाष्यकार ने भी बहुत्र **लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य** वचन द्वारा लिङ्ग के अनुशासन की प्रायिकता बताई है। अतः **सम्बन्धम्** में क्लिष्ट कल्पना करना, अथवा **सम्बद्धम्** पाठ स्वीकार करना दोनों चिन्त्य हैं।

[भाष्यम्] अथवा मण्डूकगतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति, तद्वदधिकाराः।

अथवैकयोगः करिष्यते—'वृद्धिरादैजदेङ्गुणः'। ततः—'इको गुणवृद्धी' इति। न चैकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति।

अथवा—"अन्यवचनाच्चकाराऽकरणाच्च प्रकृतापवादो विज्ञायते, यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्याऽपवादो बाधको भवति।" अन्यस्याः संज्ञाया वचनाच्चकारस्य चानुकर्षणार्थस्याऽकरणात्प्रकृताया वृद्धिसंज्ञाया गुणसंज्ञा बाधिका भविष्यति, यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति।

अथवा वक्ष्यत्येतत्—'अनुवर्तन्ते च नाम विधयः, न चानुवर्तनादेव भवन्ति। किं तर्हि? यत्नाद् भवन्ति' इति।

अथवोभयं निवृत्तम्, तदपेक्षिष्यामहे॥

व्याख्या—**अथवा**—अधिकार मेंडक की गति के समान गतिवाले होते हैं। जैसे मेंडक कूद-कूदकर अर्थात् मध्यवर्ती स्थान का स्पर्श न करके जाते हैं, वैसे ही अधिकार भी [कूद-कूदकर अर्थात् मध्यवर्ती सूत्रों का स्पर्श न करके गति करते हैं। तदनुसार 'वृद्धि' शब्द की अनुवृत्ति होने पर भी अदेङ् गुणः के साथ उसका स्पर्श नहीं होगा]।

अथवा—एकसूत्र करेंगे—वृद्धिरादैजदेङ् गुणः। उसके पश्चात्—इको गुणवृद्धी। एकयोग में अनुवृत्ति नहीं होती। [अतः सम्बन्धानुसार आदैच् की वृद्धि संज्ञा होगी, और अदेङ् की गुण संज्ञा।]

अथवा—'अन्य का वचन होने से और चकार के न करने से प्रकृत का अपवाद जाना जाता है, जैसे उत्सर्ग से प्राप्त का अपवाद बाधक होता है।' अन्य संज्ञा (=गुण संज्ञा) के कहने से और अनुकर्षण के लिये चकार के न करने से प्रकृत वृद्धि संज्ञा की गुण संज्ञा बाधक हो जायेगी, जैसे उत्सर्ग से प्राप्त का अपवाद बाधक होता है।

अथवा—आगे (महा० ५।२।४ में) कहेंगे—'विधियां अनुवृत्त होती हैं, केवल अनुवर्तनमात्र से नहीं हो जातीं। तो कैसे होती हैं। यत्न से होती हैं।

अथवा—दोनों निवृत्त हो गये, उनकी यहां अपेक्षा कर लेंगे।

विवरण—एकसूत्र होते हुए भी **तदधीते तद्वेद** (४।२।५८) के समान दो वाक्य हैं। यह समाधान एकदेशी है। क्योंकि **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्**(५।२।९४) में एकसूत्र में भी **तद् अस्ति** पदों की अनुवृत्ति देखी जाती है—**तद् अस्य अस्ति इत्यस्मिन्नर्थे, तद् अस्मिन्नस्ति इत्यस्मिन्नर्थे मतुप् भवति**। तदधीते तद्वेद पर भी भाष्यकार कहेंगे—**एकं तद्ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। णेरणौ यत्कर्म णौ चेत् स कर्त्ताऽनाध्याने**(१।३।६४) सूत्र में **स कर्त्ता** अवान्तर वाक्य में पूर्वपदों की अनुवृत्ति होती है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **एकयोगे** का **एकवाक्ये** अर्थ करके समाधान करने का प्रयत्न किया है। तदनुसार एकसूत्र में भी वाक्यान्तर होने पर अनुवृत्ति होती है। यहां वाक्यान्तर से सापेक्ष वाक्यान्तर का ग्रहण करना चाहिये। **वृद्धिरादैजदेङ्गुणः** में वाक्यान्तर तो है, पर दोनों अपने आप में पूर्ण हैं, सापेक्ष नहीं हैं। अतः अनुवृत्ति नहीं होती।

अन्यवचनात्—यह वचन मूलरूप से **विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः**(५।२।४) के भाष्य में पठित है। वहां प्रसङ्ग है—'तिलादि शब्दों से खञ् का भी विधान करना चाहिये। खञ् का ग्रहण नहीं करना चाहिये—**धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्**(५।२।१) से खञ् आ रहा है। यदि खञ् आ रहा है, तो **व्रीहिशाल्योर्ढक्** (५।२।२) सूत्र में भी व्रीहि और शालि शब्द से खञ् प्रत्यय होगा। इस दोष की निवृत्ति के लिये सम्बन्ध का अनुवर्तन, और मण्डूकप्लुतिरूप अधिकार का निर्देश करके यह समाधानान्तर दिया है—[**व्रीहिशाल्योर्ढक्, यवयवकषष्टिकाद् यत्**(५।२।२,३) सूत्रों में] **अन्य**(=ढक्, यत्) प्रत्ययों का विधान करने से, तथा अनुकर्षणार्थ चकार का प्रयोग न करने से प्रकृत (=खञ्) का **अपवाद** (=ढक्, यत्) बाधक जाना जाता है, जैसे उत्सर्ग का अपवाद बाधक होता है। इसी वाक्य को प्रकृत प्रसङ्ग में सम्बद्ध करने के लिये कहा है—**अन्यस्याः संज्ञाया वचनात्**।

वक्ष्यत्येतत्—'वक्ष्यति' क्रिया का कर्ता कौन है? शिवरामेन्द्र सरस्वती ने गोनर्दीय (=भाष्यकार पतञ्जलि) का निर्देश किया है। यह वचन भी **विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः**(५।२।४) सूत्र के भाष्य में ही है। पर वहां पर **ज्ञापयत्याचार्यः** पदों का निर्देश करके यह वाक्य पठित है। अतः हमारा विचार है कि इस वक्ष्यति क्रिया का कर्त्ता **पाणिनि** है। ज्ञापकों में सर्वत्र पाणिनि ही कर्त्तारूप से स्मृत होता है। आचार्य पाणिनि ने अपने शिष्यों को केवल सूत्रपाठ का ही प्रवचन नहीं किया था, साथ में अनुवृत्ति-वृत्ति उदाहरण आदि का भी प्रवचन किया था। उसने प्रवचन में एतादृश उपदेश भी किया होगा। आचार्य द्वारा सूत्रपाठ की वृत्ति-प्रवचन के उपोद्बलक अनेक प्रमाण मिलते हैं। (द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ४३७-४३८, संवत् २०३०)।

यत्नाद् भवन्ति—जहां (५।२।४ में) यह वचन पढ़ा है, वहां अनुवर्तमान खञ् का सम्बन्ध प्रस्तुत **विभाषा तिलमाषोमा०**(५।२।४) सूत्र में **विभाषा** शब्द के विशेष निर्देश से होता है। यहां क्या यत्न है, जिससे अनुवर्तमान गुण वृद्धि ग्रहण सम्बद्ध होता है। इसमें व्याख्याताओं ने क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने व्याख्यानरूप विशेष यत्न माना है, अर्थात् अनुवर्तमानपद सम्बन्धबोधक व्याख्यान कर देंगे। वह है—**गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी उच्येते, तत्र इकः स्थाने भवतः** सूत्रार्थ का निर्देश। कैयट के व्याख्यान की नागेश ने

क्लिष्ट कल्पना से कथंचित् संगति लगाई है। पर शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के व्याख्यान का खण्डन किया है। जहां विशेष यत्न का अभाव होता है, वहां अनुवर्तमान वचन का सम्बन्ध नहीं होता, ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति न्याय से मध्यस्थ सूत्रों के साथ अवश्यंभावी अनिच्छित संसर्गमात्र होता है। मण्डूकप्लुतिरूप अधिकार में मध्यवर्ती सूत्रों के साथ संसर्ग भी नहीं होता, यह दोनों में भेद है।

उभयमपेक्षिष्यामहे—यद्यपि **अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा** इस नियम से अनन्तर गुण की अपेक्षा होनी चाहिये। दोनों की अर्थात् व्यवहित वृद्धि की अपेक्षा कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि लोक में अपेक्ष्य के विषय में दो प्रकार की मति होती है—कहीं समुदाय की अपेक्षा होती है, कहीं समीपस्थ की। समुदाय की अपेक्षा में समुदाय ही अनन्तर होता है। अतः उक्त नियम का भी कोई विरोध नहीं होता। यहां दोनों की अर्थात् समुदाय की अपेक्षा करेंगे। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः०** के नियम से व्याख्यान की शरण ली है।

[भाष्यम्] किं पुनरयमलोऽन्त्यशेषः, आहोस्विदलोऽन्त्याऽपवादः?

कथं चाऽयं तच्छेषः स्यात्, कथं वा तदपवादः? यद्येकं वाक्यम्—तच्चेदं च, 'अलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्ति', 'इको गुणवृद्धी अलोऽन्त्यस्य' इति। ततोऽयं तच्छेषः। अथ नानावाक्यम्—तच्चेदं च, 'अलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्ति,' 'इको गुणवृद्धी अन्त्यस्य चानन्त्यस्य च' इति। ततोऽयं तदपवादः॥

व्याख्या—क्या यह (इको गुणवृद्धी सूत्र) अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) परिभाषा का शेष है, अथवा अलोऽन्त्य परिभाषा का अपवाद है।

कैसे यह (='इको गुणवृद्धी' सूत्र) उस (='अलोऽन्त्यस्य') परिभाषा का शेष होगा, अथवा कैसे उसका अपवाद होगा? यदि एक वाक्य है—वह ('अलोऽन्त्यस्य') और यह (='इको गुणवृद्धी'), [तब अर्थ होगा—] 'अन्त्य अल् के स्थान में विधियां होती हैं', 'गुण वृद्धि इक्रूप अन्त्य अल् के स्थान में होती है।' तब यह सूत्र उस (='अलोऽन्त्य') का शेष होगा। और [यदि दोनों] भिन्न-भिन्न वाक्य हैं—वह और यह, [तब अर्थ होगा—] 'अन्त्य अल् के स्थान में विधियां होती हैं,' 'गुण वृद्धि इक् के स्थान में होती हैं, चाहे इक् अन्त में हो वा अनन्त में, अर्थात् गुण वृद्धि रूप आदेश जहां भी इक् होगा वहीं होंगे'। तब यह सूत्र उस (=अलोऽन्त्य) का अपवाद होगा।

विवरण—'अलोऽन्त्यशेषः' में अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) सूत्र के एकदेश 'अलोऽन्त्य' का अनुकरण है। उससे सम्बन्ध में षष्ठी, और षष्ठ्यन्त का शेष के साथ समास जानना चाहिये। इसी प्रकार **अलोऽन्त्यापवादः** में भी।

कथं चायम्—आशंकक के मन में यह बात विद्यमान है कि इको गुणवृद्धी (१।१।३) और अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) में लगभग ५० सूत्रों का व्यवधान है। उस अवस्था में दोनों की एकवाक्यता कैसे होगी। भर्तृहरि ने व्यवहितों में भी एकवाक्यता होती है, इसमें दो वचन उद्धृत किये हैं। प्रथम वचन है—

यस्य येनार्थसंबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥[1]

अर्थात्—जिसकी जिसके साथ सम्बद्ध होने की योग्यता है, वहां दूरस्थों का भी सम्बन्ध होता जाता है। अर्थ से असमर्थों में आनन्तर्य भी दोनों समीपस्थों के सम्बन्ध में कारण नहीं होता॥

दूसरा वचन भाष्यकार का ही उद्धृत किया है—

अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति। महा० १।१।५७॥

एतन्मूलक ही मीमांसा का भी एक न्याय है—**पाठक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्**[2]।

इन वचनों के परिप्रेक्ष्य में दोनों सूत्रों के दूर-दूर होते हुए भी एकवाक्यता हो सकती है। हमारे विचार में **कार्यकाल संज्ञापरिभाषम्** नियम के अनुसार जहां भी गुण और वृद्धि का विधान किया है, वहां आदेश होने से **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा, और गुण वृद्धि रूप विशेष आदेश का विधान होने से **इको गुणवृद्धी** परिभाषा उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार दोनों के समान स्थान पर होने पर एकवाक्यता से तच्छेषत्व और नानावाक्यता तदपवाद पक्ष सरलता से उपपन्न हो जाते हैं।

[भाष्यम्] कश्चात्र विशेषः ?

वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधच्छिदृशिक्षिप्र-क्षुद्रेष्विग्ग्रहणम् ॥३॥

वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं कर्तव्यम्।

मिदेर्गुणः [७।३।८२] 'इक इति वक्तव्यम्'। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। मृजेर्वृद्धिः [७।२।११४] 'इक इति वक्तव्यम्'। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। पुगन्तलघूपधस्य गुणः 'इक इति वक्तव्यम्'। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। ऋच्छेर्लिटि गुणः 'इक इति वक्तव्यम्'। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। ऋदृशोऽङि गुणः[७।४।१६] 'इक इति वक्तव्यम्'। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। क्षिप्रक्षुद्रयोर्गुणः 'इक इति वक्तव्यम्'। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति॥

व्याख्या—**यहां (=दोनों पक्षों में) क्या भेद है ?**

१. यह वचन न्याय-वात्स्यायनभाष्य १।२।८ में भी उद्धृत है।

२. यह न्यायमीमांसा ५।१।२—**अर्थाच्च** सूत्र पर आश्रित है। कात्यायन श्रौत १।५।५—**विरोधेऽर्थस्तत्परत्वात्** सूत्र भी द्रष्टव्य है।

वृद्धि गुण अन्त्य अल् के स्थान में होवें, तो मिदि-मृजि-पुगन्तलघूपध-ऋच्छि-दृशि-क्षिप्र-क्षुद्रों में इक् का ग्रहण करना चाहिये ।

वृद्धि गुण अन्त्य अल् के स्थान में होवें, तो मिदि-मृजि-पुगन्तलघूपध-ऋच्छि-दृशि-क्षिप्र-क्षुद्रों में इक् का ग्रहण करना चाहिये ।

मिदेर्गुणः (७।३।८२) **में 'इक् के स्थान में ऐसा कहना चाहिये' । अन्त में [इक्=इकार के] न होने से [गुण] प्राप्त नहीं होता ।** मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) **में 'इक् के स्थान में ऐसा कहना चाहिये' । अन्त में [इक्=ऋकार के] न होने से [वृद्धि] प्राप्त नहीं होती ।** पुगन्तलघूपधस्य (७।३।८६) **को गुण होता है, में 'इक् के स्थान में ऐसा कहना चाहिये' । अन्त में [इक् के] न होने से [गुण] प्राप्त नहीं होता । ऋच्छ को लिट् में गुण होता है (७।४।११), में 'इक् के स्थान में ऐसा कहना चाहिये' । अन्त में [इक्=ऋकार के] न होने से [गुण] प्राप्त नहीं होता ।** ऋदृशोऽङि गुणः (७।४।१६) **में 'इक् के स्थान में ऐसा कहना चाहिये' । अन्त में [इक्=ऋकार के] न होने से [गुण] प्राप्त नहीं होता । क्षिप्र और क्षुद्र को गुण होता है (६।४।१५६), में 'इक् के स्थान में ऐसा कहना चाहिये' । अन्त में [इक्=इकार-उकार के] न होने से [गुण] प्राप्त नहीं होता ।**

विवरण—तच्छेष पक्ष में दोनों परिभाषासूत्र साथ-साथ उपस्थित होते हैं । इसलिये **मिदेर्गुणः** आदि में अन्त में इक् न होने से गुण की प्राप्ति नहीं होती । तच्छेषत्व के कारण ही **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा अकेली प्रवृत्त होकर अन्त्य दकारादि व्यञ्जनों को गुण वृद्धि नहीं कर सकती, और ना ही **इको गुणवृद्धी** परिभाषा स्वतन्त्ररूप से जहां-कहीं वर्तमान इक् को गुण वृद्धि कर सकती है ।

[भाष्यम्] सर्वादेशप्रसङ्गश्चानिगन्तस्य ॥४॥

सर्वादेशश्च गुणोऽनिगन्तस्य प्राप्नोति । याता, वाता । किं कारणम्? 'अलोऽन्त्यस्य' इति षष्ठी चैव ह्यन्त्यमिकमुपसङ्क्रान्ता, अङ्गस्येति च स्थानषष्ठी । तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गम् तस्य गुणः सर्वादेशः प्राप्नोति ।

नैष दोषः । यथैव ह्यलोऽन्त्यस्येति षष्ठी अन्त्यमिकमुपसङ्क्रान्ता, एवमङ्गस्येत्यपि स्थानषष्ठी । तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गम्, तत्र षष्ठ्येव नास्ति । कुतो गुणः कुतः सर्वादेशः ?

व्याख्या—**अनिगन्त को [गुण] सर्वादेश भी प्राप्त होता है ।**

अनिगन्त (=जिसके अन्त में इक् नहीं है) को गुण सर्वादेश भी प्राप्त होता है । याता वाता । **क्या कारण है?** अलोऽन्त्यस्य **में वर्तमान षष्ठी अन्त्य इक् में संक्रान्त हो गई, और** 'अङ्गस्य' **यह स्थानषष्ठी है । इसलिये जो अङ्ग इगन्त नहीं है, उसको गुण सर्वादेश प्राप्त होता है ।**

यह दोष नहीं है । जैसे अलोऽन्त्यस्य **की षष्ठी अन्त्य इक् में संक्रान्त हो गई, उसी प्रकार** अङ्गस्य **यह स्थानषष्ठी भी [अन्त्य इक् में संक्रान्त हो गई] । इस कारण (=दोनों**

षष्ठियों के अन्त्य इक् में संक्रान्त हो जाने से) अब जो अनिगन्त अङ्ग है, उसमें षष्ठी ही नहीं है। कहां से गुण प्राप्त होगा और कैसे सर्वादेश होगा ?

विवरण—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) में तीन षष्ठियां हैं—अङ्गस्य अन्त्यस्य इकः। इनमें अन्त्यस्य षष्ठी इकः से सम्बद्ध हो गई। अङ्गस्य षष्ठी स्वतन्त्र है। इस अवस्था में सूत्र का अर्थ होगा—'अङ्ग को गुण होता है, सार्वधातुक आर्धधातुक परे रहते पर'। 'तृच्' के परे 'या वा' धातु के अन्त में इक् न होने से अलोऽन्त्यस्य इकः षष्ठियां सम्बद्ध नहीं होंगी, अर्थात् अन्त 'आ' के स्थान में गुण नहीं होगा। परन्तु अवशिष्ट अङ्गस्य षष्ठी से जो अङ्ग को गुण प्राप्त होगा, वह अन्त्य इक् के अभाव में सर्वादेश ही होगा। **नैष दोषः**—समाधाता ने अङ्गस्य षष्ठी को भी अन्त्य इक् के साथ संबद्ध करके स्वतन्त्र षष्ठी के न होने से अनिगन्त अङ्ग को गुण प्राप्त ही नहीं होगा, ऐसा कहा। सर्वादेश की कथा तो दूर की बात है।

[भाष्यम्] एवं तर्हि नाऽयं दोषसमुच्चयः। किं तर्हि? पूर्वापेक्षोऽयं दोषः। ह्यर्थे चायं 'चः' पठितः। 'मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रे ष्विग्ग्रहणं सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य' इति। मिदेर्गुणः 'इक' इति वचनादन्त्यस्य न, 'अलोन्त्यस्य' इति वचनादिको न, उच्यते च गुणः। स सर्वादेशः प्राप्नोति। एवं सर्वत्र॥

व्याख्या—अच्छा तो यह दोषों का समुच्चय नहीं है [अर्थात् अलोऽन्त्य शेषपक्ष में सर्वादिशप्रसङ्गश्च से दूसरा दोष उपस्थित नहीं किया है]। तो क्या है? पूर्व वचन की अपेक्षा से यह दोष है। 'हि' के अर्थ में यह 'च' पढ़ा है। 'मिदि-मृजि-पुगन्तलघूपध-ऋच्छि-दृशि-क्षिप्र-क्षुद्रों में इग्ग्रहण करना चाहिये,नहीं तो अनिगन्त को सर्वादेश की प्राप्ति होगी।' मिद् के गुण-विधान में 'इकः' के वचन से अन्त्य [दकार] को गुण नहीं होगा, तथा अलोऽन्त्यस्य के वचन से इक् को [गुण] नहीं होगा, और [मिद् को] गुण कहा गया है। वह [वचन-सामर्थ्य से]सर्वादेश प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'मृजि' आदि में सर्वत्र जानना चाहिये।

विवरण—ह्यर्थे—'हि' शब्द हेतु में प्रयुक्त होता है। अतः 'ह्यर्थे' वाक्य का तात्पर्य होगा—हेतु अर्थ में 'च' पढ़ा है।

[भाष्यम्] अस्तु तर्हि तदपवादः।

इङ्मात्रस्येति चेज्जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योगुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधः ॥५॥

इङ्मात्रस्येति चेज्जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योगुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधो वक्तव्यः।

जुसि गुणः स यथेह भवति—'अजुहवुः अबिभयुः' इति, एवम् 'अनेनिजुः पर्यवेविषुः' अत्रापि प्राप्नोति। सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणः—स यथेह भवति—'कर्ता हर्ता नयति तरति' इति, एवम् 'ईहता ईहितुम् ईहितव्यम्' इत्यत्रापि प्राप्नोति। ह्रस्वस्य गुणः—स यथेह भवति—'हे अग्ने हे वायो' इति,एवं 'हे अग्निचित् हे सोमसुद्' इत्यत्रापि प्राप्नोति। जसि गुणः-स यथेह भवति—'अग्नयो वायवः' इति, एवं

'अग्निचितः सोमसुतः' इत्यत्रापि प्राप्नोति । ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोर्गुणः—स यथेह भवति— 'कर्तरि कर्तारौ कर्तारः' इति एवं 'सुकृति सुकृतौ सुकृतः' इत्यत्रापि प्राप्नोति । घेर्ङिति गुणः—स यथेह भवति—'अग्नये वायवे' इति, एवम् 'अग्निचिते सोमसुते' इत्यत्रापि प्राप्नोति । ओर्गुणः—स यथेह भवति—'बाभ्रव्यो माण्डव्यः' इति, एवं सुश्रुत्—'सौश्रुतः' इत्यत्रापि प्राप्नोति ।।

व्याख्या—अच्छा तो ['इको गुणवृद्धी'] उसका (='अलोऽन्त्यस्य' का) अपवाद होवे । [अर्थात् विधीयमान गुण वृद्धि इक् मात्र के स्थान में होवें, चाहे इक् अन्त में होवे, चाहे अनन्त में ।]

यदि इङ्मात्र को होवे, तो जुसि-सार्वधातुकार्धध.तुक-ह्रस्वादि गुणों में अनन्त्य का प्रतिषेध करना चाहिये ।

यदि इङ्मात्र को होवे, तो जुसि-सार्वधातुकार्धधातुक-ह्रस्वादि गुणों में अनन्त्य का प्रतिषेध करना चाहिये ।

जुस् परे गुण—वह (जुसि च ७।३।८३ से विहित गुण) जैसे यहां होता है—अजुहवुः अबिभयुः, वैसे ही अनेनिजुः पर्यवेविषुः में भी प्राप्त होता है । सार्वधातुक आर्धधातुक परे गुण—वह (=सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४ से विहित गुण) जैसे यहां होता है—कर्त्ता हर्त्ता नयति तरति, वैसे ही ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् में भी प्राप्त होता है । ह्रस्व को गुण—वह (=ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८ से विहित गुण) जैसे यहां होता है—हे अग्ने हे वायो, वैसे ही हे अग्निचित् हे सोमसुत् में भी प्राप्त होता है । जस् परे गुण—वह (=जसि च ७।३।१०९ से विहित गुण) जैसे यहां होता है—अग्नयः वायवः वैसे ही अग्निचितः सोमसुतः में भी प्राप्त होता है । ऋकार को ङि सर्वनामस्थान परे गुण—वह (=ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११० से विहित गुण) जैसे यहां होता है—कर्तरि कर्तारौ कर्तारः, वैसे ही सुकृति सुकृतौ सुकृतः में भी प्राप्त होता है । घि को ङित् परे गुण—वह (=घेर्ङिति ७।३।१११ से विहित गुण) जैसे यहां होता है—अग्नये वायवे, वैसे ही अग्निचिते सोमसुते में भी प्राप्त होता है । उ को गुण—वह (=ओर्गुणः ६।४।१४६ से विहित गुण) जैसे यहां होता है—बाभ्रव्यः माण्डव्यः, वैसे ही सुश्रुत्—सौश्रुतः में भी प्राप्त होता है ।

विवरण—'इङ्मात्रस्य'—मात्र शब्द कृत्स्न अर्थ में है । सब इक् को, चाहे वह अन्त में हो चाहे अनन्त में । अङ्गस्य और इकः दोनों षष्ठियां क्रमशः विशेषण-विशेष्य रूप से सम्बद्ध होती हैं । अतः अङ्ग का जो इक्, चाहे वह कहीं हो, उसे गुण वृद्धि होंगे ।

जुसि सार्व······ओर्गुणेषु—इसके समास के विषय में शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है कि—'जुसि' से लेकर 'उः' पर्यन्त शब्दों का समाहारद्वन्द्व है । छान्दस नियम से 'जुसि-स्वाद्योः' षष्ठी में नुम् का अभाव जानना चाहिये । 'गुणेषु' यह पृथक् पद है । इसी का अनु-वाद करते हुए छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड ने लिखा है—वस्तुतः ये सब पद यथासम्भव सूत्र वा

सूत्रैकदेश के अनुकरण हैं। अतः 'जुसि' से लेकर 'गुणेषु' पर्यन्त एक ही पद है। हमारे मत में भी यही पक्ष उचित है। **ह्रस्वस्य गुणः**—यद्यपि इस सूत्र में **ह्रस्वस्य** स्थानी का निर्देश है, तथापि **इको गुणवृद्धी** के **अलोऽन्त्यस्य** का अपवाद होने से अन्त्य ग्रहण उपस्थित नहीं होगा। अतः **ह्रस्वान्तस्य अङ्गस्य गुणो भवति** रूप अर्थ होगा ही नहीं। तब **ह्रस्वस्य** पद उपस्थित **इकः** का विशेषण होगा—**अङ्गस्य ह्रस्वस्य इको गुणो भवति**=अङ्ग के ह्रस्व इक् को गुण हो। ह्रस्व ग्रहण दीर्घ ईकार ऊकार की निवृत्ति के लिये होगा। इसी प्रकार **ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः** (७।३।११०) में **ऋतः**, और **ओर्गुणः** (६।४।१४६) में 'ओः' निर्देश के विषय में भी जानना चाहिये। **घेर्ङिति** (७।३।१११) में इकारान्त उकारान्त की घि संज्ञा होने पर तो **इकः** की उपस्थिति होने पर भी कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि अग्निचित् सोमसुत् की घि संज्ञा ही नहीं होती। पक्षान्तर में जब इकार उकार वर्ण की घि संज्ञा होगी, तब **इकः** की उपस्थिति होने पर **अग्निचिते सोमसुते** में अनन्त्य इकार उकार को भी गुण प्राप्त होता है। **सुश्रुत्—सौश्रुतः**—यहां दोषनिदर्शन उदाहरण **सौश्रुतः** है। 'सुश्रुत्' का ग्रहण **सौश्रुतः** में तकारान्त प्रकृति के निदर्शनार्थ है। यद्यपि 'सुश्रुत' अकारान्त से **अत इञ्** (४।१।९५) से इञ् होकर—**सौश्रुतिः** रूप बनेगा, तकारान्त प्रकृति का स्वतः परिज्ञान होने से 'सुश्रुत्' का ग्रहण व्यर्थ है, तथापि **प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली** (वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड १४।३) के समान **क्वचिद् अपवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तते** नियम से 'सौश्रुतः' प्रयोग में अकारान्त से अण् हुआ है अथवा तकारान्त से इस सन्देह की निवृत्ति के लिये भाष्य में तकारान्त प्रकृति का परिज्ञान कराने के लिये सुश्रुत् का उपादान किया है।

[भाष्यम्] नैष दोषः।

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थम् ॥६॥

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थं भविष्यति—'पुगन्तलघूपधस्यैवानन्त्यस्य, नान्यस्याऽनन्त्यस्य' इति।

प्रकृतस्यैव नियमः स्यात्। किं च प्रकृतम्? 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति। तेन भवेदिह नियमान्न स्यात्—'ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम्' इति। ह्रस्वाद्योर्गुणस्त्वनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति।

अथाप्येवं नियमः स्यात्—'पुगन्तलघूपधस्य सार्वधातुकार्धधातुकयोरेव' इति। एवमपि सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति—'ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम्' इति।

अथाप्युभयतो नियमः स्यात्—'पुगन्तलघूपधस्यैव सार्वधातुकार्धधातुकयोः'। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोरेव पुगन्तलघूपधस्य' इति। एवमप्ययं जुसि गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति—'अनेनिजुः पर्यवेविषुः' इति॥

व्याख्या—यह दोष नहीं है।

पुगन्तलघूपध का ग्रहण अनन्त्य के नियमार्थ हो जायेगा।

पुगन्तलघूपध (७।३।८६ में) का ग्रहण अनन्त्य के नियम के लिये हो जायेगा—'पुगन्तलघूपध को ही अनन्त्य [इक्] को [गुण वृद्धि होवें], अन्य अनन्त्य को न होवें।'

यह नियम प्रकृत का ही होगा। क्या प्रकृत है? 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'। इससे [1]यहां (=सार्वधातुकार्धधातुक परे पुगन्तलघूपध का) नियम होगा [अर्थात् सार्वधातुक आर्धधातुक परे किसी को गुण होवे, तो पुगन्त और लघूपध को ही होवे], इससे यहां नहीं होगा—ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम्। ह्रस्वादि गुण [का नियम नहीं होगा, वह गुण] अनियत है, वह अनन्त्य [इक्] को भी प्राप्त होता है।

और यदि इस प्रकार से नियम होवे—'पुगन्तलघूपध को सार्वधातुक आर्धधातुक परे ही [गुण होवे]'। इस प्रकार (=पुगन्तलघूपध के नियन्त्रित होने से) भी सार्वधातुक आर्धधातुक परे गुण अनियत है, वह अनन्त्य [इक्] को भी प्राप्त होता है—'ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम्'।

और यदि दोनों ओर से नियम होवे—'पुगन्तलघूपध को ही सार्वधातुक आर्धधातुक परे [गुण होवे]', और 'सार्वधातुक आर्धधातुक परे ही पुगन्तलघूपध को [गुण होवे]'। इस प्रकार (=उभयतः नियम मानने पर) भी जुस् परे कहा गया गुण अनियत है, वह अनन्त्य [इक्] को भी प्राप्त होता है—अनेनिजुः पर्यवेविषुः। [यहाँ सार्वधातुक भी परे है, और लघूपध अङ्ग भी है]।

विवरण—अनन्त्यनियमार्थम्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) में **इकः** पद की उपस्थिति से अर्थ होगा—सार्वधातुक आर्धधातुक परे अङ्ग के इक् को गुण हो। इससे अनन्त्य=उपधा में वर्तमान इक् (भिद्=भेत्ता) को भी गुण हो ही जायेगा। अतः पुगन्तलघूपध ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि सार्वधातुक आर्धधातुक परे यदि अनन्त्य को गुण होवे, तो पुगन्तलघूपध को ही होवे। यदि कहो कि—**पुगन्तस्य अङ्गस्य लघूपधस्य चाङ्गस्य गुणो भवति** अर्थ में पुगन्त अङ्ग को गुण **ह्लेपयति** में चरितार्थ है, लघूपध अङ्ग को गुण विधान से लघूपध भिद् के दकार को गुण प्राप्त है। इस प्रकार विधेय होने पर पुगन्तलघूपध ज्ञापक कैसे होंगे? इसका भाव यह है कि वार्तिककार ने यहां अङ्ग के **पुकि अन्तः पुगन्तः** (=पुक् परे जो अन्त इक्) और **लघ्वी चासावुपधा** (=लघुसंज्ञक जो उपधा इक्) अर्थ मानकर ज्ञापक दिया है। इस अर्थ में पुगन्तलघूपध ग्रहण का कोई प्रयोजन (विधेय) न होने से व्यर्थ होकर ज्ञापक ही होते हैं। **पुकि अन्तः** समास में भी **दापयति** में गुण की चरितार्थता नहीं कह सकते, क्योंकि आकार को गुण अकार होकर पुनः णिच् परे **अत उपधायाः** (७।२।११६) से वृद्धि हो जायेगी। यदि कहो कि इस प्रकार तो चक्रक-अव्यवस्था दोष होगा—पुनः गुण पुनः वृद्धि, पुनः गुण पुनः वृद्धि। यह भी ठीक नहीं, **चक्रकेऽविष्टतो व्यवस्था** (=चक्रक दोष होने पर इष्टरूप की सिद्धि हो जाने पर पुनः प्राप्त होनेवाला कार्य नहीं होता)। यह भाष्यकार ने निर्णय किया है (द्र०—महा० १।३।६०)। इसलिये 'दापयति' में पुक् परे प्राप्त गुण को वृद्धि हो जाने से गुण करना व्यर्थ होता है। अतः **दापयति** विधेय न होने से पुगन्त ग्रहण भी ज्ञापनार्थ है।

१. प्रकृतस्यैव नियमः स्यात्—पुगन्तलघूपधस्यैव सार्वधातुकार्धधातुकयोः।

अथाप्येवं नियमः स्यात्—कैयट ने लिखा है कि—'**अनन्त्यस्य विधिर्वा** इस परिभाषा का आश्रयण न करके सामान्यरूप से अप्रकृत गुण का भी नियम करने पर' ऐसा तात्पर्य है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि—'नियमार्थ एव का सम्बन्ध कहीं भी जोड़ा जा सकता है, इसलिये अव्यवहित-व्यवहित-साधारण्य से नियम होता है।'

अथाप्युभयतः—पर कैयट ने लिखा है कि—'एकवाक्य में दो नियमों की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये उभयतो नियम प्राप्त ही नहीं होगा। **अभ्युपेत्यवादेन** अर्थात् उभयतो नियम की प्राप्ति स्वीकार करके भी दोष दर्शाया है'। इस पर भी शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है कि—'भाष्यकार ने **ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्** (३।२।८७) के भाष्य में एकवाक्य में भी अनेकविध नियम माने हैं। अतः कैयट का लिखना कि एकवाक्य में दो नियम नहीं हो सकते, अशुद्ध है। और इसी कारण अभ्युपेत्यवाद मानना भी चिन्त्य है। यहां भाष्यकार ने अनन्त्य इक् को गुण की प्राप्ति का जो **अनेनिजुः पर्यवेविषुः** उदाहरण दिया है, वह उपलक्षणरूप है। **हे बुद्धे बुद्धये बुद्धयः** में भी अनन्त्य इक् को गुण प्राप्त होता है।' कैयट के ग्रन्थ में यहां **हे पिचव्य** उदाहरण भी मिलता है। इस पर नागेश ने लिखा है—'पिचव्य' में यत् परे उवर्णान्त अङ्ग के इक् को गुण प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ मानकर कैयट ने **हे पिचव्य** में दोष दर्शाया है। परन्तु ऐसा अर्थ करने पर 'सौश्रुतः' यहां भी गुण प्राप्त होता है।' भाष्यकारीय व्याख्या के अनुकूल न होने से पिचव्य उदाहरण और उक्त व्याख्या चिन्त्य है। इसीलिये कैयट के भाष्यप्रदीप के कई ग्रन्थों में **हे पिचव्य** उदाहरण नहीं है। नागेश का चिन्तन युक्त है। यदि कैयट के ग्रन्थ में **हे पिचव्य** उदाहरण होता, तो कैयट के प्रतिद्वन्द्वी शिवरामेन्द्र सरस्वती कैयट की आलोचना करने से न चूकते। भट्टोजिदीक्षित के पास जो कैयटकृत भाष्यप्रदीप का ग्रन्थ था, उसमें **हे पिचव्य** उदाहरण था। अतएव दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ (पृष्ठ ११७) में इस प्रसङ्ग में **हे पिचव्य** का निर्देश और व्याख्यान किया है।

[भाष्यम्] एवं तर्हि—नायं तच्छेषः, नापि तदपवादः। अन्यदेवेदं परिभाषान्तरमसंबद्धमनया परिभाषया। परिभाषान्तरमिति च मत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति—"नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन" इति। यदि चायं तच्छेषः स्यात्तं नैव तस्याऽयुक्तो विप्रतिषेधः। अथापि तदपवादः, उत्सर्गापवादयोरप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। तत्र नियमस्यावकाशः—'राज्ञः क च [४।२।१३९] राजकीयम्'। 'इको गुणवृद्धी' इत्यस्यावकाशः—'चयनं चायको लवनं लावकः' इति। इहोभयं प्राप्नोति—'मेद्यति मार्ष्टि' इति। इको गुणवृद्धी इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥

व्याख्या—अच्छा तो—न यह उस [='अलोऽन्त्यस्य'] का शेष है, और ना ही उसका अपवाद है। यह अन्य [स्वतन्त्र] ही परिभाषान्तर है, इस [=अलोऽन्त्यस्य] परिभाषा से असम्बद्ध। परिभाषान्तर मानकर ही क्रोष्ट्रीय पढ़ते हैं—'नियम (=अलोऽन्त्य) से इक् के स्थान में गुण वृद्धि विप्रतिषेध से होते हैं।' यदि यह उस [=अलोऽन्त्य] का शेष होवे, तो उसी (=अलोऽन्त्य) से उसका (=उसके एकदेश—इको गुणवृद्धी का) विप्रतिषेध अयुक्त होवे। और यदि यह उस [=अलोऽन्त्य] का अपवाद होवे, तो भी उत्सर्ग और अपवाद का विप्रति-

षेध अयुक्त होवे। वहां नियम (=अलोऽन्त्य) को अवकाश है—राज्ञः क च (४।२।१३९) राजकीयम् में [अर्थात् यहां अलोऽन्त्यस्य के नियम से ककारादेश राजन् के अन्त्य नकार को होता है]। 'इको गुणवृद्धी' को अवकाश है—चयनम् चायकः, लवनम् लावकः [यहां इगन्त अङ्ग को गुण हो जाता है]। यहां दोनों (=अलोऽन्त्यस्य और इको गुणवृद्धी) प्राप्त होते हैं—मेद्यति मार्ष्टि। [यहां अलोऽन्त्यस्य के नियम से मिद् के अन्त्य दकार को गुण, और मृज् के अन्त्य जकार को वृद्धि प्राप्त होती है, और इको गुणवृद्धी के नियम से मिद् के इकार को गुण और मृज् के ऋकार को वृद्धि प्राप्त होती है।] इक् के स्थान में गुण वृद्धि होते हैं, विप्रतिषेध से।

विवरण—'**नियमात्**—नागेश ने लिखा है कि—'अलोऽन्त्य' परिभाषा की 'नियम' संज्ञा पूर्वाचार्यों की है। **क्रोष्ट्रीयाः**—किसी 'क्रोष्टृ' (=क्रोष्टा) नाम के आचार्य ने पाणिनीय शास्त्र पर वार्तिकों की रचना की थी। यह इस वचन से सिद्ध है (द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३१७) **क्रोष्टुनाऽऽचार्येण प्रोक्तानि वार्तिकान्यधीते वेद वा क्रोष्ट्रीयः।** **चयनम्**—'**सार्वधातुकार्धधातुकयोः**' में अलोऽन्त्य परिभाषा का प्रयोजन न होने से उपस्थिति नहीं होती। अतः यह गुण सावकाश है। **चायकः**—यहां **अचो ञ्णिति** (७।२।११५) में अच् ग्रहण होने से इक् की उपस्थिति नहीं होगी। अतः यहां वृद्धि के लिङ्ग से 'इकः' की उपस्थिति होने पर पूर्ववत् '**अच् के इक्**' ऐसा अर्थ करने से वृद्धि को अवकाश जानना चाहिये।

[भाष्यम्] नैष युक्तो विप्रतिषेधः। 'विप्रतिषेधे परम्' इत्युच्यते। पूर्वश्चायं योगः, परो नियमः। इष्टवाची परशब्दः। 'विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवति' इति।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः। न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः। नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः। किं तर्हि? असंभवोऽपि। स चास्त्यात्रासंभवः। कोऽसावसंभवः? इह तावद्—'वृक्षेभ्यः प्लक्षेभ्यः' इति। एकः स्थानी, द्वावादेशौ। न चास्ति संभवो यदेकस्य स्थानिनो द्वावादेशौ स्याताम्। इहेदानीं—'मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति' इति द्वौ स्थानिनौ, एक आदेशः। न चास्ति संभवो यद् द्वयोः स्थानिनोरेक आदेशः स्याद्, इत्येषोऽसंभवः। सत्येतस्मिन्नसंभवे युक्तो प्रविप्रतिषेधः॥

व्याख्या—[इष्टसिद्धि के लिये] यह विप्रतिषेध उचित नहीं है। 'विप्रतिषेध में पर होता है' (१।४।२) ऐसा कहा है। और यह (=इको गुणवृद्धी) सूत्र पूर्व है, नियम (=अलोऽन्त्यस्य) परे है। [विप्रतिषेधे परं कार्यम् सूत्र में] पर शब्द इष्टवाची है। 'विप्रतिषेध में जो इष्ट है, वह होता है'।

इस प्रकार भी विप्रतिषेध अयुक्त है। विप्रतिषेध तो दो कार्यों से युक्त होता है। यहां एक [स्थानी] दो कार्यों से युक्त नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि विप्रतिषेध दो कार्यों से युक्त ही होवे। तो क्या है? असंभव होना भी [विप्रतिषेध होता है]। वह असम्भव यहां (='मेद्यति' 'मार्ष्टि' में) है। वह असम्भव क्या है? पहले यहां [सिद्ध उदाहरण में—वृक्षेभ्यः प्लक्षेभ्यः। यहां एक (=अकार) स्थानी है, दो (=दीर्घ और एकार) आदेश हैं। यह सम्भव

नहीं है कि एक स्थानी (=अकार) के स्थान में दो (=दीर्घ और एकार) आदेश होवें।
अब यहां—मेद्यति मेद्यत: मेद्यन्ति में दो स्थानी (=इकार और दकार) हैं, और एक
(गुण) आदेश है। यह सम्भव नहीं कि दो स्थानियों के स्थान में एक आदेश होवे। यह
असम्भव है। इस असम्भव के होने पर विप्रतिषेध युक्त है।

विवरण—[इको गुणवृद्धी और अलोऽन्त्यस्य की] पूर्वपरता **यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्**
पक्ष में जाननी चाहिये। **कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्** पक्ष में एक ही सूत्र में दोनों परिभाषाओं
के उपस्थित होने पर पौवापर्यभाव नहीं होगा, ऐसा कैयट का मन्तव्य है। इस पर नागेश
ने लिखा है कि कार्यकाल पक्ष में भी पाणिनि का उच्चारणरूप पाठकृत पौर्वापर्य तो रहेगा
ही। अर्थात् कार्यकाल पक्ष में जिस सूत्र में दोनों परिभाषाएं उपस्थित होंगी, वहां **इको गुण-
वृद्धी अलोऽन्त्यस्य** इस पाणिनीय पूर्वापर आनुपूर्वी से ही उपस्थित होंगी, अत: यहां भी पौर्वा-
पर्य है ही। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कहा है कि **इको गुणवृद्धी** परिभाषा का कार्यकाल पक्ष
सम्भव ही नहीं है, यह पूर्व कह चुके हैं।

द्विकार्ययोग:—'**द्वे कार्ये समाहृते द्विकार्यम्, तस्य योगो द्विकार्ययोग:**। इस समास में
'**एकस्मिन्**' पद का अध्याहार करना चाहिये।' यह शिवरामेन्द्र सरस्वती का कथन है। वैद्यनाथ
पायगुण्ड ने इस समास में **अकारान्तोत्तरपदो द्विगु: स्त्रियां भाष्यते**(महा० २।४।३०)के अनुसार
स्त्रीत्वप्राप्ति दोष दिया है, वह अकिञ्चित्कर है। **षण्मासाण्ण्यच्च** (५।१।८२) के ज्ञापन से
अथवा पात्रादिगण के आकृतिगण होने से स्त्रीत्व का अभाव हो जायेगा। कैयट ने **द्वाभ्यां
कार्याभ्यां योगोऽस्य स्थानिन:** ऐसा त्रिपद बहुव्रीहि समास माना है। इस पक्ष में **विप्रतिषेध**
पद के साथ सामानाधिकरण्य नहीं होगा—**द्विकार्ययोगो विप्रतिषेध:**। अत: विप्रतिषेध में लक्षणा
से **विप्रतिषेध विषयवाला** अर्थ करना चाहिये। शिवरामेन्द्र ने कैयट की कल्पना को निरर्थक
और नितरां क्लिष्ट कल्पना कहा है।

असम्भवोऽपि—'अपि' शब्द से द्विकार्ययोग का भी समुच्चय जानना चाहिये—विप्रति-
षेध स्थल में कहीं-कहीं द्विकार्ययोग भी होता हैं। **वृक्षेभ्य: प्लक्षेभ्य:**, यहां 'क्ष' उत्तरवर्ती
अकार को **सुपि च** (७।३।१०२) से दीर्घत्व, और **बहुवचने झल्येत्** (७।३।१०३) से एत्व दो
कार्य प्राप्त होते हैं। इसमें असम्भवता यह है कि एक 'अ' के स्थान में दो 'आ' 'ए' आदेश
हो ही नहीं सकते। यह सीधी सी असम्भवता[1] है। कैयट ने लिखा है—'यञ्परे दीर्घत्व और
झल् परे एत्व का विधान है। यहां अपने-अपने निमित्त से दोनों का आन्तर्य सम्भव नहीं है।'
शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार असम्भवता दर्शाई है—'पौर्वापर्य से (=पहले **सुपि च** की
प्रवृत्ति से, पीछे **बहुवचने झल्येत्** की प्रवृत्ति से, अथवा पहले **बहुवचने झल्येत्** की प्रवृत्ति से,
पीछे **सुपि च** की प्रवृत्ति से) प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि जो भी पहले प्रवृत्त होगा, उससे
दूसरे की प्रवृत्ति के विषय (=अत्व) का अपहरण हो जायेगा। **सुपि च** से दीर्घ करने पर
अत् न होने से **बहुवचने झल्येत्** की प्रवृत्ति नहीं होगी, और **बहुवचने झल्येत्** से एत्व कर

१. तुलना करो—द्वयोस्तुल्यबलयोरेक: प्रेष्यो भवति। तमुभौ युगपत् प्रेषयत:। नाना-
दिक्षु च कार्ये भवत:। तदा यद्यसावविरोधार्थी भवति, उभयोर्न करोति। महा० १।४।२॥

लेने पर अत् के न होने से **सुपि च** की प्रवृत्ति नहीं होगी। युगपत् प्रवृत्ति भी नहीं होगी, विभक्ति के दोनों आदेशों का आन्तर्य सम्भव न होने से।' दोनों की कल्पना क्लिष्ट है।

इहेदानीम्—मेद्यति—मिदेर्गुणः (७।३।८२) सूत्र में **मिदः** एक षष्ठी है। इसे यदि अवयवषष्ठी मानें, तो **'इकः'** की उपस्थिति से मिद् के अवयव इकार को गुण होना चाहिये। और यदि स्थानषष्ठी मानें, तो **अलोऽन्त्यस्य** से अन्त्य दकार को गुण होना चाहिये। यह सम्भव नहीं है कि दोनों के स्थान में एक गुण हो। यह व्याख्यान कैयट के अनुसार है। भाष्य के स्वारस्य से 'मेद्यति' आदि में एककालावच्छेदेन दो स्थानियों के स्थान पर एक आदेश की असम्भवता कही गई है। अतः शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के व्याख्यान का खण्डन करके **मिदेर्गुणः** सूत्र में दोनों परिभाषाओं की युगपद् उपस्थिति करके अवयवषष्ठी मानकर 'मिद् के अवयव इकार को, और मिद् के अवयव अन्त्य दकार को' ऐसा अर्थ किया है। दो स्थानियों में युगपत् षष्ठी होनी आवश्यक है।

द्वयोः स्थानिनोरेक आदेशः—काशिकादि वृत्तिकार **ज्वरत्वरस्रिव्यव** (६।४।२०) आदि सूत्र में दो स्थानी—वकार और उपधा के स्थान में एक ऊठ् आदेश करते हैं, परन्तु वह भाष्य-सम्मत नहीं है। भाष्यकार ने **एकः पूर्वपरयोः** (६।१।८१) सूत्र के भाष्य में भी दो स्थानियों के स्थान में एक आदेश का खण्डन करके **ज्वरत्वर०** में दो स्थानी वकार और उपधा के स्थान पर दो ऊठ् आदेश स्वीकार किये हैं। दशपादीवृत्तिकार ने भी **अवतेष्टिलोपश्च** (दश० उणादि ७।२७) की व्याख्या में भाष्यसिद्धान्त के अनुसार **ज्वरत्वर०** सूत्र में दो ऊठों का ही विधान माना है।

[भाष्यम्] एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। द्वयोर्हि सावकाशयोः समवस्थितयोर्विप्रतिषेधो भवति। अनवकाशश्चायं योगः। ननु च इदानीमेवास्याऽवकाशः प्रक्लृप्तः—चयनं चायको लवनं लावक इति। अत्रापि नियमः प्राप्नोति। नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते। यावता च नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते, ततस्तस्यापवादोऽयं योगो भवति। उत्सर्गापवादयोश्चाऽयुक्तो विप्रतिषेधः। अथापि कथंचित् 'इको गुणवृद्धी' इत्यस्यावकाशः स्याद्, एवमपि यथेह विप्रतिषेधादिको गुणो भवति—मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति इति, एवमिहापि स्यात्—अनेनिजुः, पर्यवेविषुरिति॥

व्याख्या—इस प्रकार भी विप्रतिषेध अयुक्त है। दो सावकाशों और समवस्थितों का विप्रतिषेध होता है। और यह योग (=इको गुणवृद्धी) अनवकाश है। अभी तो इस (=इको गुणवृद्धी) का अवकाश बताया है—चयनम् चायकः, लवनम् लावकः। यहां भी नियम (=अलोऽन्त्यस्य) प्राप्त होता है। इसलिये नियम की अवश्यप्राप्ति में यह (=इको गुणवृद्धी) सूत्र आरम्भ किया है। जबकि नियम की अवश्यप्राप्ति में यह सूत्र आरम्भ किया है, इस कारण उस (=नियम) का अपवाद यह (=इको०) सूत्र होगा। उत्सर्ग और अपवाद का विप्रतिषेध अयुक्त है। और किसी भी प्रकार इको गुणवृद्धी इस सूत्र को अवकाश होवे, फिर भी जैसे यहां विप्रतिषेध से इक् को गुण होता है—मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति, उसी प्रकार यहां भी [इक् को गुण] होवे—अनेनिजुः पर्यवेविषुः।

विवरण—नाप्राप्ते नियमे—यदि 'इको गुणवृद्धी' सूत्र न होवे, तो **ची अन, ची अक** यहां गुणवृद्धिविधायक सूत्रों के पास किस की उपस्थिति हो ? इसका उत्तर यही होगा कि **अलोऽन्त्यस्य** परिभाषा सम्बद्ध होगी। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अलोऽन्त्य नियम की अवश्यप्राप्ति में **इको गुणवृद्धी** का आरम्भ किया है। **सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति** पक्ष में नियम का अपवाद **इको गुणवृद्धी** को माना है। **अथापि कथञ्चित्**—**सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४); **अचो ञ्णिति** (७।२।११५) में अलोऽन्त्य नियम के व्यर्थ होने से अनुपस्थिति स्वीकार करने पर **चयनं चायकः** में गुणवृद्धी को अवकाश होता है। यहां कैयट ने उपसंहार किया है—'इस प्रकार क्रोष्ट्रीय मत और असम्बद्ध परिभाषान्तर पक्ष दोनों ठीक नहीं है।' शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कहा है कि—'परिभाषान्तर पक्ष के अन्तर्गत ही क्रोष्ट्रीय वार्तिक है। अतः उसके मत का पृथक् रूप से निर्देश करना चिन्त्य है।' शिवरामेन्द्र का लिखना युक्त है। क्योंकि भाष्यकार ने स्वयं कहा है—**परिभाषान्तरं मत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति।** इसलिये नागेश का क्रोष्ट्रीय मत को प्रधान मानकर परिभाषान्तर पक्ष को उसका उपजीव्य कहना भी चिन्त्य है।

[भाष्यम्] एवं तर्हि—'वृद्धिर्भवति गुणो भवति' इति यत्र ब्रूयाद् 'इकः' इत्येतत्तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्। किं कृतं भवति ? द्वितीया षष्ठी प्रादुर्भाव्यते। तत्र कामचारः—गृह्यमाणेन वेकं विशेषयितुम्, इका वा गृह्यमाणम्। यावता कामचारः, इह तावन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेषु गृह्यमाणेनेकं विशेषयिष्यामः—'एतेषां य इग्' इति। इहेदानीं जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्विका गृह्यमाणं विशेषयिष्यामः—एतेषां गुणो भवति, 'इकः' इगन्तानाम् इति ॥

व्याख्या—अच्छा तो—'वृद्धि होती है, गुण होता है' ऐसा जहां कहे, वहां 'इकः' यह पद उपस्थित जानना चाहिये। इससे क्या होता है ? दूसरी षष्ठी प्रादुर्भूत की जाती है [एक गृह्यमाण 'अङ्गस्य' आदि, जो प्रकरण में उपलब्ध है, दूसरी 'इकः'। दोनों के समान-विभक्तिक होने से विशेषण-विशेष्य भाव होगा]। उस (=विशेषण-विशेष्य भाव में) कामचार होता है—गृह्यमाण [षष्ठी] से इक् को विशेषित करने के लिये, अथवा इक् से गृह्यमाण [षष्ठी] को। जब कामचार है, तो यहां—मिदि-मृजि-पुगन्तलघूपध-ऋच्छि-दृशि-क्षिप्र-क्षुद्रों में गृह्यमाण से इक् को विशेषित करेंगे—'इन (=मिदि आदि) का जो इक्'। और यहां—जुसि-सार्वधातुकार्धधातुक-ह्रस्वादि ओर्गुणों में इक् से गृह्यमाण को विशेषित करेंगे—इन (=जुस् आदि परे अङ्ग) को गुण होता है, 'इकः'=इगन्तों को, अर्थात् इगन्त अङ्गों को।

विवरण—'**इकः इति**' पदोपस्थिति पक्ष में **इको गुणवृद्धी** सूत्र में **इकः** षष्ठ्यन्त पद के **अनुकरण** का प्रथमा का एकवचन है। प्रथमान्त मानने पर ही 'इकः' पद की उपस्थिति होगी[1] **और** वहां षष्ठ्यन्त 'इकः' पद सूत्र का अवयव बनेगा। यथा—मिदेः गुणः शिति अङ्गस्य इकः, **जुसि च**—जुसि गुणः अङ्गस्य इकः। इस प्रकार सूत्रावयव बनने पर विशेषण-विशेष्यभाव में कामचार होगा।

१. गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी उच्येते तत्र 'इकः' इति पदमुपस्थितं द्रष्टव्यम्।

कैयट ने लिखा है कि—'पदोपस्थिति पक्ष में भी अलोऽन्त्य-परिभाषा की उपस्थिति मानकर गुणवृद्धिविधायक प्रदेशों में दोनों के गुणभूत होने से सम्बन्ध के अभाव से गुणवृद्धि-विधायक प्रदेशों के वाक्यों के पर्यालोचन से वाक्यार्थ की अवस्थिति होती है।' यह चिन्त्य है। पदोपस्थिति पक्ष में **अलोऽन्त्यस्य** की उपस्थिति होती ही नहीं। जहां इक् से गृह्यमाण को विशेषित करेंगे,वहां **येन विधिस्तदन्तस्य**–'येन विशेषणेन यो विधिरारभ्यते स तदन्तस्य भवति' नियम से **'इकः'** का अर्थ **'इगन्तस्य'** होगा। कैयट के 'दोनों (='अन्त्यस्य', 'इकः') के गुण= गौण होने से परस्पर सम्बन्ध नहीं होगा' लेख का खण्डन शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार किया है—**'गुणानां च परार्थत्वाद् असंबन्धः समत्वात्'** (=गुणों=गौणों का परस्पर में संबन्ध नहीं होता समान होने से) इस मीमांसा (३।१।२२) के न्याय का वैयाकरणों के द्वारा आदृत करने के अनौचित्य से।' शिवरामेन्द्र सरस्वती का मीमांसक न्याय को वैयाकरणों द्वारा विना हेतु दर्शाये अनादरणीय कहना चिन्त्य है। यह तो लोक-विज्ञात अथवा समर्थित न्याय है। राजा के सेनापति और कोषाध्यक्ष को बुलाओ। यहां राजा की अपेक्षा सेनापति और कोषाध्यक्ष दोनों गौण हैं, अतः इन दोनों का परस्पर विशेषण-विशेष्य रूप सम्बन्ध नहीं होता।

[भाष्यम्] अथवा सर्वत्रैवात्र स्थानी निर्दिश्यते। इह तावन्मिदेरित्यविभक्तिको निर्देशः—मिद एः मिदेरिति। अथवा षष्ठीसमासो भविष्यति—मिद—इः मिदिः, मिदेरिति। 'पुगन्तलघूपधस्य' इति, नैवं विज्ञायते—'पुगन्तस्याङ्गस्य लघूपधस्य च' इति। कथं तर्हि? पुकि अन्तः पुगन्तः, लघ्वी उपधा लघूपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधम्, पुगन्तलघूपधस्येति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। अङ्गविशेषणे हि सतीह प्रसज्येत—भिनत्ति छिनत्तीति। ऋच्छेरपि प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्—ऋच्छति ऋ ॠ ऋृताम्='ऋच्छत्यृताम्' इति। दृशेरपि योगविभागः करिष्यते—'उरङि गुणः'। उः अङि गुणो भवति। ततो 'दृशेः', दृशेश्चाऽङि गुणो भवति, 'उः' इत्येव। क्षिप्रक्षुद्रयोरपि—'यणादिपरं गुणः' इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति, तस्यैतत्प्रयोजनम्–'इको यथा स्यादनिको मा भूद्' इति॥

व्याख्या—अथवा सर्वत्र ही यहां स्थानी का निर्देश किया है। यहां मिदेः यह अविभक्तिक निर्देश है—मिद् एः=मिदेः (=मिद् की इकार को) [गुण होता है]। अथवा षष्ठीसमास हो जायेगा—मिदः इः=मिदिः—मिदेः। पुगन्तलघूपस्य, यहां ऐसा नहीं जाना जाता है—'पुगन्त अङ्ग को और लघूपध [अङ्ग] को।' तो कैसे जाना जाता है? पुक् परे जो अन्त वह पुगन्त, लघ्वी जो उपधा वह लघूपधा-पुगन्तलघूपध को। ऐसा [विग्रह] अवश्य जानना चाहिये। [पुगन्तलघूपध से] अङ्ग को विशेषित करने पर यहां भी [गुण] प्राप्त होगा—भिनत्ति छिनत्ति। ['भिद् श्नम् तिप्'='भिनत् तिप्' यहां श्नम् के मध्य में प्रवेश होने से तिप् परे भिनत् की अङ्ग संज्ञा होगी, और यह लघूपध अङ्ग है। इसके इक् को गुण प्राप्त हो जायेगा।] ऋच्छेः यह भी प्रश्लिष्ट निर्देश है—ऋच्छति ऋ ॠ ऋृताम्=ऋच्छत्यृताम्। [प्रश्लिष्ट निर्देश होने से ऋच्छति के ऋकार को गुण हो जायगा।] दृश का भी योगविभाग करेंगे—'उरङि गुणः'। उवर्णान्त अङ्ग को गुण होता है, अङ् परे रहने पर। पश्चात् 'दृशेः', दृश् को भी अङ् परे गुण होता है, 'उः' की अनुवृत्ति होने से

[ऋकार को गुण होता है]। क्षिप्र-क्षुद्र में भी गुण—**यहां भी 'यणादिपरं गुणः' (=यणादि पर भाग लुप्त होता है, अवशिष्ट को गुण होता है) इतने से सिद्ध होने पर (=गुण के सर्वादेश सिद्ध होने पर) जो पूर्व ग्रहण किया है, उसका यह प्रयोजन है कि—इक् के स्थान में ही [गुण] होवे, अनिक् के स्थान में न होवे।'**

विवरण—'अथवा'—तच्छेष पक्ष को पुनः उपस्थित करने का कारण शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'पदोपस्थिति (=इकः इत्युपतिष्ठते) पक्ष के भी सूत्राक्षरानुसारी न होने से अध्याहार-सापेक्ष के आश्रयण में कोई चमत्कार सूत्रकार का नहीं दिखाया। इस अस्वारस्य के कारण तच्छेष पक्ष को ही युक्त मानकर उसमें उपस्थापित दोषों का परिहार करते हैं'। शिवरामेन्द्र सरस्वती की यह कल्पनामात्र है। **अचश्च** (१।२।२८) सूत्र में भी इसी प्रकार पदोपस्थिति पक्ष को सिद्धान्तरूप से उपस्थित करने से यहां भी पदोपस्थिति पक्ष ही सिद्धान्त है। **अथवा** के द्वारा अभ्युपगम सिद्धान्त के अनुसार तच्छेष पक्ष के दोषों का परिहार भाष्यकार दिखा रहे हैं।

पुगन्तलघूपधस्य—यहां तच्छेष पक्ष में इक्परिभाषा की उपस्थिति न होने और लघूपधगुण के इग्लक्षण न होने से **भिन्नम् छिन्नम्** में **क्ङिति च** से गुण का निषेध प्राप्त नहीं होगा। इसका समाधान यह है कि **त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः** (३।२।१४०) में 'क्नु' के किद्विधान के ज्ञापक से गुण का निषेध हो जायेगा। अथवा कित्करण व्यर्थ होता है।

ऋच्छति ऋ ऋ़ताम्—निर्देश 'ऋ' के प्रश्लेष निदर्शनार्थ है, यह **'ऋ़ताम्'** के विभक्ति निर्देश से स्पष्ट है। विग्रह इस प्रकार जानना चाहिये—**ऋच्छतेर् आ** (ऋकारस्य प्रथमैकवचनम्)=**ऋच्छत्या, ऋच्छत्या च ऋ़तश्च=ऋच्छत्यृतः, तेषाम् ऋच्छत्यृताम्।** काशिकादि व्याख्यानानुसार यहां 'ऋ' धातु का ग्रहण मानकर भाष्य में **ऋच्छति ऋ ऋ ऋ़ताम्** पाठ की कल्पना की है। इसका शिवरामेन्द्र सरस्वती ने प्रकारान्तर से **आरतुः आरुः** प्रयोगों की सिद्धि दर्शाकर सयुक्तिक खण्डन किया है। दो **ऋ ऋ** पाठ होने पर विग्रह होगा—**ऋच्छतेर् आ=ऋच्छत्या,** ऋच्छत्या च आ च ऋ़तश्च=**ऋच्छत्यृतः, तेषाम् ऋच्छत्यृताम्।** भट्टोजिदीक्षित ने **आरिवान्—'सर्वा भ्रूणान्यारुषी'** (ऋ० १०।१५५।२) में प्रयुक्त—'अरिवस्' से निष्पन्न **आरुषी** की सिद्धि के लिये एक 'ऋ' का और प्रश्लेष माना है। उनकी युक्ति है कि सूत्र में जो 'ऋ' का निर्देश है वह **आरतुः आरुः** में **असंयोगाल्लिट् कित्** (१।२।५) से अतिदिष्ट कित्त्व से प्रतिषिद्ध गुण के प्रतिप्रसव के लिये है। 'आरिवान्' में लिट्स्थानीय क्वसु में दो कित्त्व हैं—आतिदेशिक और औपदेशिक। आतिदेशिक कित्त्व से प्रतिषिद्ध गुण का तो प्रतिप्रसव सूत्र में 'ऋ' के ग्रहण से हो जायेगा। औपदेशिक कित्त्व से जो गुण का निषेध प्राप्त होता है, उसके पुनः प्रसव के लिये एक 'ऋ' का और प्रश्लेष करना चाहिये—**ऋच्छत्या च आ च आ च ऋ़तश्च।** विशेष शिवरामेन्द्र कृत 'सिद्धान्तरत्न' और दीक्षितकृत **'शब्दकौस्तुभ'** में देखना चाहिये। **दृशेरपि योगविभागः—ऋदृशोऽङि गुणः** (७।४।१६) सूत्र में **'ऋ'** को अविभक्त्यन्त अथवा लुप्तषष्ठीक पद मानकर वाक्यभेद और योगविभाग से भाष्यकार ने व्याख्या दर्शाई है—**उर्ऋङ् ··· दृशेः ···। यणादिपरं गुणः—स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः** (६।४।१५६) में से **'पूर्वस्य'** ग्रहण हटाने पर सूत्र का अर्थ होगा—स्थूल आदि शब्दों को इष्ठन् आदि के परे रहते

पर यणादि जो पर भाग (युव ह्रस्व में दो यणादि भाग होने से पूर्व यणादि का लोप न होवे) उसका लोप होता है, और गुण हो जाता है। इस से **'स्थूल-दूर-युव'** में से क्रमशः ल-र-व का लोप होने पर अवशिष्ट स्थू-दू-यु को **अलोऽन्त्यस्य** के नियम से उकारों को गुण हो जायेगा। 'ह्रस्व' में केवल यणादि भाग 'व' का लोप होगा। 'क्षिप्र-क्षुद्र' में भी 'र' का लोप होने पर **अलोऽन्त्यस्य** के नियम से 'प् द्' को गुण हो जायेगा। अतः **'पूर्वस्य'** ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अन्त्य अल् से पूर्व जो इकार उकार हैं, उन्हें ही गुण होवे। इसी अभिप्राय को भाष्यकार ने वस्तुस्थिति के रूप में **'[पूर्व] इक् को [गुण] होवे, [अन्त्य] अनिक् को न होवे'** शब्दों के द्वारा प्रकट किया है। भाष्यकार का भाव यह है कि **'स्थूलदूर०'** सूत्र में 'पूर्वस्य' का सम्बन्ध 'यणादि' के साथ अर्थात् 'यणादि से पूर्व' ऐसा नहीं है। ऐसा सम्बन्ध मानने पर यण् से पूर्व क्षिप्र-क्षुद्र में वर्तमान पकार और दकार को गुण होगा। पकार दकार को गुण की प्राप्ति तो विना 'पूर्वस्य' ग्रहण के भी **अलोऽन्त्यस्य** नियम से सम्भव है ही। अतः 'पूर्वस्य' पद व्यर्थ होकर पूर्वोक्त ज्ञापन करता है। यह भाष्यवचन की प्रकृतानुसारिणी सीधी सी व्याख्या है। टीकाकारों ने इसे इतना उलझा दिया है कि भाष्यकार का अभिप्राय ही लुप्तसा हो गया। जिन्हें गहनमति व्याख्याकारों की ऊंची-ऊंची उड़ानों के दर्शन में रुचि होवे, वे भर्तृहरि और नागेश की व्याख्यायें देखें।

[भाष्यम्] अथ वृद्धिग्रहणं किमर्थम्? किं विशेषेण वृद्धिग्रहणं चोद्यते, न पुनर्गुणग्रहणमपि। यदि किंचिद् गुणग्रहणस्य प्रयोजनमस्ति, वृद्धिग्रहणस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः? अयमस्ति विशेषः। गुणविधौ न क्वचित्स्थानी निर्दिश्यते। तत्रावश्यं स्थानिनिर्देशार्थं गुणग्रहणं कर्तव्यम्। वृद्धिविधौ पुनः सर्वत्रैव स्थानी निर्दिश्यते—'अचो ञ्णिति' [७।२।११५]; 'अत उपधायाः' [७।२।११६]; 'तद्धितेष्वचामादेः' [७।२।११७] इति॥

व्याख्या—**वृद्धि ग्रहण का क्या प्रयोजन है? क्यों विशेषरूप से वृद्धि-ग्रहण का प्रयोजन पूछते हो, गुण-ग्रहण का भी प्रयोजन क्यों नहीं पूछते? यदि गुण-ग्रहण का कुछ प्रयोजन है, तो वही वृद्धि ग्रहण का भी हो सकता है। अथवा यहां (=गुणग्रहण और वृद्धि-ग्रहण में) क्या विशेष है? [वृद्धिग्रहण में] यह विशेष है। गुण की विधि में कहीं पर भी स्थानी का निर्देश नहीं किया। [इसलिये] वहां (=गुणविधि में) [इक्रूप] स्थानी के निर्देश के लिये गुण-ग्रहण अवश्य करना चाहिये [अर्थात् गुण इक् के स्थान पर होवे]। वृद्धि की विधि में तो सर्वत्र ही स्थानी का निर्देश किया है—**अचो ञ्णिति (७।२।११५) [में 'अचः'] अत उपधायाः (७।२।११६) [में उपधाया अतः]; तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) [में अचाम् आदेर् अचः]।

विवरण—'गुणविधौ न'—यदि इसका यथाश्रुत अर्थ स्वीकार किया जाये (जैसा कि हमने ऊपर लिखा है), तो इसे प्रायिक मानना चाहिये। क्योंकि **ओर्गुणः** (६।४।१४६) सूत्र में गुणविधि में उकार स्थानी का निर्देश उपलब्ध होता है। भर्तृहरि आदि ने 'नञ्' का व्यवहित सम्बन्ध माना है—**'गुणविधौ स्थानी च क्वचित् न निर्दिश्यते'**, अर्थात् गुणविधि में जहां स्थानी का निर्देश नहीं है, वहां के लिये गुण ग्रहण है।

[भाष्यम्] अत उत्तरं पठति—

वृद्धिग्रहणमुत्तरार्थम् ॥७॥

वृद्धिग्रहणं क्रियते। किमर्थम्? 'उत्तरार्थम्'। 'क्ङिति' [१।१।५] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति। स वृद्धेरपि यथा स्यात्। कश्चेदानीं क्ङित्प्रत्ययेषु वृद्धेः प्रसङ्गः, यावता 'ञ्णिति' इत्युच्यते? तच्च मृज्यर्थम्। मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते। सा क्ङिति मा भूत्—मृष्टः मृष्टवानिति। इहार्थं चापि मृज्यर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते, सेको यथा स्याद्, अनिको मा भूदिति।

मृज्यर्थमिति चेद् योगविभागात् सिद्धम् ॥८॥

मृज्यर्थमिति चेद् योगविभागः करिष्यते—'मृजेर्वृद्धिरचः'। ततः—'ञ्णिति'=ञिति णिति च वृद्धिर्भवति, 'अचः' इत्येव। यद्यचो वृद्धिरुच्यते—'न्यमार्ट्', अटोऽपि वृद्धिः प्राप्नोति।

अटि चोक्तम् ॥९॥

किमुक्तम्? 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवति' इति ॥

व्याख्या—इसके पश्चात् (=इतनी शङ्का मन में रखकर वार्तिककार) पढ़ते हैं—

वृद्धि का ग्रहण उत्तरार्थ है।

वृद्धि का ग्रहण किया जाता है। किसलिये? 'उत्तरार्थ (=आगे के लिये)'। 'क्ङिति' (१।१।५) से प्रतिषेध कहेंगे। वह वृद्धि को भी जिससे हो जावे। कित् ङित् प्रत्ययों के परे अब कौनसा वृद्धि का प्रसङ्ग है, जबकि [वृद्धि के विधान में] 'ञित् णित् प्रत्ययों के परे' ऐसा कहा जाता है? वह (=वृद्धिग्रहण) 'मृज' के लिये है। मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) [से 'मृज' धातु को वृद्धि] सामान्यरूप से कही है। वह कित् ङित् प्रत्ययों के परे न होवे—मृष्टः मृष्टवान्। और यहां (='इको गुणवृद्धी') के लिये भी 'मृज' के लिये वृद्धि का ग्रहण करना चाहिये। मृज धातु को वृद्धि सामान्यरूप से कही है, वह इक् के स्थान में होवे, अनिक् के स्थान में न होवे।

मृज् के लिये है, यदि ऐसा कहो, तो योगविभाग से सिद्ध हो जायेगा।

मृज के लिये है, यदि ऐसा कहो, तो योगविभाग करेंगे—'मृजेर्वृद्धिरचः'=मृज् को वृद्धि होती है, अच् के स्थान में। उसके पीछे—'ञ्णिति'=ञित् णित् प्रत्ययों के परे वृद्धि होती है, 'अचः'=अच् के स्थान में ही [अर्थात् मृजेर्वृद्धिरचः सूत्र से ञ्णिति सूत्र में अचः की अनुवृत्ति आती है]। यदि [मृज के] अच् के स्थान में वृद्धि कहते हो, तो 'न्यमार्ट्' में अट् को भी वृद्धि प्राप्त होती है। [क्योंकि अर्थवतो ह्यागमस्तद्गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते (महा० १।१।१९) 'अर्थवान् को प्राप्त आगम, जिस को आगम हुआ है, उसके ग्रहण से गृहीत होता है' के नियम से मृज् को कहा हुआ अट् का आगम मृज् के ग्रहण से गृहीत होगा, अतः 'नि अमार्ट्' में अकार मृज का ही है, अतः उसे वृद्धि होगी।]

अट् के विषय में तो कह दिया।

क्या कह दिया? 'अनन्त्य को विकार प्राप्त होने पर अन्त्य के समीप को कार्य होता

है'। [इस से 'अट् को वृद्धि न होकर अन्त्य जो जकार उसके समीपवर्ती ऋकार को वृद्धि होगी।]

विवरण—'अटोऽपि वृद्धिः प्राप्नोति'—यहां कैयट का कहना है कि—'लादेश करने पर अडागम की भी प्राप्ति होती है, और मृज् को वृद्धि की भी। दोनों में परत्व से पहले वृद्धि हो जायेगी। तथा **मृजेर्वृद्धिः** लक्षण एक बार प्रवृत्त हो चुका, अतः अट् करने पर पुनः प्रवृत्त नहीं होगा। इस प्रकार अट् को न तो वृद्धि प्राप्त होती है, और ना ही अगले परिहार की आवश्यकता होती है। अतः आक्षेप और परिहार दोनों विप्रतिषेध की अपेक्षा न रखकर कहे गये हैं।' इसका भाव नागेश ने लिखा है—'ल अवस्था में ही अट् का आगम होता है, इस पक्ष को मानकर भाष्यकार ने आक्षेप और परिहार कहे हैं'। कैयट के 'लक्षण के एक बार प्रवृत्त हो जाने पर: पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी'। इसका प्रत्याख्यान नागेश और शिवरामेन्द्र सरस्वती ने 'लक्ष्यभेद से लक्षणभेद के आश्रयण करने से' कहकर किया है। अर्थात् जब पहले **मृजेर्वृद्धिः** सूत्र प्रवृत्त हुआ था, तब अङ्ग 'मृज्' था। वृद्धि के पश्चात् अट् हो जाने पर 'अमार्ज्' अङ्ग है। अतः लक्ष्यभेद से लक्षण की पुनः प्रवृत्ति होगी। लक्ष्यभेद से लक्षणभेद स्वीकार करने पर कैयट का 'विप्रतिषेध की अपेक्षा न करके आक्षेप-परिहार कहे हैं' कथन भी निरस्त हो जाता है।

'अनन्त्य-विकारे'—यद्यपि यह परिभाषा महा० ६।१।१३ में पठित है, और वहीं इस के प्रयोजनों का खण्डन कर दिया है, फिर भी 'यही इसका प्रयोजन होवे' ऐसा स्वीकार करके परिभाषा का आश्रयण किया है।

वस्तुतः **लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः** (६।४।७१) में अट् को उदात्त कहना इस बात का ज्ञापक है कि अट् की प्राप्ति लादेश आदि करने के पश्चात् होती है। अन्यथा अट् को पूर्व करने पर सतिशिष्ट नियम से लादेश का स्वर प्राप्त होगा। उस अवस्था में अट् को उदात्त करना व्यर्थ होगा। इस अवस्था में वृद्धि के पश्चात् अडागम होगा। **सकृल्लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते**='लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति एक बार होती है' (द्र०—काशिका, **ह य व र ट्** सूत्र) न्याय से एक बार सूत्र की प्रवृत्ति होती है। अडागम करने पर भी लक्ष्यभेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि मृज् अङ्ग को अट् का आगम होने से उसका मृज् के ग्रहण से ही ग्रहण होगा।

[भाष्यम्] वृद्धिप्रतिषेधानुपपत्तिस्त्विक्प्रकरणात् ॥१०॥

वृद्धेस्तु प्रतिषेधो नोपपद्यते। किं कारणम्? 'इक्प्रकरणात्'। इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः। न चैवं सति मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिर्भवति। तस्मान्मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिरेषितव्या ॥

व्याख्या—वृद्धि के प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं होती, ['क्ङिति च' में] इक् का प्रकरण होने से।

वृद्धि का प्रतिषेध तो उपपन्न नहीं होता। क्या कारण है? 'इक् का प्रकरण होने से।' ['क्ङिति च'] इग्लक्षणा गुणवृद्धि का प्रतिषेध है। इस प्रकार (=मृजेर्वृद्धिरचः न्यास) होने पर मृज की वृद्धि इग्लक्षणा नहीं होती। इसलिये मृज को इग्लक्षणा वृद्धि इष्ट है।

विवरण—'**इग्लक्षणा** वृद्धिः' का अर्थ है—इक् पद की उपस्थिति से इक् के स्थान में प्राप्त होनेवाली वृद्धि। तात्पर्य यह है कि **मृजेर्वृद्धिरचः** क्ङिति ऐसा योगविभाग न करके इक् रूप स्थानी को उपस्थित करने के लिये इको गुणवृद्धी में वृद्धि पद का ग्रहण करना चाहिये।

[भाष्यम्] **एवं तर्हि—इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु परिमार्जन्तु, परिममृजतुः परिममार्जतुरित्याद्यर्थम्। तदिहापि साध्यम्। तस्मिन् साध्ये योगविभागः करिष्यते—'मृजेर्वृद्धिरचो भवति।' ततः—'अचि क्ङिति'। अजादौ च क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति—परिमार्जन्ति परिमार्जन्तु परिममार्जतुः। किमर्थमिदम्? नियमार्थम्—'अजादावेव क्ङिति, नान्यत्र'। क्वान्यत्र मा भूत्? मृष्टः मृष्टवानिति। ततो—'वा'। वाऽचि क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिममृजतुः परिममार्जतुरिति॥**

व्याख्या—अच्छा तो—'यहां अन्य वैयाकरण मृज धातु को अजादि संक्रम में विभाषा वृद्धि कहते हैं—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु, परिमार्जन्तु, परिममृजतुः परिममार्जतुः इत्यादि [प्रयोगों की सिद्धि] के लिये। वह (=संक्रमविषय में विहित वृद्धि का विकल्प) यहां (=पाणिनीय शास्त्र में) भी सिद्ध करने योग्य है। उस (=वृद्धि-विकल्प) के साध्य होने पर योग-विभाग करेंगे—'मृजेर्वृद्धिरचः=मृज के अच् को वृद्धि होती है।' तत्पश्चात् 'अचि क्ङिति'=अजादि कित् ङित् परे वृद्धि होती है—परिमार्जन्ति परिमार्जन्तु परिममार्जतुः। यह (=अचि क्ङिति) किस लिये कहा? नियम के लिये—'अजादि कित् ङित् परे ही [वृद्धि होवे], अन्यत्र न होवे।' अन्यत्र कहां न होवे? मृष्टः मृष्टवान् में। उसके पश्चात्—'वा'=अजादि कित् ङित् परे मृज् को विभाषा वृद्धि होती है—परिमृजन्ति, परिमार्जन्ति, परिममृजतुः, परिममार्जतुः।

विवरण—गुण-वृद्धि के प्रतिषेधविषयक कित् ङित् की संक्रम पूर्वाचार्यों की संज्ञा है।

तदिहापि साध्यम्—भट्टोजिदीक्षित प्रभृति नवीन वैयाकरण पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा प्रदर्शित शब्दों को **नियतकालाः स्मृतयः** नियम से अप्रयोगार्ह मानते हैं (द्र०—शब्दकौस्तुभ १।१।२७)। इसी नियम से जो शिष्टप्रयुक्त शब्द पाणिनीय शास्त्र से उपपन्न नहीं होते, उन्हें वे अपशब्द कहते हैं (द्र०—शब्दकौस्तुभ १।४।७; पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७; तथा ४६०; भाग २, पृष्ठ ६६८; तथा अष्टाध्यायी ५।२।१० की कैयट हरदत्त दीक्षित प्रभृति की व्याख्या)[1] भर्तृहरि ने इसी भाष्यव्याख्या में **नियतकालाः स्मृतयः** को धर्मशास्त्र पर्यन्त ही सीमित माना है। शब्दों के विषय में वह इसे स्वीकार नहीं करता। अतः उसने लिखा है—**स्मृत्यन्तरे प्रतिषेध आरभ्यते—न्याङ्कवम् इति**[2]। **इहाप्यव्युत्पत्तिपक्षे न्याङ्कवमिति शिष्टपर्षदा उक्तत्वात् अन्वाख्यानं साधुः** (महाभाष्य-दीपिका पृष्ठ १०८)। तथा पुनः लिखा है—**शब्दाः स्मर्यन्तेऽभ्युदयाय, अन्ये (अपशब्दाः) तु दोषाय। इदं च शब्दरूपमद्यत्वेऽपि प्रयोक्तव्यम्।** पूर्व वैयाकरणों

१. द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४२, ४३ (संवत् २०३०)।

२. आपिशलिस्तु न्यङ्कोर्नञ्भावं शास्ति—न्याङ्कवं चर्म। उज्ज्वल, उणादिवृत्ति पृष्ठ ११।

द्वारा स्मृत शब्द सम्प्रति भी व्यवहरणीय हैं। वे न तो अव्यवहरणीय हैं, और ना ही अपशब्द हैं। इस विषय में हमने संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ २६-५२ तक विशेष रूप से लिखा है। 'प्रक्रिया-सर्वस्व' के लेखक भट्टनारायण ने अपने अपाणिनीय-प्रमाणता नामक लघु ग्रन्थ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसे हमने अपने सं० व्याकरणशास्त्र के इतिहास के भाग ३ में प्रकाशित किया है। पाठक उसे भी देखें।

[भाष्यम्] इहार्थमेव तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। 'सिचि वृद्धिरविशेषेणोच्यते, सेको यथा स्यादनिको मा भूद्' इति। कस्य पुनरनिकः प्राप्नोति? अकारस्य—अचिकीर्षीत् अजिहीर्षीत्। नैतदस्ति, लोपोऽत्र बाधको भविष्यति। आकारस्य तर्हि प्राप्नोति—अयासीत् अवासीत्। नास्त्यत्र विशेषः सत्यां वृद्धावसत्यां वा। सन्ध्यक्षरस्य तर्हि प्राप्नोति। नैव सन्ध्यक्षरमन्त्यमस्ति। ननु चेदमस्ति—ढलोपे कृते उदवोढाम् उदवोढम् उदवोढेति। नैतदस्ति। असिद्धो ढलोपः। तस्यासिद्धत्वान्नैतदन्त्यं भवति।

व्यञ्जनस्य तर्हि प्राप्नोति—अभैत्सीत् अच्छैत्सीत्। हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका भविष्यति। यत्र तर्हि सा प्रतिषिध्यते—नेटि [७।२।४] इति—अकोषीत् अमोषीत्। सिचि वृद्धेरप्येष प्रतिषेधः। कथम्? लक्षणं हि नाम ध्वनति, भ्रमति, मुहूर्तमपि नावतिष्ठते। अथवा—'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' [७।२।१] इति सिचि वृद्धिः प्राप्नोति। तस्या हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका। तस्या अपि 'नेटि' इति प्रतिषेधः। अस्ति पुनः क्वचिदन्यत्रापि अपवादे प्रतिषिद्धे उत्सर्गोऽपि न भवति? 'अस्ति' इत्याह। सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० ५।७९।१); अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम् (ऋ० ९।५१।१); शुक्रं ते अन्यदिति (ऋ० ६।५८।१)। पूर्वरूपे प्रतिषिद्धेऽयादयोऽपि न भवन्ति॥

व्याख्या—अच्छा तो यहीं के लिये तब तो (='इको गुणवृद्धी' सूत्र के लिये) सिच्-विषयार्थ वृद्धिग्रहण करना चाहिये। 'सिच् परे रहने पर [सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७।२।१ से)] [सामान्यरूप से वृद्धि कही है, जिससे वह इक् स्थान में होवे, अनिक् के स्थान में न होवे।' तो फिर किस इक्-भिन्न के स्थान में [वृद्धि] प्राप्त होती है? अकार के स्थान में—अचिकीर्षीत् अजिहीर्षीत्। यह [दोष] नहीं है, लोप (६।४।४८) यहां बाधक हो जायेगा। अच्छा तो आकार के स्थान में [वृद्धि] प्राप्त होती है—अयासीत् अवासीत्। यहां (=आकार के स्थान में) वृद्धि होने वा न होने में कोई भेद नहीं है। अच्छा तो सन्ध्यक्षर के स्थान में वृद्धि प्राप्त होती है। [सिच् परे] सन्ध्यक्षर अन्त में नहीं है। और जो यह [सन्ध्यक्षर अन्त में] है—ढकार का लोप (८।३।१३ से) करने पर उदवोढाम् उदवोढम् उदवोढ। यह भी [अन्त] में नहीं है। ढकार का लोप [त्रिपादी होने से] असिद्ध है। उस [=ढ लोप] के असिद्ध होने से यह [ओकार सन्ध्यक्षर] अन्त में नहीं होता।

अच्छा तो व्यञ्जन के स्थान में [वृद्धि] प्राप्त होती है—अभैत्सीत् अच्छैत्सीत्। हलन्त को मानकर होनेवाली वृद्धि (७।२।३) बाधक हो जायेगी। जहां पर वह (=हलन्त-लक्षणा वृद्धि) प्रतिषिद्ध होती है—नेटि (७।२।४='इडादि सिच् परे हलन्त अङ्ग को वृद्धि नहीं होती') से—अकोषीत् अमोषीत्। यह (='नेटि') प्रतिषेध सिचि वृद्धिः (७।२।१)

का भी है। कैसे ? जो लक्षण (=नियामक सूत्र) है, वह शब्द कहता है, घूमता रहता है, क्षणभर भी [एक स्थान पर] नहीं ठहरता। इस कारण नेटि सूत्र वृद्धिमात्र का प्रतिषेध कहता है, वह सर्वत्र भ्रमण करता है। इस से सिचि वृद्धिः० (७।२।१) के पास भी उपस्थित इट् परे वृद्धि का निषेध करता है।] अथवा—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७।२।१) से सिच् परे वृद्धि प्राप्त होती है। उसकी हलन्त-लक्षणा वृद्धि (७।२।३) बाधिका होती है। उस (=हलन्तलक्षणा वृद्धि) का भी नेटि (७।२।४) यह प्रतिषेध करता है। [इस प्रकार अभैत्सीत् अच्छैत्सीत् में भी वृद्धि का प्रतिषेध हो जायेगा।] क्या और भी कहीं ऐसा है कि अपवाद के प्रतिषेध हो जाने पर उत्सर्ग भी नहीं होता ? हां, है। [1]सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० ५।७९।१); [1]अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम् (ऋ० ९।५१।१); [1]शुक्रं ते अन्यत् (ऋ० ६।५८।१)। यहां [एङः पदान्तादति (६।१।१०५) से प्राप्त] पूर्वरूप के प्रतिषिद्ध हो जाने पर अयादि भी नहीं होते। [अर्थात् सुजाते अश्वसूनृते आदि में पहले एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश की प्राप्ति होती है, उसे एङः पदान्तादति (६।१।१०५) से विहित पूर्वरूप बाधता है, और उस पूर्वरूप का पुनः नान्तःपादम् (६।१।११११) सूत्र प्रतिषेध करता है। यहां अपवादरूप पूर्वरूप के प्रतिषेध होने पर उत्सर्गरूप अयादि आदेश भी नहीं होते।]

विवरण—लोपोऽत्र बाधकः—'अचिकीर्षीत्' में 'चिकीर्ष' धातु के अकार का **अतो लोपः** (६।४।४८) से विहित लोप **ण्यल्लोपावियङ्गुणवृद्धिभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन** (६।४।४८) वार्तिक से विहित पूर्वविप्रतिषेध से वृद्धि से पहले ही हो जायेगा। अकार लोप के होने पर अन्त में अकार होगा ही नहीं, अतः उसे वृद्धि भी प्राप्त नहीं होगी। यहां भर्तृहरि ने दीपिका में लिखा है—'वृद्धि कर लेने पर भी **आतो लोप इटि च** (६।४।६४) से आकार का लोप हो जायेगा।' वस्तुतः भर्तृहरि का यह लिखना चिन्त्य है। पूर्वविप्रतिषेध को स्वीकार न करने पर **चिकीर्षकः** आदि में ण्वुल् परे अकार को वृद्धि की प्राप्ति होने पर 'चिकीर्षा' आकारान्त अङ्ग को **आतो युक् चिण्कृतोः** (७।३।३३)से युक् प्राप्त होकर **चिकीर्षायक** ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा।

नास्त्यत्र विशेषः—**अयासीत्** में आकार को आकार वृद्धि करने पर रूप में कोई अन्तर नहीं होता, अतः यह समाधान अभ्युपगमवाद से है। वस्तुतः यहां **अ या स् त्** इस अवस्था में वृद्धि भी प्राप्त होती है, और सक् इट् भी। परत्व से **यमरमनमातां सक् च**(७।२।७३)से सक् और इट् पहले होते हैं। उनके होने पर आकारान्त अङ्ग नहीं रहता।

उदवोढाम्—'वह् स् ताम्' इस अवस्था में पहले **वदव्रजहलन्तस्याचः** (७।२।३) से वृद्धि होती है। तत्पश्चात् **झलो झलि**(८।२।२६) से स लोप, **हो ढः** (८।२।३१) से 'ह्' को 'ढ्', **झषस्तथोर्धोऽधः** (८।२।४०)से 'ताम्' के तकार को धकार, **ष्टुना ष्टुः** (८।४।४०) से धकार को ढकार—'**वाढ् ढाम्**। **ढो ढे लोपः** (८।३।१३) से ढकार परे ढकार का लोप करने पर **ष्टुना ष्टुः** से विहित ढत्व **पूर्वत्रासिद्धम्**(८।२।१)नियम से असिद्ध प्राप्त होता है। उसका यहां आश्रयण करने से असिद्धत्व नहीं होता। अन्यथा ढकार परे ढकार कहीं मिलेगा ही नहीं।

१. इन मन्त्रों के सामवेदीय पते पूर्व पृष्ठ १२९ पर देखें।

'**वा ढाम्** इस अवस्था में **सहिवहोरोदवर्णस्य**(६।३।१११) से आकार को ओकार=**वो ढाम्**। सिच् लोप को असिद्ध मानकर **लक्ष्यभेदाल्लक्षणभेदः** न्याय से **सिचि वृद्धिः**(७।२।१) से ओकार को वृद्धि प्राप्त होती है। उसका समाधान किया है, ढकारलोप के असिद्ध होने से '**वोढ्**' में ओकार अन्त में नहीं होता, अतः वृद्धि नहीं होगी। कैयट ने लिखा है—**गौरिवाचरति** में आचारार्थ में क्विप् करके लुङ् में **अ गो इट् स् ईट् त्** सिच् परे ओकार मिलता है, यहां वृद्धि होनी चाहिये। फिर भाष्यकार ने कैसे कहा कि सिच् परे सन्ध्यक्षर नहीं है? इसका समाधान किया है—**अत इढातोः** (७।१।१००) से धातुग्रहण लाकर औपदेशिक धातु को वृद्धि होती है, ऐसा अर्थ करने से **अगवीत्** में वृद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार **कविरिवाचारीत्** यहां **अकवयीत्** रूप होना चाहिये। माधव ने धातुवृत्ति में **अकवायीत्** रूप माना है, अर्थात् उसने नामधातु से भी **सिचि वृद्धिः**० से वृद्धि की है। नागेश ने **अकवायीत्** प्रयोग की सिद्धि के लिये **बहुलं छन्दसि** (७।१।१०३) से बहुल की अनुवृत्ति का निर्देश किया है। नागेश का तो अपना पक्ष है कि **नैव सन्ध्यक्षरम्** इत्यादि भाष्यवचन से सन्ध्यक्षरान्तों से आचार अर्थ में क्विप् होता ही नहीं। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के मत का खण्डन किया है। प्रस्तुत प्रकरण का पाठ अत्यशुद्ध होने से हम उसका निर्देश करने में असमर्थ हैं।

आदिकाल में जब धातुओं का रूप वृक्ष पुष्प व्यय कुमार आदि धातुपाठ में पठित धातुओं जैसा था, तब उनसे ही नाम आख्यात की विभक्तियों का प्रयोग होकर वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः, और वृक्षति वृक्षतः वृक्षन्ति दोनों प्रकार के रूप बनते थे। उस समय **गो अश्व नौ कवि** आदि सभी शब्द कण्ड्वादिगणस्थ शब्दों के समान प्रातिपदिक और धातु उभयरूप थे[1]। तब '**गो**' आदि सन्ध्यक्षरान्तों के भी **गवति गवतः गवन्ति** के समान लुङ् में भी रूप अवश्य प्रयुक्त होते होंगे। उस दृष्टि से विचार न करके 'सन्ध्यक्षरान्तों से आचार अर्थ में क्विप् नहीं होता' ऐसी कल्पनाएं करके शास्त्र को संकुचित करना और शब्दभण्डार की विपुलता को क्षीण करना हमारे विचार में अनुचित है। भाष्यकार द्वारा बहुत्र उक्त **यथालक्षणमप्रयुक्ते**[2] वचन के अनुसार तो **अगावीत् अनावीत् अकवायीत्** प्रयोग ही साधु होंगे।

अथवा—'**अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा** इस न्याय से **नेटि** सूत्र हलन्तलक्षणा वृद्धि का ही बाधक होगा, **सिचि वृद्धिः** का बाधक नहीं होगा। इस कारण '**अथवा**' से समाधानान्तर उपस्थित किया है।

तस्या अपि—यहां वाग्व्यवहार के अनुसार 'उसका भी' का तात्पर्य पूर्वनिर्दिष्ट हलन्तलक्षणा वृद्धि से है। कैयट ने 'अपि' शब्द से सिचि वृद्धि से प्राप्त वृद्धि का ग्रहण करके प्रतिषेध कहा है। वह अनावश्यक है।[3] उसका प्रतिषेध तो हलन्तलक्षणा से पहले कह ही दिया। इसलिये नागेश का भ्रष्टाचार न्यायरूप व्याख्यान भी चिन्त्य है।

---

१. द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १६-२४, संवत् २०३०।

२. महाभाष्य १।१।२४; २।४।३४; ६।१।६८,८६; ६।४।२,११,१६३; ७।२।१०६॥

३. शिवरामेन्द्र सरस्वती ने भी लिखा है—'तस्याअपि—तस्यास्तु इत्यर्थः। एतेन "अपिशब्दात् सिचि वृद्धेरपि" इति निरस्तम्। हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २५७, मुद्रित पृष्ठ २८५।

पूर्वरूपे प्रतिषिद्धे—यहां भाष्यकार ने ६।१।१११ सूत्र का **नान्तःपादम्**[1] पाठ मानकर 'पूर्वरूपे प्रतिषिद्धे' का प्रयोग किया है। **प्रकृत्यान्तःपादम्**[1] पाठ में भी समस्त प्रकरण की दृष्टि से प्रकृतिभाव का विधान जानना चाहिये। अपवाद के प्रतिषेध हो जाने पर उत्सर्ग भी नहीं होता, यह मानने पर **वृक्षौ** में **वृक्ष औ** इस अवस्था में **वृद्धिरेचि** (६।१।८५) से प्राप्त वृद्धि को **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।९८) से प्राप्त पूर्वसवर्ण बाधता है। पूर्वसवर्ण का **नादिचि** (६।१।१००) से प्रतिषेध हो जाने पर उत्सर्ग वृद्धि भी न होवे, तो वृक्षौ रूप कैसे बनेगा? इसका उत्तर कैयट ने **संघोद्घौ गणप्रशंसयोः** (३।३।८६) के ज्ञापक से दिया है। वस्तुतः अपवाद के प्रतिषेध होने पर उत्सर्ग भी नहीं होता, यह भाष्यकथन प्रौढिवादमात्र है[2]। ज्ञापक का आश्रयण करना तो अगतिकगतिमात्र है[3]। अतः **सुजाते अश्वसूनृते** इत्यादि में तो **नान्तःपादम्** अथवा **प्रकृत्यान्तःपादम्** पाठ में **संहितायाम्** अधिकारमात्र की दृष्टि से **एङोऽति परे संहितायां यदुक्तं तन्न भवति यद्वा प्रकृत्या भवति**, अर्थ अभिप्रेत होने से पूर्वरूप के प्रतिषेध के साथ ही अयादेश का प्रतिषेध जानना चाहिये।

[भाष्यम्] उत्तरार्थमेव तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। सि च वृद्धिरविशेषेणोच्यते, सा क्ङिति मा भूत्—न्यनुवीत् न्यधुवीत्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। अन्तरङ्गत्वादत्रोवङादेशे कृतेऽनन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न भविष्यति।

यदि तर्हि सिच्यन्तरङ्गं भवति—'अकार्षीत् अहार्षीत्' गुणे कृते रपरत्वे चाऽनन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति। मा भूदेवम्। 'हलन्तस्य' इत्येवं भविष्यति।

इह तर्हि—न्यस्तारीत् न्यदारीत्। गुणे कृते रपरत्वे चाऽनन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति। हलन्तलक्षणायाश्च 'नेटि' इति प्रतिषेधः। मा भूदेवम्। 'ल्रान्तस्य' [७।२।२] इत्येवं भविष्यति।

इह तर्हि—अलावीत् अपावीत्, गुणे कृतेऽवादेशे चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति। हलन्तलक्षणायाश्च 'नेटि' इति प्रतिषेधः। मा भूदेवम्। 'ल्रान्तस्य' इत्येवं भविष्यति। ल्रान्तस्य' इत्युच्यते, न चेदं ल्रान्तम्। 'ल्रान्तस्य' इत्यत्र वकारोऽपि निर्दिश्यते। किं वकारो न श्रूयते? लुप्तनिर्दिष्टो वकारः॥

व्याख्या—**अच्छा तब तो उत्तरार्थ (='क्ङिति च' प्रतिषेध के लिये) ही सिच् के लिये वृद्धिग्रहण करना चाहिये। सिच् परे वृद्धि सामान्यरूप से कही है, वह कित् ङित् परे न होवे**—न्यनुवीत् न्यधुवीत् [यहां सिच् 'गाङ्कुटादिभ्यः' १।२।१ से ङित् है]। **यह प्रयोजन**

---

१. इन पाठों के लिये देखिये रामलाल कपूर ट्रस्ट से मुद्रित 'पाणिनीय शब्दानुशासनम्' प्रथम भाग, पृष्ठ १०२, १२६।

२. द्र०—'वस्तुतस्तूभयं प्रौढिवादमात्रं निर्युक्तिकत्वात्'। शिवरामेन्द्र सरस्वती हस्तलेख, पृष्ठ २५७; मुद्रित पृष्ठ २८५।

३. द्र०—शिवरामेन्द्र सरस्वती, हस्तलेख, पृष्ठ २५८; मुद्रित पृष्ठ २८६।

नहीं है। अन्तरङ्ग होने से यहां उवङ् आदेश करने पर अन्त्य में [उकार के] न होने से वृद्धि नहीं होगी।

यदि सिच् परे अन्तरङ्ग [कार्य] होता है, तो—अकार्षीत् अहार्षीत् [यहां 'कृ' 'हृ' को] गुण और रपरत्व करने पर (='कर्' 'हर्' रूप बनने पर) अकार के अन्त में न होने से [सिचि वृद्धिः से] वृद्धि प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार (='सिचि वृद्धिः' से) न होवे। हलन्तस्य (७।२।३) से [हलन्तलक्षणा वृद्धि] हो जायेगी।

अच्छा तो यहां—न्यस्तारीत् न्यदारीत् [में 'स्तृ' 'दृ' को] गुण और रपरत्व करने पर (='स्तर्' 'दर्' रूप बनने पर) अकार के अन्त में न होने से [७।२।१ से] वृद्धि प्राप्त नहीं होती। और हलन्तलक्षणा (७।२।३) वृद्धि का नेटि (७।२।४) से प्रतिषेध हो जाता है। इस प्रकार (='हलन्तस्य' से) न होवे। लान्तिस्य[1] (७।२।२=रेफ लकारान्त अङ्ग के अकार को सिच् परे वृद्धि होती है) से वृद्धि हो जायेगी।

अच्छा तो यहां—अलावीत् अपावीत् [में 'लू' 'पू' को] गुण और अवादेश करने पर (='लव्' 'पव्' रूप बन जाने पर) अकार के अन्त में न होने से [७।२।१ से] वृद्धि प्राप्त नहीं होती। और हलन्तलक्षणा (७।२।३) वृद्धि का नेटि (७।२।४) से प्रतिषेध प्राप्त होता है। इस प्रकार (='हलन्तस्य' से) न होवे। 'लान्तिस्य' (७।२।२) से [वृद्धि] हो जायेगी। 'लान्तिस्य' (=रेफ और लकार अन्तवाले को) ऐसा कहते हो, यह (='लव्' 'पव्') रेफान्त वा लकारान्त नहीं हैं। लान्तिस्य, यहां वकार भी निर्दिष्ट है। क्या कारण है कि वकार सुनाई नहीं पड़ता ? वकार का निर्देश लुप्त है। [यहां लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से वल्=रेफ परे वकार का लोप हो जाता है।]

विवरण—'अन्तरङ्गत्वात्' अन्तरङ्ग बहिरङ्ग की परिभाषा अल्पापेक्षमन्तरङ्गम्, बह्वपेक्षं बहिरङ्गम् (पूर्व पृष्ठ १६२, १६३ में) लिख चुके हैं। 'नू इट् सिच् ईट् तिप्' इस अवस्था में उवङ् आदेश अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से अजादि सिच् प्रत्यय को मानकर होता है, वृद्धि सिच् और परस्मैपद तिप् आदि को मानकर होती है। इस दृष्टि से अल्पापेक्ष होने से उवङ् अन्तरङ्ग है, और वृद्धि बहिरङ्ग। अनन्त्यत्वात्—इक् परिभाषा के अभाव में अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अल्मात्र को वृद्धि प्राप्त होती है, तथापि अलन्त विषय में हलन्तलक्षणा (७।२।३) वृद्धि से इसकी बाधा होने पर 'अजन्त' ही शेष रहता है। इसलिये कहा है—उकार के अन्त में नहीं होने से वृद्धि प्राप्त नहीं होती।

लुप्तनिर्दिष्टो वकारः—इसकी व्याख्या नागेश ने इस प्रकार लिखी है—'पूर्वं निर्दिष्टः पश्चाल्लुप्तः इस अर्थ में मयूरव्यंसकादयश्च (२।१।७१) से समास जानना चाहिये।' नागेशोक्त व्याख्या ही कतिपय प्राचीन व्याख्याकार भी करते थे। भर्तृहरि ने उनकी व्याख्या को उद्धृत करते हुए लिखा है—"यहां पर कुछ व्याख्याकार कहते हैं—'जो निर्दिष्ट है और लुप्त है'। यह कथन उपपन्न नहीं होता, क्योंकि निर्दिष्ट का लोप के साथ सम्बन्ध न होने से। निर्दिष्ट

१. इस पाठ के विषय में देखो—पूर्व पृष्ठ १८२, टि० १।

हुआ कैसे लुप्त हो सकता है ? इसलिये जैसे [सन्धि से निष्पन्न]'य' रूप से इकार की प्रतिपत्ति का आश्रयण करते हैं, वैसे ही लुप्त हुए वकार को प्रतिपत्तिकाल में जानते हैं।[1]"

[भाष्यम्] यद्येवम्—मा भवानवीत्, मा भवान् मवीद्, अत्रापि प्राप्नोति। 'अविमव्योर्न' इति वक्ष्यामि। तद्वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम्। 'णिश्व्योः तौ निमातव्यौ'। यद्यप्येतदुच्यते, अथ वै तर्हि णिश्व्योः प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति। गुणे कृतेऽयादेशे च 'यान्तानां न' इत्येव प्रतिषेधो भविष्यति।

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'न सिच्यन्तरङ्गं भवति' इति, यदयम् 'अतो हलादेर्लघोः' [७।२।७] इत्यकारग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? अकारग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्, इह मा भूत्—अकोषीत् अमोषीत्। यदि सिच्यन्तरङ्गं स्याद्, अकारग्रहणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृतेऽलघुत्वाद् वृद्धिर्न भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यो —न सिच्यन्तरङ्गं भवति इति। ततोऽकारग्रहणं करोति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्त्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम् ? यत्र गुणः प्रतिषिध्यते, तदर्थमेतत् स्यात्—न्यकुटीत् न्यपुटीत्। यत्तर्हि णिश्व्योः प्रतिषेधं शास्ति, तेन 'नेहान्तरङ्गमस्ति' इति दर्शयति। यच्च करोत्यकारस्य ग्रहणं 'लघोः' इति कृतेऽपि।

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः ॥११॥

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिरास्थेया ॥

व्याख्या—यदि ऐसा (=अतो र्लान्तस्य में वकार भी निर्दिष्ट) है, तो—मा भवान् अवीत्, मा भवान् मवीत्, यहां [='अव्' 'मव्' को] भी वृद्धि प्राप्त होती है। 'अवि मवि को नहीं होती' ऐसा कह देंगे। वह (='अविमव्योर्न') कहना चाहिये ? नहीं कहना चाहिये। 'णि और श्वि से उन्हें बदल लेना चाहिये'। [अर्थात् 'ह्म्यन्तक्षण०' (७।२।५) सूत्र में पठित णिश्वि को निकालकर उनके स्थान में अविमवि का ग्रहण (='०जागृविमव्येदिताम्' ऐसा) करना चाहिये।] यद्यपि यह [=अवि मवि का प्रतिषेध] कहना होता है, फिर भी णिश्वि का प्रतिषेध नहीं कहना पड़ता। ['णि' 'श्वि' को] गुण और अयादेश करने पर 'यान्तों को नहीं होता' से ही प्रतिषेध हो जायेगा (=ह्म्यन्त=हकारान्त मकारान्त और यकारान्त)।

अच्छा तो आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—'सिच् परे अन्तरङ्ग कार्य नहीं

---

१. केचिद्वर्णयन्ति—निर्दिष्टश्चासौ लुप्तश्चेत्येतत्तु नोपपद्यते, निर्दिष्टस्य लोपेनासंबन्धात्। निर्दिष्टो हि कथमिव लुप्येत ? तस्मात् यथैव यस्य (?) इत्यस्माद् रूपात् प्रतिपत्तिमिकारस्याश्रयामः। एवं लुप्तं प्रतिपत्तिकाले वकारं प्रतिपद्यामहे ('प्रतिपश्यामहे' पाठा०)। पूना संस्करण, पृष्ठ ११०।

होता', जो ये अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) में अकार का ग्रहण करते हैं। कैसे ज्ञापक है? अकार ग्रहण का यह प्रयोजन है कि यहां न होवे—अकोषीत् अमोषीत्। यदि सिच् परे अन्तरङ्ग [=उवङ् और गुण] कार्य होवे, तो अकारग्रहण अनर्थक होवे। ['कुष्' 'मुष्' में अन्तरङ्ग से] गुण करने पर (='कोष्' 'मोष्' बन जाने पर) अलघु होने से वृद्धि नहीं होगी। आचार्य देखते हैं कि—'सिच् परे अन्तरङ्ग कार्य नहीं होता' इस कारण अकार का ग्रहण करते हैं।

यह ज्ञापक नहीं है। इसके (=अकार के) कहने में तो अन्य प्रयोजन है। क्या है? जहां गुण का प्रतिषेध होता है, उसके लिये यह होगा—न्यकुटीत् न्यपुटीत् [यहां गाङ्कुटादिभ्यः १।२।१ से सिच् ङित् होता है, ङित् होने से गुण का निषेध हो जाता है]। अच्छा तो जो णि श्वि का प्रतिषेध कहते हैं, उस से दर्शाते हैं कि यहां (=सिच् परे) अन्तरङ्ग नहीं होता। [यहां णि श्वि इकारान्तों को अन्तरङ्ग गुण और अयादेश होने पर यकारान्त होने से ही वृद्धि का निषेध हो जायेगा।] और जो 'लघोः' करने पर भी अकार का ग्रहण करते हैं। [वह भी ज्ञापक है। क्योंकि लघु ग्रहण करने पर न्यकुटीत् न्यपुटीत् में ही गुण के प्रतिषेध होने पर वृद्धि की प्राप्ति होती है, उसका भी सिच् के ङित् होने से निषेध हो जायेगा। इस प्रकार अकार ग्रहण व्यर्थ होकर 'सिच्यन्तरङ्गं न' का ज्ञापक ही होता है।]

इसलिये इग्लक्षणा वृद्धि स्वीकार करनी चाहिये।

इसलिये 'इग् के स्थान पर वृद्धि होती है' ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

विवरण—'निमातव्यौ'—णि श्वि के साथ अवि मवि के परिवर्तन करने पर १॥ डेढ़ मात्रा अधिक होती है। अर्थात् ०**जाग्रविमव्ये**० ऐसा पढ़ने पर उद्धृत भाग में १०॥ साढ़े दस मात्राएं होती है, और ०**जागृणिश्व्ये**० यथास्थित पाठ में ६ नौ मात्राएं। डेढ़ मात्रा अधिक होने पर भी प्रकृत सूत्र में 'वृद्धि' ग्रहण (३॥ साढ़े तीन मात्रा) करने की अपेक्षा दो मात्रा कम होने से परिवर्तन दोषार्ह नहीं है। इतना ही नहीं, यदि ०**जाग्रवसवे**०(=६ मात्राएं) के रूप में पढ़ें, तो १॥ डेढ़ मात्रा का आधिक्य भी दूर हो जाता है (द्र०—छाया)। **सिच्यन्तरङ्गं न**—सिच् परे अन्तरङ्गत्व का अभाव इसलिये इष्ट है कि यङ्लुगन्त 'नी' और 'चि' के **अनेनायीत् अचेचायीत्** रूपों में तथा 'चिरि' 'जिरि' के **अचिरायीत् अजिरायीत्** रूपों में वृद्धि हो जावे। अन्यथा गुण और अयादेश करने पर वृद्धि प्राप्त नहीं होगी (द्र०—दीपिका)।

न्यकुटीत्—अन्तरङ्गत्व से वृद्धि के बाधक प्राप्त गुण का भी **क्ङिति च** से निषेध हो जाने से भ्रष्टावसर न्याय से वृद्धि का अभाव नहीं होता। उसे रोकने के लिये **अतो हलादेर्लघोः** (७।२।७) में अकार का ग्रहण किया है। **यत्तर्हि णिश्व्योः प्रतिषेधम्**—यद्यपि 'अवि मवि' के द्वारा 'णि श्वि' का परिवर्तन कर लेने पर 'णि श्वि' से ज्ञापन करना युक्त नहीं है, फिर भी 'णि श्वि' का ज्ञापकार्थ उपादान करने का आशय यह है कि ज्ञापक से 'सिच् परे अन्तरङ्ग गुण का अभाव' हो जाने पर **अलावीत् अपावीत्** में गुण और अवादेश न होने से न **लव् पव्** रूप होंगे, और न वृद्धि के लिये **अतो ल्रान्तस्य**(७।२।३)में वकार का निर्देश मानने की आवश्यकता होगी, और न **अविमवि** के निमान की। **यच्च करोति**—की व्याख्या में कैयट और शिवरामेन्द्र

सरस्वती का बहुत मतभेद है। उसे पाठक स्वयं उनके ग्रन्थों में देखें। हमने इस पङ्क्ति का भाव ऊपर ही [ ] में स्पष्ट कर दिया है।

इग्लक्षणा वृद्धिरास्थेया—इसका भाव यह है कि **न्यनुवीत्** में उवङ् को बाधकर जो वृद्धि प्राप्त होती है, उसके निषेध के लिये **सिचि वृद्धिः** को इग्लक्षणा स्वीकार करना चाहिये। जिससे **क्ङिति च** से वृद्धि का प्रतिषेध हो सके।

[भाष्यम्] षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वादिङ्निवृत्तिः ॥१२॥

षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वात् सर्वेषामिकां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति —दधि मधु। पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात्?

अन्यतरार्थं पुनर्वचनम् ॥१३॥

अन्यतरार्थमेतत् स्यात्—'सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुण एव' इति॥

व्याख्या—षष्ठी का स्थानेयोग होने से इकों की निवृत्ति प्राप्त होती है।

षष्ठी का स्थानेयोग अर्थ होने से सब इकों की निवृत्ति प्राप्त होती है। इस (=इक्) की भी [निवृत्ति] प्राप्त होती है—दधि मधु। **[अर्थात् इस सूत्र के इकों के स्थान में गुण वृद्धि का विधायक होने से** दधि मधु के इकार उकार **के स्थान में भी गुण वृद्धि प्राप्त होती है। इसी से सर्वत्र गुण वृद्धि का विधान होने पर मिदेर्गुणः आदि में गुण वृद्धि का] 'पुनः' विधान किसलिये होगा?**

अन्यतर=एक के विधान के लिये पुनर्वचन है।

[गुण वृद्धि दोनों में से] अन्यतर=एक के विधान के लिये पुनर्वचन है—'सार्वधातुक आर्धधातुक परे रहने पर गुण ही होवे'।

विवरण—'इकः' को स्थानषष्ठी मानकर 'सब इकों की निवृत्ति' रूप दोष दिया है। **अन्यतरनिवृत्त्यर्थम्**—इक् के स्थान में गुणवृद्धि की पर्याय से प्रवृत्ति होने पर **मिदेर्गुणः**(७।३।८२) **मृजेर्वृद्धिः** (७।२।११४) सूत्रों से एक का नियम करते हैं—'मिद को गुण ही होवे, और मृज को वृद्धि ही।' अन्यतर की निवृत्ति की अपेक्षा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) आदि अनिक् के स्थान में भी गुण वृद्धि का विधान क्यों न मान लें? नियम और विधि में विधि बलवान् होती है। क्योंकि परिसंख्यारूप नियम[1] में प्राप्त अर्थ की बाधा, स्वार्थ की हानि, परार्थ-कल्पना ये तीन दोष[2] होते हैं। विधि न मानने में हेतु यह है कि—**इको गुणवृद्धी** सूत्र में 'इक् के स्थान में गुणवृद्धि होवे' इस अर्थ के लिये गुणवृद्धि का ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि

१ अत्र शास्त्रे परिसंख्याया अपि आर्थिकेतरनिवृत्तिफलकत्वस्य, तत्रापि सत्त्वेन नियमत्वेन व्यवहार इत्यन्यत्र स्पष्टम्। छाया ग्रन्थ। तथा पूर्व पृष्ठ ३८, पं० १३-१४।

२. परिसंख्या में प्राप्त 'दोषत्रय' की विवेचना के लिये देखिये—पूर्व पृष्ठ ३८।

उन की ऊपर अनुवृत्ति है ही। अतः दुबारा गुणवृद्धि ग्रहण गुणवृद्धिविधायक सूत्रों में 'इकः' पद के उपस्थान के लिये ही है। 'इकः' पद की उपस्थिति होने पर अनिक् को गुणवृद्धि प्राप्त ही नहीं होंगे। कुछ व्याख्याताओं ने **यातिवातिद्राति०** (८।४।१७) आदि के निर्देश-सामर्थ्य से विधि की अपेक्षा गुरुभूत नियम का आश्रयण किया है।

[भाष्यम्] प्रसारणे च ॥१४॥

प्रसारणे च सर्वेषां यणां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति—याता वाता। पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात्?

विषयार्थं पुनर्वचनम् ॥१५॥

विषयार्थमेतत्स्यात्—'वचिस्वपियजादीनां कित्येव' इति॥

व्याख्या—प्रसारण में भी [सब यणों की निवृत्ति प्राप्त होती है]।

प्रसारण (सूत्र १।१।४४) में भी सब यणों की निवृत्ति प्राप्त होती है। इस [यण] की भी [निवृत्ति] प्राप्त होती है—याता, वाता। [इसी (=१।१।४४ सूत्र) से प्रसारण का विधान होने पर वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५) आदि में प्रसारण का] पुनः विधान किसलिये होगा?

विषय के लिये पुनर्वचन है।

विषय के लिये यह [पुनर्वचन] होगा—'वचिस्वपियजादि को कित् में ही [प्रसारण होवे]'।

विवरण—'प्रसारण' यह सम्प्रसारण की ही पूर्वाचार्यों की संज्ञा है। **इक् यणः सम्प्रसारणम्** (१।१।४४) में **यणः** में स्थानषष्ठी होने से सभी यणों के स्थान में इक् होते हैं। इस प्रकार यण्मात्र की निवृत्ति प्राप्त होती है। षष्ठी दर्शनरूप तुल्य न्याय होने से इसका यहां उपन्यास किया है। **इक् यणः सम्प्रसारणम्** में वाक्यभेद से अर्थ होगा—**इक् यणः**=यण् के स्थान में इक् होता है, और वह **सम्प्रसारणम्** सम्प्रसारणसंज्ञक होता है।

विषयार्थम्—का अभिप्राय है—नियतविषय के लिये। यही अभिप्राय भाष्यकार ने कितीत्येव में एव शब्द के प्रयोग से दर्शाया है।

[भाष्यम्] उरण्रपरे च ॥१६॥

उरण्रपरे च सर्वेषामृकाराणां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति—कर्तृ हर्तृ॥

व्याख्या—ऋकार के स्थान में अण् रपर में भी [सब ऋकारों की निवृत्ति प्राप्त होती है]।

ऋकार के स्थान में अण् रपर होवे [इस विधान] में भी सब ऋकारों की निवृत्ति प्राप्त होती है। इस [ऋकार] की भी [निवृत्ति] प्राप्त होती है—कर्तृ हर्तृ।

विवरण—यहां **उरण् रपरः**(१।१।५०)सूत्र में भी **उः** स्थानषष्ठी होने से सभी ऋकारों के स्थान में अण् होंगे। ऋकार के साथ अ इ उ किसी का भी आन्तरतम्य न मिलने से सभी पर्याय से होंगे। इस सूत्र में भी स्थानषष्ठी दर्शनरूप तुल्य न्याय होने से इसको यहां प्रस्तुत किया है। छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड ने लिखा है—जिस अभिप्राय से पाणिनि ने **उरण् रपरः** सूत्र को षष्ठ्यधिकार में पढ़ा है, वह समाधान पूर्वोक्त दोनों में है। इसी को ध्वनित करने के लिये शङ्का करता है—**'उरण् रपरे च'**। अर्थात् समाधान को प्रष्टा ही ध्वनित करता है। इस का महाभाष्य के सम्पादक शिवदत्त दाधिमथ ने खण्डन किया है—'समाधान के ज्ञान में जिज्ञासु के पूर्वपक्ष में प्रवृत्त न होने से छायाकार का कथन चिन्त्य है। इसलिये समाधान ज्ञात नहीं होता, यह मानकर ही जिज्ञासु का प्रश्न है। अर्थात् प्रष्टा यह समझता है कि जैसे **इको यणचि** (६।१।७४) स्वतन्त्र विधायक है, उसी प्रकार इसका भी स्वतन्त्र-विधायकत्व सम्भव हो सकता है।' द्र०—नवा ह्निक निर्णयसागर संस्क०, पृष्ठ १७८, कालम १, टि० २।

[भाष्यम्] सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनात् ॥१७॥

सिद्धमेतत्। कथम्? षष्ठ्यधिकारे इमे योगाः कर्तव्याः। एकस्तावत् क्रियते तत्रैव। इमावपि योगौ षष्ठ्यधिकारमनुवर्तिष्येते।

अथवा—षष्ठ्यधिकारे इमौ योगावपेक्षिष्यामहे॥

व्याख्या—सिद्ध है, **षष्ठी के अधिकार में वचन करने से।**

यह सिद्ध है। कैसे? षष्ठी के अधिकार में इन सूत्रों को करना चाहिये। एक (=उरण् रपरः) **तो वहां** (=षष्ठी के अधिकार में) **किया ही है। इन** (=इको गुणवृद्धी, इग्यणः सम्प्रसारणम्) **सूत्रों का भी षष्ठी के अधिकार में अनुवर्तन करेंगे।**

अथवा षष्ठी के अधिकार में इन सूत्रों की अपेक्षा कर लेंगे।

विवरण—उक्त सूत्रों को स्वतन्त्र-विधायक मानकर दोष दिये थे। **सिद्धन्तु** से इनका स्वातन्त्र्य दूर करते हैं। इसलिये जहां सूत्रों में स्थानषष्ठी का निर्देश है, उनके साथ सम्बद्ध होकर ये सूत्र स्वकार्य का विधान करते है।[1] **उरण् रपरः** सूत्र **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४८)के अधिकार में है। अतः अर्थ होगा—ऋकार के स्थान में जो अण् होता है, वह रपर होवे। इस से **ॠत इद् धातोः** (७।१।१००) आदि में जहां ऋकार में स्थानषष्ठी है, वहीं **उरण् रपरः** पहुंचकर ऋकार के स्थान में विधीयमान अण् को रपर कर देगा। **इको गुणवृद्धी** और **इग्यणः सम्प्रसारणम्** सूत्रों की भी **षष्ठी स्थानेयोगा** में अनुवृत्ति लायेंगे। अतः जहां स्थानषष्ठी होगी, वहीं पहुंचकर इक् के स्थान में गुणवृद्धि का, और यण् के स्थान में इक् का विधान करेंगे। जैसे—**अङ्गस्य सार्वधातुकार्धधातुकयोः, इकः गुणः। वचिस्वपियजादीनां किति यणः इक् सम्प्रसारणम्।**

१. षष्ठीमपेक्षमाण अङ्गस्य वच्यादीनां ॠत इद् धातो इति स्वकार्यं निष्पादयन्ति। भर्तृहरि दीपिका, पृष्ठ १११।

अनुवृत्ति मानने में मध्यवर्ती सूत्रों के साथ इनका सम्बन्ध नहीं होगा। इस विषय में **इको गुणवृद्धी** सूत्रस्थ मण्डूकगतिरूप अधिकार, यत्न विशेष न करना आदि कारण जानने चाहियें (द्र०—पृष्ठ २४२)। अपेक्षारूप सम्बन्ध का निर्देश भी वहीं (पृष्ठ २४२ पर) देखना चाहिये। तदनुसार यहां **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४८) में योगविभाग करेंगे—**षष्ठी**। जो पूर्व कहा है, वह जहां षष्ठी का निर्देश किया है, वहां उपस्थित होता है।[1] पूर्व उक्त सूत्रों में से इन दो सूत्रों की ही ऐसी योग्यता है, जिससे उनकी अपेक्षा की जा सकती है। फिर सूत्र करेंगे—**स्थानेयोगा** इसमें षष्ठी की अनुवृत्ति है। अर्थ होगा—[अनिर्ज्ञातसम्बन्धा]षष्ठी स्थाने-योगवाली होती है।

[भाष्यम्] अथवेदं तावदयं प्रष्टव्यः—'सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो भवति' इतीह कस्मान्न भवति—याता वाता? इदं तत्रापेक्षिष्यते—'इको गुणवृद्धी' इति। यथैव तर्हीदं तत्रापेक्षिष्यते, एवमिहापि तदपेक्षिष्यामहे—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ॥३॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे तृतीयमाह्निकम् ॥३॥

व्याख्या—अथवा इस से यह पूछना चाहिये कि—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से गुण होता है' यह कहने पर यहां गुण क्यों नहीं होता—याता वाता? [इस का यही उत्तर दोगे कि] इस इको गुणवृद्धी सूत्र की वहां (७।३।८४ में) अपेक्षा करेंगे। जिस प्रकार यह (=इको गुणवृद्धी) सूत्र वहां (=७।३।८४ में) अपेक्षित होता है, वैसे ही यहां (=इको गुणवृद्धी सूत्र में) भी उस 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) की अपेक्षा करेंगे।

विवरण—यहां भाष्यकार ने **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) को विधिसूत्र मान कर **याता वाता** में गुणप्राप्तिरूप जो दोष उपस्थित होता था, उसे पूर्वपक्षी के मुख से ही समाहित कराने के लिये पूछा कि **याता वाता** में गुण क्यों नहीं होता? इसका उत्तर पूर्वपक्षी ने दिया कि—**सार्वधातुकार्धधातुकयोः** में **इको गुणवृद्धी** उपस्थित होता है। उसकी उपस्थिति से इक् को ही गुण होगा, अनिक् को नहीं होगा। इसी प्रकार **इको गुणवृद्धी** सूत्र को विधायक मान भी लें, तब यहां भी कहां गुणवृद्धि हो, इस आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिये **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** सूत्र की अपेक्षा होगी=उपस्थिति होगी। इस प्रकार इस सूत्र के स्वातन्त्र्य का निराकरण करके दोष का समाधान किया। इसी प्रकार **इग्यणः संप्रसारणम्** में भी **वचिस्वपियजादीनां किति** आदि की अपेक्षा होगी। अतः यह भी स्वतन्त्ररूप से यण् के स्थान में इक् का विधान नहीं करेगा ॥३॥

इति युधिष्ठिरमीमांसककृते महाभाष्यस्याऽऽर्यभाषाव्याख्याने प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे तृतीयमाह्निकं समाप्तम् ॥

१. षष्ठी स्थानेयोगेति योगविभागः क्रियते—षष्ठी इति। यदेतदनुक्रान्तमेतद् यत्र षष्ठी तत्र सन्निहितम् इति सामर्थ्याद् एतावेव सम्बन्ध्येते। भर्तृहरि, दीपिका, पृष्ठ १११।

अथ चतुर्थमाह्निकम्

न धातुलोप आर्धधातुके ॥१।१।४॥

विवरण—भर्तृहरि ने 'धातुलोपे' के सम्बन्ध में प्राचीन वृत्तिकारों के दो मत दर्शाये हैं। एक का कहना है कि—**धातोर्लोपो धातुलोपः** में धातु शब्द धातुसंज्ञक कृत्स्न समुदाय को ही कहता है, परन्तु कृत्स्न धातु के लोप हो जाने पर किस को गुणवृद्धि की प्राप्ति होगी? अतः सामर्थ्यात् धातुलोप से धात्वेकदेश का लोप जाना जाता है। दूसरों का कहना है कि—कृत्स्न में प्रवृत्त शब्द एकदेश में भी प्रयुक्त होता है। यथा **पटो दग्धः** का प्रयोग वस्त्र के एकदेश के जलने पर भी होता है। इसी प्रकार धातु शब्द धात्वेकदेश अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भाव एक ही है (=धात्वेकदेश के लोप का निमित्त जो आर्धधातुक), कथन के प्रकारमात्र में भेद है।

'न' पद से **'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा'** इस न्याय से **इको गुणवृद्धी** परिभाषा का निषेध नहीं होता, अर्थात् धातुलोपनिमित्तक आर्धधातुक परे रहने पर **इको गुणवृद्धी** परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती, ऐसा नहीं है। क्योंकि गुण-वृद्धि का प्रकरण होने से गुण-वृद्धि का ही प्राधान्य है। अतः 'गुण-वृद्धि नहीं होते' यही अभिप्राय जाना जायेगा॥

[भाष्यम्] धातुग्रहणं किमर्थम्? इह मा भूत्—'लूञ्'—लविता लवितुम्; 'पूञ्'—पविता पवितुम्।

आर्धधातुक इति किमर्थम्? त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति (ऋ० ४।५८।३)॥

व्याख्या—धातु का ग्रहण किसलिये है? यहां न होवे—लूञ्—लविता लवितुम्; पूञ्—पविता पवितुम् [यहां अनुबन्ध के लोप होने पर आर्धधातुक प्रत्यय के परे गुण का निषेध न हो जावे]।

आर्धधातुक का ग्रहण किसलिये है? त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति (ऋ० ४।५८।३) [यहां धात्वेकदेश यङ् का लुक् होने पर सार्वधातुक परे गुण का निषेध न हो जावे]।

विवरण—'लूञ् पूञ्' में वर्तमान इत्संज्ञा के विषय में दो मत हैं। एक—धातुपाठ में स्वरूपोपदेश के अनन्तर पहले इत्संज्ञा होती है, पश्चात् धातु-संज्ञा। इस पक्ष में अनुबन्धों के धातु से पूर्व लोप हो जाने से उनकी धातु संज्ञा ही नहीं होती। दूसरा पक्ष है—पहले धातु-संज्ञा होती है, पीछे अनुबन्धों का लोप होता है। इस पक्ष में **अनेकान्ता अनुबन्धाः** परिभाषा से अनुबन्ध धातु के अवयव नहीं माने जाते। अतः अनुबन्धों का लोप धातुलोप नहीं कहाता। अथवा **'क्रियावचनो धातुः'** लक्षण से क्रियावचन की धातु-संज्ञा होगी। अन्वय-व्यतिरेक से

'लू' 'पू' की ही क्रियावचनता जानी जाती है। अतः क्रियावचनता के अभाव से अनुबन्धों की धातुसंज्ञा नहीं होगी। भर्तृहरि धातु-संज्ञा और इत्संज्ञा की समानकाल में प्रवृत्ति मानकर भी 'जो इत्संज्ञक है, वह नहीं है,' ऐसा शास्त्र में स्वीकार करने से धातुसंज्ञा की प्रवृत्ति काल में नहीं है, इसलिये असत् अनुबन्ध की धातु-संज्ञा नहीं होती। **आर्धधातुक इति**—आर्धधातुक के ग्रहण न करने पर **'धातु-लोपे'** में भी षष्ठी-समास जाना जायेगा। 'धातु का लोप होने पर' **'रु य'** की **सनाद्यन्ता धातवः** (३।१।३२) से धातु-संज्ञा[1] होने पर **यङोऽचि च** (२।४।७४) से अनिमित्तक 'य' धात्वेकदेश का लोप होता है। **धातुलोपे गुणवृद्धी न भवतः** इतना कहने से **रोरवीति** में भी **सार्वधा०** (७।३।८३) से प्राप्त गुण का निषेध प्राप्त होगा।

भर्तृहरि के व्याख्यान से प्रतीत होता है कि भाष्यकार द्वारा उद्धृत **'धातुग्रहणं किम्—लूञ् लविता लवितुम्, पूञ् पविता पवितुम्'** तथा **'आर्धधातुक इति किम्—त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति'** शङ्का और प्रत्युदाहरणरूप अंश प्राचीन वृत्तिकारों द्वारा निर्दिष्ट है। सम्भव है कि भाष्यकार ने जहां-जहां भी सूत्रगत पद के प्रत्युदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे सभी प्राचीन वृत्तिकारों द्वारा निर्दिष्ट हों। और जहां प्रत्युदाहरण-निर्दिष्ट प्रयोजनों का खण्डन कर दिया है, अथवा प्रथमनिर्दिष्ट प्रयोजन का खण्डन करके अन्य प्रयोजनरूप प्रत्युदाहरण दिये हैं, वहां भी प्रत्याख्यात प्रयोजनरूप प्रत्युदाहरण प्राचीन वृत्तिकारों द्वारा ही निर्दिष्ट हों। इसी प्रकार भाष्योद्धृत सूत्रोदाहरणों के विषय में भी जानना चाहिये। काशिकाकार ने इस प्राचीन परम्परा का बड़े प्रयत्न से रक्षण किया है (द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ४६७, सन्दर्भ ४)। प्रक्रिया-कौमुदी और सिद्धान्त-कौमुदी के रचयिताओं ने साम्प्रदायिक उदाहरण दे देकर काशिका तक अक्षुण्ण चली आई परम्परा को तोड़कर प्राचीन इतिहास को नष्ट कर दिया है (वही, पृष्ठ ४६८)।

[भाष्यम्] किं पुनरिदमार्धधातुकग्रहणं लोपविशेषणम्—'आर्धधातुकनिमित्ते लोपे सति ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः' इति, आहोस्वित् गुणवृद्धिविशेषणमार्धधातुकग्रहणम्—'धातुलोपे सत्यार्धधातुकनिमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः' इति ?

व्याख्या—**क्या यह आर्धधातुक-ग्रहण लोप का विशेषण है—'आर्धधातुक का निमित्त मानकर लोप होने पर जो गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे नहीं होते', अथवा गुण वृद्धि का विशेषण आर्धधातुक ग्रहण है—'धातु के लोप होने पर आर्धधातुक को निमित्त मानकर जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे नहीं होते' ?**

विवरण—लोपविशेषणम्—धातुलोपे और **आर्धधातुके** में समानविभक्तिकत्व होने पर विशेष्य-विशेषणभाव श्रुत हैं। गुण-वृद्धी के प्रकरण होने से उनकी प्रधानता के नाते गुणवृद्धि का विशेषण होगा। ये दो पक्ष ही भाष्यकार ने उठाये हैं। कैयट ने यहां तीन पक्ष, और

१. छायाकार ने धातु-संज्ञा से पूर्व 'य' का लोप करके अदादिगण में **'चर्करीतं च'** सूत्र के पाठ से **'भूवादयो धातवः'** से ही धातु-संज्ञा कही है। द्र०—महा० निर्णयसागर, पृष्ठ १८०, कालम १, टि० ३।

भर्तृहरि ने चार पक्ष उपस्थापित किये हैं। वैद्यनाथ पायगुण्ड ने कैयट-निर्दिष्ट 'पक्षत्रय' पर लिखा है—"भाष्य में यद्यपि दो कोटिवाला ही संशय उपस्थित किया है, उससे इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि सर्वत्र संशय दो कोटिवाला ही होता है। **सहस्रसंवत्सराधिकरण** (मीमांसा ६।७।३१-४०) में बहुकोटिक संशय देखा गया है। इसी से **इदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** (१।१।१०) का भाष्य भी संगत हो जाता है। नैयायिकों के **'कोटिद्वयावलम्बिविमर्शः संशयः'** वचन में 'कोटिद्वय' एककोटित्व की निवृत्ति के लिये है, न कि बहुकोटिक की व्यावृत्ति के लिये।" द्र०—छाया, महा० नवा० निर्णय० पृष्ठ १८०, कालम १। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयटोक्त तृतीय कोटि **'बहुव्रीहिपक्षे तूभयविशेषणं वा'** का खण्डन किया है, उसे उसी के ग्रन्थ (हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २६३; मुद्रित पृष्ठ २६८) में देखें।

[भाष्यम्] किं चातः ? यदि लोपविशेषणम्—'उपेद्धः प्रेद्धः' अत्रापि प्राप्नोति। अथ गुणवृद्धिविशेषणम्—'क्नोपयति' इत्यत्रापि प्राप्नोति।

यथेच्छसि तथास्तु। अस्तु लोपविशेषणम्। कथम्—'उपेद्धः प्रेद्धः' इति ? बहिरङ्गो गुणोऽन्तरङ्गः प्रतिषेधः। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'। यद्येवं, नार्थो धातुग्रहणेन। इह कस्मान्न भवति—लूञ्—लविता लवितुम् ? आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः। न चैष आर्धधातुकनिमित्तो लोपः।

अथवा—पुनरस्तु गुणवृद्धिविशेषणम्। ननु चोक्तम्—'क्नोपयति' इत्यत्रापि प्राप्नोतीति। नैष दोषः। निपातनात् सिद्धम्। किं निपातनम् ? 'चेले क्नोपेः' [३।४।३३] इति॥

व्याख्या—इस विचार से क्या प्रयोजन ? यदि [आर्धधातुकग्रहण] लोप का विशेषण है, तो उपेद्धः प्रेद्धः में भी [गुण का प्रतिषेध] प्राप्त होता है। यदि [आर्धधातुकग्रहण] गुण वृद्धि का विशेषण है, तो क्नोपयति में भी [गुण का प्रतिषेध] प्राप्त होता है।

जैसा चाहो वैसा होवे। अच्छा तो [आर्धधातुकग्रहण] लोप का विशेषण होवे। कैसे होंगे—उपेद्धः प्रेद्धः ? [पूर्वोत्तर पद का] गुण बहिरङ्ग है, [गुण का] प्रतिषेध (१।१।४ से) अन्तरङ्ग है। 'अन्तरङ्ग कार्य के प्रति बहिरङ्ग असिद्ध होता है'। [इस से न धातुलोपे से प्राप्त होनेवाला गुण का प्रतिषेध जब प्रवृत्त होगा, तो आद् गुणः (६।१।८४) से विहित पूर्वोत्तर पद का गुण असिद्ध हो जायेगा।] यदि ऐसा है, तो आर्धधातुकग्रहण से कोई प्रयोजन नहीं। यहां [गुण का प्रतिषेध] क्यों नहीं होता—लूञ्—लविता लवितुम् ? आर्धधातुकनिमित्तक जो लोप होवे, उसमें प्रतिषेध होता है। यह [अकार का] लोप आर्धधातुक-निमित्तक नहीं है।

अथवा—[आर्धधातुकग्रहण] गुण-वृद्धि का विशेषण होवे। अभी तो कहा है—'क्नोपयति' में भी [गुण का प्रतिषेध] प्राप्त होता है। यह दोष नहीं है। निपातन से सिद्ध है। निपातन क्या है ? चेलेः क्नोपेः (३।४।३३) [सूत्र में णिजन्त 'क्नोपि' में गुण का निर्देश निपातन है]।

विवरण—उपेद्धः प्रेद्धः—'उप' अथवा 'प्र' पूर्वक 'इन्धृ' धातु से क्त प्रत्यय के परे

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।३३) से 'न' लोप होने पर, **आद् गुणः** (६।१।८४) से दोनों के स्थान में गुण होकर रूप निष्पन्न होते हैं। यहां कैयट ने कहा है कि—"**आद् गुणः** से प्राप्त गुण इग्लक्षण नहीं है। '**न धातुलोपे**' में इक् पद की अनुवृत्ति है। अतः प्रकृत निषेध की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। फिर यह प्रत्युदाहरण क्यों उपस्थित किया ? इसका उत्तर यह है कि यहां परिहारान्तर देने की इच्छा से इग्लक्षणत्व समाधान नहीं दिया।" शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि **उप इवृषः** में इकार के स्थान में भी गुण हो रहा है, अतः यह भी इग्लक्षण ही है। भाष्यकार ने इस प्रकार का इग्लक्षणत्व भी स्वीकार किया है, यह आगे कहेंगे।

बहिरङ्गो गुणः—धातु और उपसर्ग के योग में दो मत हैं। प्रथम—'**पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण**'। और दूसरा—'**पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन**'। यहां पूर्वपक्ष अर्थात् 'धातु से पहले प्रत्यय हुआ, और पश्चात् धातु का उपसर्ग के साथ सम्बन्ध हुआ' में प्रत्ययमात्र के आश्रयण से गुणवृद्धि का प्रतिषेध अन्तरङ्ग है, और दो पदों के अन्त-आदि अचों के स्थान में होने से **आद् गुणः** से प्राप्त गुण बहिरङ्ग है, इसलिये अन्तरङ्ग प्रतिषेध की दृष्टि से बहिरङ्ग असिद्ध है। भर्तृहरि और कैयट ने द्वितीय '**पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते**' में बहिरङ्ग गुण को असिद्ध कहा है, वह चिन्त्य कहा है। नागेश ने कहा है कि—'यह पक्ष भाष्यकार ने **सुट् कात् पूर्वः** (६।१।१३१) के भाष्य में दूषित कर दिया है'।[1] शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—'गुण-निषेध के निमित्त (=प्रत्यय) की निष्पत्ति से पूर्व गुण की प्रवृत्ति हो जाने (='उपेन्ध्' रूप बन जाने) पर गुण-निषेध की प्रवृत्ति होगी। उस अवस्था में प्रसक्त (=प्राप्त) जो कि अभी निष्पन्न नहीं हुआ है, उसकी निवृत्ति की जा सकती है, यहां तो गुण हो चुका। अतः **क्ङिति** (१।१।५) के भाष्यानुसार प्रवृत्त गुण का निषेध असम्भव होने से शङ्का ही उपपन्न नहीं होती है, तो असिद्ध-परिभाषा से उसका समाधान करना भी अयुक्त है'।[2]

परिभाषाद्वय-विचार—'**पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन**' और '**पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण**' ये दोनों परिभाषाएं यद्यपि यथायोग्य कार्य का विधान करती हुई प्रयोगसिद्धि में साधिका होती हैं, परन्तु ये परिभाषाएं वास्तविक रूप में अति प्राचीन काल की दो प्रकार की धातुओं की स्थिति का बोधन कराती हैं। अर्थात् मूलतः धातुएं दो रूपवाली हैं—एक शुद्ध, और दूसरी जिनमें उपसर्गांश जुड़ा हुआ है। यथा—**संग्राम युद्धे**, **व्यय गतौ** आदि। इनमें अट् का आगम उपसर्गांश से पूर्व होता है—**असंग्रामयत्**, **अव्ययत्**।

१. परं (=यदा तु पूर्वमुपसर्गयोगः)त्वय पक्षः 'सुट् कात् पूर्वः' (६।१।१३१)इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये दूषितः।

२. "पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते इति पक्षे निषेधेन निमित्तनिष्पत्तेः पूर्वं गुणप्रवृत्तेर्निराकृतया तत्प्रवृत्तौ सत्यां प्रसक्तस्याभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुमिति 'क्ङिति च' इति सूत्रगतभाष्येण तद्व्याख्यानेन च विरोधापत्त्या प्रवृत्तस्य गुणस्य निषेधासम्भवेन शङ्काया एवायुक्तत्वेनासिद्धपरिभाषया तत्समाधानस्याप्ययुक्तत्वात्।" हमारा हस्तलेख २६४-२६५, मुद्रित पृष्ठ २९९।

इस प्रकार दो प्रकार की धातुएं होने से **आनन्द प्रार्थ** से समासाभाव के कारण **आनन्दयित्वा प्रार्थयित्वा** प्रयोग भी उपपन्न हो जाते हैं। विशेष द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ २४।

क्नोपयति—क्नूयी धातु से णिच्, **अर्त्तिह्रीव्ली०** (७।३।३६) आदि से पुक् का आगम= **क्नूय् प् इ**, **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६४) से य लोप, **क्नूप् इ** में णिज् आर्धधातुकनिमित्त **पुगन्तलघूपधस्य** (७।३।८६) से गुण प्राप्त होने पर धात्वेकदेश यकार का लोप होने से गुण का प्रतिषेध प्राप्त होता है। वह **चेले क्नोपेः** (३।४।३३) के निपातन से हो जाता है।

वैद्यनाथ पायगुण्ड ने लिखा है—"कई भाष्य-पुस्तकों में—'**अथवा पुनरस्तु गुणवृद्धिविशेषणम्। कथं क्नोपयति? परिगणनं कर्तव्यम्**' पाठ मिलता है, और ऐसा ही विवरणकार नारायण आदि से व्याख्यात है। फिर भी प्रचुर पाठ ही यहां आश्रित किया गया है।"

[भाष्यम्] परिगणनं कर्तव्यम्—

यङ्यक्क्यवलोपे प्रतिषेधः ॥१॥

यङ्यक्क्यवलोपे प्रतिषेधो वक्तव्यः। यङ्—बेभिदिता मरीमृजकः[1]। यक्—कुषुभिता मगधकः। क्य—समिधिता दृषदकः। वलोपे—जीरदानुः।

किं प्रयोजनम्?

नुम्लोपस्त्रिव्यनुबन्धलोपेऽप्रतिषेधार्थम् ॥२॥

नुम्लोपे त्रिव्यनुबन्धलोपे च प्रतिषेधो मा भूदिति। नुम्लोपे—अभाजि, रागः, उपबर्हणम्। त्रिवेः—आस्त्रेमाणम्। अनुबन्धलोपे—लूञ् लविता लवितुम्॥

व्याख्या—[लोपों का] परिगणन करना चाहिये—

यङ् यक् क्य और व के लोप में [गुण वृद्धि का] प्रतिषेध कहना चाहिये।

यङ् यक् क्य और व के लोप में [गुण वृद्धि का] प्रतिषेध कहना चाहिये। यङ्—बेभिदिता, मरीमृजकः[2]। यक्—कुषुभिता मगधकः। क्य—समिधिता दृषदकः। वलोप में—जीरदानुः।

[परिगणन का] क्या प्रयोजन है?

नुम्लोप त्रिवि और अनुबन्ध के लोप में [गुण वृद्धि के] अप्रतिषेध के लिये।

नुम् लोप में, त्रिवि और अनुबन्ध के लोप में [गुण-वृद्धि का] प्रतिषेध न होवे। नुम्

१. इह भाष्यपुस्तकेषु 'मरीमृजः' इत्येव पठ्यते, कैयटेन च व्याख्यायते। तथाप्ययमपपाठः। उत्तरत्र अनारम्भो वा इत्यत्र बेभिदिता मरीमृजकः इत्येवानुवाददर्शनात्। शिवरामेन्द्रसरस्वत्याऽपि 'मरीमृजकः' इत्येव निर्दिश्य व्याख्यातः। विशेषोऽत्र वैद्यनाथविरचितायां छायायां द्रष्टव्यः (नवा० निर्णयसागर, संस्क०, कालम १)।

२. मुद्रित भाष्य-पुस्तकों में तथा कैयट के व्याख्यान में 'मरीमृजः' पाठ मिलता है। वह अशुद्ध है। द्र०—पाठविषयक पूर्वनिर्दिष्ट संस्कृतटिप्पणी।

लोप में—**अमार्जि, रागः, उपबर्हणम्।** स्रिवि [के लोप में]—**आस्रेमाणम्।** अनुबन्ध-लोप में—**लूञ् लविता लवितुम्।**

विवरण—वार्तिककार सूत्र में व्याप्ति अतिव्याप्ति दोष के वारण के लिये परिगणन कहते हैं, अर्थात् '**न क्यङ्यक्क्यवलोप आर्धधातुके**' ऐसा सूत्र पढ़ना चाहिये। ऐसा पढ़ने से **क्नोपयति** आदि सिद्ध हो जाते हैं (भर्तृहरि)। यङ् यक् क्य लोप में **यस्य हलः** (६।४।४९) से यकार अकार समुदाय का लोप जानना चाहिये। वकारलोप में कुछ विशेष का आश्रय करना चाहिये, जिससे 'जीव' के वकारलोप में तो गुण का प्रतिषेध होवे, किन्तु 'स्रिवु' के वकारलोप में न होवे (भर्तृहरि)। कैयट का कहना है कि—'वलोप में अकारविशिष्ट जो वकार धातुपाठ में पढ़ा है, उसका ग्रहण है। यथा **जीव प्राणधारणे**। इससे उकारविशिष्ट वकारवाली **स्रिवु गतिशोषणयोः** में गुण का प्रतिषेध नहीं होगा'।

बेभिदिता—भिद् से यङ्=बेभिदय, इससे तृच् इडागम होने पर **यस्य हलः** (६।४।४९) से 'य' का लोप। **मरीमृजकः**—मृज से यङ्, द्विर्वचन=मरीमृज् य, **यङोऽचि च** (२।४।७४) से 'य' का लोप, ण्वुल् प्रत्यय। **कुषुमिता मगधकः**—कुषुम और मगध से **कण्ड्वादिभ्यो यक्** (३।१।२७) से यक्। क्रमशः तृच् और ण्वुल् परे पूर्ववत् य लोप। **समिधिता दृषदकः**—समिध् और दृषद् शब्द से **सुप आत्मनः क्यच्** (३।१।८) से क्यच्। क्रमशः तृच् और ण्वुल् प्रत्यय। उन के परे **क्यस्य विभाषा** (६।४।५०) से यकार का लोप होता है। **जीरदानुः** के विषय में पूर्व पृष्ठ १५९ पर कह दिया, उसे वहीं देखें। कुछ विशेष आगे **रकि ज्यः सम्प्रसारणम्** पर कहेंगे, उसे भी देखें।

नुम्लोपे—**भञ्ज** और **रञ्ज** धातु में औपदेशिक नकार है, और **बृहि** में इदित् होने से नुम् की प्राप्ति होती है। अतः 'नुम् से नकार का भी उपलक्षण जानना चाहिये' ऐसा शिव-रामेन्द्र सरस्वती का कहना है। कैयट ने लिखा है—'नुम् यह नकार की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है'। **अट्कुप्वाङ्नुम्०** (८।४।३) पर काशिकाकार ने लिखा है—'नुम् ग्रहण अनुस्वार के उप-लक्षणार्थ भी जानना चाहिये।'

अमार्जि में **भञ्जेश्च चिणि** (६।४।३३) से चिण् परे, **रागः** में **रञ्जेश्च घञि च भावकरणयोः** (६।४।२६, २७) से घञ् परे, और **उपबर्हणम्** में **बृंहेरच्यनिटि** (वा० ६।४।२४) से नकार का लोप जानना चाहिये। यह प्रयोजन **बृह बृद्धौ** पाठ को न मानकर दिया है (विशेष इसी सूत्र में आगे देखें)। **आस्रेमाणम्** में आङ्पूर्वक स्रिवु से मनिन् होता है, उसके परे **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६४) से वकारलोप होता है। ऋ० ३।२९।१३ में **अस्रेमाणम्** पाठ मिलता है। इस में **नञ्सुभ्याम्** (६।२।१७१) से उत्तरपद अन्तोदात्तत्व है। हरदत्त ने **लोपो व्योर्वलि** की काशिका (६।१।६६) की व्याख्या में **अस्रेमाणम्** पाठ की ही व्याख्या की है। **आस्रेमाणम्** में भी **मन्क्तिन्व्याख्यान०** (६।२।१५०) से उत्तरपद अन्तोदात्तत्व ही होगा। विशेष वैदिक पाठ की उप-लब्धि से जाना जा सकता है। दोनों आस्रेमाण-अस्रेमाण प्रयोगों में **ज्वरत्वरस्रिव्यविम०**[1] (६।४।२०) से ऊठ् की प्राप्ति होती है। उनका छान्दसत्वात् अथवा बाहुलकात् प्रतिषेध जानना चाहिये।

---

१. महाभाष्य ६।४।६४ में **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) से ऊठ् का निर्देश किया

अनुबन्धलोपे—परिगणन करने पर धातु ग्रहण नहीं करना पड़ता है। अतः अनुबन्ध-लोप को भी प्रयोजनरूप से पढ़ा है।

[भाष्यम्] यदि परिगणनं क्रियते, 'स्यदः' 'प्रश्रथः' 'हिमश्रथः' इत्यत्रापि प्राप्नोति। वक्ष्यत्येतत्—'निपातनात् स्यदादिषु' इति। तर्हि परिगणनं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। नुम्लोपे कस्मान्न भवति?

इक्प्रकरणान्नुम्लोपे वृद्धिः ॥३॥

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः। न चैषेग्लक्षणा वृद्धिः।

यदीग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः—'स्यदः', 'प्रश्रथः', 'हिमश्रथः' इत्यत्र न प्राप्नोति। इह च प्राप्नोति—'अवोदः' 'एधः' 'ओद्मः' इति।

निपातनात् स्यदादिषु ॥४॥

निपातनात् स्यदादिषु प्रतिषेधो भविष्यति, न च भविष्यति ॥

व्याख्या—यदि परिगणन किया जाता है, तो स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथः यहां भी [घञ् परे न लोप होने पर वृद्धि की] प्राप्ति होती है। यह कहेंगे—'स्यदादि में निपातन से [वृद्धि नहीं होती है]'। तो क्या वह परिगणन करना चाहिये? नहीं करना चाहिये। नुम् के लोप में [अभाजि रागः में वृद्धि का प्रतिषेध] क्यों नहीं होता?

इक् का प्रकरण होने से नुम् के लोप में वृद्धि [नहीं होती है]।

इग्लक्षणा गुण वृद्धि का यह प्रतिषेध है। यह (=अभाजि रागः में) इग्लक्षणा वृद्धि नहीं है।

यदि इग्लक्षणा गुणवृद्धि का प्रतिषेध है, तो स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथः में [वृद्धि का प्रतिषेध] प्राप्त नहीं होता। और यहां अवोदः एधः ओद्मः में गुण का प्रतिषेध प्राप्त होता है।

निपातन से स्यदादि में [प्रतिषेध अप्रतिषेध होता है]।

निपातन से स्यदादि में प्रतिषेध हो जायेगा, और [अवोदः आदि में] नहीं होगा।

विवरण—स्यदः—स्यन्दू प्रस्रवणे, प्रश्रथः हिमश्रथः—श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः से घञ् प्रत्यय परे स्यदो जवे, अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः (६।४।२८, २९) से नकार का लोप होता है। और निपातन से वृद्धि का प्रतिषेध होता है। यदि निपातन केवल नकारलोप के लिये ही होवे, तो निपातन करना व्यर्थ होता है।

इक्प्रकरणात्—पूर्व सूत्र से इको गुणवृद्धी की अनुवृत्ति आने से। इग्लक्षणयोः—इक् लक्षकं स्थानी ययोस्तयोरित्यर्थः (शिवरामेन्द्र), अर्थात् जहां स्थान्यन्तर की निवृत्ति के लिये

निदर्शनार्थमात्र जानना चाहिये। अगले सूत्र में साक्षात् 'ज्ञिवि' का निर्देश होने से उसी से ऊठ् की प्राप्ति दर्शानी चाहिये।

इकः पद उपस्थित होता है, उसी गुण वृद्धि में यह सूत्र प्रतिषेध करता है। स्थान्यन्तर की निवृत्तिरूप अर्थ न करने पर ओर्गुणः (६।४।१४६) में भी परिभाषा की प्रवृत्ति होने पर उसके भी इग्लक्षण होने से लैगवायनः (लिगु+फक्) से गुण का प्रतिषेध हो जायेगा। उपबर्हणम् का समाधान आगे कहेंगे।

अवोदः—अव पूर्वक उन्दी क्लेदने से घञ् परे न-लोप। **एधः**—में ञिइन्धी दीप्तौ से पूर्ववत् घञ् और न-लोप। **ओद्मः**—में उन्दी से औणादिक मन् प्रत्यय परे न-लोप। यहां **न धातुलोप आर्धधातुके** से गुण का निषेध **अवोदैधौद्म०** (६।४।२९) निपातन-सामर्थ्य से नहीं होता। '**अवोदः**'—में यह विशेष जानना चाहिये—न-लोप और गुण कर लेने पर पूर्वपद के अन्त्य और उत्तरपद के आद्यक्षरों (=अ+उ) को प्राप्त होनेवाला गुण बहिरङ्ग है, और प्रतिषेध अन्तरङ्ग है। अतः **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** नियम से प्रतिषेध की दृष्टि से बहिरङ्ग गुण असिद्ध हो जायेगा।

[भाष्यम्] यदीग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः, स्निव्यनुबन्धलोपे कथम् ?

प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम् ॥५॥

आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः। न चैष आर्धधातुकनिमित्तो लोपः।

यद्यार्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः—'जीरदानुः' (ऋ० ५।८३।१) अत्र न प्राप्नोति।

रकि ज्यः सम्प्रसारणम् ॥६॥

नैतज्जीवे रूपम्, रक्येतज्ज्यः सम्प्रसारणं भवति।

यावता चेदानीं रकि, जीवेरपि सिद्धम् भवति।

कथमुपबर्हणम् ? बृहिः प्रकृत्यन्तरम्। कथं ज्ञायते—'बृहिः प्रकृत्यन्तरम्' इति ? 'अचि' इति हि लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते—निबृह्यते। 'अनिटि' इति चोच्यते, इडादावपि दृश्यते—निबर्हिता निबर्हितुमिति। अजादावपि न दृश्यते—बृंहयति बृंहकः। तस्मान्नार्थः परिगणनेन ॥

व्याख्या—यदि इग्लक्षणा गुण वृद्धि का प्रतिषेध होता है, तो स्निवि (=आस्रेमाणम्) और अनुबन्धलोप (=लूञ्—लविता लवितुम्) में कैसे [गुण] होगा ?

प्रत्ययाश्रय [लोप] से अन्यत्र सिद्ध हो जायेगा।

आर्धधातुक [प्रत्यय] निमित्तक लोप होने पर [गुण वृद्धि का] प्रतिषेध होता है। यह लोप (=स्निवि का वकारलोप, लूञ् की अनुबन्धलोप) आर्धधातुक [प्रत्यय] निमित्तक नहीं है।

यदि आर्धधातुक [प्रत्यय] निमित्तक लोप में [गुण वृद्धि का] प्रतिषेध होता है, तो जीरदानुः यहां [गुण का प्रतिषेध] प्राप्त नहीं होता।

[जीरदानु में] रक् परे ज्या से सम्प्रसारण होता है।

यह जीव का रूप नहीं है, यह तो रक् प्रत्यय परे ज्या से सम्प्रसारण होता है।

यतः[1] इस समय (=परिगणन-प्रत्याख्यानकाल में) रक् प्रत्यय परे [मानकर रूप सिद्ध होता है, तो] जीव से भी सिद्ध हो जायेगा।

उपबर्हण रूप कैसे सिद्ध होगा ? बृह् प्रकृत्यन्तर है। कैसे जाना जाता है कि—'बृह् प्रकृत्यन्तर है' ? 'अच् परे रहने पर' [बृंहेरच्यनिटि (वा० ६।४।२४)=इड्भिन्न अजादि प्रत्यय परे रहने पर बृंह् (=बृहि=बृह्, नुम=बृंह्) के अनुनासिक का लोप होता है, से अनुनासिक का] लोप कहते हैं, अजादि से भिन्न (=हलादि) में भी [वह] देखा जाता है—निबृह्यते। और 'अनिट् परे' [अनुनासिक का लोप] कहते हैं, इडादि में भी [वह] देखा जाता है—निर्बर्हिता निर्बर्हितुम्। और अजादि में भी [अनुनासिक का लोप] नहीं देखा जाता है—बृंहयति बृंहकः। इसलिये परिगणन से कोई प्रयोजन नहीं है।

विवरण—'जीरदानु' अत्र न—जीव से रदानु प्रत्यय के परे वल्निमित्तिक **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६४) से लोप होता है, वह आर्धधातुक-प्रत्यय-निमित्तिक नहीं है। यह **जीवेरदानुः** पाठ को मानकर दोष दिया है। **जीवेरदानुक्** पाठ में कित् होने से ही गुण का निषेध हो जायेगा। **'हयवरट्'** सूत्र के भाष्य में भी **जीवेरदानुक्** पाठ बहुत से हस्तलेखों से मिलता है। काशिका ६।१।६६ में भी **जीवेरदानुक्** पाठ ही मिलता है। **जीवेरदानुक्** सूत्र दशपादी उणादि (१।६३) का है। इस सूत्र से **जीरदानु** और **जीवदानु** दोनों शब्दों की सिद्धि होती है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १५६)।

रकि ज्यः संप्रसारणम्—'ज्या वयोहानौ' धातु से औणादिक रक् प्रत्यय, प्रत्यय के कित् होने से **ग्रहिज्यावयिव्यधि०** (६।१।१६) से संप्रसारण होकर 'जीर' शब्द निष्पन्न होता है। 'जीर' शब्द उणादि के **जोरी च** (उ० २।४) सूत्र से जु धातु को ईकार अन्तादेश और रक् प्रत्यय होकर भी निष्पन्न होता है[2]। 'दानु' शब्द **दाभाभ्यां नुः** (उ० ३।३२) से नु प्रत्ययान्त है। **जीरो दानुर्यस्य स जीरदानुः** बहुव्रीहि समास होता है। उससे पूर्वपदप्रकृतिस्वर, और पदकारों द्वारा प्रदर्शित **जीरऽदानुः** ऐसा अवग्रह भी उपपन्न हो जाता है। वाराह गृह्यसूत्र ४।८ में एक मन्त्र है—**आर्द्रदानवस्थ जीवदानवस्थ**। इसमें **आर्द्रदानवः** के साहचर्य से **जीवदानवः**, और तदर्थक **जीरदानवः** भी समस्त पद है।[3] भाष्यकार ने हयवरट् और **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६४) के भाष्य में एक पद भी माना है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १०६)। भट्टभास्कर ने पक्षान्तर में **जीरस्य दानुः जीरदानुः** षष्ठीसमास मानकर **अन्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्** (वा० ६।२।१०६) से पूर्वपद अन्तोदात्तत्व कहा है (द्र०—तै० सं० भाष्य १।१।६)।

---

१. यावता इत्यव्ययं यत इत्यर्थे। द्र०—शिवरामेन्द्र सरस्वती, पृष्ठ २६६।

२. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादिकोष २।२४ की वृत्ति में तीनों पक्षों का निर्देश किया है।

३. वेद में 'जीर' पूर्वपद के तथा 'दानु' उत्तरपद के बहुत प्रयोग उपलब्ध होते हैं। उनसे भी 'जीरदानु' की समस्तता ही विदित होती है।

यावता रकि—यदि रक् के कित्त्व से गुण-निषेध करना है, तो जीव से भी रक् होकर सिद्ध हो जायेगा। **लोपो व्योर्वलि** (६।४।६४) के भाष्य में 'व' के लोप के प्रत्याख्यान करने पर आस्रेमाणम् और जीरदानुः में छान्दस वर्णलोप (द्र०—८।२।२५) होगा। नागेश ने यहां लिखा है—"**वलोपप्रत्याख्याने तु 'रकि ज्वः' इत्येव शरणम्**"। यह उसके लोपो व्योर्वलि सूत्रस्थ भाष्य से विरुद्ध होने से चिन्त्य है।

बृहिः प्रकृत्यन्तरम्—यद्यपि सम्प्रति धातुपाठ में **बृह बृहि वृद्धौ** दोनों धातुओं का पाठ मिलता है, फिर भी भाष्यकार के प्रश्न और प्रकृत्यन्तर-साधनत्व के बोधन से जाना जाता है कि भाष्यकार के समय 'बृह' का पाठ नहीं था। अन्यथा **पठ्यत एव बृहिः प्रकृत्यन्तरम्** ऐसा स्पष्ट निर्देश करते। भाष्यकार ने प्रकृत्यन्तर जानने की जो प्रक्रिया लिखी है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[1]

भाष्यकार ने अनेकत्र प्रकृत्यन्तर-निर्देश द्वारा सूत्र-वार्तिककार-निर्दिष्ट लोपागम वर्ण-विकार की अनावश्यकता द्योतित की है। प्रकृत्यन्तर-निर्देश महाभाष्य में निम्न स्थलों पर उपलब्ध होता है—

१. **बृह** (नुम्-रहित) प्रकृत्यन्तर १।१।४; ६।४।२४॥

२. **निष** प्रकृत्यन्तर ३।१।२४; ३।२।१३५॥

३. **पृण मृण** (श्नम् रहित) धात्वन्तर ३।१।७८॥

४. **सुधातक व्यासक वरुडक निषायक चण्डालक बिम्बक** (अकङ् आदेश रहित) प्रकृत्यन्तर ४।१।९७॥

५. **पीतक** (कन् रहित) प्रकृत्यन्तर ४।२।२॥

६. **हेमन्** (हेमन्त के त लोप से रहित) प्रकृत्यन्तर ४।३।२२॥

७. **तैल** (विकार प्रत्यय रहित) प्रकृत्यन्तर ५।२।२९॥

८. **शीर्षन्** (स्वतन्त्र शब्द) प्रकृत्यन्तर ६।१।६०॥

९. **सपत्न** (स्त्रीलिङ्ग में विहित ४।१।३५ नकारादेश रहित) प्रकृत्यन्तर ६।३।३५॥

---

१. शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—"प्रकृत्यन्तरमिति—बृहि बृहि वृद्धौ इति धातुपाठादवगम्यते इति भावः। तं भावमजानन् पृच्छति—कथं ज्ञायत इति। प्रत्यक्षानुरूपबलि(?) न्यायेन बृहेः प्रकृत्यन्तरतां साधयति—अर्चीति।" यह व्याख्यान क्लिष्ट कल्पनामात्र होने से त्याज्य है। हमने जो व्याख्यान किया है, वह सरल और स्पष्ट है। भाष्यकार के समय धातुपाठ में बहुत्र पाठभेद था, यह **भूवादयो धातवः** (१।३।१) तथा **जक्षित्यादयः षट्** (६।१।६) के भाष्य, तथा कैयट के व्याख्यान से स्पष्ट है। इसी से महाभाष्य ६।४।२४ पर कैयट का लेख—"बृहिः प्रकृत्यन्तरमिति—बृह बृहि वृद्धौ पाठात्।" और यहीं (१।१।४) पर वैद्यनाथ पायगुण्ड का "उक्तमभिप्रेतं धातुपाठमजानन् शङ्कते" छाया टीका का लेख भी चिन्त्य है, ऐसा जानना चाहिये।

१०. स्पश-कश-बश (स्पाश्-काश्-वाश् के उपधा-ह्रस्वत्व से रहित) प्रकृत्यन्तर ७।३। ८७॥

इन महाभाष्यस्थ निर्देशों से अन्यत्र भी वैयाकरण प्रकृत्यन्तर की कल्पना सदा से करते चले आये हैं। यथा—

१. शीर्षन् समानार्थक **शीर्ष** अकारान्त। वामन लिङ्गा० पृष्ठ १३, पं० १५॥ **कुमार-शीर्षयोर्णिनिः**। अष्टा० ३।२।५१॥

२. मास समानार्थक **मास्** सकारान्त। क्षीर-तरङ्गिणी, पृष्ठ २१५।

३. पाद समानार्थक **पद्** शब्द। महाभाष्य ४।१।१॥ काशकृत्स्न धातुव्याख्यान ३।१०५, पृष्ठ १४८।

४. हृदय समानार्थक **हृद्** शब्द। काशिका ६।३।५१॥

इन सब प्रकृत्यन्तर-निर्देशों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि जहां-जहां वैयाकरणों ने प्रकृत्यंश में लोप आगम वर्णविकार वर्णविपर्यय आदेश आदि के द्वारा रूपान्तर-कल्पना प्रस्तुत की है, वहां सर्वत्र उनका अभिप्राय विलुप्त हुई किसी प्रकृत्यन्तर का निर्देश करने में है। इसकी विस्तृत व्याख्या के लिये सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ११, २६-३२; ऋषि दयानन्द की पदप्रयोगशैली पृष्ठ ६-१३; इसी ग्रन्थ में वैयाकरणों द्वारा लोपागमादेश प्रक्रिया के अपनाने का कारण पृष्ठ १३-१७ तक द्रष्टव्य हैं।

लोप आगम आदेश आदि के निर्देश के व्याज से, तथा प्रकृत्यन्तर-निर्धारण के नियमों के उल्लेख द्वारा वैयाकरणों ने जो सहस्रों लुप्त प्रकृत्यन्तरों का सद्भाव बताया है, अथवा स्वीकार किया है, उसी तत्त्व को ध्यान में रखकर भट्टकुमारिल ने कहा है—

'यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुपलक्षित-रूपाणि च।' तन्त्रवार्तिक १।३।१२, पृष्ठ २३६, पूना, प्रथम संस्करण।

महाभाष्यकार भी आगे **दाधा घ्वदाप्** (१।१।१६) सूत्र के भाष्य में कहेंगे—**'शब्दान्तरैरिह भवितव्यम्। तत्र शब्दान्तरे शब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता।'** तथा—**'सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः।'**

[भाष्यम्] यदि परिगणनं न क्रियते—भेद्यते छेद्यते, अत्राऽपि प्राप्नोति। नैष दोषः। 'धातुलोपे' इति नैवं विज्ञायते—'धातोर्लोपो धातुलोपो, धातुलोपे' इति। कथं तर्हि? 'धातोर्लोपो यस्मिंस्तदिदं धातुलोपं, धातुलोपे' इति। तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः॥

व्याख्या—यदि परिगणन नहीं करते, तो भेद्यते छेद्यते, यहां भी [आर्धधातुक यक् प्रत्ययनिमित्तक णि का लोप (६।४।५१ से) होने से गुण का प्रतिषेध] प्राप्त होता है। यह दोष नहीं है। 'धातुलोपे' यह इस प्रकार नहीं जाना जाता है—'धातु का लोप=धातुलोप, [उस] धातुलोप के होने पर।' तो कैसे जाना जाता है? धातु 'लोप का होता है जिसके परे रहने पर

वह धातुलोप, [उस] धातुलोप [रूप आर्धधातुक] के परे रहने पर'। इसलिये इग्लक्षणा वृद्धि [ही प्रतिषेध्य] है। [इस कारण अभाजि रागः में वृद्धि का प्रतिषेध नहीं होगा।]

विवरण—**भेद्यते छेद्यते**—'भिद् छिद् णि यक् ते' यहां भिद् छिद् को गुण णिच्निमित्तक है, और णिलोप यक्निमित्तक। दोनों ही आर्धधातुक हैं, परन्तु गुण अन्तरङ्ग होने से पहले प्राप्त होता है। उसको **न धातुलोपे** कैसे बाधेगा? इसका उत्तर शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार दिया है—"अन्तरङ्ग विधियों को भी उनके निमित्त की विघातक बहिरङ्ग विधियां बाध लेती हैं। इस नियम से पश्चात् प्रवर्तमान यग्विधि अथवा णिलोप विधि से गुण की बाधा प्राप्त होती है"[1] (पृष्ठ २७०)। कैयट के मत में—"अपवादविषय की कल्पना करके उसे छोड़कर उत्सर्ग प्रवृत्त होता है' इस नियम से **न धातुलोपे** रूप अपवाद को छोड़कर गुणविधि की प्रवृत्ति होती है, अर्थात् 'भेद्यते' में पहले गुण नहीं होता।" इन दोनों पक्षों में **अकृतव्यूहा पाणिनीयाः** इस नवीन नियम से गुणरूप व्यूहविशेष णिलोप तक मानकर सूत्र की प्रवृत्ति दर्शानी पड़ती है। कुछ वैयाकरणों का मत है कि **प्रकल्प्य चापवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते** परिभाषा की वहीं प्रवृत्ति होती है, जहां उत्सर्ग अपवाद समकाल में उपस्थित होते हैं। नागेश ने इसका खण्डन किया है, पर विशेष हेतु नहीं दिया। कैयट ने प्रकृत में गुणविधि को उत्सर्ग और प्रतिषेधविषय को अपवाद माना है। इसका शिवरामेन्द्र सरस्वती ने—'कहीं भी भाष्यकार ने अथवा अन्य शिष्टों ने निषेध का अपवादरूप से व्यवहार नहीं किया'[2] कहकर खण्डन किया है (द्र०—पृष्ठ २७१)। परन्तु शिवरामेन्द्र सरस्वती ने भी **'अन्तरङ्गानपि विधीन् तन्निमित्तविघातको बहिरङ्गो विधिर्बाधते'** रूप जो परिभाषा उपस्थित की है, वह भी वैयाकरणों द्वारा पठित वा आदृत नहीं है।

[भाष्यम्] यदि तर्हीग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः, 'पापचकः पापठकः मगधकः दृषदकः,' अत्र न प्राप्नोति।

अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् ॥७॥

अकारलोपे कृते तस्य स्थानिवत्त्वाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

व्याख्या—यदि इग्लक्षणा गुण-वृद्धि का प्रतिषेध है, तो पापचकः, पापठकः, मगधकः, दृषदकः, **यहां** [अत उपधायाः (७।२।११६) **से प्राप्त वृद्धि का प्रतिषेध]प्राप्त नहीं होता।**

अकार-लोप के स्थानिवत् होने से [होगी]।

अकार-लोप के करने पर उसके स्थानिवत् होने से गुण वृद्धि नहीं होंगे।

---

१. ननु यगुत्पत्तेः पूर्वमेव तत्र गुणो भवत्विति चेन्न, 'अन्तरङ्गानपि विधीन् तन्निमित्तविघातको बहिरङ्गो विधिर्बाधते' इति पश्चात् प्रवर्तमानेनापि यग्विधिना णिलोपविधिना वा गुणनिमित्तणिविघातकेन गुणविधेर्बाधात्। पृष्ठ २७०; मुद्रित पृष्ठ ३०५।

२. नहि निषेधस्यापवादत्वेन क्वचिद् भाष्यकृताऽन्यैर्वा शिष्टैर्व्यवहृतमस्ति। पृष्ठ २७१; मुद्रित पृष्ठ ३०५।

विवरण—**पापचकः पापठकः**—यहां पच पठ से यङ्, द्वित्व, हलादि लोप, **दीर्घोऽकितः** (७।४।८३) से अभ्यासदीर्घत्व, धातुसंज्ञा=**पापच्य पापठ्य**। इनसे ण्वुल्, परत्व से पहले **यस्य हलः** (६।४।४९ से यकारलोप, पश्चात् **अतो लोपः** (६।४।४८) से अकारलोप करने पर ण्वुल्निमित्तक **अत उपधायाः** (७।२।११६) से वृद्धि प्राप्त होने पर **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** से अकारलोप के स्थानिवद्भाव से वृद्धि नहीं होती है। **मगधकः दृषदकः**—मगध से **कण्ड्वादिभ्यो यक्** (३।१।२७) से यक्=**मगध्य**, दृषद् से सुप **आत्मनः क्यच्** (३।१।८) से क्यच्=**दृषद्य**, आगे पूर्ववत्। पचादि यङ्लुगन्त से ण्वुल् करने पर यङ्लोप के आर्धधातुकनिमित्तक न होने से सूत्रपक्ष में भी वृद्धि का निषेध नहीं होगा, अतः **पापाचकः पापाठकः** रूप बनेंगे।

गुणवृद्धी न भविष्यतः—प्रश्न 'पापठकः' आदि में **अत उपधायाः** (७।२।११५) से प्राप्त वृद्धि का था। उसका उत्तर वार्तिककार ने **अल्लोपस्य स्थानिवत्वात्** वार्तिक से दिया। भाष्यकार ने अकारलोप के स्थानिवद्भाव से **बेभिदिता** आदि में वृद्धि के समान गुण भी नहीं होगा, अतः साथ में गुण पद का भी सन्निवेश कर दिया।

[भाष्यम्] अनारम्भो वा ॥८॥

अनारम्भो वा पुनरस्य योगस्य न्याय्यः। कथं 'बेभिदिता, मरीमृजकः, कुषुभिता, समिधिता' इति? अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः।

यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति, तदर्थमयं योगो वक्तव्यः। क्व च स्थानिवद्भावो नास्ति? यत्र हलचोरादेशः—'लोलुवः,पोपुवः, मरीमृजः, सरीसृपः' इति। अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः। लुकि कृते न प्राप्नोति? इदमिह सम्प्रधार्यम्—'लुक् क्रियतामल्लोपः' इति, किमत्र कर्तव्यम्? परत्वादल्लोपः। नित्यो लुक्। कृतेऽप्यल्लोपे प्राप्नोति, अकृतेऽपि प्राप्नोति। लुगप्यनित्यः। कथम्? अन्यस्य कृतेऽल्लोपे प्राप्नोति, अन्यस्याऽकृते। 'शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति'। अनवकाशस्तर्हि लुक्? सावकाशो लुक्। कोऽवकाशः? अवशिष्टः॥

व्याख्या—**अथवा [सूत्र का] अनारम्भ ही युक्त है।**

अथवा इस सूत्र का आरम्भ न करना ही न्याय्य (=उचित) है। कैसे बनेंगे—बेभिदिता, मरीमृजकः, कुषुभिता, समिधिता? **यहां भी अकारलोप के करने पर उसके स्थानिवद्भाव से गुण वृद्धि नहीं होंगे।**

अच्छा तो जहां स्थानिवद्भाव नहीं है, उसके लिये यह सूत्र कहना चाहिये। कहां स्थानिवद्भाव नहीं है? जहां हल् और अच् [समुदित] को आदेश होता है—लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः, सरीसृपः। **यहां भी अकारलोप करने पर उसके स्थानिवद्भाव से गुण वृद्धि नहीं होंगे। लुक् करने पर [अकारलोप] प्राप्त नहीं होता। अच्छा तो यहां यह विचार करना चाहिये—'लुक् [पहले] करें, अथवा अकारलोप?', यहां क्या करना चाहिये? परत्व से अकार का लोप। लुक् नित्य है। अकारलोप के करने पर भी प्राप्त होता है, और बिना किये**

भी प्राप्त होता है। लुक् भी अनित्य है। कैसे? अकारलोप करने पर अन्य(=यकारमात्र)को [लुक्] प्राप्त होता है, [अकारलोप के] न करने पर अन्य (=अकारविशिष्ट य) को। 'शब्दान्तर को प्राप्त होनेवाली विधि अनित्य होती है।' अच्छा तो लुक् अनवकाश है [क्योंकि लोप की अवश्यप्राप्ति में लुक् का विधान किया है]। लुक् सावकाश है। कहां अवकाश है? [अकारलोप से] बचा हुआ [यकारमात्र]॥

विवरण—**'मरीमृजकः'**—यहां अकारलोप के स्थानिवद्भाव में पूर्वसूत्रभाष्योक्त **मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिर्भवति** की प्रवृत्ति इष्ट नहीं है। इसके लिये उसे व्यवस्थित-विभाषा मानना चाहिये। **लोलुवः**—यहां 'लोलूय' से अच् परे **यङोऽचि च** (२।४।७४) से 'य' समुदाय का लुक् होता है। **अत्राप्यकारलोपे**—अकारलोप करने पर **यङोऽचि च** व्यर्थ नहीं होता। अवशिष्ट जो 'य्' बचता है, वह **एकदेशविकृत न्याय** (पूर्व पृष्ठ १२३) से यङ् है, उसका लुक् हो जायेगा। **नित्यो लुक्**—का अभिप्राय यह है कि लुक्शास्त्र की प्रवृत्ति नित्य है। **शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्**—**इन्धिभवतिभ्यां च**(१।२।६)सूत्र में कृताकृतप्रसङ्गमात्र से वुक् का नित्यत्व कहकर सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। **शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्** परिभाषा का आश्रयण करने पर वुक् भी अनित्य होता है। क्योंकि गुण करने पर 'भो' अङ्ग को वुक् प्राप्त होता है, और गुण न करने पर 'भू' अङ्ग को। इस दृष्टि से **बभूव** में गुणप्रतिषेधार्थ **इन्धिभवतिभ्यां च** सूत्र आवश्यक है। **अनवकाशस्तर्हि लुक्**—**येन नाप्राप्ति न्याय**(=जिसकी अवश्यप्राप्ति में जो विधि आरम्भ की जाती है, वह उसकी बाधक होती है) से अकारलोप की अवश्यप्राप्ति में यङ् के लुक् का विधान किया है, वह अकारलोप को बाध लेगा। अनवकाशविधि सम्भव होने पर भी बाधती है। **सावकाशो लुक्**='**असति खल्वपि सम्भवे बाधनं भवति, अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्** (महा० ६।१।२) इस न्याय से 'य्' मात्र में लुक् और अकार में लोप दोनों के सम्भव होने से लुक् लोप का बाधक नहीं होगा। क्योंकि दोनों के असम्भव होने पर भी बाध्य-बाधकभाव होता है।

[भाष्यम्]अथा प कथंचिदनवकाशो लुक् स्यादेवमपि न दोषः। अल्लोपे योग-विभागः करिष्यते—'अतो लोपः', ततो 'यस्य', यस्य च लोपो भवति। 'अतः' इत्येव। किमर्थमिदम्? लुकं वक्ष्यति, तद्बाधनार्थम्। ततो 'हलः,' 'हल उत्तरस्य यस्य च लोपो भवति' इति।

इहापि तर्हि परत्वाद् योगविभागाद्वा लोपो लुकं बाधेत—"कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्" (ऋ० १।७६।२), नोनूयतेर्नोनाव। समानाश्रयो लुग्लोपेन बाध्यते। कश्च समानाश्रयः? यः प्रत्ययाश्रयः। अत्र च प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्लुग्भवति।

व्याख्या—और यदि किसी प्रकार लुक् अनवकाश होवे, तो भी दोष नहीं है। अकार लोप में योगविभाग करेंगे—'अतो लोपः'(=आर्धधातुक परे अकार का लोप होता है),उसके पश्चात् 'यस्य', 'य' के अकार का लोप होता है। 'अतः' की अनुवृत्ति है। यह [योगविभाग]

किस लिये है ? लुक् कहेंगे (२।४।७४ से), उसको बाधने के लिये। उसके पश्चात् हलः, हल् से उत्तर यकार का लोप होता है।

तब तो यहां भी परत्व से अथवा योगविभाग से लोप लुक् को बाधेगा—'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् (ऋ० १।७९।२), नोनूय [=नू यङ्लुगन्त] से नोनाव रूप है। समानाश्रय लुक् लोप से बाधा जाता है। कौनसा समानाश्रय है ? जो [लुक्] प्रत्ययाश्रय है। यहां (='नोनाव' में) तो प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व ही लोप हो जाता है।

विवरण—कथंचिदनवकाशो लुक्—पूर्व उल्लिखित **येन नाप्राप्ति** न्याय से सम्भव होने पर भी बाधकता मानने पर लुग् अनवकाश होता है (शिवरामेन्द्र सरस्वती)। कैयट ने लिखा है—'**यङोऽचि च** (२।४।७४) सूत्र में यकार-अकार-समुदाय का यङ्रूप से निर्देश की विवक्षा होने से समुदाय का लोप होगा। यकारमात्र में यङ्त्व गौण है।' नागेश ने कैयट के व्याख्यान का खण्डन किया है, उसे उसी के ग्रन्थ में देखें।

नोनूयतेर्नोनाव—यहां नोनूय से यङ् का लुक् होकर **'नोनाव'** रूप बना है, यही दर्शाना प्रयोजन है। यङन्त का 'नोनाव' रूप नहीं है। उसका तो **नोनूयाञ्चक्रे** रूप बनेगा। स्पष्टार्थ **नोनौतेः** अथवा **नोनवीतेः** यङ्लुगन्त का निर्देश युक्त था। **प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेः**—'नोनूय' की धातु संज्ञा होकर **यङोऽचि च** (२।४।७४) से बहुलग्रहण की अनुवृत्ति से लिट् की उत्पत्ति से पूर्व ही यङ् का लुक् हो जाता है।

शिवरामेन्द्र सरस्वती, नागेशभट्ट, वैद्यनाथ पायगुण्ड आदि ने सूत्र के प्रत्याख्यान को लेकर विविध प्रयोगों की दृष्टि से विविध कल्पनाएं की हैं। भाष्यव्याख्यान से साक्षात् सम्बन्ध न होने से हम उनका यहां निर्देश नहीं करते।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने सूत्रप्रत्याख्यान के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्हें हम नीचे उद्धृत करते हैं—

"अत्रेदमवधेयम्—लोलुवः पोपुवः इत्यादीनि प्रकृतसूत्रोदाहरणानि यानि वृत्तिकारैर्निर्दशितानि तानि सूत्रं विनाऽपि साधयितुं शक्यन्ते, इत्येतावन्मात्राभिप्रायेण 'अनारम्भो वा' इत्यादिभाष्यं प्रवृत्तम्, न तु सर्वथा सूत्रं मास्त्विति।" हस्तलेख, पृष्ठ २७३,२७४; मुद्रित पृष्ठ ३०९।

अर्थात् यहां यह जानना चाहिये कि वृत्तिकारों ने इस सूत्र के जो **लोलुवः पोपुवः** उदाहरण दिये हैं, वे विना सूत्र के भी सिद्ध किये जा सकते हैं, इतने ही अभिप्राय से **'अनारम्भो वा'** इत्यादि भाष्य-प्रवृत्त हुआ है, सर्वथा सूत्र न होवे, इस आशय से प्रवृत्त नहीं हुआ।

"न च सर्वत्र संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति गुणादिपरिहारः सिद्ध्यतीति वाच्यम्। अगतिकगतिभूतां तां परिभाषामाश्रित्य सूत्रप्रत्याख्याने 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६।३।१०८) इत्येतावत एव सर्वेष्टसिद्धौ समस्तशास्त्रस्य प्रत्याख्येयकर्तव्ये भाष्यकृता व्याकरणान्तरमेव कर्तुं युक्तम्, न तु पाणिनीयप्रतिष्ठापनम्। यत्र तु साक्षाद् भगवता 'इष्टमेवैतत् संगृहीतम्' (महा०

२।४।६२) इत्याद्युक्त्या सूत्रं वा तदकेदेशो वा दूरीक्रियते, तत्र 'यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्' इति भाष्यकारोक्तमेवाङ्गीकर्तव्यम्,न तु सूत्रकृदुक्तं वा वार्तिककृदुक्तं वा इति सर्वमनवद्यम्। तस्मात् स्थितमिदं सूत्रमिति।" हस्तलेख, पृष्ठ २७७, २७८; मुद्रित पृष्ठ ३१०।

अर्थात्—योगविभाग अथवा **संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** आदि के द्वारा गुणादि-परिहार के सिद्ध होने पर भी इनके अगतिकगति (जहां इनके बिना कार्य न चले, वहीं इनका आश्रयण युक्त है) परिभाषा के आश्रय से सूत्र का प्रत्याख्यान मानने पर **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (६।३।१०८) इस एक सूत्र से ही सब इष्ट शब्दों की सिद्धि हो जाने से सारा शास्त्र ही खण्डित हो जाता है। इस दृष्टि से भाष्यकार को नया व्याकरणशास्त्र ही बनाना चाहिये था,पाणिनीय शास्त्र का प्रतिष्ठान नहीं करना चाहिये था। इसलिये जहां भाष्यकार ने साक्षात् 'यह इष्ट संगृहीत हो जाता है' ऐसा निर्देश किया है, वहीं सूत्र वा उसके एकदेश का प्रत्याख्यान जानना चाहिये। और ऐसे स्थानों पर 'यथोत्तर मुनियों का प्रामाण्य' से भाष्यकारोक्त वचन ही स्वीकार करना चाहिये, न कि सूत्रकार वा वार्तिककार का वचन। इस प्रकार सम्पूर्ण शास्त्र उचित हो जाता है। इसलिये यह **न धातुलोपे** सूत्र भी यथावत् स्थित है।

[भाष्यम्] कथम्—'स्यदः' 'प्रश्रथः' 'हिमश्रथः' 'जीरदानुः' (ऋ० ५।८३।१) 'निकुचितः' इति ?

उक्तं शेषे ॥६॥

किमुक्तम् ? 'निपातनात् स्यदादिषु'; 'प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम्', 'रकि ज्यः सम्प्रसारणम्' इति। निकुचितेऽप्युक्तम्। किम् ? 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति ॥४॥

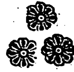
व्याख्या—[**गुण का निषेध**] **कैसे होगा**—स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथः जीरदानुः निकुचितः में ?

शेष में कह दिया।

क्या कह दिया ? 'निपातनात् स्यदादिषु; प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम्; रकि ज्यः सम्प्रसारणम्।' और 'निकुचितः' में भी कह दिया। क्या ? **सन्निपातलक्षण विधि उसके विघात में निमित्त नहीं होती** (द्र०—महा० १।१।३८) ॥४॥

विवरण—प्रथम तीनों वचन प्रस्तुत सूत्र में ही पूर्व आये हैं, और इनकी व्याख्या कर चुके हैं। प्रकृत में **'प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम्'** वचन की आवश्यकता नहीं है, साहचर्य से पढ़ दिया गया है। **निकुचितः**—'कुञ्च् इट् क्त'—क्त के क्त्त्व से **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (६।४।२४) से नकार का लोप—'कुच् इट् त'। इस अवस्था में उदुपध होने से **उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्** (१।२।२१)से अकित्त्व विकल्प से प्राप्त होता है। यहां पर परिभाषा प्रवृत्त होती है—क्त के कित्त्व से ही तो नकार का लोप होने पर धातु उदुपध बनी, और वही उदुपधत्व उसी कित्त्व को नष्ट करना चाहता है। अतः कहा—**अनिमित्तं तद्विघातस्य,** वह उदुपधत्व उस कित्त्व को नष्ट करने में निमित्त नहीं होता। इससे कित्त्व के रहने पर **क्ङिति च** (१।१।५) से गुण का निषेध हो जायेगा।

भाष्यकार ने यहां प्रकृतसूत्र के प्रत्याख्यान में परिभाषा का आश्रयण किया है। और १।१।३८ के भाष्य में प्रस्तुत परिभाषा के **निकुचितः** प्रयोजन के प्रत्याख्यान में **न धातुलोप आर्धधातुके** सूत्र का आश्रयण लिया है। कहा है—**अस्त्वत्राकित्त्वम्। 'न धातुलोप आर्धधातुके' इति प्रतिषेधो भविष्यति।** यह भाष्यवचन भी यही बताता है कि सूत्र वा सूत्रांशों का प्रत्याख्यान भाष्यकार ने उपायान्तर-प्रदर्शनार्थ ही किया है। भाष्यकार के इन प्रत्याख्यानों वा उपायान्तर-प्रदर्शनों से चन्द्रगोमी आदि उत्तरवर्ती व्याकरण-प्रवक्ताओं ने स्वव्याकरण के प्रवचन में अत्यन्त साहाय्य लिया है ॥४॥



क्ङिति च ॥१।१।५॥

विवरण—"क्ङिति च" सूत्र में ककार गकार और ङकार तीनों इत्संज्ञकों का निर्देश है, ऐसा भाष्यकार ने **ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः** (३।२।१३९) सूत्र के भाष्य में माना है। 'क्स्नु' प्रत्यय में गकार का ही चर्त्व से निर्देश है। क्स्नु प्रत्यय को कित् मानने से स्थास्नु में **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (६।४।६६) से ईकार आदेश प्राप्त होता है। गित्पक्ष में **जिष्णु भूष्णु** में गुण-निवृत्त्यर्थ **क्ङिति च** सूत्र में गकार का चर्त्वभूत निर्देश माना है। तदनुसार सूत्र का रूप **ग्क्ङिति च** ऐसा जानना चाहिये। 'क्स्नु' को गित् मानने पर **'भूष्णु'** में **श्र्युकः किति** (७।२।११) से इडागम का निषेध प्राप्त नहीं होता। अतः भाष्यकार ने **श्र्युकः किति** (७।२।११) में भी गकार का प्रश्लेष माना है। भाष्यकार का वचन है—

> **क्स्नोर्गित्त्वान्न स्थ ईकारः क्ङितोरीत्त्वशासनात्।**
> **गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः श्र्युकोऽनिट्त्वं गकोरितोः** ॥३।२।१३९॥

काशिका में पञ्चाध्यायी के व्याख्याता जयादित्य ने तो भाष्यकार का मत ही उद्धृत किया है। परन्तु उत्तर अध्यायत्रयी के व्याख्याता वामन ने **श्र्युकः किति** (७।२।११) की वृत्ति में भाष्यमत का खण्डन करके 'क्नु' प्रत्यय को कित् मानकर **स्थास्नु** में प्राप्त ईकारादेश की निवृत्ति के लिये **स्था+आ** ऐसा आकार का प्रश्लेष माना है। **अतिप्रसङ्गो गुणवृद्धिप्रतिषेधे क्ङिति** (वा० १।३।१०) वार्तिक में किन्तु ङित् दो का निर्देश मानकर ही गुण वृद्धि के दो होने से यथासंख्य की प्रसक्ति दर्शाई है। हमने प्रकृतसूत्र के भाष्य वा उसकी व्याख्या में **क्ङिति च** सूत्र का सामान्य पाठ ही स्वीकार किया है।

[भाष्यम्] क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणम् [उपधारोरवीत्यर्थम्] ॥१॥

क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम्। 'क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः' इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? 'उपधारोरवीत्यर्थम्'। उपधार्थं रोरवीत्यर्थं च ॥

व्याख्या—'क्ङिति च' के प्रतिषेध में तन्निमित्तग्रहण करना चाहिये।

कित् ङित् परे [गुण वृद्धि के] प्रतिषेध में तन्निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। 'कित् ङित् प्रत्यय को निमित्त मानकर जो गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे नहीं होते हैं', ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है ? 'उपधा और रोरवीति के लिये'। उपधा के लिये और रोरवीति के लिये।

विवरण—इस सूत्र में 'इकः' और 'गुणवृद्धी' की अनुवृत्ति है। क्ङिति में परसप्तमी होने से **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** (१।१।६५) के नियम से 'इक्' को गुणवृद्धि का वहीं निषेध होगा, जहां कित् ङित् प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व इक् को गुणवृद्धि की प्राप्ति होगी। यथा **चितः चितवान्, चिनुतः चिन्वन्ति**। **भिन्नः भिन्नवान्** और **तुदति तुदतः, मृष्टः** में गुणवृद्धि का निषेध प्राप्त नहीं होगा। अतः वार्तिककार ने अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष के परिहार के लिये तन्निमित्तग्रहण करने का उपदेश किया। 'भिन्नः भिन्नवान्' में अव्याप्ति दोष है। कित् ङित् प्रत्ययों में गुणवृद्धि की निमित्तता जैसे अव्यवहित प्रत्ययों में होती है, वैसे ही व्यवहितों में। अतः कित् ङित् प्रत्ययनिमित्तक जो भी गुणवृद्धि प्राप्त होगी, उस सब का इस सूत्र से प्रतिषेध हो जायेगा। निमित्तग्रहण करने पर सप्तमी के अभाव के कारण **तस्मिन्निति सूत्र** की उपस्थिति नहीं होती। इससे उपधा में विद्यमान इक् को भी गुणवृद्धि का प्रतिषेध हो जाता है।

रोरवीति में अतिव्याप्ति दोष है। 'रु यङ्=रु रु यङ्' इस अवस्था में **यङोऽचि च** (२।४।७४) से यङ् का लुक् हो जाने पर 'रो रु शप् तिप्=रो रु तिप्=रो रु ई ति' इस अवस्था में तिप् को मानकर जो 'रोरु' को गुण प्राप्त होता है, उसका निषेध यङ् के ङित्त्व को मानकर प्राप्त होता है। परन्तु तन्निमित्तग्रहण से नहीं होता, क्योंकि जो कित् ङित् प्रत्यय गुणवृद्धि के निमित्त होंगे, उन्हीं को मानकर प्रतिषेध भी होगा। 'रो रु ई ति' यहां तिप् को मानकर गुण प्राप्त होता है, वह न कित् है और न ङित्। इसलिये गुण और अवादेश होकर 'रोरवीति' प्रयोग उपपन्न हो जाता है। यङ् का ङित्त्व यङ् को मानकर प्राप्त होनेवाले गुण का ही निषेध कर सकता है। यह उदाहरण **न लुमताङ्गस्य** (१।१।६२) में अङ्गाधिकार पक्ष का आश्रयण करके दिया है। 'अङ्ग-संज्ञक' पक्ष में तिप् को मानकर जो 'रोरु' की अङ्ग-संज्ञा है, उसको तिप् के निमित्त से जो गुण पाता है, उसका निषेध यङ् के ङित्त्व को मानकर नहीं होगा। अतः रोरवीति के लिये तन्निमित्तग्रहण अनावश्यक है। द्र०—आगे भाष्यकारकृत समाधान।

[भाष्यम्] उपधार्थं तावत्—भिन्नः, भिन्नवानिति। किं पुनः कारणं न सिध्यति ? 'क्ङिति' इत्युच्यते। यत्र क्ङित्यनन्तरो गुणभावीगस्ति तत्रैव स्यात्—चितम्, स्तुतम्। इह तु न स्यात्—भिन्नः, भिन्नवानिति।

ननु च—यस्य गुण उच्यते, तं क्ङित्परत्वेन विशेषयिष्यामः। पुगन्तलघूपधस्य चाऽङ्गस्य गुण उच्यते। तच्चात्र क्ङित्परम्। 'पुगन्तलघूपधस्य' इति नैवं विज्ञायते—'पुगन्तस्याऽङ्गस्य लघूपधस्य च' इति। कथं तर्हि ? पुकि अन्तः पुगन्तः, लघ्वी उपधा लघूपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधं, पुगन्तलघूपधस्येति।

अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । अङ्गविशेषणे हि सतीहापि प्रसज्येत–भिनत्ति, छिनत्तीति।

रोरवीत्यर्थं च—'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' [ऋ० ४।५८।३] ॥

व्याख्या—उपधा के लिये—भिन्नः, भिन्नवान् । क्या कारण है कि सिद्ध नहीं होता ? 'कित् ङित् परे' ऐसा कहते हैं । जहां पर कित् ङित् परे अव्यवहित गुणभावी इक् है, वहीं [गुण वृद्धि का प्रतिषेध] होगा—चितम्, स्तुतम् । यहां नहीं होगा—भिन्नः, भिन्नवान् ।

अच्छा तो—जिस को गुण कहा है, उसे कित् ङित् के परत्व से विशेषित करेंगे। पुगन्त और लघूपध जो अङ्ग उसको गुण कहते हैं । उस [भिद् रूप] अङ्ग से क्ङित् परे है । पुगन्तलघूपधस्य यहां ऐसा नहीं जाना जाता है—'पुगन्त अङ्ग को और लघूपध [अङ्ग] को ।' तो कैसे जाना जाता है ? पुक् परे जो अन्त वह पुगन्त, लघ्वी जो उपधा वह लघूपधा, पुगन्त और लघूपध=पुगन्तलघूपध, उस पुगन्तलघूपध को । ऐसा [विग्रह] अवश्य जानना चाहिये । [पुगन्तलघूपध से] अङ्ग को विशेषित करने पर यहां भी [गुण] प्राप्त होगा—भिनत्ति, छिनत्ति ['भिद् श्नम् तिप्'='भिनत् तिप्' यहां श्नम् के मध्य में प्रवेश होने से तिप् परे भिनत् की अङ्ग संज्ञा होगी, और वह लघूपध अङ्ग है । इससे उपधा-संज्ञक इकार को गुण प्राप्त होता है] ।

और 'रोरवीति' के लिये भी [तन्निमित्तग्रहण करना चाहिये]—त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति [यहां यङ् को मानकर गुण का निषेध न होवे] ।

विवरण—'इक्' पद की अनुवृत्ति मानने पर क्ङिति में परसप्तमी होने से भिन्नः भिन्नवान् में गुण का प्रतिषेध नहीं होता था, क्योंकि गुणभावी इक् से कित् प्रत्यय अव्यवहित परे नहीं है । उस दोष को हटाने के लिये तन्निमित्तग्रहण करना चाहिये । यतः तन्निमित्तग्रहण की आवश्यकता 'इकः' पद की अनुवृत्ति मानने पर होती है, अतः जिज्ञासु पूछता है—'इकः' की अनुवृत्ति न लाकर जिस को गुण कहते हैं, उसी को क्ङित्परत्व से विशेषित कर देंगे । गुण अङ्ग को होता है । भिन्नः भिन्नवान् में भिद् अङ्ग से अव्यवहित कित् परे है। प्रश्नकर्ता ने **'यस्य गुण उच्यते'** सामान्य निर्देश किया है, क्योंकि प्रकृतसूत्र में गुणभावी का निर्देश साक्षात् अथवा अनुवृत्ति रूप से नहीं है । ऐसी अवस्था में 'कित् ङित् परे गुणवृद्धि नहीं होते' ऐसा कहने पर आकाङ्क्षा होती है कि किस को गुणवृद्धि नहीं होते ? इस आकाङ्क्षा के होने पर 'जिस को गुणवृद्धि प्राप्त होते हैं' ऐसी प्रतीति होने पर **पुगन्तलघूपधस्य** आदि की उपस्थिति होती है, वह अङ्ग का विशेषण है । अथवा कित् ङित् ये प्रत्यय हैं, इतना सप्तमीनिर्देश और प्रकरण से ज्ञात हो जाता है । अतः प्रत्यय के निर्देश से अङ्ग की उपस्थिति हो जायेगी कित् ङित् प्रत्यय परे जो अङ्ग । यह व्याख्या भर्तृहरि और कैयट दोनों ने की है । शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस व्याख्या का खण्डन किया है । उसे उसी के ग्रन्थ में देखें । 'रोरवीति' में कैसे गुण का निषेध पाता है, और तन्निमित्तग्रहण से कैसे उसकी निवृत्ति होती है । इसकी व्याख्या पूर्व कर चुके हैं।

[भाष्यम्] यदि तन्निमित्तग्रहणं क्रियते, श्चङन्ते दोषः—रियति पियति धियति, प्रादुद्रुवत् प्रासुस्रुवत्, अत्र न प्राप्नोति ।

शचङन्तस्यान्तरङ्गलक्षणत्वात् [सिद्धम्] ॥२॥

अन्तरङ्गलक्षणत्वादत्रेयङुवङोः कृतयोरनुपधात्वाद् गुणो न भविष्यति । एवं क्रियते चेदं तन्निमित्तग्रहणं, न च कश्चिद्दोषो भवति ॥

व्याख्या—यदि तन्निमित्तग्रहण करते हैं, तो श और चङ् अन्तवाले में दोष होता है—रियति पियति धियति, प्रादुद्रुवत् प्रासुस्रुवत्। यहां [गुण का प्रतिषेध] नहीं प्राप्त होता है।

श और चङन्त को अन्तरङ्गलक्षण से [सिद्ध हो जायेगा]।

यहां अन्तरङ्गलक्षण से इयङ् उवङ् कर लेने पर उपधा न होने से गुण नहीं होगा। इस प्रकार यह तन्निमित्तग्रहण किया जाता है, और कोई दोष भी नहीं होता।

विवरण—'रियति' आदि में **रि पि गतौ, धि धारणे** ये तुदादिगण की धातुएं हैं। अतः **रि श तिप्=रि अ ति**। इस अवस्था में श को मानकर **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) से 'रि' को प्राप्त गुण 'श' के **सार्वधातुकमपित्** (१।२।४) से ङित् होने से प्रतिषिद्ध हो जायेगा। परन्तु तिप् को मानकर 'अ' की उपधा लघु इकार को **पुगन्तलघूपधस्य च** (७।३।८६) से जो गुण पाता है, उसका निषेध 'श' के ङित्व से प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि लघूपध गुण 'श' निमित्तक नहीं है, तिप्निमित्तक है। **प्रादुद्रुवत् प्रासुस्रुवत्** में द्रु स्रु धातु के लुङ् लकार में **णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्** (३।१।४८) से च्लि के स्थान में चङ् होता है—**प्र अ दु द्रु अ त्, प्र अ सु स्रु अ त्**, इस अवस्था में चङ् को मानकर जो **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** से गुण पाता है, उसका तो **क्ङिति च** से निषेध हो जाता है। परन्तु 'अदुद्रु अ' इतने अङ्ग-संज्ञक भाग में अकार की उपधा में जो लघु उकार है, उसको तिप् को मानकर जो **पुगन्तलघूपधस्य च** से गुण पाता है, उसका प्रतिषेध तन्निमित्तग्रहण के कारण प्राप्त नहीं होता। इसका उत्तर गुण के अन्तरङ्गत्व से दिया है। 'द्रु चङ् तिप्' इस अवस्था में **अल्पापेक्षमन्तरङ्गम्** इस न्याय से 'द्रु चङ्' समुदाय में चङ्मात्र को निमित्त मानकर द्रु को गुण प्राप्त होगा, उसका ङित् होने से निषेध होगा, और **अचि श्नुधातु०** (६।४।७७) से उवङ् हो जायेगा—**द्रुव् अ तिप्**। तिप्निमित्तक गुण बहिरङ्ग है—**द्रु अ ति** की अपेक्षा होने से। यद्यपि यहां चङ् अच्रूप है, फिर भी **नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः** (=अच् का आनन्तर्य मानकर होनेवाले कार्य में अन्तरङ्ग बहिरङ्ग की कल्पना नहीं होती है) नियम से बहिरङ्गत्व की प्रक्लृप्ति का प्रतिषेध नहीं होगा, क्योंकि यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है, जहां प्रधानरूप से अच् का आनन्तर्य मानकर कार्य कहा हो। यहां तो सार्वधातुक-आर्धधातुकनिमित्तक गुण की प्राप्ति है, न कि अज्-आनन्तर्यनिमित्तक। अतः पहले चङ्निमित्तक गुण, ङिन्निमित्तक गुण का निषेध, और इयङ् हो जाने पर तिप्निमित्तक लघूपध गुण प्राप्त ही नहीं है।

[भाष्यम्] इमानि च भूयस्तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि—हतो हथः, उपोयते औयत, लौयमानिः पौयमानिः, नेनिक्त इति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । इह तावत्—'हतो हथः' इति, असक्तस्याऽनभि-

निर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुम्। अत्र च धातूपदेशावस्थायामेवाऽकारः। इह चोपोयते औयत लौयमानिः पौयमानिरिति, बहिरङ्गे गुणवृद्धी अन्तरङ्गः प्रतिषेधः। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'। नेनिक्त इति, परेण रूपेण व्यवहितत्वान्न भविष्यति ॥

व्याख्या—और ये पुनः तन्निमित्तग्रहण के प्रयोजन हैं—हतः हथः, उपोयते औयत, लौयमानिः पौयमानिः, नेनिक्ते।

ये प्रयोजन नहीं है। यहां हतः हथः में जो प्रसक्त (=प्राप्त) हो, पर अभिनिर्वृत्त (=बना) न हो, उस की प्रतिषेध से निवृत्ति की जा सकती है। और यहां (='हतः' 'हथः' में) धातु की उपदेश अवस्था में ही अकार [वर्तमान] है। और यहां उपोयते औयत, लौयमानिः पौयमानिः में गुणवृद्धि बहिरङ्ग हैं, और प्रतिषेध अन्तरङ्ग है। नेनिक्ते में [द्विर्वचन करने पर] पररूप (=निज्) के व्यवधान होने से [गुण का प्रतिषेध] नहीं होगा।

विवरण—प्रयोजनवादी समझता है कि **हतः हथः** में जैसे **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (२।४।७२) से शप् के अकार की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार **क्ङिति च** (='कित् ङित् परे गुण-वृद्धी का प्रयोग नहीं करना चाहिये') से ङित् तस् थस् परे हन् के अकार की भी निवृत्ति प्राप्त होती है। तन्निमित्तग्रहण कर देने पर अकार की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि अकार तन्निमित्त नहीं है। **उपोयते**—'उप' पूर्वक **वेञ् तन्तुसन्ताने** से कर्म में लट्। यक् के कित्त्व से **वचिस्वपियजादीनां किति** (६।१।१५) से सम्प्रसारण, **हलः** (६।४।२) से दीर्घ='उप ऊयते'। यहां **आद् गुणः** (६।१।८४) से प्राप्त गुण का 'यक्' के कित्त्व को मानकर प्रतिषेध प्राप्त होता है, तन्निमित्त-ग्रहण से नहीं होता, क्योंकि **आद् गुणः** से प्राप्त गुण यक्-निमित्तक नहीं है। इसी प्रकार **औयत** ='आ ऊयत' में **आटश्च** (६।१।८७) से प्राप्त वृद्धि के विषय में जान लेवें। **लौयमानिः पौयमानिः**—यहां **अत इञ्** (४।१।९५) से इञ्—लूयमान इञ्, पूयमान इञ्। इञ् के ञित्त्व को मानकर **तद्धितेष्वचामादेः** (७।२।११७) से आदि वृद्धि होती है। इसका 'यक्' के कित्त्व को मानकर जो निषेध प्राप्त होता है, वह तन्निमित्तग्रहण से नहीं होता, क्योंकि यह वृद्धि इञ्-निमित्तक है, यक्-निमित्तक नहीं है।

प्रयोजन-प्रत्याख्यानवादी खण्डन करता है कि—**हतः हथः**, यद्यपि यहां इग्लक्षण गुण न होने से **क्ङिति च** से अकार की निवृत्ति सम्भव ही नहीं है, पुनरपि इग्लक्षणत्वाभाव का निर्देश परिहारान्तर की सम्भावना से नहीं किया है। **भवतः** में शप् का अकार यद्यपि प्रसक्तावस्था में है, उसकी तस् के ङित्त्व से निवृत्ति दो कारणों से नहीं होती, एक तो वह इग्लक्षण नहीं, दूसरे **गुणो भवति** के रूप में शप् का विधान नहीं है। **उपोयते**—में 'उप ऊयते' दो पदों के अचों के स्थान में गुण होने से यह गुण बहिरङ्ग है। प्रतिषेध 'ऊयते' एकपदस्थ यक् को मानकर होने से अन्तरङ्ग है। **औयत**—'आ ऊयत' में आट् लङ् की अपेक्षा से होता है। लङ् ='त' यक् की अपेक्षा बहिरङ्ग है। अतः बहिरङ्ग के निमित्त से होने के कारण आट् बहिरङ्ग है, और उसको निमित्त मानकर प्राप्त वृद्धि भी बहिरङ्ग है। **लौयमानिः पौयमानिः** में अप-

त्यार्थक इञ् बहिरङ्ग है, और गुण यक्-निमित्तक अन्तरङ्ग है। नेनिक्ते—'नि निज् ते' इस अवस्था में गुणो यङ्लुकोः(७।४।८२)से अभ्यास को गुण प्राप्त होता है। प्रयोजनवादी क्ङित् के परत्व से अङ्ग को विशेषित करके अर्थात् क्ङित् परे जो अङ्ग है, उसको प्राप्त गुण का जो निषेध पाता है, उसका तन्निमित्तग्रहण से प्रतिषेध मानता है। सिद्धान्ती का कहना है कि क्ङित् के परत्व से गुणवृद्धी को विशेषित करेंगे। इस से ङित् 'ते' परे गुण नहीं है, 'निज्' भाग का व्यवधान है।

[भाष्यम्] उपधार्थेन तावन्नाऽर्थः। धातोरिति वर्तते। धातुं क्ङित्परत्वेन विशेषयिष्यामः। यदि धातुर्विशेष्यते, विकरणस्य न प्राप्नोति—चिनुतः सुनुतः, लुनीतः पुनीत इति। नैष दोषः। विहितविशेषणं धातुग्रहणम्—'धातोर्यो विहितः' इति। धातोरेव तर्हि न प्राप्नोति। नैवं विज्ञायते—'धातोर्विहितस्य क्ङिति' इति। कथं तर्हि? धातोर्विहिते क्ङितीति।

अथवा 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्', यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्। 'पुगन्तलघूपधस्य गुणो भवति' इत्युपस्थितमिदं भवति—'क्ङिति न' इति।

अथवा यदेतस्मिन्योगे क्ङिद्ग्रहणं क्रियते तदनवकाशम्। तस्यानवकाशत्वाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः।

अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्य प्रतिषेधः' इति, यदयं 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' [३।२।१४०]; 'इको झल्' 'हलन्ताच्च' [१।२।९-१०] इति क्नुसनौ कितौ करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? कित्करण एतत्प्रयोजनम्—गुणः कथं न स्यादिति। यदि चाऽत्र गुणप्रतिषेधो न स्यात्, कित्करणमनर्थकं स्यात्। पश्यति त्वाचार्यो—'भवत्युपधालक्षणस्यापि गुणस्य प्रतिषेधः' इति। ततः क्नुसनौ कितौ करोति॥

व्याख्या—उपधा के लिये [तन्निमित्तग्रहण से] कोई प्रयोजन नहीं है। धातोः की [पूर्व सूत्र १।१।४ से] अनुवृत्ति है। धातु को क्ङित्परत्व से विशेषित करेंगे [धातु जो क्ङित् परे उसको गुण नहीं होता]। यदि धातु को [क्ङित्परत्व से] विशेषित करते हैं, तो विकरण को [प्राप्त गुण का क्ङित् परे निषेध] प्राप्त नहीं होता—चिनुतः सुनुतः, लुनीतः पुनीतः। यह दोष नहीं है, विहितविशेषणवाला धातुग्रहण है—धातु से जो विहित [उसको क्ङित् परे गुणवृद्धि नहीं होते। ऐसा कहने पर तब तो] धातु को ही [गुणवृद्धि का निषेध] प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार नहीं जाना जाता है कि—'धातु से विहित को क्ङित् प्रत्यय परे रहने पर' [गुणवृद्धि नहीं होते]। तो कैसे? धातु से विहित कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर।

अथवा 'संज्ञा परिभाषाएं कार्यकालवाली होती हैं', जहां कार्य होता है वहां उन्हें जानना चाहिये। 'पुगन्त और लघूपध को गुण होता है', यहां यह उपस्थित होती है—'कित् ङित् परे गुण नहीं होता'।

अथवा इस सूत्र में जो क्ङित् ग्रहण किया जाता है, वह अनवकाश है। उसके अनवकाश होने से [व्यवहित में भी] गुणवृद्धि नहीं होंगे।

अथवा आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—'उपधालक्षण गुण का प्रतिषेध होता है', जो ये आचार्य त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः (३।२।१४०); इको झल्, हलन्ताच्च (१।२।९-१०) से **क्नु और सन्** को कित् करते हैं। **यह किस प्रकार ज्ञापक है? कित्करण का यही प्रयोजन है कि—गुण कैसे न होवे। यदि यहां (=गृध्नु क्षिप्णु में कित् करने पर भी) गुणप्रतिषेध न होवे, तो कित् करना अनर्थक होवे। आचार्य देखते हैं कि—'यहां उपधालक्षण गुण** का भी प्रतिषेध होता है'। **इसलिये क्नु और सन् को कित् करते हैं।**

विवरण—'धातोरिति वर्तते'—**न धातुलोप आर्धधातुके** (१।१।४)सूत्र से 'धातु' पद की अनुवृत्ति मानकर कहा है। यद्यपि पूर्वसूत्र में **धातुलोपे** समस्त पद है, अतः उसके एकदेश की अनुवृत्ति प्राप्त नहीं होती, किन्तु **क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते** नियम से एकदेश की भी अनुवृत्ति हो जायेगी। यथा—**संख्याव्ययादेर्ङीप्**(४।१।२६) से एकदेश 'संख्या' की अनुवृत्ति **दामहायनान्ताच्च**(४।१।२७) में होती है। यदि कहो कि **संख्याव्ययादेः** में संख्या और अव्यय का बहुव्रीहि अन्तर्गत द्वन्द्व समास है, और द्वन्द्व में सभी पद प्रधान होते हैं। अतः एकदेश की अनुवृत्ति आ सकती है। **धातुलोपे** में धातु पद उपसर्जन(=गौण)है। इसका उत्तर कैयट ने यह दिया है—'स्वरित कर देने से'। यह स्वरितत्व धातुमात्रविषयक जानना चाहिये। अथवा **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः** के नियम से धातुमात्र की अनुवृत्ति जाननी चाहिये। **विकरणस्य न प्राप्नोति**—क्ङित् के आनन्तर्य से धातु को विशेषित मानकर प्रश्न किया है। **धातोर्विहितस्य क्ङिति** का तात्पर्य है—धातु से विहित कित् ङित् परे पूर्व को गुणवृद्धि नहीं होते। वह पूर्व चाहे धातु होवे, चाहे विकरण। **चिनुतः सुनुतः** में तस् धातु से विहित है, उससे अव्यवहित पूर्व 'श्नु' विकरण है। **भिन्नः भिन्नवान्** में धातुविहित क्त क्तवतु से पूर्व धातु है, उसकी लघु उपधा को प्राप्त गुण का प्रतिषेध होता है।

कार्यकालम्—इस भाष्य से प्रकृतसूत्र को परिभाषासूत्र मानकर कार्यकाल पक्ष में समाधान किया है। प्रकृतसूत्र का परिभाषात्व **इको गुणवृद्धी** (१।१।३) परिभाषासूत्र के साथ सम्बद्ध होकर निषेध करने से जानना चाहिये। भर्तृहरि ने दीपिका में 'गुणवृद्धी' की अनुवृत्ति होने से 'जहां गुणवृद्धि कहे जाते हैं, वहां कित् ङित् परे गुणवृद्धि नहीं होते' अर्थ मानकर परिभाषात्व दर्शाया है। कार्यकालपक्ष में **क्ङिति च** सूत्र **पुगन्तलघूपधस्य च** (७।३।८६) के साथ उपस्थित होकर सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय के परे अङ्ग की लघु उपधा को गुणविधि के साथ ही कित् ङित् परे गुण नहीं होता, ऐसा प्रतिषेध कर देगा। अतः **भिन्नः भिन्नवान्** में क्त क्तवतु के परे अङ्ग की लघु उपधा को गुण की प्राप्ति के समकाल ही कित् होने से निषेध हो जायेगा।

यदेतस्मिन् योगे—यह समाधान अपरिभाषापक्ष में जानना चाहिये। जितने गुणवृद्धि के विधायक सूत्र हैं, उतने ही कित् ङित् परे गुणवृद्धि के प्रतिषेधक सूत्र हैं। इस पक्ष में **पुगन्तलघूपधस्य च** सूत्र के गुणविधान से सम्बद्ध जो प्रतिषेधक **क्ङिति च** सूत्र है, वह अनवकाश है, क्योंकि यहां गुणप्रतिषेध्य कित् ङित् परे अव्यवहित पूर्व में नहीं है। अतः व्यर्थ होकर एक व्यञ्जन के व्यवधान में भी गुण का प्रतिषेध कर देगा। कुछ व्याख्याता इस भाष्यवचन का सम्बन्ध यथोद्देश्य पक्ष से मानते हैं। उनके अनुसार गुणवृद्धि के विधायक प्रधानसूत्र अनेक हैं।

वे यथोद्देशपक्ष में **क्ङिति च** के समीप उपस्थित होते हैं। तब प्रतिप्रधान गुणभूत **क्ङिति च** सूत्र भी भिन्न रूप को धारण करता है। उस अवस्था में **पुगन्तलघूपधस्य** के प्रति जो **क्ङिति च** सूत्र है, वह अनवकाश होने से एक अल् के व्यवधान में भी प्रतिषेध कर देता है।

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—यहां ज्ञापक के लिये **इको झल्, हलन्ताच्च** (१।२।९-१०) सूत्र उपस्थित किये हैं। **इको झल्** सूत्र प्रसंगात् निर्दिष्ट है। **हलन्ताच्च** सूत्र से सन् को जो किद्विधान किया है, वह **सिसृक्षति**[1] में **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** (६।१।५७) से अमागम के निषेध में, और **धिप्सति** में अनुनासिकलोप में चरितार्थ है। अतः **हलन्ताच्च** से सन् का कित्विधान ज्ञापक नहीं हो सकता। नागेश ने इसका समाधान '**सृजिदृशोर्झल्यमकित् सनि इको झल् दम्भेश्च**' इस लघु पाठ से सिद्ध होने पर जो गरीयान् पाठ किया है उससे **हलन्ताच्च** से सन् के कित्त्वविधान को ज्ञापक मानकर किया है। इसका तात्पर्य यह है कि **सिसृक्षति दिदृक्षते** में अमागम के प्रतिषेध के लिये कित् के साथ सन् को भी पढ़ देना चाहिये, और **धिप्सति** के लिये **दम्भेश्च** वार्त्तिक से सन् को कित् कर देना चाहिये। नागेशदर्शित पाठ की गुरुता यथाविहित **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** (६।१।५७) सूत्र के साथ **इको झल्, हलन्ताच्च** सूत्रों और **दम्भेश्च** वार्तिक को मिलाकर जाननी चाहिये। हमारे विचार में **सामान्यापेक्षं ज्ञापकम्** नियम से सामान्यरूप से ज्ञापक मानने में भाष्यकार का तात्पय जानना चाहिये।

[भाष्यम्] रोरवीत्यर्थेनापि नार्थः। 'क्ङिति' इत्युच्यते, न चाऽत्र क्ङितं पश्यामः। प्रत्ययलक्षणेन प्राप्नोति। 'न लुमता तस्मिन्' इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः। अथापि 'न लुमताङ्गस्य' इत्युच्यते, एवमपि न दोषः। कथम्? न लुमता लुप्तेऽङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते। किं तर्हि? 'योऽसौ लुमता लुप्यते, तस्मिन्यदङ्गं तस्य यत्कार्यं तन्न भवति' इति। अथाऽप्यङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते। एवमपि न दोषः। कथम्? 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो भवति' इत्युपस्थितमिदं भवति 'क्ङिति न' इति।

अथवा छान्दसमेतत्। दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति।

अथवा बहिरङ्गो गुणोऽन्तरङ्गः प्रतिषेधः। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'।

अथवा पूर्वस्मिन् योगे यदार्धधातुकग्रहणं, तदनवकाशम्। तस्यानवकाशत्वाद् गुणो भविष्यति॥

व्याख्या—**रोरवीति के लिये** (='रोरवीति' में गुणप्रतिषेध के वारण के लिये) **भी** [**तन्निमित्तग्रहण से**] **प्रयोजन नहीं है। क्योंकि 'क्ङित् परे'** [**गुणवृद्धि का प्रतिषेध**] **कहा**

१. यहां उद्योत में '**दिदृक्षति**' पाठ मिलता है। यहां १।३।५७ के नियम से परस्मैपद अयुक्त है। **प्रथमातिक्रमे मानाभावात्** के नियम से सृज् का **सिसृक्षति** पाठ होना चाहिये। यदि दृश् का पाठ ही अभिप्रेत हो, तो **दिदृक्षते** पाठ होना चाहिये।

जाता है, किन्तु यहां ङित् को नहीं देखते। प्रत्ययलक्षण से [लुप्त यङ् को परे मानकर गुण का प्रतिषेध] प्राप्त होता है। 'न लुमता तस्मिन्' (='लुमान्' शब्द से प्रत्यय का अदर्शन करने पर उस [लुप्त] प्रत्यय के निमित्त से प्राप्त कार्य करने में) प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध होता है। और यदि 'न लुमताङ्गस्य' (='लुमान्' शब्द से प्रत्यय का अदर्शन करने पर अङ्गाधिकार-विहित कार्य करने में प्रत्ययलक्षण नहीं होता) ऐसा कहते हैं, तो इस प्रकार भी दोष नहीं है। कैसे ? लुमान् शब्द से लोप होने पर अर्थात् न लुमताङ्गस्य सूत्र में अङ्ग का निर्देश नहीं है। तो किस का निर्देश है ? 'जो [प्रत्यय] लुमान् शब्द से लुप्त होता है, उसके परे जो अङ्ग, उसका जो कार्य वह नहीं होता'। और यदि अङ्गाधिकार का भी निर्देश होवे, तो भी दोष नहीं है। किस प्रकार ? 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' के नियम से जहां कार्य होता है, वहां उपस्थित हो जाता है। 'सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण होता है'—वहां यह उपस्थित हो जाता है—'क्ङिति न' (=क्ङित् परे गुणवृद्धि नहीं होते)।

अथवा यह (='रोरवीति' प्रयोग) छान्दस है। छन्द में दृष्टानुविधि (=जैसा देखा जाता है) होती है।

अथवा गुण बहिरङ्ग है, और प्रतिषेध अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग कार्य में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है।

अथवा पूर्वसूत्र में जो आर्धधातुकग्रहण है, वह अनवकाश है। उसके अनवकाश होने से गुण हो जायेगा।

विवरण—**'न लुमता तस्मिन्'** यह वार्तिककार द्वारा सुझाया हुआ पाठ है। इसके अनुसार लुमान्(=लुक् श्लु लुप्) शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन होने पर तस्मिन् उसी लुमान् प्रत्यय के परे रहते जो प्रत्ययलक्षण कार्य प्राप्त होता है, उसी का प्रतिषेध होता है। **रोरवीति** में **रो रु य** इस अवस्था में ही **यङोऽचि च**(२।४।७४)से यङ् का लुक् हो जाता है, और गुण **रो रु ईट् तिप्** इस अवस्था में तिप् को मानकर होता है। अतः यहां प्रत्ययलक्षण कार्य=यङ् के ङित्त्व को मानकर गुणप्रतिषेध नहीं होता। **न लुमताङ्गस्य** पाठ में भी अङ्गाधिकार का निर्देश न मानकर **लुमता लुप्ते तस्मिन् यदङ्गम्** (=लुमान् शब्द से प्रत्यय के लोप होने पर, उसी लुप्त प्रत्यय को निमित्त मानकर जो अङ्ग-संज्ञक उसको करने के लिये) प्रत्ययलक्षण कार्य नहीं होता। इस प्रकार भी यङ् के परे जिसकी अङ्ग-संज्ञा है, उसी के गुण का प्रतिषेध होगा। **रो रु ईट् तिप्** यहां तो तिप् परे जो रोरु अङ्ग है, उस को गुण प्राप्त होता है। और यदि **न लुमताङ्गस्य** सूत्र में अङ्गाधिकार निर्देश मानें, तब भी अङ्गाधिकारस्थ **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४)से गुण के विधान के साथ ही **क्ङिति न** प्रतिषेध होगा। अर्थात् जिसको मानकर गुण प्राप्त होगा, उसी के क्ङित्त्व को मानकर प्रतिषेध होगा। यहां गुण तिप् को मानकर होता है, वह न कित् है, और न ङित्, अतः **रोरवीति** में गुण का प्रतिषेध नहीं होगा।

छान्दसमेतत्—इस वचन का तात्पर्य यह है कि **रोरवीति** यह यङ्लुक् का प्रयोग छान्दस है। भाष्यकार ने ६।४।८७ में ज्ञापन किया है कि—**यङ्लुक् भाषायामपि भवति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? बेभिदीति चेच्छिदीति इत्येतद् सिद्धं भवति भाषायामपि।** इस उद्धरण में

भाषायामपि कहने से विदित होता है कि भाष्यकार को सामान्यरूप से भाषा में यङ्लुक् इष्ट नहीं है। कैयट ने ६।४।१९ के भाष्यप्रदीप में, और नागेश ने प्रकृतसूत्र (१।१।५) के उद्योत में यङ्लुक् का छान्दसत्व और भाषा में क्वचित् प्रयोग का सिद्धान्त स्वीकार किया है। परन्तु शिवरामेन्द्र सरस्वती ने प्रकृतसूत्र के व्याख्यान में यङ्लुक् को भाषा में भी माना है[1]। भाष्यकार के मत में **यङोऽचि च** (२।४।७४) में पूर्वसूत्र **बहुलं छन्दसि** (२।४।७३) से दोनों पदों की अनुवृत्ति आती है। भागवृत्तिकार भी यङ्लुक् को छान्दस मानता है, परन्तु उसने 'चकार' से **बहुलं छन्दसि** पदों की अनुवृत्ति मानी है, वह अशुद्ध है। चकार तो अनच् के संग्रह के लिये है। काशिकाकार जयादित्य भाषा में भी यङ्लुक् मानता है (द्र०—२।४।७४), परन्तु **वामन** ६।४।८७ में भाष्यकार के समान ही **भाषायामपि यङ्लुक्** का ज्ञापन करता है। चन्द्राचार्य ने लुगधिकार में **यङो बहुलम्** (चान्द्र व्या० १।१।८६) सूत्र द्वारा सामान्यरूप से यङ्लुक् माना है। जाम्बवती-विजय में भी **जाघटीति** आदि प्रयोग उपलब्ध होते हैं[2]। अदादिगण में **चर्करीतं च** सत्र पढ़ा है। इससे अदादित्व कहा है। इसकी व्याख्या के अन्त में क्षीरस्वामी ने लिखा है— **दीङादयश्छान्दसाः**, अर्थात् दीङ् से चर्करीत पर्यन्त छान्दस धातुएं हैं। इस से भी यङ्लुगन्त का छान्दसत्व स्पष्ट है।

बहिरङ्गो गुणः—'रो रु य' इस अवस्था में यङ् का लुक् होता है। पुनः प्रत्ययलक्षण से यङन्त मानकर 'रो रु' की धातुसंज्ञा (३।१।३२) होती है, उससे तिप् आता है। शप् का अदादिगणस्थ **चर्करीतं च** सूत्र से अदादित्व मानकर लुक् होता है। तिप् को ईट् (७।३।९४ से) होकर 'रो रु ई ति' इस अवस्था में तिप् को मानकर जो गुण प्राप्त होता है, उसको यङ् का ङित्त्व बाधता नहीं। क्योंकि तिप् बहिरङ्ग है, यङ् अन्तरङ्ग है। तिप् को मानकर जो बहिरङ्ग गुण पाता है, वह अन्तरङ्ग यङ्निमित्तक प्रतिषेध की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है।

पूर्वस्मिन् योगे—पूर्वसूत्र में आर्धधातुक-ग्रहण धातुलोप को विशेषित करने के लिये है— जिस आर्धधातुक के परे धातु का लोप हुआ हो, उसके परे। बहुव्रीहि समास 'धातोर्लोपो यस्मिन्' मानने पर भी 'यस्मिन्' पदवाच्य का निर्देश करने के लिये आर्धधातुक का निर्देश आवश्यक है। फिर उसे अनवकाश क्यों कहा? इस का उत्तर यह है कि विना आर्धधातुक

१. वस्तुतस्तु लोकेऽपि यङ्लुगन्त प्रयोग दृष्ट एव। भाष्यटीका पृष्ठ २९३ हस्तलेख।

२. कातन्त्र-परिशिष्ट-वृत्ति में (**चर्करीताभ्यासस्य** सूत्र १३) में लिखा है—"भाषायामपि केचित् चर्करीतमिच्छन्ति। उक्तं हि भाष्ये भाषायामपि यङो लुगस्ति। निर्लूरवृत्तौ (अष्टाध्यायीवृत्तौ) चोक्तम्—भाषायामपि यङ्लुगस्तीति। लुगधिकारे 'यङो बहुलम्' इति चान्द्रे पठ्यते। काशिकायामपि छन्दोऽनुवृत्तिरिह नेष्टा इत्युक्तम्। 'जाघटीति' जाम्बवतीकाव्ये, 'जाज्वलीति' नीतिसंग्रहे 'शंशमयांचक्रे' इति भट्टिकाव्ये च पठ्यते। भागवृत्तिकारस्तु 'बोभवीति' इत्येव न छान्दसमिति मन्यते।"

इस विषय में विशेष विचार हमारे द्वारा सम्पादित **'भागवृत्ति-संकलनम्'** उद्धरण ७१, ७२, ७३ तथा पृष्ठ १८ की हमारी टिप्पणी में देखें।

ग्रहण के भी '**धातुलोपे**' में बहुव्रीह्यर्थ उपपन्न हो जाता है। यथा **एकाचो द्वे प्रथमस्य**(६।१।१) में अन्य पद के निर्देश के विना भी **एकाचः** में बहुव्रीहि समास **एकोऽच् यस्मिन् सोऽयमेकाच् तस्यैकाचः** जाना जाता है, उसी प्रकार यहां भी बहुव्रीहि समास उपपन्न हो जायेगा। इस प्रकार आर्धधातुक ग्रहण के अनवकाश होने से यङ्लोप के **अनैमित्तक** होने के कारण पूर्वसूत्र का विषय न होने पर भी 'आर्धधातुक' ग्रहण सामर्थ्य से सूत्रान्तर (१।१।५) से प्राप्त यङ्-निमित्तक गुण के निषेध को भी बाधता है, अर्थात् आर्धधातुक यङ् परे गुण हो जाता है। **रोरुतः** में यङ्-निमित्तक गुण का निषेध यद्यपि आर्धधातुक ग्रहण से बाधा जाता है, अर्थात् **रोरवीति** के समान गुण पाता है, तथापि 'तस्' सार्वधातुकनिमित्तक (तस् के ङित्त्व को मान कर) गुण का प्रतिषेध हो ही जाता है।

भाष्यकार ने आर्धधातुक ग्रहण का यह प्रयोजन यङ्लुक् को छान्दस मानकर दिया है। भाषा में यङ्लुक् मानने पर **तुर्वी थुर्वी दुर्वी धुर्वी हूर्च्छा मूर्च्छा** आदि धातुओं के यङ्लुक् में लट् के प्रथमैकवचन में 'तोतुर्व् तिप्', तोथुर्व् तिप्', 'दोदुर्व् तिप्', 'दोधुर्व् तिप्', 'जोहूर्च्छ् तिप्', 'मोमूर्च्छ् तिप्' इस अवस्था में **राल्लोपः** (६।४।२१) से वकार और च्छकार का लोप होने पर उपधालक्षण गुण होकर **तोतोर्ति, तोथोर्ति, दोदोर्ति, दोधोर्ति, जोहोर्ति, मोमोर्ति** आदि में पूर्व सूत्र में आर्धधातुक ग्रहण करने से जो गुण प्राप्त होता है, उसका प्रतिषेध नहीं होता, क्योंकि यहां तिप् सार्वधातुक है। यह प्रयोजन **च्छ्वोः शूडनुनासिके च, ज्वरत्वर०, राल्लोपः** (६।४।१९-२१) में '**क्ङिति**' पद की अनुवृत्ति न मानने पर उपपन्न होते हैं। नागेश ने लिखा है कि—**क्ङिति** की अनुवृत्ति मानने पर अनुनासिक परे **तोतोर्मि तोथोर्मि** आदि मिप् के उदाहरण जानने चाहिये। भाष्यकार ने **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (६।४।१९) पर **क्ङिति** की अनुवृत्ति और अननुवृत्ति पर विचार करके **तत्र एतावांस्तु विशेषः** लिखकर जो विशेष=भेद दर्शाया है, उसमें वकारान्तों के यङ्लुक् में **क्ङिति** की अनुवृत्ति-अननुवृत्ति में ऊठ् की प्राप्ति-अप्राप्ति होने से जो रूपभेद उपपन्न होता है, उसका निर्देश नहीं किया है। इससे भी कैयट ने यह ज्ञापित किया है कि भाष्यकार के मत में यङ्लुक् छान्दस है। और उक्त प्रकार के रूप छन्द में कहीं प्रयुक्त नहीं हैं। जो लोग यङ्लुक् को भाषा में सामान्यरूप से प्रयुक्त मानते हैं, वे भी भाष्यकार के **एतावांस्तु विशेषः** प्रकरण से यह ज्ञापित करते हैं कि वकारान्तों के यङ्लुक् का प्रयोग नहीं होता। द्र०—माधवीया धातुवृत्ति **तेवृ देवृ देवने** धातु, पृष्ठ १४२, सम्पादक स्वामी द्वारकादास शास्त्री, काशी, सन् १९६४।

[भाष्यम्] इह कस्मान्न भवति—लैगवायनः, कामयते ?

तद्धितकाम्योरिक्प्रकरणात् ॥३॥

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः, न चैते इग्लक्षणे ॥

व्याख्या—यहां [गुणवृद्धि का प्रतिषेध] किस कारण नहीं होता—लैगवायनः, कामयते ?

तद्धित और कामि में [प्रतिषेध नहीं होता] इक् का प्रकरण होने से।

इग्लक्षण गुणवृद्धि का प्रतिषेध कहा है, ये इग्लक्षण नहीं हैं।

विवरण—'लैगवायन:' लिगु से अपत्यार्थ में **नडादिभ्य: फक्** (४।१।९९) से फक् प्रत्यय, 'फ' को आयन—लिगु+आयन, यहां **किति च** (७।२।११८) से आदिवृद्धि और **ओर्गुण:** (६।४।१४६) से गुण होता है। 'फक्' के कित् होने से **क्ङिति च** से **ओर्गुण:** (६।४।१४६) से प्राप्त गुण का प्रतिषेध पाता है। इसी प्रकार **कामयते** में **कमेर्णिङ्** (३।१।३०) से णिङ्, उसके णित् होने से **अत उपधाया:** (७।२।११६) से जो वृद्धि प्राप्त होती है, उसका णिङ् के ङित् होने से निषेध प्राप्त होता है। इनका समाधान **क्ङिति च** में 'इक:' की अनुवृत्ति मान कर दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'इक:' ऐसा कहकर जो गुणवृद्धि प्राप्त होती है, उस का यह प्रतिषेध करता है। 'लिगु' के उकार को जो **ओर्गुण:** से गुण होता है, वह है यद्यपि इक् के स्थान में ही, तथापि वह **'इक:'** ऐसा निर्देश करके नहीं किया है। **ओर्गुण:** में उकार का साक्षात् निर्देश कर देने से **इको गुणवृद्धी** (१।१।३) से इक: पद की वहां उपस्थिति नहीं होती है। **कामयते** में भी अकारोपधलक्षण वृद्धि है, इग्लक्षण नहीं है। अत: यहां गुणवृद्धि का प्रतिषेध नहीं होता।

[भाष्यम्] लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्गः ॥४॥

लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावः प्राप्नोति—अचिनवम्, असुनवम्, अकरवम्।

लकारस्य ङित्त्वादादेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्ग इति चेद् यासुटो ङिद्वचनात् सिद्धम् ॥५॥

यदयं यासुटो ङिद्वचनं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो—'न ङिदादेशा ङितो भवन्ति' इति।

यद्येतज्ज्ञाप्यते, कथं 'नित्यं ङित:'; 'इतश्च' [३।४।९९; १००] इति? 'ङितो यत्कार्यं तद्भवति, ङिति यत्कार्यं तन्न भवति' इति। किं वक्तव्यमेतत्? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते? यासुट एव ङिद्वचनात्। अपर्याप्तश्चैव हि यासुट् समुदायस्य ङित्त्वे, ङितं चैनं करोति। तस्यैतत् प्रयोजनम्—'ङितो यत्कार्यं तद्यथा स्यात्, ङिति यत्कार्यं तन्मा भूद्' इति ॥५॥

व्याख्या—लकार के ङित् होने से आदेशों में स्थानिवद्भाव की प्रसक्ति होती है।

लकार के ङित् होने से आदेशों में स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है—अचिनवम्, असुनवम् अकरवम्। **[स्थानिवद्भाव से लादेशों को ङित् मानने से** क्ङिति च **सूत्र से गुण का प्रतिषेध प्राप्त होता है।]**

लकार के ङित् होने से आदेशों में स्थानिवद्भाव की प्रसक्ति होती है, तो यासुट् के ङिद् वचन से सिद्ध है।

जो यह आचार्य यासुट् के ङित्त्व का शासन करते हैं, सो आचार्य बताते हैं कि—'ङित् का आदेश ङित् नहीं होता'।

यदि यह ज्ञापन किया जाता है, तो नित्यं ङितः, इतश्च (२।४।९९-१००) सूत्रों से कैसे [इकार का लोप] होगा ? 'ङित् को जो कार्य होता है, वह हो जाता है [अर्थात् षष्ठ्यन्त को कार्य करने में ङित् लकार स्थानिवद्भाव से ङित् होता है], परन्तु ङित् परे जो कार्य प्राप्त होता है वह नहीं होता [अर्थात् सप्तम्यन्त के कार्य के प्रति ङित् नहीं होता]'। क्या यह कहना चाहिये ? नहीं कहना चाहिये। विना कहे कैसे जाना जायेगा ? यासुट् के ही ङित्वचन से। यासुट् को कहा ङित् धर्म अपर्याप्त=असमर्थ है, समुदाय को ङित् बनाने में, फिर भी यासुट् को ङित् किया है। उसका यह प्रयोजन है कि—'ङित् का जो कार्य है वह हो जावे, ङित् परे जो कार्य है वह न होवे।'[अचिनवम् आदि में अम् को ङित् मानकर नित्यं ङितः; इतश्च (३।४।९९-१००) से इकार का लोप हो जायेगा, किन्तु ङित् परे मानकर होनेवाला क्ङिति च से गुणनिषेध नहीं होगा।]

विवरण—ङित् लकार के स्थान पर होनेवाले तिप् आदि लादेश स्थानिवद्भाव से ङित् होते हैं। यहां अनुबन्ध इकार के इत्संज्ञक होने से अन्तरङ्ग से लोप हो जाता है। स्थानिवद्भाव से इकार स्थानी में सम्बद्ध नहीं होता। इसलिये यह अल् का विषय न होने से यहां स्थानिद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त नहीं होता। **सार्वधातुकमपित्** (१।२।४) सूत्र में योगविभाग और प्रसज्य प्रतिषेध से 'ङित् पित् नहीं होता और पित् ङित् नहीं होता' ऐसा जो निर्देश भाष्यकार ने किया है, वह उनकी कल्पना है। वार्तिककार **सार्वधातुकमपित्** सूत्र का सामान्य अर्थ मानकर दोष उपस्थित करते हैं।

ङितो यत्कार्यम्—स्थानिवद्भाव से लादेश में ङित् परे जो पूर्व को कार्य होता है वह नहीं होता, ऐसा ज्ञापन करते हैं। ङित् को स्वय जो कार्य होता है, वह हो जाता है। अन्यथा **नित्यं ङितः** (३।४।९९) सूत्र निर्विषय हो जायेगा, क्योंकि इस सूत्र की प्रवृत्ति ङित् लकारों के स्थान में उत्तम पुरुष के जो वस् मस् आदेश, उनके सकारलोप में ही होती है।

अपर्याप्तश्चैव—यासुट् आगम है, तिप् आदि लिङादेश आगमी हैं। आगम और आगमी (=जिसको आगम होता है) में आगमी प्रधान होता है और आगम गौण। प्रधान और अतिदिष्ट धर्म तो उसके आगमरूप अवयव को प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु आगमरूप गौण अवयव को कहे धर्म प्रधान को अतिदिष्ट नहीं हो सकते। **क्ङिति च** सूत्र में तन्निमित्तग्रहण न करने पर गुण के अनिमित्तक यासुट् के परे रहने पर उसके ङित्त्व को मानकर गुण का निषेध हो जाता है। यदि आगमसहित लादेशों को स्थानिवद्भाव से ङित्कार्य की प्राप्ति होती, तो आचार्य यासुट् को ङित् न करते। यतः यासुट् को ङित् किया है, इस से यह ज्ञापकार्थ ही है ॥५॥

—:०:—

[भाष्यम्] दीधीवेवीटाम् ॥१।१।६॥

विवरण—सूत्र में दीधी वेवी से दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः, वेवीङ् वेतिना तुल्ये (धातु० २।६६, ७०) धातुओं का ग्रहण है। दीङ् क्षये (धातु० ४।२४), धीङ् अनादरे[1] (द्र०—धातु० ४।२६); वेञ् तन्तुसन्ताने (धातु० १।७३२), वी गत्यादिषु (धातु० २।४१) इन चार धातुओं का ग्रहण नहीं है। इसमें वृत्तिकार वार्तिककार और भाष्यकार का व्याख्यान ही प्रमाण है। इसी प्रकार 'इट्' शब्द से 'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इस सहचार-नियम से इट किट कटी गतौ (धातु० १।२१२) का ग्रहण न होकर आगम का ग्रहण होता है। इसमें पूर्वोक्त व्याख्याकार ही प्रमाण हैं। अर्थात् पूर्वनिपात व्यभिचार से साहचर्य नियम की बाधा जाननी चाहिये। व्याख्याकारों ने इन दोनों विषयों पर बहुत खण्डन-मण्डन किया है। द्र०—निर्णयसागर मुद्रित नवाह्निक, पृष्ठ १६८, टि० १, कालम १।

[भाष्यम्] किमर्थमिदमुच्यते? 'गुणवृद्धी मा भूताम्' इति। आदीध्यनम् आदीध्यकः, आवेव्यनम् आवेव्यक इति।

अयं योगः शक्योऽकर्तुम्। कथम्?

दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वाद् दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसश्छन्दस्यदीधेददीधयुरिति च गुणदर्शनादप्रतिषेधः ॥१॥

'दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात्'। दीधीवेव्यौ छन्दोविषयौ। 'दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसः'। दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति। 'अदीधेददीधयुरिति च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः'—अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः। 'प्रजापतिर्वै यत्किञ्चन मनसादीधेत्'[2], 'होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्' (ऋ० १०।९८।७); 'अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः' (ऋ० ७।३३।५)॥

व्याख्या—यह सूत्र किसलिये बनाया है? 'गुणवृद्धि न होवें'। आदीध्यनम् आदीध्यकः; आवेव्यनम् आवेव्यकः। ['आदीध्यनम्' 'आवेव्यनम्' में दीधी और वेवी धातु को ल्युट् परे सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से गुण प्राप्त होता है, और 'आदीध्यकः' 'आवेव्यकः' में दीधी और वेवी धातु को 'ण्वुल्' परे अचोऽञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त होती है।]

यह सूत्र विना किये कार्य चल सकता है। कैसे?

---

१. 'धीङ्-आधारे' इति क्षीरस्वामी। 'धीङ् आदाने' इति तु सायणः। 'धीङ् अनादरे' इति मैत्रेयः। मन्ये अनादरार्थकस्यैव 'धीङामस्ती' इत्यत्र लोकभाषायां प्रयोगः स्यात्।

२. मैत्रायण्यां संहितायां (३।६।४) किञ्चित्पाठभेदेन स्वराङ्कनप्रकारभेदेन च दृश्यते।

दीधी और वेवी के छन्दोविषयक होने से, और छन्द के दृष्टानुविधि होने से, तथा छन्द में 'अदीधेत्' 'अदीधयुः' में गुण के उपलब्ध होने से प्रतिषेध अनर्थक है।

'दीधी वेवी के छन्दोविषयक होने से'। दीधीङ् वेवीङ् धातुएं वेद-विषयक हैं। 'छन्द में दृष्टानुविधि होने से'। छन्द में दृष्टानुविधि (=जैसा दिखाई देता है, उसके अनुकूल विधि) होती है। अदीधेत्' 'अदीधयुः' में गुण के दर्शन से अप्रतिषेध=प्रतिषेध अनर्थक है।
प्रजापतिर्वै यत्किंचन मनसादीधेत् (द्र०—मै० सं० ३।६।४),होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् (ऋ० १०।६८।७); अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः (ऋ० ७।३३।५)।

विवरण—वार्तिककार ने सूत्रपठित **दीधी वेवी** अंश की अनावश्यकता दर्शाने के लिये उक्त वार्तिक में हेतु दिये हैं। **छन्दोविषयत्वात्**—धातुपाठ में **दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः, वेवीङ् वेतिना तुल्ये** (धातु० २।६६-७०) धातुएं लोक वेद में सामान्यरूप से पठित हैं। वार्तिककार ने इनका लोक में प्रयोग उपलब्ध न होने से और वैदिक वाङ्मय में ही प्रयोग देखकर इन्हें छन्दोविषयक कहा है। कातन्त्र व्याकरण केवल लौकिक भाषा का निदर्शक है, परन्तु उसके प्रवक्ता ने **दीधीङ् वेवीङ्** धातुओं का लोक में प्रयोग मानकर **दीधीवेव्योश्च** (का० ३।५।१५) यह सूत्र पढ़ा है। विशेष द्र०–संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ३६, ३७।

दृष्टानुविधित्वाच्छन्दसः—व्याकरणशास्त्र दृष्ट का ही अनुविधायक होता है। वह दृष्टत्व चाहे लोक में हो, चाहे वेद में। इस दृष्टि से दोनों में समानता होने पर भी वेद में दृष्ट का ही अनुविधान होता है। व्याकरणशास्त्र के **वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति**(महा० १।४।५) वचन द्वारा विकल्प का निर्देश होने पर भी छन्द में यथादृष्ट पद का ही अनुविधान होता है। व्याकरण के नियम से पक्षान्तर में प्राप्त शब्द की कल्पना नहीं की जाती है (द्र०—शिवरामेन्द्र सरस्वतीकृत भाष्यटीका, पृष्ठ २६७, हस्तलेख)।

छन्दस्यदीधेद्०—छन्द में **अदीधेत् अदीधयुः** प्रयोगों में गुण देखा जाता है। इससे दीधी वेवी को गुण का प्रतिषेध करना अनर्थक है। ये पृथक् तीन हेतु, अथवा प्रथम द्वितीय वाक्य को संयुक्त करके दो हेतु नहीं हैं। अपितु परस्पर एक-दूसरे के पूरक एवं उपोद्बलक वाक्य हैं। तीनों वाक्यों का सम्मिलित प्रयोग हेतुरूप में अभिप्रेत है। **अदीधेत्**—लङ् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन में रूप है। परस्मैपद छान्दस जानना चाहिये। **अदीधयुः**—लङ् लकार प्रथम पुरुष का बहुवचन का रूप है। **जक्षित्यादयः षट्** (६।१।६) से अभ्यस्त संज्ञा होने से **सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च** (३।४।१०६) से झि को जुस्, और **जुसि च** (७।३।८३) से गुण।

भर्तृहरि ने महाभाष्य-दीपिका में **'अदीधेत्' 'अदीधयुः'** प्रयोगों के सम्बन्ध में विशेष लिखा है। उसका भाव यह है–**'प्रजापतिर्वै यत्किञ्चन मनसाऽदीधेत् तदाधीतयजुर्भिरेवाप्नोति। तदाधीतयजुषाम् आधीतयजुष्ट्वम्'**[1] में **'ध्यै चिन्तायाम्'** (धातु० १।६४८) का रूप माना है।

---

१. मैत्रायणी सं० ३।६।४ में 'किञ्चन' के स्थान में 'किञ्च' और 'आप्नोति' के स्थान में 'आप्नोत्' पाठ है।

इस वचन का व्याख्याग्रन्थ[1] है—"**प्रजापतिर्वै यत्किञ्चन मनसाऽध्यायत् तदाधीतेराप्तवानिति'** इसी प्रकार '**होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्**' (ऋ० १०।९८।७) यह भी 'ध्यै' का ही रूप है। इस की व्याख्या में कहा है—'**होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत्**' इति (निरुक्त २।१२)। ऐसी अवस्था में दीधीङ् का रूप मानकर गुणदर्शन हेतु देने की क्या तुक है? यह दोष नहीं है। **अदीधेत् अदीधयुः** रूप दीधीङ् के ही हैं। अर्थ का उसी अर्थवाली धात्वन्तर के द्वारा कथन किया जाता है। जैसे—'**क्षणोति**' (क्षणु हिंसायाम्, तनादि०) का अर्थ '**क्ष्णौति**' (क्ष्णु हिंसायाम्) से कहा जाता है—'**क्षणः क्षणोतेः, प्रक्ष्णुतः कालो भवति। क्ष्णौतिः क्षयकर्मा**' इति[2] (तु०—निरुक्त २।२५)।

अत्यावश्यक निर्देश—भर्तृहरि के इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण वा निरुक्त ग्रन्थों में जो निर्वचन दर्शाये हैं, वे बहुधा शब्द की मूल धातु के अर्थवाली धात्वन्तर से जानने चाहियें। धात्वन्तर से निर्वचन का निर्देश करने का कारण बहुधा यह होता है कि मूल धातु, जिस से प्रयोग उपपन्न हुआ है, उस समय लोक में उस अथवा उन अर्थों में प्रयुक्त नहीं होती। ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में दर्शाये निर्वचन अर्थनिर्वचन हैं[3]। इनका धातुनिर्देश करना मुख्य प्रयोजन नहीं है। इस प्राचीन परम्परा को न समझकर आधुनिक विद्वान् डा० सिद्धेश्वर वर्मा और डा० वेलवेल्कर निरुक्त के दो-तिहाई निर्वचनों को ऊट-पटांग वा अशुद्ध बताते हैं, और प्रमाणभूत आचार्य यास्क की खिल्ली उड़ाते हैं।[4]

पं० विश्वबन्धु शास्त्री ने अपने वैदिक पदानुक्रम कोष में **अदीधेत् अदीधयुः** इन पदों का संकलन '**ध्यै-धी**' धातु के प्रसंग में किया है। वह भी पाणिनीय आदि आचार्यों के मतानुसार चिन्त्य है।

[भाष्यम्] भवेदिदं युक्तमुदाहरणम्—'अदीधेद्' इति। इदं त्वयुक्तम्—'अदी-

१. भर्तृहरि ने यह किस ग्रन्थ का पाठ उद्धृत किया है, और यह व्याख्या किस आचार्य की है, यह अज्ञात है। तै० सं० में उक्त पाठ नहीं है।

२. "प्रजापतिर्वै यत्किञ्चन मनसाऽदीधेत् तदाधीतयजुर्भिरेवाप्नोति तदाधीतयजुषाम् आधीतयजुष्ट्वम्। एतन्निरुक्तं ध्यायतेर्वर्ण्यते। अयं हि तत्र व्याख्याग्रन्थः—'प्रजापतिर्वै यत् किञ्चन मनसाऽध्यायत् तदाधीतेरवाप्तवान् इति। तथा 'होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्' अयमपि ध्यायतेरेव। होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत्' इति। एवं च सति दीधीङः कोऽभिसम्बन्धो यदुच्यते—'गुणदर्शनात्' इति। नैष दोषः। दीधीङः एव रूपम्। अर्थस्तु धात्वन्तरेण तदर्थेनाख्यायते। यथा क्षणोतेः क्ष्णौतिनार्थो वर्ण्यते। क्षणः क्षणोतेः, प्रक्ष्णुतः कालो भवति। क्ष्णौतिः क्षयकर्मेति।" पृष्ठ १२६, पूना संस्करण।

३. द्र०—हमारी वैदिक छन्दोमीमांसा, पृष्ठ २०—२२, तथा पृष्ठ २७—३०।

४. द्र०—वैदिक छन्दोमीमांसा, पृष्ठ २४—२७। विशेष द्रष्टव्य—वेदवाणी वर्ष ६, सन् १९५६ के विशेषाङ्क 'वेदाङ्क' (५) में श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का लेख।

धयुः' इति । अयं जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यते, स यथैव 'क्ङिति न' इत्येतं प्रतिषेधं बाधते, एवमिममपि बाधेत ।

नैष दोषः, जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यमाणस्तुल्यजातीयं प्रतिषेधं बाधते । कश्च तुल्यजातीयः प्रतिषेधः ? यः प्रत्ययाश्रयः । प्रकृत्याश्रयश्चायम् ।

अथवा येन नाऽप्राप्ते तस्य बाधनं भवति । न चाऽप्राप्ते 'क्ङिति न' इत्येतस्मिन् प्रतिषेधे जुसि गुण आरभ्यते । अस्मिन् पुनः प्राप्ते चाऽप्राप्ते च ॥

व्याख्या—यह 'अदीधेत्' उदाहरण युक्त हो सकता है। परन्तु यह तो अयुक्त है—'अदीधयुः'। यह [जुसि च (७।३।८३) से विधीयमान] जुस् परे गुण प्रतिषेध के विषय में आरम्भ किया है। वह जैसे क्ङिति न (=कित् ङित् परे गुण नहीं होता) इस प्रतिषेध को बाधता है, वैसे ही इस [दीधीवेवीटाम् प्रतिषेध] को भी बाधेगा।

यह दोष नहीं है। [जुस् परे गुण प्रतिषेध के विषय में आरम्भ किया हुआ तुल्यजातीय प्रतिषेध को बाधता है। कौन तुल्यजातीय प्रतिषेध है ? जो प्रत्ययाश्रय है। यह [दीधीवेवी-टाम् प्रतिषेध] प्रकृत्याश्रय है।

अथवा—जिससे [कार्य की] अवश्य प्राप्ति होवे, उसका बाधन होता है। क्ङिति न इस प्रतिषेध की अवश्य प्राप्ति में जुस् परे गुण का आरम्भ किया है [अतः उस प्रतिषेध को बाधेगा]। जबकि इस [दीधीवेवीटाम् प्रतिषेध] की प्राप्ति और अप्राप्ति होने पर [जुस् परे गुण कहा है, वह इसे नहीं बाधेगा]।

विवरण—सूत्र के प्रत्याख्यान में हेतुरूप से निर्दिशित **अदीधेत्** उदाहरण तो युक्त है। परन्तु **अदीधयुः** उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि यह सूत्र होने पर भी **जुसि च**(७।३।८३) से गुण हो जायेगा। ऐसा समझकर आक्षेप किया है—**भवेदिदं युक्तमुदाहरणम्**।

यः प्रत्ययाश्रयः—**जुसि च** से गुण का विधान प्रत्ययाश्रित है। अतः वह **क्ङिति च** प्रतिषेध को बाधेगा, क्योंकि वह भी कित् ङित् प्रत्यय को निमित्त मानकर गुण का प्रतिषेध करता है। **दीधीवेवीटाम्** सूत्र में प्रत्यय का आश्रय न करके प्रकृत्याश्रय गुण का निषेध किया है। अतः इसे **जुसि च** गुण नहीं बाध सकता। भाष्यकार का यहां इतना ही अभिप्राय है। कैयट नागेश आदि ने अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भाव की कल्पना करके ग्रन्थ को व्यर्थ में क्लिष्ट कर दिया है।

न चाप्राप्ते क्ङिति—'जुस्' प्रत्यय **सार्वधातुकमपित्**(१।२।४) से ङित् है। जुस् के ङित् होने से जहां-जहां भी जुस् होगा, वहां-वहां **क्ङिति च** से गुण का प्रतिषेध अवश्य प्राप्त होगा। **अस्मिन् पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च**—**अदीधयुः** में यह स्थिति नहीं है। दीधीङ् के रूप 'जुस्' से अन्यत्र भी होंगे। वहां जो गुण का निषेध **दीधीवेवीटाम्** से होगा, उसका **जुसि च** प्रतिषेधक नहीं होगा। जहां दीधीङ् से जुस् परे होगा, वहीं **दीधीवेवीटाम्** की प्रसक्ति में **जुसि च** की

सम्भावना हो सकती है। अतः **दीधीवेवीटाम्** सूत्र से विधीयमान गुण प्रतिषेध की अवश्य प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर सूत्र की रचना नहीं हुई। अतः **दीधीवेवीटाम्** से प्राप्त गुण के प्रतिषेध को **जुसि च** नहीं बाध सकता।

[भाष्यम्] यदि तर्ह्ययं योगो नारभ्यते, कथं 'दीध्यद्' इति ?

दीध्यदिति च श्यन् व्यत्ययेन ॥२॥

दीध्यदिति च श्यन् व्यत्ययेन भविष्यति ॥

व्याख्या—यदि इस [दीधीवेवीटाम्] सूत्र को आरम्भ नहीं करते, तो 'दीध्यत्' कैसे बनेगा ? [अर्थात् यहां लेट् में 'दीधी अट् तिप्'='दीधी अ त्' इस अवस्था में गुण का निषेध किस से होगा ?]

'दीध्यत्' में श्यन् व्यत्यय से हो जायेगा।

'दीध्यत्' में श्यन् व्यत्यय से हो जायेगा।

विवरण—'दीध्यत्' पद **ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे-अङ्गे निदीध्यत्** (काठक सं० ३।७; कपिष्ठल २।१४) में मिलता है। यद्यपि काठक और कपिष्ठल में स्वरचिह्न नहीं हैं, फिर भी अन्य पाठों की तुलना से **निदीध्यत्** में **तिङ्ङतिङः** (८।१।२८) से निघात होता है। भर्तृहरि ने लिखा है—यदि यह सूत्र न करें तो गुण प्राप्त होता है—**निदेध्यत्**। लट् में अट् तिप् परे गुण होकर **निदीधयत्** रूप होना चाहिये। सम्भव है मुद्रित पाठ अशुद्ध हो। विभिन्न शाखाओं में इस पद के विभिन्न पाठान्तर मिलते हैं। यथा—**निदिध्यत्** (मै० सं० १।२।१७); **निदेध्यत्** (तै० सं० १।३।१०)। ये **ध्यै=ध्या=धी** से शप् का छान्दस श्लु होकर द्विर्वचन के रूप हैं। मैत्रायणी के पाठ में अभ्यास को ह्रस्व हो गया है। और तैत्तिरीय पाठ में **नेनेक्ति** के समान अभ्यास को गुण हो गया है। कहीं-कहीं पर **शव्यत्ययेन** और **शब्व्यत्ययेन** पाठ भी है (द्र०—महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २१७)। 'श' विकरण में श्यन् के समान ही ङित् होने से गुण का निषेध हो जायेगा। **शब्व्यत्ययेन** पाठ में प्रकृतसूत्र न होने पर गुण प्राप्त होगा। भर्तृहरि ने **शप्व्यत्ययेन** का अर्थ शप् का व्यतिगमन **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (२।४।७२) से लुक् माना है। **यदेव किं च मनसा दीध्यज्जुहोति** (मै० सं० ३।६।४) में **दीध्यत्** आद्युदात्त है (ऋग्वेद २।२०।१; अथर्व १८।३।२१—**दीध्यतः**)। इसे भर्तृहरि ने शतृप्रत्ययान्त माना है। श्यन् पक्ष में **दीधी य शतृ—यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः** (७।४।५३) से ईकारलोप होने पर श्यन् के नित्त्व से आद्युदात्त हो जायेगा। **आच्छीनद्योर्नुम्; शप्श्यनोर्नित्यम्** (७।१।८०, ८१) से प्राप्त नुम् का निषेध **नाभ्यस्ताच्छतुः** (७।१।७८) से अभ्यस्त संज्ञा सामर्थ्य से हो जायेगा। अभ्यस्त संज्ञा **जक्षित्यादयः षट्** (६।१।६) सूत्र से होती है (यह भर्तृहरि के अनुसार है)। **शव्यत्ययेन** पक्ष में 'शतृ' को **तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्** (६।१।१८०) से अदुपदेश से परे होने से अनुदात्त हो जायेगा, और 'श' को ङित् से परे मानकर अनुदात्त हो जायेगा। आद्युदात्तत्व **अभ्यस्तानामादिः, अनुदात्ते च** (६।१।१८३-१८४) से होगा। शप्लुक् पक्ष में **अभ्यस्तानामादिः** (६।१।१८३) से आद्युदात्तत्व हो जायेगा।

[भाष्यम्] इटश्चापि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथम्—अकणिषम्, अरणिषम्, कणिता श्वः, रणिता श्व इति ? 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' [७।२।३५] इत्यत्र 'इड्' इत्यनुवर्तमाने पुनरिड्ग्रहणस्य प्रयोजनम्—'इड् इडेव यथा स्याद्, यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूद्' इति । किं चान्यत् प्राप्नोति ? गुणः । यदि नियमः क्रियते, 'पिपठिषतेरप्रत्ययः पिपठीः'—दीर्घत्वं न प्राप्नोति । नैष दोषः । आङ्गं यत्कार्यं तन्नियम्यते । न चैतदाङ्गम् ।

अथवा—असिद्धं दीर्घत्वम् । तस्याऽसिद्धत्वान्नियमो न भविष्यति ॥६॥

व्याख्या—'इट्' का भी ग्रहण किये विना कार्य चल सकता है । कैसे होंगे—अकणिषम्, अरणिषम्; कणिता श्वः; रणिता श्वः ? 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) में 'इट्' की अनुवृत्ति होने पर भी पुनः 'इट्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि—'इट् इट् ही रहे, जो और कुछ प्राप्त होता है, वह न होवे ।' और क्या प्राप्त होता है ? गुण । यदि [उक्त] नियम किया जाता है, तो "पिपठिष से 'क्विप्' प्रत्यय होने पर पिपठीः" में [इट् को] दीर्घ प्राप्त नहीं होता । यह दोष नहीं है । अङ्ग-सम्बन्धी जो कार्य [इट् को प्राप्त होता है], उसको नियमित किया जाता है । यह (='र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' ८।२।७६ से प्राप्त दीर्घत्व) अङ्ग-सम्बन्धी नहीं है ।

अथवा [र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (८।२।७६) से किया हुआ] दीर्घत्व [पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) के नियम से] असिद्ध है । उसके असिद्ध होने से नियम (=इड् इडेव यथा स्यात्) नहीं होगा [अर्थात् शास्त्र की दृष्टि में इट् ह्रस्व ही है] ।

विवरण—'अकणिष् अम्' इस अवस्था में मिप् को मानकर इट् के इकार को **पुगन्तलघूपधस्य च** (७।३।८६) से गुण प्राप्त होता है । **कणिता श्वः**, यहां 'श्वः' पद तृजन्त की व्यावृत्ति के लिये है । कण् लुट्='कण् इट् तास् डा'='कण् इ तास् आ' इस अवस्था में 'डा' के डित्करणसामर्थ्य से टेः(६।४।१५५)से टि का लोप होकर 'कण् इत् आ' इस अवस्था में 'डा' परे इट् को लघूपधगुण पाता है । **इडित्यनुवर्तमाने**—**नेड् वशि कृति**(७।२।८)से **क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते** इस नियम में 'इट्' की अनुवृत्ति आती है, 'न' की नहीं आती । **अप्रत्यय**—यह 'क्विप्' प्रत्यय की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है—अप्रत्यय=अश्रूयमाण प्रत्यय । **पिपठिष् क्विप्**, इस अवस्था में **अतो लोपः** (६।४।४८)से अकार लोप, 'पिपठिष् सु=पिपठिष् स्=पिपठिष्' इस अवस्था में **आदेशप्रत्यययोः**(८।३।५९)से प्राप्त षत्व के असिद्ध होने पर स को **ससजुषो रुः** (८।२।६६) से रुत्व होकर, **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (८।२।७६) से उपधा को दीर्घ होता है । यह उपधा इट् की इकार है । पर(क्विप्) को निमित्त मानकर हुआ अकारलोप पूर्व 'स्' को विसर्ग करने में स्थानिवत् पाता है । उसका [**पूर्वत्रासिद्धे च न स्थानिवत्** (१।१।५७)] वार्तिक से प्रतिषेध हो जाता है ।

आङ्गं यत्कार्यम्—'**आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (७।२।३५)सूत्र अङ्गाधिकार का है, अतः इस से ज्ञापित '**इड् इडेव यथा स्यात्, यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूत्**' नियम अङ्ग-सम्बन्धी कार्यविषयक ही होगा । 'पिपठिषीः' का दीर्घत्व अङ्ग-सम्बन्धी नहीं है । 'ग्रहीता' में इट् को

दीर्घत्व **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (७।२।३७) के वचन से हो जायेगा। **पिपठीषि ब्राह्मणकुलानि**—यहां 'पिपटिष् शि' इस अवस्था में **नपुंसकस्य झलचः**(७।१।७२)से नुम् होकर **सान्तमहतः संयोगस्य** (६।४।१०)से जो दीर्घत्व होता है, वह अङ्गाधिकार विहित होने से प्राप्त नहीं होगा। इस का उत्तर शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार दिया है—'इट् के विषय में नियम किया है। इट् सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय के परे ही होता है। अतः सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय को मानकर ही जो आङ्ग कार्य होता है, उसके प्रति नियम की प्रवृत्ति होती है'। यहां **सान्तमहतः संयोगस्य** (६।४।१०) से जो दीर्घत्व की प्राप्ति होती है वह सार्वधातुक आर्धधातुक भिन्न सुप् को मानकर प्राप्त होता है। अतः इसका प्रतिषेध नहीं होगा। नुम् करने में जो अकारलोप है, वह स्थानिवत् नहीं होगा, क्योंकि **क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्** (१।१।५७) क्विप् परे जिसका लोप होता है, वह स्थानिवत् नहीं होता।[1]

भर्तृहरि और कैयट आदि ने **'पिपठिषि'** रूप ही माना है। उनके मत में अकारलोप स्थानिवत् नहीं होता। वे **क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्** ऐसा न मानकर **क्वौ विधिं प्रति न स्थानिवत्** पक्ष मानते हैं। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है कि—**'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्'** यही पक्ष भाष्यकार सम्मत होने से कैयट का कथन चिन्त्य है(द्र० हस्तलेख पृष्ठ ३०२ मुद्रित पृ. ३३६)।

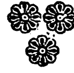
अथवा असिद्धं दीर्घत्वम्—शिवरामेन्द्र सरस्वती ने पक्षान्तर के उपस्थापन में लिखा है—**ननु पिपठीषि इत्याङ्गो दीर्घः कथं स्यादित्यस्वरसादाह अथवेति** (पृष्ठ ३०१)[2]। हमने कैयट आदि के अनुरोध से **पिपठीषि** के सम्बन्ध में शिवरामेन्द्र सरस्वती का मत पूर्व उपस्थापित किया है। **अलावीत्**—'अ ला व् इट् स् ईट् त्' इस अवस्था में सिच् का लोप होने पर जो इट् ईट् के इकारों को दीर्घ होता है, उसकी निवृत्ति भी **इड्इडेव** के नियम से नहीं होती। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने हेतु दिया है—सार्वधातुक आर्धधातुक परे पूर्व इट् को ही कार्यान्तर नहीं होता, कहा है। यहां इट् और ईट् दोनों को दीर्घत्व होने से पूर्वोक्त नियम बाधक नहीं होगा। (द्र०—हस्तलेख पृष्ठ ३०२)[2]। भर्तृहरि ने **'इह द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः यः स्थाने भवति, लभतेऽसावन्यतरव्यपदेशम्'**(=दो षष्ठीनिर्दिष्टों के स्थान में जो कार्य होता है, वह एक का भी कहा जाता है) कहकर **अलावीत्** में दोष स्वीकार करके कहा है—**तस्मादिदमेव ज्यायो दृश्यते—आङ्गं यत्कार्यं तन्नियम्यते** (पृष्ठ १२८, पूना संस्करण)।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने प्रस्तुत सूत्र के प्रत्याख्यान के विषय में लिखा है—**'वस्तुतस्तु एतादृशक्लिष्टकल्पनापेक्षया सूत्रस्थापनमेव वरम्, अन्यथा समस्तं शास्त्रमाकुलं स्यादित्यन्यदेतत्** (हस्तलेख पृष्ठ ३०३)[2]। अर्थात् इस प्रकार की क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा सूत्र रखना ही अच्छा है। अन्यथा समस्त शास्त्र आकुलित हो जायेगा। भाष्यकारकृत प्रत्याख्यान के विषय में

१. सार्वधातुकार्धधातुकयोरेव तत्प्रकरणे इडागमस्य विहितत्वेन सार्वधातुकार्धधातुकयोः परतो य आङ्गविकार इटः प्राप्नोति स एव नियमेन वार्यते। अन्यस्तु विकारः सार्वधातुकार्धधातुकान्यतरान्तात् प्रातिपदिकाद्भिन्नं सुपमाश्रित्य प्रवर्तमानो बहिरङ्गतयाऽसिद्धो भिन्नजातीयश्च भवतीति भावः। द्र०—हस्तलेख पृष्ठ ३०१, ३०२, मुद्रित पृष्ठ ३३६।

२. मुद्रित पृष्ठ ३३६।

शिवरामेन्द्र सरस्वती का मत हम न धातुलोप आर्धधातुके (१।१।४)सूत्र के प्रत्याख्यान प्रकरण में पूर्व पृष्ठ २८७ पर उद्धृत कर चुके हैं। सूत्रप्रत्याख्यान के विषय में आधुनिक वैयाकरणों का मत चिन्त्य है। शिवरामेन्द्र सरस्वती का इस विषय का सिद्धान्त सूत्र वार्तिक एवं महाभाष्य के आशय के अनुकूल है ॥६॥



[भाष्यम्] हलोऽनन्तराः संयोगः ॥१।१।७॥

'अनन्तरा इति' कथमिदं विज्ञायते—अविद्यमानमन्तरं येषामिति, आहोस्विदविद्यमाना अन्तरैषामिति ?

किं चातः ? यदि विज्ञायते—'अविद्यमानमन्तरं येषाम्' इति, अवग्रहे संयोगसंज्ञा न प्राप्नोति—'अप्स्वित्यप्ऽसु' इति। विद्यते ह्यत्रान्तरम्। अथ विज्ञायते—'अविद्यमाना अन्तरैषाम्' इति, न दोषो भवति। यथा न दोषस्तथास्तु।

अथवा पुनरस्तु—'अविद्यमानमन्तरं येषाम्' इति। ननु चोक्तम्—"अवग्रहे संयोगसंज्ञा न प्राप्नोति—'अप्स्वित्यप्ऽसु' इति। विद्यते ह्यत्रान्तरम्" इति। नैव दोषो न प्रयोजनम् ॥

व्याख्या—'अनन्तराः' पद कैसे जाना जाता है, अर्थात् इस पद का क्या अर्थ है—अविद्यमान है अन्तर (=विवर=छिद्र अर्थात् वर्णशून्यकाल) जिनमें, अथवा अविद्यमान है अन्तरा (=मध्य में अन्यवर्ण) जिन में ?

इस से क्या ? यदि यह [अर्थ] जाना जाता है कि—'अविद्यमान है अन्तर जिनमें', तो अवग्रह में संयोग संज्ञा प्राप्त नहीं होती—अप्स्वित्यप्ऽसु (यजुः ८।२५)। यहां अन्तर (=वर्णशून्यकाल) विद्यमान है। यदि यह [अर्थ] जाना जाता है—अविद्यमान है अन्तरा जिनमें, तो दोष नहीं होगा। जैसे दोष नहीं है, वैसे [अर्थ] जाना जाये।

अथवा [यह अर्थ] होवे—'अविद्यमान है अन्तर जिनमें'। अभी तो कहा है—"अवग्रह में संयोग संज्ञा प्राप्त नहीं होती—'अप्स्वित्यप्ऽसु'। यहां अन्तर (=वर्णशून्यकाल) विद्यमान है।" [यहां संयोग-संज्ञा होने वा न होने में] न कोई दोष है और न कोई प्रयोजन।

विवरण—'अनन्तर' शब्द अन्तर और अन्तरा दोनों शब्दों के साथ नञ्समास होकर उपपन्न हो सकता है। अन्तर शब्द का अर्थ है—विवर=छिद्र। शब्दों के उच्चारण में विवर=छिद्र वर्णशून्यकाल का ही हो सकता है। अतः 'अविद्यमानमन्तरं येषाम्' का भाव है—'जिन हलों में वर्णशून्यकाल नहीं है, उनकी संयोग-संज्ञा होती है'। दूसरा 'अन्तरा' शब्द मध्य का पर्यायवाची है। अतः अर्थ होगा—'जिन हलों के मध्य वर्णान्तर(=अच्)नहीं हैं, उनकी संयोग संज्ञा होती है'। यह व्याख्या भर्तृहरि कैयट एवं नागेश के पाठ एवं मत के अनुसार है। 'अन्तरा' के योग में 'अन्तरान्तरेण युक्ते द्वितीया' (२।३।४)से द्वितीया होनी चाहिये। इस का

समाधान भर्तृहरि ने इस प्रकार किया है—"जब अन्तरियों (=जिन दो के मध्य अन्तर दर्शाना हो) का भेद से निर्देश किया जाता है, जैसे कि—**त्वां च मां चान्तरा कमण्डलुः**, तब 'अन्तरा' के योग में द्वितीया होती है। जब अन्तरियों के भेद की विवक्षा छोड़कर सम्बन्धीरूप से प्रवृत्ति होती है, तब अन्तरी-रूप निश्चित दो अर्थ का अभिधान न होने से द्वितीया न होकर षष्ठी होती है। यदि ऐसा है, तो भाष्यकार के **तद्वाचिनः शब्दस्य प्रयोगमन्तरेण** (द्र०—महा० १।२। ६४) प्रयोग में 'अन्तरेण' के योग में द्वितीया कैसे हुई? इसका उत्तर यह है कि 'अन्तरेण' शब्द 'विना' अर्थवाला और 'मध्य' अर्थवाला है। दोनों अर्थवाले के योग में द्वितीया का विधान जानना चाहिये"[1]।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने तो भाष्यकार के प्रयोग-सामर्थ्य से 'अन्तरा' के योग में षष्ठी विभक्ति भी मानी है।[2] और भर्तृहरि के उक्त कथन का कैयट ने जो संक्षेप से उल्लेख किया था, उसका निर्देश करके खण्डन किया है (द्र०—हस्तलेख, पृष्ठ ३१०, ३११, मुद्रित पृ. ३४१)।

शिवरामेन्द्र सरस्वती **'अविद्यमाना अन्तरैषाम्'** के स्थान में **अविद्यमाना अन्तरा येषाम्** पाठ मानकर अन्य प्रकार से व्याख्या करता है। उसका भाव है—"पूर्व विग्रह में **अन्तरम्** नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग है। अतः पूर्व वाक्य का अर्थ करता है—अविद्यमान है अन्तर=व्यवधान क्रियारूप जिन में। अर्थात् उच्चारणक्रिया का जिनमें व्यवधान नहीं होता। दूसरे विग्रह में **अन्तराः** पुंल्लिङ्ग का रूप है। उसमें अर्थ होगा—अविद्यमान हैं अन्तर=व्यवधान विजातीय वर्णरूप जिनमें। इस प्रकार अकारान्त अन्तर शब्द के लिङ्गभेद से ही व्याख्यान के सम्भव होने पर आकारान्त 'अन्तरा' शब्द की कल्पना में कारण न होने से कैयट का व्याख्यान चिन्त्य है" (द्र०-हस्त० पृ० ३०३, मु०पृ० ३४१)। छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड ने शिवरामेन्द्र सरस्वती के इस मत का खण्डन किया है। द्र०—नवाह्निक, निर्णयसागर संस्करण, पृष्ठ २०१, कालम १, टि० ३। वस्तुतः शिवरामेन्द्र सरस्वती का यह व्याख्यान उसके अपने ही उत्तर व्याख्यान के विरुद्ध है। **यदा द्वयोर्द्वयोः** इत्यादि भाष्य के व्याख्यान में शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—**'भाष्यकार प्रयोगादन्तराशब्दयोगे षष्ठ्यपि साधुः'** (हस्त० पृष्ठ ३१०, मुद्रित ३४७)। अर्थात् भाष्यकार के प्रयोग से 'अन्तरा' शब्द के योग में षष्ठी भी साधु है। इससे स्पष्ट है कि वह वहां **अविद्यमाना अन्तरैषाम्** पाठ ही मानता है।

---

१. "कथं पुनरत्र षष्ठी, यावता 'अन्तरान्तरेण युक्ते' इति द्वितीया प्राप्नोति? उच्यते—यदान्तरिणौ भेदेनोपादीयेते 'त्वां च मां च'; 'गार्हपत्यं चाहवनीयं च' इति, तदा अन्तरिरूपेण प्रवर्तमानो द्वितीयां प्रतिपद्यते। यदा तूत्सृज्य भेदं सम्बन्धिरूपेण प्रवृत्तिस्तदाऽन्तरिरूपेणानभिधानान्न ज्ञायते द्वयोः अनन्तरा इत्युक्ते (?) किमन्येन सह द्वयोराहोस्वित् तयोरेव इति षष्ठी कृता न द्वितीया। यद्येवमिह कथं 'तद्वाचिनः शब्दस्य प्रयोगमन्तरेण' इति, तथा 'अन्तरेण वरारोहाम्' इति। उच्यते—अयमन्तरेण शब्दो विनाशब्दार्थवचनो मध्यवचनश्च। उभयार्थेनापि योगे द्वितीया विधीयते—'अन्तरान्तरेण युक्ते' इति।" महाभाष्यदीपिका पृष्ठ १३५, पूना संस्करण।

२. 'भाष्यकारप्रयोगादन्तराशब्दयोगे षष्ठ्यपि साधुः। हस्तलेख, ३१०, मुद्रित पृ. ३४७।

अप्स्वित्यप्ऽसु—यहां महाभाष्य के सम्पादक पं० शिवदत्त शर्मा दाधिमथ ने '**ऋ० सं० पद० १२३।१९**' का पता दिया है। इसी का अनुकरण गुरुकुल झज्झर(हरयाणा) से प्रकाशित महाभाष्य में किया है। यह निर्देश ऋग्वेद के पदपाठ का ज्ञानाभावमूलक है। ऋग्वेद के पद-पाठ में '**अप्सु**' का निर्देश '**अप्ऽसु**' इस रूप में किया जाता है, उस में '**इति**' पद का प्रयोग नहीं होता। इति पद पूर्वक अवग्रह का निर्देश यजुर्वेद की शाखाओं में देखा जाता है। अतः यहां '**माध्यन्दिन सं० पद० ८।२५**' का; अथवा जहां भी 'अप्सु' पद मन्त्र में आया है, उसका निर्देश करना चाहिये। तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ में '**वयो द्वितीयाः पौष्करसादेः**' के मतानुसार '**अपिस्वत्प्ऽसु**' ऐसा पाठ मिलता है। **विद्यते ह्यत्रान्तरम्**—अवग्रह में वर्णों के मध्य अर्धमात्राकाल का व्यवधान किया जाता है। जो आचार्य परःसन्निकर्ष से उच्चार्यमाण वर्णों के मध्य में प्रयत्नभेद के लिये अवश्यंभावी काल का अन्तर अर्धमात्राकाल स्वीकार करते हैं, वे अवग्रह में एकमात्राकाल का व्यवधान कहते हैं। यथा—**अवग्रहो ह्रस्वसमकालः** (द्र०—शु० यजु: प्राति० ५।१) ॥

नैव दोषो न प्रयोजनम्—संज्ञा का विधान किसी प्रयोजन के लिये किया जाता है। अवग्रह में संयोग-संज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं है, अतएव संयोग-संज्ञा न होने से कोई दोष नहीं आता है। भर्तृहरि प्रभृति व्याख्याकारों ने '**अप्सु**' के अवग्रह को लेकर पर्याप्त बुद्धिवैभव दर्शाया है। वास्तविकता यह है कि **अप्ऽसु** यहां अवग्रह में संयोग-संज्ञा और तन्निमित्तक गुरु-संज्ञा के आश्रित प्लुतत्व का अवकाश ही नहीं है। **अप्सुयोनि** और **अप्सुमति** शब्दों में 'अप्' पर अवग्रह होता ही नहीं है। यहां अवग्रह **अप्सुऽयोनिः अप्सुऽमति** पर होगा। इतना ही नहीं, अवग्रह का क्षेत्र वैदिक पदपाठ है, वहां '**विष्वक्सेन**' इत्यादि में सम्बोधन आदि निमित्तक प्लुत का प्रसङ्ग प्राप्त ही नहीं होता।

[भाष्यम्] संयोगसंज्ञायां सहवचनं यथाऽन्यत्र ॥१॥

संयोगसंज्ञायां 'सह' ग्रहणं कर्तव्यम्। 'हलोऽनन्तराः संयोगः सह' इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? सहभूतानां संयोगसंज्ञा यथा स्याद्, एकैकस्य मा भूदिति। 'यथाऽन्यत्र'। तद्यथा अन्यत्रापि यत्रेच्छति सहभूतानां कार्यं, करोति तत्र 'सह' ग्रहणम्। तद्यथा—'सह सुपा' [२।१।४], 'उभे अभ्यस्तं सह' [६।१।५] इति॥

व्याख्या—**संयोग-संज्ञा में सह वचन करना चाहिये, जैसे अन्यत्र करते हैं।**

संयोग-संज्ञा में 'सह' ग्रहण करना चाहिये। 'हलोऽनन्तराः संयोगः सह' **ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? इकट्ठे हलों की संयोग-संज्ञा होवे, एक-एक की न होवे। 'जैसे अन्यत्र'। जैसे अन्यत्र भी जहां चाहते हैं कि सहभूतों को कार्य होवे, वहां 'सह' ग्रहण करते हैं। जैसे**—'सह सुपा' (२।१।४); 'उभे अभ्यस्तं सह' (६।१।५)।

विवरण—सूत्र में '**अनन्तराः**' के ग्रहण से, जिन हलों में विजातीय वर्ण के व्यवधान का अभाव होगा, उनकी संयोग-संज्ञा होगी। अतः एक-एक हल् की संयोग-संज्ञा की प्राप्ति दुर्लभ है। फिर वार्तिककार ने 'सह' ग्रहण करने का निर्देश क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि

'अनन्तराः' ग्रहण का तात्पर्य 'आनन्तर्य विना व्यवधान के अवस्थित' भी हो सकता है। उस अवस्था में जैसे **आनन्तर्येणावस्थितेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः पाद्यमाचमनीयमर्घ्यंश्च दीयताम्** कहने पर आनन्तर्य से उपलक्षित प्रत्येक ब्राह्मण को पाद्य(=पैर धाने का पानी), आचमनीय(=आच-मन करने का पानी), और अर्घ्य(=मधु और घृत मिश्रित दही)देओ, कहने पर प्रत्येक ब्राह्मण को पाद्य आदि दिया जाता है। अतः प्रकृतसूत्र में 'अनन्तराः' ग्रहण करने पर भी आनन्तर्य से व्यवस्थित प्रत्येक हल् की संयोग-संज्ञा प्राप्त होती है, जैसे गुणवृद्धि-संज्ञा प्रत्येक वर्ण की हुई है। **यत्रेच्छति सहभूतानाम्**—इस विषय में पूर्व पृष्ठ २३६ पर विवरण देखें।

[भाष्यम्] किं च स्याद्, यद्येकैकस्य संयोगसंज्ञा स्यात्? इह—निर्यायात् निर्वायात्, 'वान्यस्य संयोगादेः' [६।४।६८] इत्येत्वं प्रसज्येत। इह च संहृषीष्टेति, 'ऋतश्च संयोगादेः' [७।२।४३] इतीट् प्रसज्येत। इह च संह्रियत इति, 'गुणोऽर्ति-संयोगाद्योः' [७।४।२९] इति गुणः प्रसज्येत। इह च दृषत्करोति समित्करोतीति, 'संयोगान्तस्य' [८।२।२३] इति लोपः प्रसज्येत। इह च शक्ता वस्तेति, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' [८।२।२९] इति लोपः प्रसज्येत। इह च निर्यातो निर्वातः, 'संयो-गादेरातो धातोर्यण्वतः' [८।२।४३] इति निष्ठानत्वं प्रसज्येत॥

व्याख्या—**और क्या होगा, यदि एक-एक की संयोग-संज्ञा होवे? यहां** निर्यायात् निर्वायात् **में** वाऽन्यस्य संयोगादेः (६।४।६८) **से एत्व प्राप्त होवे। और यहां** संहृषीष्ट में ऋतश्च संयोगादेः (७।२।४३) **से इट् प्राप्त होवे। और यहां** संह्रियते में गुणोऽर्ति-संयोगाद्योः (७।४।२९) **से गुण प्राप्त होवे। और यहां** दृषत्करोति समित्करोति में संयोगान्तस्य (८।२।२३) **से [तकार का] लोप होवे। और यहां** शक्ता वस्ता में स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९) **से [ककार सकार का] लोप होवे। और यहां** निर्यातः निर्वातः **में** संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः (८।२।४३) **से** निष्ठा **[के तकार] को नत्व प्राप्त होवे।**

विवरण—निर्यायात्—रेफ होने पर रेफ और यकार दोनों में व्यवधान का अभाव गम्यमान होगा। उस अवस्था में प्रत्येक की संयोग-संज्ञा होने पर यकार की संयोग-संज्ञा होने से संयोगादि अङ्ग माना जायेगा। उस अवस्था में **वान्यस्य संयोगादेः** (८।४।६८) से एत्व प्राप्त होता है। प्रकृत उदाहरण में रेफ से उत्तर यकार को **अचो रहाभ्यां द्वे** से द्वित्व होने पर **निर्य्यायात्** में दोनों हलों के समुदाय की संयोग-संज्ञा होने पर भी **वाऽन्यस्य संयोगादेः** से एत्व प्राप्त होगा। उसका समाधान यह है कि द्विर्वचन के त्रिपादी होने से वह **वाऽन्यस्य संयोगादेः** सूत्र के प्रति असिद्ध है। अतः शास्त्रीय दृष्टि में एक यकार ही होने से संयोग-संज्ञा नहीं होगी। इसी प्रकार **संहृषीष्ट** और **संह्रियते** में हकार की संयोग-संज्ञा होने से क्रमशः इट् और गुण प्राप्त होते हैं। **दृषत्करोति समित्करोति** में तकारमात्र की संयोग-संज्ञा होने और दृषत् पद के अन्त में होने से **संयोगान्तस्य** (८।२।२३) से लोप पाता है। **शक्ता** में ककार की, और **वस्ता** में सकार की संयोग-संज्ञा होने, और तकाररूप झल् के परे रहने पर **स्कोः**

संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९)से लोप पाता है। निर्यातः निर्वातः में यकार वकार की संयोग-संज्ञा होने, संयोगादि और आकारान्त धातु होने से निष्ठा के तकार को नकार पाता है।

[भाष्यम्]नैष दोषः। यत्तावदुच्यते—"इह तावन्निर्यायात् निर्वायात् 'वान्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वं प्रसज्येत" इति। नैवं विज्ञायते—संयोग आदिर्यस्य सोऽयं संयोगादिः, संयोगादेरिति। कथं तर्हि? संयोगावादी यस्य सोऽयं संयोगादिः, संयोगादेरिति। एवं तावत्सर्वमाङ्गं परिहृतम्।

यदप्युच्यते—"इह च दृषत्करोति समित्करोति 'संयोगान्तस्य' इति लोपः प्रसज्येत" इति। नैवं विज्ञायते—संयोगोऽन्तो यस्य तदिदं संयोगान्तम्, संयोगान्तस्येति। कथं तर्हि? सयोगावन्तौ यस्य तदिदं संयोगान्तम्, संयोगान्तस्येति।

यदप्युच्यते—"इह च शक्ता वस्तेति 'स्कोः संयोगाद्योः' इति लोपः प्रसज्येत" इति। नैवं विज्ञायते—संयोगावादी संयोगादी, संयोगाद्योरिति। कथं तर्हि? संयोगयोरादी संयोगादी, संयोगाद्योरिति।

यदप्युच्यते—"इह च निर्यातो निर्वात इति 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति निष्ठानत्वं प्रसज्येत" इति। नैवं विज्ञायते—संयोग आदिर्यस्य सोऽयं संयोगादिः संयोगादेरिति। कथं तर्हि? संयोगावादी यस्य सोऽयं संयोगादिः, संयोगादेरिति॥

व्याख्या—यह दोष नहीं है। यह जो कहते हो कि—"निर्यायात् निर्वायात् में 'वान्यस्य संयोगादेः' (६।४।६८) से एत्व प्राप्त होता है"। [वहां] इस प्रकार अर्थ नहीं जाना जाता है—संयोग जिसके आदि में है वह संयोगादि, उसको। तो कैसे जाना जाता है? दो संयोग जिस के आदि में हैं वह संयोगादि, उस संयोगादि को। इस प्रकार सब अङ्ग-सम्बन्धी (=इट् और गुण) दोषों का परिहार हो गया।

और जो यह कहते हो कि—"दृषत्करोति समित्करोति में 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से लोप प्राप्त होता है"। [वहां] इस प्रकार अर्थ नहीं जाना जाता है—संयोग अन्त है जिसका वह संयोगान्त, उसको। तो कैसे जाना जाता है? दो संयोग अन्त हैं जिसका वह संयोगान्त, उस संयोगान्त को।

और जो यह कहते हो कि—"शक्ता वस्ता में 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से [तकार सकार का] लोप प्राप्त होता है"। [वहां] इस प्रकार अर्थ नहीं जाना जाता है—दो संयोग आदि वह संयोगादि, उन दो संयोगादियों को। तो कैसे जाना जाता है—दो संयोग के जो दो आदि वह संयोगादि, उन दो संयोगादियों को।

और जो यह कहते हो कि—"निर्यातः निर्वातः में 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' (८।२।४३) से निष्ठा [के तकार] को नकार प्राप्त होता है" [वहां] इस प्रकार अर्थ नहीं जाना जाता है—संयोग आदि है जिसके वह संयोगादि, उस संयोगादि को। तो कैसे जाना जाता है? दो संयोग आदि हैं जिसके वह संयोगादि, उस संयोगादि को।

विवरण—कैयट ने भर्तृहरि के मतानुसार लिखा है कि समास में उपसर्जनीभूत संयोग-रूप अर्थ के द्वित्व की प्रतीति नहीं होती, तब द्विवचन से विग्रह कैसे होगा ? इसका समाधान किया है--आदि ग्रहण सामर्थ्य से द्विवचन से विग्रह जाना जायेगा, अन्यथा **संयोगात्** इतना ही कह देते। अर्थ होता—संयोग से परे जो आकार तदन्त अङ्ग को एत्व होता है। कैयट के कथन का खण्डन करते हुए नागेश ने लिखा है कि—कैयट ने जो शङ्का उपस्थित की है, वह अयुक्त है। संयोग की द्वित्वरूप से ही प्रतीति का अभाव होने से, और संयोगत्वरूप से ही अनेक संयोगों की प्रतीति होने से। 'समास में उपसर्जन पद से अनेक का बोध नहीं होता' यह कथन भाष्यसम्मत नहीं है। भाष्यकार ने तो इतना ही कहा है—'समास में संख्याविशेष का बोध नहीं होता(२।१।१ भाष्य)। अनेकत्व का अवगमन नहीं होता, यह इस भाष्यवचन से नहीं कहा गया है। अतः द्विवचन से समास होने पर द्वित्व की प्रतीति हो सकती है। शिव-रामेन्द्र सरस्वती ने भी कैयट का खण्डन किया है। वह लिखता है—**'संयोगात्'** कहने से ही यह अर्थ हो जाता—'संयोग से परे जो आकार तदन्त अङ्ग को विकल्प से एत्व होता है' [ऐसा मानने पर] **पथ्या इव आचर्यात् पथ्यायात्**—यहां पथ्या में संयोगसंज्ञक यकार से परे आकार है, अतः तदन्त अङ्ग को एत्व की प्राप्ति हो जायेगी। इस अतिप्रसक्तिदोष से कैयट का कथन अयुक्त है। **संयोगावादी यस्य** ऐसा विग्रह करने पर **स्त्येयात् स्त्यायात्** में एत्व की प्रवृत्ति नहीं होगी, यहां संयोग-संज्ञक तीन हल् आदि में हैं। क्योंकि जो संख्या विधेयरूप से आश्रित की जाती है, वह अन्य संख्या की व्यवच्छेदिका होती है।[1] यदि यह कहो कि तीन में भी दो हैं, इस से **स्त्यायात् स्त्येयात्** में अव्याप्ति दोष नहीं होगा। ऐसा मानने पर दो में एक भी है, यह मानकर **उदकस्थाली** में स्थाली को एक हलादि उत्तरपद मानकर **एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतर-स्याम्** (६।३।५८) से उदादेश की प्राप्ति होगी। शिवरामेन्द्र सरस्वती के ग्रन्थ में **स्त्यायात् स्त्येयात्** में अप्रसक्ति दोष का समाधान नहीं मिलता है। छायाकार पायगुण्ड ने इस दोष का समाधान इस प्रकार किया है—**संयोगावादी यस्य** यह फलितार्थ कथन है। विग्रह तो एक-वचनान्त से ही होता है। परन्तु आदिग्रहणसामर्थ्य से संयोगरूप से अनेक का ही ग्रहण होता है, एक का नहीं। इसी से **स्त्यायात् स्त्येयात्** में अव्याप्तिदोष नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरण में नागेश और शिवरामेन्द्र सरस्वती दोनों ने कैयट का खण्डन किया है। परन्तु दोनों का खण्डन-प्रकार पृथक्-पृथक् है। और दोनों ने जो प्रकृत में विशेष विचार किया है, वह भी पृथक्-पृथक् है। इससे विदित होता है कि नागेश और शिवरामेन्द्र सरस्वती दोनों समकालिक व्याख्याकार हैं। किसी ने भी किसी का ग्रन्थ नहीं देखा था।

संयोगावन्तौ यस्य—यहां भी **संयोगस्य लोपः** इतना कहने पर संयोग से पद को विशे-षित करने से तदन्त=संयोगान्त पद अर्थ की उपलब्धि हो जायेगी, पुनः अन्तग्रहण व्यर्थ होकर दो संयोगों को ग्रहण कराता है।

संयोगयोरादी—आदि शब्द यहां अवयववाची है। जैसे पदाङ्गादि कहने पर पदाङ्गा-वयव का बोध होता है। **स्कोः** के द्वित्व के कारण 'संयोगयोः' में द्विवचन से विग्रह दर्शाया है। इसलिये सूत्र का अर्थ होगा—'झल् परे जो संयोग और पदान्त में जो संयोग उसका आदि

१. द्रष्टव्य—मीमांसा ३।१।१५ तथा उसका शाबर भाष्य।

=समीप जो ककार और सकार उनका लोप होता है। शक्ता वस्ता में झल् तकार परे जो संयोग उसका समीपवर्ती ककार सकार नहीं है। यद्यपि व्यपदेशिवद्भाव से स्वयं भी स्वसमीप कहा जा सकता है, तथापि आदिग्रहण सामर्थ्य से यहां व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् व्यपदेशिवद्भाव मानने पर आदिग्रहण व्यर्थ हो जाता है।

संयोगादेर्यस्य—यहां भी पूर्ववत् आदिग्रहणसामर्थ्य से द्वित्व संख्या का आश्रयण जानना चाहिये। अन्यथा यहां भी **संयोगाद् आत्** (संयोग से परे जो आकार तदन्त धातु से परे निष्ठा के तकार को नत्व होता है) से नत्व सिद्ध था। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने यहां भी पूर्ववत् 'पथ्या' से आचारार्थ में क्विप्, उससे निष्ठा के **पथ्यात** शब्द में संयोग-संज्ञक यकार से परे आकार, तदन्त धातु के निष्ठा के तकार को नकारादेश की प्राप्ति दर्शाकर कैयट के पूर्व-निर्दिष्ट व्याख्यान का खण्डन किया है। वस्तुतः **पथ्यात** प्रयोग ही अशुद्ध है, क्त को प्राप्त इट् की निवृत्ति कैसे होगी ?

हमारे विचार में व्याख्याकारों की क्लिष्ट व्याख्यायें, अव्याप्त्यतिव्याप्ति दोष दर्शाना, और परस्पर खण्डन-मण्डन व्यर्थ हैं। भाष्यकार ने अभ्युपगम सिद्धान्त से आनन्तर्य से अवस्थित हलों में प्रत्येक की संयोग-संज्ञा मानकर पूर्वप्रदत्त दोषों का निराकरणमात्र दर्शाया है। वस्तुतः यह सिद्धान्तपक्ष है ही नहीं, जिसके लिये इतना प्रयत्न किया जाये।

[भाष्यम्] कथं कृत्वा एकैकस्य संयोगसंज्ञा प्राप्नोति ? 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टा' इति। तद्यथा वृद्धिगुणसंज्ञे प्रत्येकं भवतः।

ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः—'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' इति। तद्यथा—गर्गाः शतं दण्डयन्ताम्। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति। न च प्रत्येकं दण्डयन्ति।

सत्येतस्मिन् दृष्टान्ते यदि तत्र 'प्रत्येकम्' इत्युच्यते, इहापि 'सह' ग्रहणं कर्त्तव्यम्। अथ तत्रान्तरेण प्रत्येकमितिवचनं प्रत्येकं गुणवृद्धिसंज्ञे भवतः, इहापि नार्थः सहग्रहणेन॥

व्याख्या—एक-एक हल् की संयोग-संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ? 'प्रत्येक पर वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है', इस [न्याय] से। जैसे गुणवृद्धि-संज्ञा प्रत्येक की होती है।

यह भी तो दृष्टान्त है—'समुदाय में वाक्य की परिसमाप्ति होती है।' जैसे—गर्गाः शतं दण्डयन्ताम् (=गर्गसमुदाय पर सौ कार्षापण दण्ड किया जाय)। यद्यपि राजा लोग हिरण्य के लोभी होते हैं, फिर भी प्रत्येक [गार्ग्य] को दण्ड नहीं देते।

इस दृष्टान्त के होने पर यदि वहां [गुणवृद्धि-संज्ञा में] 'प्रत्येक' ऐसा कहा जाता है, तो यहां भी सहग्रहण करना चाहिये। यदि वहां विना प्रत्येक वचन के प्रत्येक [वर्ण] गुणवृद्धि-संज्ञक होता है, तो यहां भी सहग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं है।

विवरण—**कथं कृत्वा**—इसका तात्पर्य यह है कि—'संयोग-संज्ञा के अन्वर्थ (=संयुज्यन्ते वर्णा अत्र=जहां वर्ण संयुक्त होते हैं) होने से समुदाय ही संयोगसंज्ञक होगा। एक-

एक हल् की संयोग-संज्ञा कैसे प्राप्त होगी ? अगले भाष्य का विवरण पूर्व पृष्ठ २२७ पर देखें। वहां ये ही वाक्य प्रयुक्त हैं।

[भाष्यम्] अथ यत्र बहूनामानन्तर्यं, किं तत्र द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा भवति, आहोस्विद् अविशेषेण ? कश्चात्र विशेषः ?

समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेः ॥२॥

समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेर्न सिद्धयति। मङ्क्ता, मङ्क्तुम्।

इह च 'निर्ग्लेयात् निर्ग्लायात्, निर्म्लेयात् निर्म्लायात्' इति, 'वान्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वं न प्राप्नोति। इह च 'संस्वरिषीष्ट' इति, 'ऋतश्च संयोगादेः' इतीट् न प्राप्नोति। इह च 'संस्वर्यते' इति, 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणो न प्राप्नोति। इह च गोमान्करोति यवमान्करोतीति, 'संयोगान्तस्य लोपः' इति लोपो न प्राप्नोति। इह च निर्ग्लानो निर्म्लान इति, 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति निष्ठानत्वं न प्राप्नोति।

अस्तु तर्हि—द्वयोर्द्वयोः संयोगः।

द्वयोर्हलोः संयोग इति चेद् द्विर्वचनम् ॥३॥

द्वयोर्हलोः संयोग इति चेद् द्विर्वचनं न सिद्धयति। इन्द्रमिच्छति इन्द्रीयति, इन्द्रीयतेः सन्—इन्दिद्रीयिषति, 'न न्द्राः संयोगादयः' [६।१।३] इति दकारस्य द्विर्वचनं न प्राप्नोति।

न वाऽज्विधेः ॥४॥

न वा एष दोषः। किं कारणम् ? 'अज्विधेः'। न्द्राः संयोगादयो न द्विरुच्यन्ते। 'अजादेः' इति वर्तते॥

व्याख्या—जहां बहुत हलों का अव्यवधान हो, वहां क्या दो-दो हलों की संयोग-संज्ञा होती है, अथवा सामान्यरूप से अर्थात् समुदाय की ? इसमें क्या विशेष है?

समुदाय में [संयोग-संज्ञा मानने पर] मस्ज के संयोग के आदि का लोप सिद्ध नहीं होता।

समुदाय में [संयोग-संज्ञा मानने पर] मस्ज के संयोग के आदि का लोप सिद्ध नहीं होता। मङ्क्ता, मङ्क्तुम्।

और यहां 'निर्ग्लेयात् निर्ग्लायात्, निर्म्लेयात् निर्म्लायात्' में 'वान्यस्य संयोगादेः' (६।४।६८) से एत्व सिद्ध नहीं होता। और यहां 'संस्वरिषीष्ट' में 'ऋतश्च संयोगादेः' (७।२।४३) से इट् प्राप्त नहीं होता। और यहां 'संस्वर्यते' में 'गुणोऽर्ति-

संयोगाद्योः' (७।४।२९) से गुण प्राप्त नहीं होता। और यहां 'गोमान्करोति यवमान्करोति' में 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से [तकार का] लोप प्राप्त नहीं होता। और यहां 'निग्र्लानः निम्र्लानः' में संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः (८।२।४३) से निष्ठा के [तकार को] नत्व प्राप्त नहीं होता।

अच्छा तो— दो-दो की संयोग-संज्ञा होवे।

दो हलों की यदि संयोग-संज्ञा होवे, तो द्विर्वचन [सिद्ध नहीं होता]।

दो हलों की यदि संयोग-संज्ञा होवे, तो द्विर्वचन सिद्ध नहीं होता। इन्द्रमिच्छति इन्द्रीयति, इन्द्रीयतेः सन् (=इन्द्र क्यच्=इन्द्रीय, इन्द्रीय सन्=इन्द्रीय् इ स तिप्=) इन्दिद्रीयिषति में [द् र् दो की संयोग-संज्ञा होने से] 'न न्द्राः संयोगादयः' (६।१।३) से [संयोगादि] दकार को द्विर्वचन प्राप्त नहीं होता।

यह दोष नहीं है, अज्विधि से।

यह दोष नहीं है। क्या कारण है? 'अज्विधि से' संयोग के आदि न् द् र् द्विर्वचन को प्राप्त नहीं होते। [यहां] 'अजादेः' की अनुवृत्ति है। [आदि अच् से परे अव्यवहित संयोगादि न् द् र् को द्विर्वचन नहीं होता। न् द् की संयोग-संज्ञा होने से 'न्' संयोगादि है।]

विवरण—यहां अन्वर्थ संयोग-संज्ञा का ग्रहण है। संयोग-सम्बन्ध दो-दो के मध्य में ही होता है, यह मानकर दो-दो हलों की सयोग-संज्ञा प्राप्त होती है। **अविद्यमानमन्तरं येषाम्** विग्रह में जिन हलों के मध्य अन्तर=विवररूप वर्ण शून्यकाल नहीं है, उनकी संयोग-संज्ञा होती है, इस अर्थ में बहुतों की संयोग-संज्ञा प्राप्त होती है। अथवा जैसे 'पच्' में 'प' 'अच्' और 'पच्' तीनों एकाच् (=एक अच् है जिसमें) हैं। **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१) से द्विर्वचन होने पर अवयव समुदाय के अन्तर्गत आ जाते हैं, यह मानकर जैसे समुदाय 'पच्' को द्विर्वचन होता है, उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। **अविशेषेण** का तात्पर्य दो और बहुतों से नहीं है। अपितु **द्वयोः** के प्रतिपक्ष में प्रयोग होने से समुदाय की संयोग-संज्ञा से तात्पर्य है।

मङ्क्ता—'मस्न् तृच्' इस अवस्था में **मस्जिनशोर्झलि** (७।१।६०) से नुम् **मिदचोऽन्त्यात् परः** (१।१।४६) के नियम से अन्त्य अच् से परे होकर **'म न् स् ज् तृ'** इस अवस्था में 'न् स् ज्' समुदाय की संयोग-संज्ञा होने पर सकार संयोग के आदि में नहीं होता। इस कारण **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (८।२।२९) से सकार का लोप नहीं होगा।

निर्ग्लेयात्—'निर् ग्ला यासुट् तिप्' इस अवस्था में 'र् ग् ल्' समुदाय की संयोग-संज्ञा होने से 'ग्ला' अङ्ग-सयोगादि नहीं होगा। अतः एत्व की प्राप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार उत्तर सभी प्रयोगों को समझें। **गोमान्त्करोति** में 'गोमान् त् करोति' में 'न् त् क्' की संयोग-संज्ञा होने से संयोग के अन्त में तकार के न होने से तकार का लोप नहीं होगा।

दो-दो की संयोग-संज्ञा होने पर 'इन्द्री य् इ ष' इस अवस्था में 'द् र्' की संयोग-संज्ञा होने पर **न न्द्राः संयोगादयः** (६।१।३) से 'द्' को द्विर्वचन का निषेध पाता है। दकार को द्विर्वचन न होने पर **इन्दिद्रीयिषति** प्रयोग नहीं बनता। **अज्विधेः**—**अजादेर्द्वितीयस्य** (६।१।

२) में 'द्वितीयस्य' का प्रत्याख्यान करने के लिये **अजादे:** में कर्मधारय समास—**अच् एव आदि:** =**अजादि:** और उस से पञ्चमी का एकवचन माना है। अर्थ होगा—आद्यच् से परे जो एकाच् उस को द्विर्वचन होता है—**ऊर्णुनुविषते**। यही **अजादे: न न्द्रा: संयोगादय:** में आता है। अर्थ होगा—आद्यच् से परे अव्यवहित जो संयोगादि 'न् द् र्' उनको द्विर्वचन नहीं होता। इन्द्री य् इ ष' में आद्यच् 'इ' से परे संयोगादि दकार नहीं है, बीच में 'न्' का व्यवधान है। अत: दकार को द्विर्वचन का प्रतिषेध नहीं होगा।

[भाष्यम्] अथ यद्येव बहूनां संयोगसंज्ञा, अथापि द्वयोर्द्वयो:, किं गतमेतदियता सूत्रेण ? आहोस्विदन्यतरस्मिन् पक्षे भूय: सूत्रं कर्तव्यम्? गतमित्याह। कथम्? यदा तावद् बहूनां संयोगसंज्ञा, तदैवं विग्रह: करिष्यते—'अविद्यमानमन्तरमेषाम्' इति। यदा द्वयोर्द्वयो: संयोगसंज्ञा, तदैवं विग्रह: करिष्यते—'अविद्यमाना अन्तरैषाम्' इति। द्वयोश्चैवान्तरा कश्चिद्विद्यते वा न वा। एवमपि बहूनामेव प्राप्नोति। यान् हि भवानत्र षष्ठ्या प्रतिनिर्दिशति, एतेषामन्येन व्यवाये न भवितव्यम्॥

व्याख्या—अच्छा तो, यदि इस प्रकार बहुतों की संयोग-संज्ञा होवे, अथवा दो-दो की, तो क्या यह [दोनों अभिप्राय] इतने ही सूत्र से जाना गया है ? अथवा किसी पक्ष में अधिक सूत्र करना पड़ता है ? जाना गया है। कैसे ? जब बहुतों की संयोग-संज्ञा होगी, तब इस प्रकार विग्रह करेंगे—'अविद्यमान है अन्तर (=विवर=छिद्र=वर्णशून्यकाल) जिनमें'। जब दो-दो की संयोग-संज्ञा होगी, तब इस प्रकार विग्रह करेंगे—'अविद्यमान अन्तरा (=विजातीय वर्ण का व्यवधान) है जिनमें। व्यवधान दो में ही होता है, वा नहीं होता। इस प्रकार भी बहुतों की ही [संयोग संज्ञा] प्राप्त होती है। जिनका आप यहां षष्ठी (='एषाम्' पद) से निर्देश करते हैं, इनकी अन्य के व्यवधान में [संयोग-संज्ञा] नहीं होनी चाहिये।

विवरण—'अविद्यमाना अन्तरैषाम्' विग्रह में अधिकरण अर्थ में वर्तमान अन्तरा शब्द का ग्रहण है। इस कारण जो मध्य में होता है, वह दो के मध्य में ही होता है, बहुतों के मध्य में नहीं होता। इसलिये जिन दो में ही सान्तरत्व अथवा असान्तरत्व है, उन्हीं की संयोग-संज्ञा होगी।

एवमपि—भाष्यकार की वचन-व्यक्ति से स्पष्ट है कि यह दोष **'एषाम्'** बहुवचन-निर्देश को आधार बनाकर ही दिया है। महाभाष्य-दीपिका से ज्ञात होता है कि प्राचीन व्याख्याकार भी 'एषाम्' बहुवचन के उपादान से ही दोष उपस्थित होता है, ऐसा मानते थे[1]। परन्तु भर्तृहरि ने उस मत का खण्डन किया है—आनन्तर्योपलक्षणपरक वाक्य में संख्या की अविवक्षा होने से पूर्वाचार्यों की व्याख्या अयुक्त है। अन्यथा स्वरादि (कैयट पाठ—शिक्षादि) में दो की संयोग-संज्ञा नहीं होगी। जो अन्तरा है, वह दो में ही होता है, बहुतों में नहीं होता। यदि बहुतों में 'अन्तरा' सम्भव नहीं तो **एषाम्** निर्देश क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि अन्तरा से व्यवधान विवक्षित है, व्यवधान विजातीय का होताहै। इसलिये **अविद्यमाना अन्तरा एषाम्** का अर्थ होता है—

१. केचिद् 'एषाम्' इति बहुवचनोपादानाद् बहूनामेव भवितव्यमिति वर्णयन्ति। द्र०—पृष्ठ १३४, पूना संस्करण।

अतुल्यजातीय का व्यवधान न हो। इससे बहुतों के मध्य में यदि विजातीय वर्ण(=अच्)का व्यवधान होवे, तब संयोग-संज्ञा न होवे। उसके अभाव में बहुतों की संयोग-संज्ञा होगी। भर्तृहरि ने और उसका अनुकरण करते हुए कैयट ने 'स्वर' अथवा 'शिक्षा' में दो हलों की संयोग-संज्ञा करने के उद्देश्य से भाष्य-पाठ की क्लिष्ट व्याख्या की है। भाष्यकार ने यही तो दोष दिया है कि जब बहुतों की ही संयोग-संज्ञा होगी, तब दो-दो की संयोग-संज्ञा कैसे सिद्ध होगी? इसलिये 'एषाम्' निर्देश से बहुतों की संयोग-संज्ञा की प्राप्ति दर्शानारूप प्राचीनों का व्याख्यान युक्त था। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट की व्याख्या को(जो भर्तृहरि के अनुसार है) उद्धृत करके खण्डन किया है। उसे उसी के ग्रन्थ में देखें।

[भाष्यम्] अस्तु तर्हि समुदाये संज्ञा। ननु चोक्तं—'समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेः' इति। नैष दोषः। वक्ष्यत्येतत्—"अन्त्यात्पूर्वो मस्जेर्मिदनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्" इति (वा० ६।१।४७)।

अथवाऽविशेषेण संयोगसंज्ञा विज्ञास्यते—द्वयोरपि, बहूनामपि। तत्र द्वयोर्या संयोगसंज्ञा तदाश्रयो लोपो भविष्यति॥

व्याख्या—**अच्छा तो समुदाय की संयोग-संज्ञा होवे। अभी तो कहा है—'समुदाय में [संयोग संज्ञा मानने पर] मस्ज के संयोग के आदि का लोप नहीं होता।' यह दोष नहीं है। आगे कहेंगे—'मस्ज को मित् (=नुम्) अन्त्य [वर्ण] से पूर्व होता है, [ऐसा कहना चाहिये] अनुषङ्ग (=नकार) के और संयोगादि के लोप के लिये'।**

अथवा सामान्यरूप से संयोग-संज्ञा जानी जायेगी—दो की भी, और बहुतों की भी। वहां दो (='न् स् ज्' में स् ज्)की जो संयोग-संज्ञा होगी, उसको मानकर लोप हो जायेगा।

विवरण—अभ्युपगमवाद से समुदाय की संयोग-संज्ञा मानकर उसमें प्राप्त दोष का निराकरण करते हैं—**अस्तु तर्हि**। अनुषङ्ग यह पूर्वाचार्यों की नकार की संज्ञा है। छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड का कहना है कि उपधास्थ नकार की अनुषङ्ग संज्ञा पूर्वाचार्यकृत है। द्र० महा० १।१।४६, निर्णयसागर सं० पृष्ठ ३६५ टि० ५। मस्ज में **मस्जिनशोर्झलि** (७।१।६०) से विहित नुम् अनुषङ्ग लोप के लिये अन्त्य से पूर्व अवश्य कहना चाहिये, जिस से 'म स् न् ज क्त' इस अवस्था में **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (६।४।२४)से उपधा में वर्तमान नकार का लोप होकर 'मग्नः' रूप बन जाये। अन्त्य अच् से परे नुम् होने पर 'म न् स् ज् क्त' अवस्था में नकार के उपधा में न होने से लोप प्राप्त नहीं होगा। यदि कहो कि कथंचित् 'न् स् ज्' में स् को संयोगादि मानकर लोप कर देने पर नकार की उपधा संज्ञा होगी। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सकार का लोप त्रिपादी होने से नकारलोप के प्रति असिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार 'मग्नः' में अनुषङ्ग लोप के लिये नुम् को अन्त्य वर्ण से पूर्व कहना ही होगा, उसी से 'स् न् ज्' अवस्था में सकार के संयोग के आदि में होने से सकार का लोप हो जायेगा।

बहुतों के अन्तर्गत दो भी होते हैं, अतः बहुतों के अन्तररहित होने पर भी दो-दो की भी संयोग-संज्ञा मानेंगे। क्योंकि संज्ञाएं कार्यार्थ कही जाती हैं। बहुतों की संयोग-संज्ञा अजागल-स्तन के समान व्यर्थ है। दो-दो की संयोग-संज्ञा मानने से सभी काम उपपन्न हो

जाते हैं। अतः अधिकों के आनन्तर्य में भी दो-दो की ही संयोग-संज्ञा होगी। बहुतों की संयोग संज्ञा का एक ही प्रयोजन है—इन्दिद्रीयिषति में न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३) से नकार को द्विर्वचन न होवे। वह प्रयोजन अजादेः की अनुवृत्ति से सिद्ध हो जाता है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ३१६, ३१७)। अतः बहुतों की संयोग-संज्ञा अजागल-स्तनवत् व्यर्थ है।

[भाष्यम्] यदप्युच्यते—"इह च निर्ग्लेयात् निर्ग्लायात्, निर्म्लेयात् निर्म्लायादिति, 'वान्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वं न प्राप्नोति" इति। अङ्गेन संयोगादिं विशेषयिष्यामः—'अङ्गस्य संयोगादेः' इति। एवं तावत्सर्वमाङ्गं परिहृतम्।

यदप्युच्यते—"इह च गोमान्करोति यवमान्करोतीति, 'संयोगान्तस्य लोपः' इति लोपो न प्राप्नोति" इति। पदेन संयोगादिं विशेषयिष्यामः—'पदस्य संयोगान्तस्य' इति।

यदप्युच्यते—"इह च निर्ग्लानो निर्म्लान इति, संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति निष्ठानत्वं न प्राप्नोति" इति। धातुना संयोगादिं विशेषयिष्यामः—'धातोः संयोगादेः' इति॥

व्याख्या—और जो यह कहते हो—"निर्ग्लेयात् निर्ग्लायात्, निर्म्लेयात् निर्म्लायात्" में 'र् ग् ल्' 'र् म् ल्' तीन की संयोग-संज्ञा होने से 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (६।४।६८) से एत्व प्राप्त नहीं होता।" अङ्ग से संयोगादि को विशेषित करेंगे—'अङ्ग का जो संयोगादि उसका'। इस प्रकार समस्त अङ्ग-सम्बन्धी दोष परिहृत हो जाता है।

और जो यह कहते हो—'गोमान्करोति यवमान्करोति में 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से [तकार का] लोप प्राप्त नहीं होता"। पद से संयोगान्त को विशेषित करेंगे—'पद का जो संयोगान्त उसका'।

और जो यह कहते हो—"निर्ग्लानः निर्म्लानः में 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' (८।२।४३) से निष्ठा [के तकार] को नत्व प्राप्त नहीं होता।" धातु से संयोगादि को विशेषित करेंगे—'धातु का जो संयोगादि उससे'।

विवरण—प्रकृत भाष्य के व्याख्यान में व्याख्याकारों के विविध मत हैं, और उन्होंने अनेक क्लिष्ट कल्पनाएं करके सरल क्रमयुक्त भाष्य को दुरूह बना दिया है। कैयट का कहना है कि—'**यदप्युच्यते**' से आरम्भ होनेवाले सन्दर्भों का सम्बन्ध '**मस्जेरन्त्यात् पूर्वः**' के साथ है। अर्थात् बहुतों की संयोग-संज्ञा पक्ष में मस्ज् में जो दोष प्राप्त होता है, उसकी निवृत्ति **मस्जेरन्त्यात्** वचन से कह दी। अब बहुतों की संयोग-संज्ञा में जो दोष आते हैं, उनका समाधान करते हैं—**यदप्युच्यते**। परन्तु इस क्रम के मध्य में **अथवाऽविशेषेण** सन्दर्भ पठित है। तब पूर्व भाष्य से इस भाष्य का सम्बन्ध कैसे लगाया जाय, इसके लिये कैयट ने मीमांसकों का न्याय उद्धृत किया है—'**पाठक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्**' (द्र०—मी० ५।१।२) पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता

है। इस नियम से मध्यगठित **अथवाऽविशेषेण** भाष्य को हटाकर अर्थक्रम की दृष्टि से इसको **मस्जेरन्त्यात्** भाष्य के आगे जोड़कर व्याख्यान करना चाहिये। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस मत का खण्डन किया है। इनके खण्डन-मण्डन तत्तद् ग्रन्थों में देखें।

हमारे विचार में **अथवाऽविशेषेण** पक्ष में जहां मस्ज के दोष का निराकरण होता है, वहां समुदाय की संयोग-संज्ञा के साथ दो की संयोग-संज्ञा मानकर प्रकृत **यदप्युच्यते** से उपस्थापित दोषों का परिहार भी हो जाता है। फिर भी **तुष्यतु दुर्जनः** न्याय से समुदाय की संयोग-संज्ञा होने पर भी दो की संयोग-संज्ञा की उपपत्ति दिखाकर दोषों का परिहार किया है। **निर् ग्ला यासुट् सुट् तिप्** इस अवस्था में 'र् ग् ल्' समुदाय की संयोग-संज्ञा होने से एत्व प्राप्त नहीं होता। उसका समाधान किया है—'अङ्ग से संयोगादि को विशेषित करेंगे'। अर्थ होगा—अङ्ग के संयोगादि आकार को विकल्प से एकार होता है। अंग-संज्ञा 'ग्ला' भाग की है, 'निर् ग्ला' की नहीं है। इसलिये अङ्ग-संज्ञक समुदाय में ग् ल् दो की ही संयोग-संज्ञा होगी। इसी अङ्ग-संज्ञा के माहात्म्य से **संस्वरिषीष्ट संस्वर्यते** में उपस्थापित दोषों का परिहार हो जाता है, क्योंकि यहां अङ्ग-संज्ञा 'स्वृ' भाग की है।

गोमान्करोति—में 'गोमन् त् करोति' अवस्था में 'न् त् क्' की संयोग-संज्ञा होने से तकार संयोग के अन्त में नहीं होता, अतः उसका लोप नहीं होगा। इस दोष का परिहार किया है—'पद से संयोगान्त को विशेषित करेंगे'। पद-संज्ञा 'गोमन्त्' की है, 'करोति' का ककार इससे बाहर है। अतः पद जो 'गोमन्त्' उसके संयोगान्त (=तकार) का लोप होता है, यह अर्थ करने से दोष का परिहार हो जाता है। इसी प्रकार **निर्ग्लानः निर्म्लानः** में 'निर् ग्ला क्त' में 'र् ग् ल्' समुदाय की संयोग-संज्ञा होने के निष्ठा के तकार को नकार प्राप्त नहीं होता। इसका समाधान किया है—'धातु से संयोगादि को विशेषित करेंगे।' 'निर् ग्ला क्त' में धातु-संज्ञा 'ग्ला' की है, निर् का रेफ उससे बाहर है। अतः 'धातु का संयोगादि जो आकार उस से परे निष्ठा के तकार को नकार होता है' यह अर्थ होने पर धातुस्थ ग् ल् की ही संयोग संज्ञा होगी।

निर्ग्लेयात्—सब दोषों का एक सीधा सरल समाधान यह है कि—**'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण'** पक्ष में धातु का साधन प्रत्यय से योग होकर **ग्लायात्, ग्लेयात्, स्वरिषीष्ट, स्वर्यते** रूप बनने के पश्चात् उपसर्गों का योग होता है। इस पक्ष में आत्मनेपद-विधायक सूत्रों में उपसर्गों को जहां निमित्त माना है, वहां भावी योग की दृष्टि से व्याख्यान जानना चाहिये। अथवा इन का अर्थ होगा—'वि परा' से परे **जयते**, 'सम्' से परे **स्वरिषीष्ट स्वर्यते** आदि में आत्मनेपद का प्रयोग साधु है, परस्मैपद **जयति** का नहीं। इस प्रकार धातु का साधन के साथ प्रथम योग मानने पर **एत्व इट् गुण निष्ठा नत्व** में कोई दोष उपस्थित नहीं होता। अतः भाष्यकार का समाधानान्तर का प्रयास **पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन** पक्ष में जानना चाहिये॥

[भाष्यम्] स्वरानन्तर्हितवचनम् ॥५॥

स्वरैरनन्तर्हिता हलः संयोगसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम्।

किं प्रयोजनम् ? व्यवहितानां मा भूत् । पचति पनसम् । ननु चानन्तरा इत्युच्यते, तेन व्यवहितानां न भविष्यति ।

दृष्टमानन्तर्यं व्यवहितेऽपि ॥६॥

व्यवहितेऽप्यनन्तरशब्दो दृश्यते । तद्यथा—'अनन्तराविमौ ग्रामौ' इत्युच्यते । तयोश्चैवान्तरा नद्यश्च पर्वताश्च भवन्तीति ।

यदि तर्हि व्यवहितेऽप्यनन्तरशब्दो भवति, आनन्तर्यवचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ?

आनन्तर्यवचनं किमर्थमिति चेदेकप्रतिषेधार्थम् ॥७॥

एकस्य हलः संयोगसंज्ञा मा भूदिति । किं च स्याद्यद्येकस्य हलः संयोगसंज्ञा स्यात् ? इयेष उवोष—'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' [३।१।३६] इत्याम् प्रसज्येत ॥

व्याख्या—'स्वरों से अव्यवहित' ऐसा वचन करना चाहिये ।

स्वरों से अव्यवहित हल् संयोग-संज्ञक होते हैं, ऐसा कहना चाहिये ।

क्या प्रयोजन है ? व्यवहित हलों की संयोग-संज्ञा न होवे । पचति पनसम् [यहां अकार से व्यवहित स् म् की संयोग-संज्ञा होकर स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९) से सकार का लोप न हो जावे] । अनन्तराः कह रहे हैं, उससे व्यवहितों की संयोग-संज्ञा नहीं होगी ।

आनन्तर्य व्यवहित में भी देखा जाता है ।

व्यवहित में भी अनन्तर शब्द देखा जाता है । जैसे—'ये दोनों ग्राम अनन्तर (=अव्यवहित) हैं' ऐसा कहा जाता है । [यद्यपि] उन दोनों ग्रामों के मध्य में नदी वा पर्वत होते हैं ।

यदि व्यवहित में भी अनन्तर शब्द देखा जाता है, तो [सूत्र में] आनन्तर्य-वचन किसलिये होगा ?

आनन्तर्य-वचन किसलिये होवे यदि ऐसा कहो, तो एक के प्रतिषेध के लिये [अनन्तर वचन होगा] ।

एक (=असहाय) हल् की संयोग-संज्ञा न होवे । क्या होवे, यदि एक हल् की संयोग-संज्ञा होवे ? इयेष उवोष में 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) से आम् प्राप्त हो जावे ।

विवरण—भर्तृहरि ने लिखा है—पचति पनसम् में पचति रूप का उदाहरण है, अर्थात् यहां संयोग-संज्ञा प्राप्त होने पर भी कुछ दोष नहीं होता । अतः संयोग-संज्ञा की प्राप्तिमात्र दर्शाने के लिये पचति उदाहरण है, और पनसम् यह कार्य का उदाहरण है(देखो व्याख्याभाग)।

दूसरे कहते हैं कि—**पचति पनसम्** कहीं का विशेष पाठ (प्रपाठ) है। उदाहरण केवल **पनसम्** है। अन्य कहते हैं कि—यह वाक्य उदाहरणरूप है। इस वाक्य में हलों की संयोग-संज्ञा होने पर जितने संयोग हैं, उतने ही संयोगकार्य जानने चाहियें। यहां यह पाठ भी विचारणीय है कि क्या '**पचति पनसम्**' विशेष उदाहरण भाष्यकार के प्राग्देशीय होने में प्रमाण हो सकता है? पनस=कटहल पूर्व के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होता है।

एकप्रतिषेधार्थम्—'अनन्तरा:' इस पद से संज्ञा के विषय का निर्देश है, अर्थात् जहां अनन्तर का व्यवहार होता है, वहीं संयोग-संज्ञा होती है। एक में आनन्तर्य के व्यवहार का असम्भव होने से बहुतों में ही संयोग-संज्ञा होगी। **इयेष उवोष**—इष, उष धातु के एक हल् षकार की संयोग-संज्ञा और तन्निमित्तक गुरु-संज्ञा होकर ३।१।३६ से आम् प्राप्त होगा। यदि यह कहो कि एक हल् की संयोग-संज्ञा और तन्निमित्तक गुरु-संज्ञा होने पर सर्वत्र आम् प्राप्त होगा, उस अवस्था में '**गुरुमत:**' निर्देश किसलिये होगा? तो इसका उत्तर है कि इण् धातु आदि जो ह्रस्व एक अच्मात्र हैं, उनके **इयाय** आदि प्रयोगों में आम् के प्रतिषेध के लिये **गुरुमत:** ग्रहण होगा। यदि कहो कि **इयाय** में द्विर्वचन और इयङादेश करने पर यह भी इजादि और गुरुमान् हो जावेगा, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि आम् लिट्मात्र को परे मानकर होने से अन्तरङ्ग है, और द्विर्वचन इयादेश आदि णल् आदि निमित्तक होने से बहिरङ्ग हैं। **असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे** से द्विर्वचन वा इयङ् के असिद्ध होने से आम् नहीं होगा अथवा लिट्स्थानीय णलादि को मानकर द्विर्वचन और इयादेश होने पर जो गुरुमत्व होगा, उसको मानकर आम् होकर **आम:** (२।४।८१) से लिट् के लुक् में वह इयादेशनिमित्तक गुरुमत्त्व **सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य** के नियम से लिट् के नाश का निमित्त नहीं होता।

[भाष्यम्] न वाऽतज्जातीयव्यवायात् ॥८॥

न वा एष दोषः। किं कारणम्? 'अतज्जातीयस्य व्यवायात्'। अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति।

कथं पुनर्ज्ञायते—'अतज्जातीयकं लोके व्यवधायकं भवतीति'? एवं हि कंचित् कश्चित्पृच्छति—'अनन्तरे एते ब्राह्मणकुले' इति? स आह—'नाऽनन्तरे, वृषलकुलमनयोरन्तरा' इति ॥

व्याख्या—[यह] दोष नहीं है, व्यवाय (=व्यवधान) के भिन्नजातीय होने से।

यह दोष नहीं है। क्या कारण है? 'भिन्नजातीय के व्यवधायक होने से'। भिन्नजातीय ही लोक में व्यवधायक होता है।

कैसे जाना जाता है कि—'लोक में भिन्न-जातीयक ही व्यवधायक होता है'? इस प्रकार कोई किसी से पूछता है—'क्या ये दोनों ब्राह्मणों के कुल (=घर) अव्यवहित हैं'? वह उत्तर देता है—'अव्यवहित नहीं हैं, वृषल का कुल (=घर) इन दोनों [ब्राह्मणों के घरों] के मध्य है'।

विवरण—भिन्नजातीय व्यवधायक होता है। यही बात नहीं है, सजातीय भी व्यवधायक होता है। परन्तु जो पहले कहा था कि **'अनन्तराविमौ ग्रामौ'** में भिन्न-जातीय व्यवधायक नहीं होता, इसकी निवृत्तिमात्र इस भाष्य से कही है। अर्थात् लोक के समान यहां भी भिन्न-जातीय स्वर से व्यवहित हलों की संयोग-संज्ञा नहीं होती। सजातीय हल् के व्यवधान में भी संयोग-संज्ञा नहीं होती—उष्ट्रः में षकार और रेफ के मध्य में टकार होने से षकार और रेफ की संयोग-संज्ञा नहीं होती, षकार टकार की अथवा टकार रेफ की तो संयोग-संज्ञा हो ही जाती है॥

[भाष्यम्] किं पुनः कारणं—क्वचिदतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति, क्वचिन्न? सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति। कथम्—'अनन्तराविमौ ग्रामौ' इति? ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते। तद्यथा—'ग्रामो दग्धः' इति। अस्ति वाटपरिक्षेपे वर्त्तते। तद्यथा—'ग्रामं प्रविष्टः' इति। अस्ति मनुष्येषु वर्तते। तद्यथा—'ग्रामो गतः' 'ग्राम आगतः' इति। अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते। तद्यथा—'ग्रामो लब्धः' इति। तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते, तमभिसमीक्ष्यैतत् प्रयुज्यते—'अनन्तराविमौ ग्रामौ' इति। सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति॥७॥

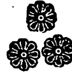
व्याख्या—**फिर क्या कारण है कि—कहीं अतज्जातीय व्यवधायक होता है [यथा—**नान्तरे ब्राह्मणकुले, वृषलकुलमनयोरन्तरा इति], **और कहीं [अतज्जातीयक व्यवधायक] नहीं होता [यथा—**अनन्तराविमौ ग्रामौ, तयोश्चान्तरा नद्यः पर्वताश्च भवन्ति इति]? **सर्वत्र ही अतज्जातीयक व्यवधायक होता है। तो कैसे—**'अनन्तराविमौ ग्रामौ' **प्रयोग** होगा ? यह ग्राम शब्द बहुत अर्थवाला है। कहीं शालासमुदाय में वर्तमान होता है। जैसे—'ग्राम जल गया'। वाट-परिक्षेप (=ग्राम की चारदीवारी[1] अथवा गांव के बाहर चिह्न के लिये रखा गया पाषाण='गांव भाटा' राजस्थानी प्रयोग) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—'ग्राम में प्रविष्ट हुआ'। मनुष्यों के समुदाय अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—'गांव [उठकर] चला गया, गांव आ गया'। अरण्यसहित, सीमासहित और स्थण्डिलसहित (=ग्राम की सीमा के निर्धारण के लिये बनाया गया चबूतरा आदि) अर्थ में भी वर्तमान होता है। जैसे—'मैंने ग्राम [दानादि में] पाया'। जो यह अरण्यसहित सीमासहित और स्थण्डिलसहित अर्थ में ग्राम शब्द वर्तमान है, उसको स्वीकार करके प्रयोग किया जाता है—अनन्तराविमौ ग्रामौ' (=ये दोनों ग्राम समीप=अव्यवहित हैं)। इस प्रकार सर्वत्र अतज्जातीयक ही व्यवधायक होता है। [इसलिये स्वरानन्तर्हितवचन करने की आवश्यकता नहीं है। पनसम् में स् म् के मध्य में भिन्नजातीय अकार का व्यवधान होने से संयोग-संज्ञा नहीं होगी]।

विवरण—'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः' इत्यादि भाष्य के व्याख्यान में भर्तृहरि प्रभृति ने विभिन्न दृष्टि से विचार किया है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में दो मुख्य दर्शन(=दृष्टियां) हैं। एक—एक शब्द ही शक्तिभेद से अनेकार्थ का वाचक होता है। यथा एक विष्णु शब्द

१. 'वाटपरिक्षेपो नाम शालासमुदायरक्षणाय सर्वतो मार्गप्रतिरोधकं यत् परितः क्षिप्यते तदुच्यते।' नागेश।

अधियज्ञ अधिदैवत और अध्यात्म में चषाल आत्मा और परमात्मा का वाचक हो जाता है।[1] दूसरा दर्शन है—एक शब्द एक अर्थ का ही वाचक हैं। यथा—**अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम्** (द्र०—मीमांसा शाबरभाष्य १।३।३ में उद्धृत), इस पक्ष में भिन्न-भिन्न अर्थ के लिये समानवर्णानुपूर्वीवाले भिन्न-भिन्न शब्द माने जाते हैं। श्लेषालंकार द्वारा एक ही निर्देश से भिन्नार्थं भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग मानकर अनेक अर्थ दर्शाये जाते हैं। साथ ही वैदिकों का यह भी सिद्धान्त है कि एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द नहीं होते। कहा भी है—**अन्याय्यश्चानेकशब्दत्वम्** (मीमांसा १।३।२६)। अतः निघण्टु आदि में एकार्थक अनेक शब्दों का जो संग्रह मिलता है, उसे सामान्य दृष्टि से जानना चाहिये। विशेष दृष्टि से प्रत्येक में सूक्ष्म भेद करना चाहिये। उस सूक्ष्म भेद को प्रकट करने से वेदार्थ में भी सूक्ष्मता आती है। और जहां **गावो धेनवः** आदि लौकिक दृष्टि से समानार्थक दो-दो शब्द प्रयुक्त होते हैं, वहां भी सूक्ष्मार्थ पर ध्यान देने से दोनों पद सार्थक हो जाते हैं, और पुनरुक्तदोष भी नहीं आता।

पारस्कर गृह्य १।८।११ का वचन है—**ग्रामवचनं च कुर्युः**। इस सूत्र की व्याख्या में सभी व्याख्याकार ग्राम शब्द को स्त्रीवाचक मानते हैं। यह प्रयोग वस्तुतः लाक्षणिक है। स्त्री के लिये गृह वा घर शब्द बहुधा प्रयुक्त होता है। इसका कारण यह है कि पुरुष वर्ग तो कार्य के लिये घर से बाहर निकल जाते हैं, स्त्रियां घर में रहती हैं। अतः लक्षणा से स्त्री को गृह वा घर कह देते हैं। यही स्थिति ग्राम शब्द के स्त्रीवचन में है। पुरुषवर्ग खेती वा व्यापार आदि के लिये ग्राम से बाहर चले जाते हैं, पीछे से ग्राम में स्त्रियां ही मुख्यतया रहती हैं।७॥



[भाष्यम्] मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥१।१।८॥

किमिदं 'मुखनासिकावचनः' इति? मुखं च नासिका च मुखनासिकम्। मुखनासिकं वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः। यद्येवं 'मुखनासिकवचनः' इति प्राप्नोति। निपातनाद् दीर्घत्वं भविष्यति।

अथवा—मुखनासिकमावचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः। अथ किमिदमावचनमिति? ईषद्वचनमावचनमिति। किञ्चिन्मुखवचनं किञ्चिन्नासिकावचनम्।

मुखद्वितीया वा नासिका वचनमस्य सोऽयं—मुखनासिकावचनः।

मुखोपसंहिता वा नासिका वचनमस्य सोऽयं—मुखनासिकावचनः॥

---

१. इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० १।२२।१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले तया शक्त्या प्रवर्तते……। (महाभाष्य-दीपिका पृष्ठ २०३, पूना संस्करण)।

व्याख्या—यह क्या [शब्द] है—'मुखनासिकावचनः'? अर्थात् 'मुखनासिकावचनः' प्रयोग कैसे उपपन्न होगा? मुख और नासिका [द्वन्द्व समास]=मुखनासिकम्। मुखनासिक वचन है इसका वह—मुखनासिकावचनः। यदि ऐसा [समास] है, तो 'मुखनासिकवचनः' प्राप्त होता है। निपातन से दीर्घत्व हो जायेगा।

अथवा—मुखनासिक आवचन है इसका वह—मुखनासिकावचनः। यह 'आवचन' क्या है, अर्थात् आवचन शब्द का क्या अर्थ है? ईषद् (=थोड़ा) वचन=आवचन। थोड़ा मुख से बोलना, थोड़ा नासिका से बोलना।

अथवा मुख है सहायक जिसका, ऐसी नासिका से वचन इसका, वह—मुखनासिकावचनः।

अथवा मुख से उपसंहित (=संलग्न) नासिका वचन है इसका, वह—मुखनासिकावचनः॥

विवरण—'किमिदम्'—'मुखं च नासिका च' ऐसा समास होने पर द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (२।४।२) से नित्य एकवद्भाव, और स नपुंसकम् (२।४।१७) से नपुंसकत्व होकर ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७) से ह्रस्व होकर 'मुखनासिक' रूप होगा। उसका बहुव्रीहि के साथ समास होने पर मुखनासिकवचनः प्रयोग होगा। अतः मुखनासिकावचनः प्रयोग का साधुत्व कैसे है, यह जिज्ञासा यहां पर है। निपातनाद्दीर्घत्वम्—'मुखनासिकावचन' यह लोक में शिष्टप्रयुक्त शब्द है। इसलिये यहां सौत्रत्वाद् दीर्घत्वम् न कहकर सूत्र में दीर्घत्व का निपातन कहा है। निपातन उत्सर्ग प्राप्त कार्य के बाधक होते है, यह बाधकान्येव निपातनानि द्वारा सर्वादि सूत्र (१।१।२६) में कहेंगे। यहां शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कहा है—'निपातानां चाबाधकत्वमाश्रीयते इति मुखनासिकवचनमित्यपि भविष्यतीति भावः'। यह कथन भाष्यविरुद्ध है। क्योंकि भाष्यकार ने बाधकान्येव में एवकार के निर्देश से निपातन करने पर अबाधकत्व पक्ष को अस्वीकार कर दिया है। देखो—महाभाष्य सर्वादीनि० (१।१।२६) सूत्र का णत्वाभाव-विचार प्रकरण।

भर्तृहरि ने प्रकृतभाष्य के व्याख्यान में प्राचीन व्याख्याकारों के विभिन्न मतों का उल्लेख किया है (द्र०—महाभाष्यदीपिका पृष्ठ १३६, १४० पूना संस्क०)। उनमें एक मत है—कुछ आचार्य निपातन से नपुंसकलिङ्गता का ही विकल्प करते हैं—'अन्ये तु नपुंसकलिङ्गतामेव विभाषयन्ति मुखनासिकावचन इति' (पृष्ठ १३९)। हमारे विचार से इस पक्ष को मानना तर्कसंगत है। हम भी समाहारद्वन्द्व में नपुंसकलिङ्गता का अनित्यत्व सूत्रकार के ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१।२।२७) से दर्शा चुके हैं। अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम् (वा० २।४।३०) वार्तिक से विहित स्त्रीत्व का भी सूत्रकार के षण्मासाण्ण्यच्च (५।१।८२) वचनप्रामाण्य से अनित्यत्व जानना चाहिये। अतएव भाष्यकार ने स्थान-स्थान पर कहा है—लिङ्गमशिष्यम्, लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य (महा० २।१।३६; २।२।२९; २।४।१२; ४।१।३; ५।३।६६; ८।१।१५)। इसी प्रसङ्ग में हमारी भाष्यव्याख्या भी देखें—पूर्व पृष्ठ १७५, २४०, २४१; भाग २ पृष्ठ १५६, १६०, २३८; भाग ३ पृष्ठ ४१७।

ईषद्वचनमावचनम्—आङ् ईषद् अर्थ में प्रयुक्त होता है। भाष्यकार १।१।१४ पर कहेंगे—**ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः। एतमातं ङितं विद्यात्।** इस आङ् का २।१।१८ से गतिसमास होता है। **ईषद्वचनम्** का भाव यह है कि अनुनासिक वर्ण न केवल मुख में अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, और न केवल नासिका में। किन्तु मुख में अनुपरतशक्ति वायु नासिकारूप करण में जब प्रतिहत होता है, तब स्वगानुनासिकत्व सत्ता को प्राप्त करता है (द्र०—भर्तृहरि, पृष्ठ १४०)।

मुखद्वितीया वा—द्वितीय शब्द सहायक अर्थ में है। यथा—**असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डवम्** (महाभाष्य २।२।२४ में उद्धृत)। इस में **शाकपार्थिवादि०** (द्र०—वा० २।१।६८) से समास, और उत्तरपद 'द्वितीय' का लोप होता है। **शाकपार्थिवः** शब्द का वास्तविक अर्थ हमने २।१।६८ के भाष्य (भाग २, पृष्ठ १७३-१७४) में दर्शाया है।

मुखोपसंहिता वा—इस पक्ष में **समानाधिकरणाधिकारे शतस्तृतीयापूर्वपद उत्तरपदलोपश्च** (वा० २।१।३५)से समास और उत्तरपद का लोप जानना चाहिये। इस अर्थ से मुख से संलग्न नासिका-स्थान से अनुनासिक वर्ण की उत्पत्ति कही है। यम और अनुस्वार का मुख से असंलग्न नासिका स्थान है। भर्तृहरि और उसके अनुयायी कैयट ने **मुखोपसंहिता नासिका** का अर्थ मुख और नासिका का अन्तराल स्थान किया है—'**नासिकामुखोपसंहितमस्य स्थानान्तरमन्यदेव, न मुखं न नासिका। किं तर्हि ? तयोरन्तरालम्**' (दीपिका, पृष्ठ १४०)। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **मुखोपसंहिता संलग्ना नासिका** अर्थ करके हरि वा कैयट उक्त स्थानान्तररूप अर्थ का खण्डन करते हुए लिखा है—स्व मुख नासिका दोनों का मध्यवर्ती स्थानान्तर अनुनासिक वर्णों का माना जावे, तो ङ ञ ण न म अनुनासिक वर्णों का एक ही अन्तराल स्थान और स्पष्ट प्रयत्न होने से परस्पर सवर्णसंज्ञा प्राप्त होगी, जो कि इष्ट नहीं है। और यदि सवर्ण संज्ञा मानी जाये, तो **हरिं पश्यति हरिं गच्छति** में **वा पदान्तस्य** (८।४।५८) से अनुस्वार को कोई परसवर्णी अनुनासिक वर्ण नहीं होने से अनुस्वार को अनुस्वारादेश ही होगा। क्योंकि ङ ञ ण न म का स्वतन्त्र मुख और नासिका का अन्तरालवर्ती स्थान होने से स्ववर्गीय वर्णों के साथ में सवर्ण संज्ञा नहीं होगी। अतः **हरिं पश्यति** में मकार और **हरिं गच्छति** में ङकार की प्राप्ति नहीं होगी॥

[भाष्यम्] अथ मुखग्रहणं किमर्थम् ? 'नासिकावचनोऽनुनासिकः' इतीयत्युच्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्रसज्येत। मुखग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति।

अथ नासिकाग्रहणं किमर्थम् ? 'मुखवचनोऽनुनासिकः' इतीयत्युच्यमाने कचटतपानामेव प्रसज्येत। नासिकाग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति॥

व्याख्या—[सूत्र में] '**मुख**' का ग्रहण किसलिये किया है ? 'नासिकावचनोऽनुनासिकः' (=**नासिका से उच्चारण किया जानेवाला वर्ण अनुनासिक-संज्ञक होता है) इतना कहने पर यम और अनुस्वार की ही [अनुनासिक संज्ञा] प्राप्त होवे। 'मुख' का ग्रहण करने पर दोष नहीं होता।**

अच्छा तो 'नासिका' का ग्रहण किसलिये किया है ? 'मुखवचनोऽनुनासिक:' (= मुख से बोला जानेवाला वर्ण अनुनासिक-संज्ञक होता है) इतना कहने पर क च ट त प आदि की ही [अनुनासिक-संज्ञा] प्राप्त होवेगी। 'नासिका' ग्रहण करने पर दोष नहीं होता।

विवरण—यमों का स्वरूप विस्तार से पूर्व (पृष्ठ १६३–१६६) लिख चुके हैं, वहां देखें। पूर्व लेखानुसार वर्ग के पञ्चम वर्ण के परे पूर्व पठित किसी वर्ग का प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ वर्ण 'यम' कहाता है। यथा—**पलिक्क्नी चख्ख्नतु: जग्ग्मि: जघ्घ्नतु:** में पञ्चम वर्ण से पूर्व क् ख् ग् घ् यम हैं। इन से परे अनुनासिक वर्ण होने से इन पर भी अनुनासिक धर्म का प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से पञ्चम वर्ण से पूर्व प्रयुक्त प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ वर्णों का शुद्ध नासिका स्थान नहीं होता। वे स्व स्व वर्ग के स्थान से भी उच्चरित होते हैं, और पञ्चम वर्ण के नासिकोच्चारण से भी अनुरञ्जित होते हैं। शिक्षाकारों ने **अनुस्वारयमा नासिक्या:** (आपिशलशिक्षा १।१४, पाणिनीय शिक्षासूत्र १।१६) सूत्र द्वारा केवल नासिका स्थान कैसे लिखा, यह विचारणीय है। भाष्यकार ने भी **यमानुस्वाराणामेव प्रसज्येत** कहकर इसी का अनुमोदन किया है।

यमानुस्वाराणामेव—यमों और अनुस्वार की ही अनुनासिक संज्ञा होने पर **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (८।४।४४) इत्यादि सूत्र की कहीं प्रवृत्ति ही नहीं होगी। **कचटतपानामेव**—मुखवचनों की अनुनासिक-संज्ञा होने पर **पक्वम्** में **अनुनासिकस्य क्विझलो: क्ङिति** (६।४।१५) से झलादि कित् क्त परे चकार का लोप प्राप्त होगा, और **ओदनपक्** में भी क्विप् परे चकारलोप की प्राप्ति होगी।

[भाष्यम्] मुखग्रहणं शक्यमकर्तुम्। केनेदानीमुभयवचनानां भविष्यति? प्रासादवासिन्यायेन। तद्यथा—केचित् प्रासादवासिन:, केचिद् भूमिवासिन:, केचिदुभयवासिन:। तत्र ये प्रासादवासिनो गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन। ये भूमिवासिनो गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन। ये तूभयवासिन: गृह्यन्त एव ते प्रासादवासिग्रहणेन, भूमिवासिग्रहणेन च। एवमिहापि केचिन्मुखवचना:, केचिन्नासिकावचना:, केचिदुभयवचना:। तत्र ये मुखवचना गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन। ये नासिकावचना गृह्यन्ते ते नासिकाग्रहणेन। ये उभयवचना गृह्यन्त एव ते मुखग्रहणेन नासिकाग्रहणेन च।

भवेदुभयवचनानां सिद्धम्। यमानुस्वाराणामपि प्राप्नोति। नैव दोषो न प्रयोजनम्॥

व्याख्या—'मुख' ग्रहण बिना किये कार्य चल सकता है। तो किस से उभयवचनों (=मुख नासिका दोनों से उच्चरितों) की [अनुनासिक-संज्ञा] होवेगी ? प्रासादवासी न्याय से। जैसे—कुछ व्यक्ति प्रासाद में रहने वाले हैं, कुछ व्यक्ति भूमि पर रहनेवाले, कुछ व्यक्ति उभयवासी (=दोनों प्रासाद और भूमि पर रहनेवाले) हैं। वहां जो प्रासादवासी हैं, वे प्रासादवासियों के ग्रहण से गृहीत होते हैं। जो भूमिवासी हैं, वे भूमिवासियों के ग्रहण से गृहीत होते हैं। जो उभयवासी हैं, वे प्रासादवासियों के ग्रहण से गृहीत होते हैं, और भूमि-

वासियों के ग्रहण से भी। इसी प्रकार यहां भी कुछ वर्ण मुख से बोले जानेवाले हैं, कुछ नासिका से बोले जानेवाले हैं, और कुछ दोनों (=मुख और नासिका) से बोले जानेवाले हैं। वहां जो मुखवचन हैं, वे मुखग्रहण से गृहीत होते हैं। जो नासिकावचन हैं, वे नासिकाग्रहण से गृहीत होते हैं। जो दोनों से बोले जाते हैं, वे मुखग्रहण से गृहीत होते हैं, और नासिकाग्रहण से भी।

अच्छा तो उभयवचनों (=मुख से और नासिका से अर्थात् दोनों से बोले जानेवाले वर्णों) की [अनुनासिक संज्ञा] हो जायेगी। यमों और अनुस्वार की भी तो [अनुनासिक-संज्ञा] प्राप्त होती है। यमों और अनुस्वार की अनुनासिक-संज्ञा होने से न तो कोई दोष है और ना ही कोई प्रयोजन॥

विवरण—**'नैव दोषो न प्रयोजनम्'** के व्याख्यान में भर्तृहरि ने लिखा है कि—'आन्तरतम्य से [तत् मनुते=तन्मनुते उदाहरण में **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** ८।४।४४ से] मुखवचन [यर्] को उभयवचन (=मुखनासिकावचन) हो जायेगा' (द्र०—पृष्ठ १४१)। कैयट ने इसी को विस्तार से इस प्रकार लिखा है—'अनुवादपक्ष (=शास्त्र को अनुवादक मानने) में यम और अनुस्वार की प्राप्ति असम्भव ही है। विधिपक्ष (=विधायक मानने) में भी आन्तरतम्य से मुखवचन को उभयवचन अनुनासिक ही होगा, केवल मुखवचन नहीं होगा।' शिवरामेन्द्र सरस्वती ने भाष्य के उक्त वचन की व्याख्या में लिखा है—'यमों के अभिप्राय से [भाष्यकार का] यह कथन जानना चाहिये। अनुस्वार के अनुनासिक होने से दोष का अभाव होने पर भी प्रयोजन तो है ही। जैसे—**तं मनुते** इत्यादि में **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (८।४।४४) से अनुस्वार ही होता है, अन्यथा ञ म ङ ण न पांचों भी पर्याय से प्राप्त होवेंगे। इस से कैयट के कथन को निरस्त जानना चाहिये।'[1] यह बात अयोगवाहों का यर् में उपदेश मानकर लिखी है, ऐसा जानना चाहिये। छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड ने कैयट के लेख में दर्शाये दोष का उद्धार करने के लिये लिखा है—'**तं मनुते** में यर् को अनुनासिक परे अनुस्वार ही होता है, ञम् (ञ म ङ ण न) नहीं होते। इसके लिये **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (८।४।४४) में **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (८।४।५७) से सवर्ण पद का अपकर्ष (=पूर्वानुवर्तन) जानना चाहिये[2]।' छायाकार की यह कल्पना सूत्रक्रम के अज्ञान की द्योतिका है। अपकर्ष अव्यवहित पूर्व में ही होता है। अर्थात् जैसे अनुवृत्ति 'मण्डूकप्लुति न्याय' से व्यवधान में भी मानी जाती है, वैसे अपकर्ष में मण्डूकप्लुति नहीं होती। क्योंकि मण्डूक आगे ही कूदता है, पीछे नहीं कूदता।

१. यमाभिप्रायेणेदं बोध्यम्। अनुस्वारस्यानुनासिकत्वे दोषाभावेऽपि प्रयोजनमस्त्येव। तथाहि 'तं मनुते' इत्यादौ 'यरोऽनुनासिकोऽनुनासिको वा' इति अनुस्वारस्यानुस्वार एवानुनासिको भवति। अन्यथा ञमङणनाः पञ्चापि पर्यायेण स्युरिति। एतेन 'अनुवादे तावद् यमानुस्वाराणामसंभव एव। विधावपि आन्तरतम्याद् मुखवचनस्योभयवचनो भविष्यति। न तु नासिकावचनः' इति निरस्तम्। हस्तलेख पृष्ठ ३२०, मुद्रित पृष्ठ ३६१।

२. केवलेति—'तं मनुते' इत्यादौ अनुनासिकोऽनुस्वार एव न तु ञम्, 'यरोऽनुनासिके' इत्यादौ 'अनुस्वारस्य०' इत्यतः सवर्णपदापकर्षात्, इत्यन्यत्र विस्तरः।

इसी लिये अग्रिम पद का पूर्व संयोग अपकर्ष ही कहा जाता है। यहां उक्त दोनों सूत्रों में जहां १२ सूत्रों का व्यवधान है, वहां कई प्रकरणों का भी व्यवधान है।

यहां पर भाष्यकार ने 'प्रासादवासी' न्याय का उल्लेख किया है। यह लौकिक न्याय है। न्याय चाहे लौकिक हो चाहे शास्त्रीय, उन का निदर्शन शास्त्रकार किसी प्रकरणविशेष में करते हैं। परन्तु यदि उन न्यायों का प्रदर्शित स्थानों से अन्यत्र भी उपयोग किया जाये, तो उन से अनेक शास्त्रीय रहस्यों का उद्घाटन सम्भव होता है। इस विषय में हमने एक व्याकरण-शास्त्रीय न्याय सूत्र **लिङ्गवचनमतन्त्रम्** की मन्त्रार्थ में प्रवृत्ति करने से मन्त्रार्थ मन्त्रगत पदों की विभक्ति वचनों तक ही सीमित न रहकर व्यापक अर्थ के उद्बोधक हो जाते हैं, का निदर्शन महाभाष्य की व्याख्या (भाग २, पृष्ठ ८०-८१) में दर्शाया है। इसी प्रकार हम यहां प्रासाद-वासी न्याय का मन्त्रार्थ-परिज्ञान में प्रयोग करने से मन्त्रार्थ में क्या वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाता है, इस ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

निरुक्तकार यास्क ने अपना शास्त्र आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार लिखा है। यास्क ने वैदिक देवताओं को विभिन्न स्थानों में बांटकर उन की व्याख्या की है। यास्क से प्राचीन निरुक्त वेद की अधियज्ञ और अध्यात्म प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर भी बने थे(द्र०—वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा, मीमांसक लेखावली भाग १, पृष्ठ ६६)। परन्तु सभी निरुक्तकार चाहे उन्होंने किसी भी वेदार्थ प्रक्रिया को प्रधानता देकर निरुक्तशास्त्र क्यों न रचा हो, अग्नि को ही प्रथम स्थान में पढ़ते थे।

यास्क ने निरुक्त ७।१४ में लिखा है—**'अग्निः पृथिवीस्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः'** अर्थात् अग्नि पृथिवीस्थानीय है, उसकी पहले व्याख्या करेंगे। निरुक्त के इस पाठ के आधार पर कतिपय विद्वान् यह समझते हैं कि **अग्निमीळे** (ऋ० १।१।१) आदि मन्त्रों में केवल पार्थिव भौतिक अग्नि का ही उल्लेख है। परन्तु यदि निरुक्तकार के इस वचन, तथा इसी प्रकार के अन्य वचनों की व्याख्या 'प्रासादवासी' न्याय के आधार पर की जाये, तो जहां वेदार्थसम्बन्धी एक महती गुत्थी सुलझ जाती है, वहां शास्त्रों में आपाततः प्रतीयमान विरोध भी समाप्त हो जाता है। यहां हम अध्यात्मप्रक्रिया की दृष्टि से ही विचार करते हैं। ऋग्वेद (१।१६४।४६) का एक मन्त्र है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

अर्थात्—अग्नि को इन्द्र मित्र वरुण दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् कहते हैं। एक होते हुये(= एक रूप से विद्यमान होते हुये)भी ज्ञानी लोग उसे बहुत नामों से कहते हैं। अग्नि को ही यम मातरिश्वा भी कहते हैं॥

इस मन्त्र में श्रुत इन्द्र मित्र आदि देव यास्कीय पद्धति के अनुसार मध्यस्थानीय और द्युस्थानीय हैं। फिर ये पृथिवीस्थानीय अग्नि के नाम कैसे सम्भव हो सकते हैं? इसका उत्तर

प्रासादवासी न्याय में विहित है। मन्त्र अभिधावृत्ति से अध्यात्मतत्त्व का निदर्शक है। अध्यात्मविदों के मत में सम्पूर्ण मन्त्र एक परब्रह्म का ही कथन करते हैं। कठोपनिषद् १।१५ में कहा है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति···तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।'

इसी की ध्वनि गीता के **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (१५।१५) वचन में भी स्पष्ट उपलब्ध होती है।[1]

ब्रह्म सर्वव्यापक है। वह पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में भी विद्यमान है। भौतिक अग्नि पृथिवीस्थानीय है, इन्द्र अन्तरिक्षस्थानीय है, और सुपर्ण द्युस्थानीय। अब प्रासादवासी न्याय का प्रयोग करिये। **पृथिवीस्थानः** का अर्थ है—पृथिवी जिसका स्थान है, वह **पृथिवीस्थानः**। भौतिक अग्नि केवल पृथिवीस्थानी है, इन्द्र केवल अन्तरिक्षस्थानी है, और सुपर्ण केवल द्युस्थानी है। ब्रह्म तीनों स्थानी है। जैसे प्रासादवासी न्याय से **प्रासादवासिन आनीयन्ताम्** कहने पर जो केवल प्रासाद में रहते हैं वे लाये जाते हैं, और जो प्रासादवासी और भूमिवासी हैं वे भी लाये जाते हैं, इसी प्रकार **अग्निमीळे** मन्त्र में अग्नि शब्द से केवल पृथिवी स्थानी भौतिक अग्नि का ग्रहण होता है, और तीनों स्थानों में वर्तमान ब्रह्म का भी पृथिवीस्थान के ग्रहण से ग्रहण होता है।

इस प्रासादवासी न्याय से बोधित वैदिक तत्त्व का निर्देश बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार किया है—

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।' बृ० उ० ३।७।३॥

अर्थात्—जो पृथिवी में ठहरता हुआ पृथिवी के अभ्यन्तर है, जिसको पृथिवी नहीं जानती। जिसका पृथिवी शरीर है। जो पृथिवी के अभ्यन्तर रहता हुआ उसे नियम में रखता है, वही अविनाशी ब्रह्म तेरा (तेरे आत्मा का) भी अन्तर्यामी आत्मा है।

उपनिषद् के अगले खण्डों (३।७।४–२३) तक इसी प्रकार एक-एक तत्त्व का निर्देश करके अन्तर्यामी महद् ब्रह्म की महत्ता का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार वैदिकदेवतावाची पदों से जहां तत्तत् स्थानीय भौतिक देवों का ग्रहण होता है, वहाँ उन-उन भौतिक देवों में विद्यमान परम तत्त्व ब्रह्म का वर्णन भी अभिप्रेत माना जाता है।[2]

---

१. वेदों का तात्पर्य विविध रूपों में ब्रह्म के निरूपण में है। इसके लिये देखिये–'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा,' मीमांसक लेखावली, भाग १, पृष्ठ १००-१०७॥

२. इस वेदार्थ-प्रक्रिया को हृदयङ्गम करने के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखित **'भ्रान्ति-निवारण'** पुस्तक देखनी चाहिये। इसमें **अग्निमीळे** आदि मन्त्रों में केवल भौतिक अग्नि का ही ग्रहण हो सकता है, ब्रह्म का ग्रहण नहीं हो सकता,' इस आक्षेप का अत्यन्त विस्तार से सप्रमाण निराकरण किया है। यह ग्रन्थ छोटा-सा होते हुये भी वेद की आध्यात्मिक व्याख्या के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित 'दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह' में पृष्ठ १९१—२४० तक मुद्रित हुआ है।

इसी प्रकार का एक लौकिक न्याय है—**अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः**। इसका निर्देश भी भाष्यकार ने किया है (द्र०—४।१।२७)। यह न्याय भी वेदार्थ के वास्तविक तात्पर्य के ज्ञान में बहुत सहायक है। इस न्याय का वेदार्थ में प्रयोग न करने के कारण ही मध्य-कालीन भारतीय और अर्वाचीन पाश्चात्य वेदव्याख्याताओं ने कई अनृत कल्पनाएं की हैं। भारतीय वेदभाष्यकारों ने तो मन्त्रों में जहां-जहां भौतिकदेवों में संबोधन और मध्यम पुरुष का प्रयोग देखा (यथा—**वायवा याहि दर्शत**। ऋ० १।२।१) वहां-वहां भौतिक देवों में अधिष्ठातृदेव की कल्पना करके जड़पदार्थों की परोक्षरूप से पूजा स्वीकार कर ली। उधर पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों में साक्षात् जड़पूजा का विधान मानकर लिख दिया कि आर्य लोग आरम्भ में अग्नि आदि जड़ पदार्थों की ही उन्हें देव मानकर पूजा करते थे। परम सत्ता (ब्रह्म) का परिज्ञान तो उन्हें बहुत उत्तरकाल में हुआ। वेदों पर जड़-पूजा का प्रबल आक्रमण देखकर आधुनिक वेदव्याख्याता स्वामी दयानन्द ने वैयाकरणों के दूसरे नियम विभक्ति-व्यत्यय और पुरुष-व्यत्यय का आश्रय लेकर 'वेदों में जड़-पूजा है' इस कल्पना को निर्मूल करने का महा-प्रयास किया। उन्होंने वेदभाष्य में जहां भी आधिदैविक प्रक्रियानुसारी अर्थ किया है, वहां सर्वत्र अग्नि आदि के साथ प्रयुक्त संबोधन और मध्यम पुरुष को प्रथमा और प्रथम पुरुष में परिणत करके अर्थ किया है। इस प्रक्रिया का मुख्य प्रयोजन भौतिक पदार्थों के गुणों का निदर्शन है। स्वामी दयानन्द ने भाष्यकार के **अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः** नियम का उपयोग भी कहीं-कहीं किया है। यथा—'ऋग्वेदभाष्य नमूने का अंक' में १।२।१ के भाष्य में, तथा लक्ष्मीसूक्त के मन्त्र ५, ७, १२ के अर्थ में (द्र०—दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह, पृष्ठ १६५, ३६०, ३६१, ३६२ रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण)॥

[भाष्यम्] इतरेतराश्रयं तु भवति। का इतरेतराश्रयता? सतोऽनुनासिकस्य संज्ञया भवितव्यम्। संज्ञया च नामाऽनुनासिको भाव्यते। तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते।

अनुनासिकसंज्ञायामितरेतराश्रये उक्तम् ॥१॥

किमुक्तम्? "सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्" (महा० १।१।१) इति। नित्याः शब्दाः। नित्येषु शब्देषु सतोऽनुनासिकस्य संज्ञा क्रियते। न संज्ञयाऽनुनासिको भाव्यते। यदि तर्हि नित्याः शब्दाः, किमर्थं शास्त्रम्?

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात्सिद्धम् ॥२॥

निवर्तकं शास्त्रम्। कथम्? आङ्स्मायविशेषेणोपदिष्टोऽननुनासिकः। तस्य सर्वत्राननुनासिकबुद्धिः प्रसक्ता। तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते—'छन्दस्यचि परत आङोऽननुनासिकस्य प्रसङ्गेऽनुनासिकः साधुर्भवति' (६।१।१२२) इति॥

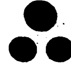
व्याख्या—तब तो यह [सूत्रबोधित अनुनासिक-संज्ञा] इतरेतराश्रय होती है। क्या इतरेतराश्रयता है? विद्यमान अनुनासिक की [अनुनासिक] संज्ञा होनी चाहिये, और [अनुनासिक] संज्ञा से अनुनासिक का विधान किया जाता है। यह इतरेतराश्रय होता है। और इतरेतराश्रय कार्य सिद्ध नहीं होते।

अनुनासिक-संज्ञा में इतरेतराश्रय के विषय में कह दिया।

क्या कह दिया? 'सिद्ध है शब्दों के नित्य होने से' (द्र०—महाभाष्य १।१।१, पृष्ठ २२४)। शब्द नित्य हैं। नित्य शब्दों में वर्तमान अनुनासिकों की संज्ञा की जाती है। संज्ञा से अनुनासिक को उत्पन्न नहीं किया जाता है। फिर तो यदि शब्द नित्य हैं, तो [व्याकरण] शास्त्र किसलिये है?

शास्त्र किसलिये है यदि ऐसा कहो, तो निवर्तक होने से [शास्त्र का प्रयोजन] सिद्ध है।

शास्त्र निवर्तक है। कैसे? 'आङ्' इस [शास्त्र के अध्येता] के लिये [पाणिनि द्वारा] सामान्यरूप से अनुनासिक उपदिष्ट है। [उससे] उस [अध्येता] की सर्वत्र अनुनासिकरहित ['आ' रूप] की बुद्धि प्राप्त होती है। वहां इस [शास्त्र] के द्वारा निवृत्ति की जाती है—'छन्द में अच् परे रहने पर आङ् के अनुनासिकरूप के प्रसङ्ग में अनुनासिक रूप साधु होता है (द्र०—आङोऽनुनासिकश्छन्दसि वहुलम् ६।१।१२२) ॥८॥



तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥१।१।९॥

विशेष—भाष्य की संगति लगाने के लिये भाष्य में उक्त पक्षान्तरों को ध्यान में रखकर कैयट ने लिखा है कि सूत्रस्थ **'तुल्यास्यप्रयत्नम्'** के समास-विषय में चार पक्ष हैं। **प्रथम**—द्वन्द्व-गर्भ-बहुव्रीहि—**आस्यं च प्रयत्नं च=आस्यप्रयत्नम्, तुल्यम् आस्यप्रयत्नं यस्य=तुल्यास्यप्रयत्नम्**। **दूसरा**—त्रिपदबहुव्रीहि—**तुल्य आस्ये प्रयत्नो यस्य=तुल्यास्यप्रयत्नः**। **तीसरा**—[तुल्यास्य] तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहि—**तुल्यं च तदास्यं च=तुल्यास्यम्, तुल्यास्ये प्रयत्नो यस्य=तुल्यास्यप्रयत्नः**। **चौथा**—[आस्यप्रयत्न] तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहि—**आस्यं च तत्प्रयत्नं च=आस्यप्रयत्नम्, तुल्यम् आस्यप्रयत्नं यस्य=तुल्यास्यप्रयत्नम्**। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि पक्ष में ही वार्तिक का अवतरण हुआ है। इसलिये भाष्यकार इसी पक्ष को ध्यान में रखकर लिखते हैं—**तुलया**···। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के 'द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि पक्ष में ही वार्तिक का अवतरण हुआ है' कथन का विस्तार से खण्डन किया है, (द्र०—हस्तलेख, पृष्ठ ३२१) उसे वहीं देखना चाहिये।

वस्तुतः 'तुल्य स्थान और प्रयत्नवाला वर्ण सवर्ण-संज्ञक होता है'। इस अर्थ की प्रतीति कैसे होती है, इसको समझाने के लिये ही भाष्यकार ने सूत्रपदों का विवरण प्रस्तुत किया है—**तुलया सम्मितं**···। क्योंकि प्रकृत सूत्र में **आस्य** द्व्यर्थक है—मुखवचन और मुखस्थ स्थान-वचन। इसी प्रकार प्रयत्न शब्द भी द्व्यर्थक है—यत्नसामान्य वचन और यत्नविशेष वचन। इन में कौन सा अर्थ ग्राह्य है, इसी का निरूपण करने के लिये भाष्य की प्रवृत्ति जाननी चाहिये॥

[भाष्यम्] [किमिदं तुल्यास्यप्रयत्नमिति ?] तुलया संमितं तुल्यम् । आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नम् । तुल्यास्यं च तुल्यप्रयत्नं च सवर्णसंज्ञं भवति ।

किं पुनरास्यम् ? लौकिकमास्यम् । ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलकात् । कथं पुनरास्यम् ? अस्यन्त्यनेन वर्णानिति आस्यम् । अन्नमेतदास्यन्दत इति वाऽऽस्यम् । अथ कः प्रयत्नः ? प्रयतनं प्रयत्नः । प्रपूर्वाद्यततेर्भावसाधनो नङ् प्रत्ययः ।

यदि लौकिकमास्यं, किमास्योपादाने प्रयोजनम् ? सर्वेषां हि तत्तुल्यम् । वक्ष्यत्येतत्—'प्रयत्नविशेषणमास्योपादानम्' इति ॥

व्याख्या—[यह क्या है—'तुल्यास्यप्रयत्नम्', अर्थात् इसका क्या अभिप्राय है ? तुला से बराबर नपा हुआ—तुल्य । आस्य और प्रयत्न=आस्यप्रयत्न [समाहारद्वन्द्व] । तुल्यास्य और तुल्यप्रयत्न [वाला वर्ण] सवर्ण-संज्ञक होता है । [यहां 'तुल्यम् आस्यप्रयत्नं यस्य' ऐसा द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि जानना चाहिये] ।

'आस्य' यह कौनसा शब्द है ? लोक में विज्ञात आस्य शब्द है । जो ओष्ठ से लेकर काकलक (=ग्रीवा में उन्नत प्रदेश—'घोट्ू' नाम से प्रसिद्ध)से पूर्व भाग है । [यहां भाष्यकार के प्रयोग से प्रभृति शब्द के योग में पञ्चमी होती है, ऐसा जानना चाहिये ।] यह आस्य कैसे है ? इससे वर्ण [बाहर] फेंके जाते हैं, अभिव्यक्त किये जाते हैं । अथवा यह अन्न को गीला करता है, अथवा अन्न इसे प्राप्त होकर गीला होता है[1], इससे आस्य कहाता है । और 'प्रयत्न' क्या है ? विशेष यत्न प्रयत्न कहाता है । 'प्र' पूर्वक यती प्रयत्ने धातु से भावसाधन नङ् प्रत्यय होता है ।

यदि लौकिक आस्य शब्द है तो इसके ग्रहण करने से क्या प्रयोजन ? वह तो सब [वर्णों] का तुल्य है । कहेंगे यह आगे—'प्रयत्न को विशेषित करने के लिये आस्य का ग्रहण है' ।

विवरण—'**तुलया सम्मितम्**' यह निर्देश तुल्य शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाने के लिये किया है । इस पद की व्युत्पत्ति में निर्दिष्ट तुला उपलक्षणार्थ है । इसलिये जिस किसी साधन से समानता जानी जाये, वह सब यहां तुला शब्द से अभिप्रेत है । इस प्रकार 'तुल्य' शब्द सदृश =समान का पर्यायवाची है । व्याख्याकारों ने **अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यत् प्रवृत्तिनिमित्तम्** सिद्धान्त के अनुसार सदृश पर्याय तुल्य शब्द को प्रवीण कुशल आदि के समान रूढ शब्द माना है । किन्हीं प्राचीन व्याख्याकारों ने तुल्य शब्द को **तुल्यमिव तुल्यम्** गौणार्थक मानकर व्याख्यान किया था । उसका प्रत्याख्यान करते हुये भर्तृहरि ने लिखा है—"कई व्याख्याता 'तुल्यम्' आदि वचन की गुणकल्पना से व्याख्या करते हैं, वह अयुक्त है । सामान्यरूप से '**प्रयच्छते तुल्यम्**' (तुल्य देता है) ऐसा कहने से सर्वत्र सामान्य रूप से सदृश अर्थ का ज्ञान देखा जाता

१. 'अन्नमेतद् आस्यन्दते' में अन्न कर्म है । एतत् पद बोधित आस्य कर्त्ता है । अथवा 'अन्नं प्राप्य' अन्न को प्राप्त करके आस्य स्वयं गीला होता है ।

है। जहां गौण अर्थ होता है, वहां अर्थप्रकरण अथवा शब्दान्तर के सम्बन्ध के बिना प्रतीति नहीं होती। इसलिये यह (तुल्य शब्द) यत्प्रत्ययान्त रूढि शब्द सदृश समान आदि का पर्याय है।[1]

संस्कृतभाषा में मूलतः कोई भी रूढ शब्द नहीं था। सभी शब्द, चाहे वे जातिशब्द हों चाहे गुणशब्द वा चाहे क्रियाशब्द, धातुज ही थे। उत्तरकाल में किसी अर्थविशेष में अति-प्रसिद्धि के कारण धात्वर्थ की प्रतीति मन्द होने लगी। और जैसे-जैसे धात्वर्थ-प्रतीति मन्द होती गई, रूढ शब्दों की संख्या बढ़ती गई। एक समय ऐसा आया कि क्रियाशब्द पाचक आदि भी रूढ़ माने जाने लगे। उस अवस्था में रूढ़ शब्दों में भी प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना तो की जाती रही, परन्तु कल्पना के यथार्थ न होने से जब रूढ शब्दों के अर्थ का अनुगमन कल्पित प्रकृति-प्रत्यय विभाग के द्वारा होता दिखाई नहीं दिया, तब **'अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तम्'** वाद की प्रवृत्ति हुई। इसके विस्तार के लिये देखिये—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग २, पृष्ठ १२–१६, संवत् २०३०।

प्रकृत में भी जब तुल्य शब्द की व्युत्पत्ति **तुलया सम्मितं** करते हैं, तब सदृशपर्याय तुल्य शब्द को रूढ मानना पड़ता है। यदि इसकी व्युत्पत्ति भी **तुल उन्माने** धातु से करें, और **उन्माने** अर्थ को मान सामान्य का उपलक्षण मानें, तो कृत् यत्प्रत्ययान्त यह शब्द अनायास सदृश-पर्याय बन जाता है। सदृश शब्द के द्वारा जब किसी की समानता दिखाई जाती है, तो जिसकी समानता दिखाई जाती है वह मेय होता है, और जिससे समानता दिखाई जाती है वह मान होता है। इस प्रकार मेय और मान की सदृशता को ही तुल्य शब्द धात्वर्थयोग से प्रकट करने में समर्थ होता है।

किं पुनरास्यम् प्रश्न का तात्पर्य यह है कि आस्य शब्द लोक में मुख और मुखस्थ कण्ठादि स्थान (द्र०—अ० ४।३।५५) दोनों का वाचक देखा जाता है। अतः प्रश्न किया कि यहां आस्य शब्द किस अर्थ को कहनेवाला है। **अस्यन्त्यनेन**—'आस्य' शब्द **असु प्रक्षेपणे** धातु से ण्यत्प्रत्ययान्त है। **कृत्यल्युटो बहुलम्** (३।३।११३) के नियम से यहां करण में ण्यत् प्रत्यय होता है। इससे वर्ण उच्चरित होते हैं। अस्यति यहां उच्चारणार्थक है।[2] **अन्नमेतदास्यन्दते**—यहां प्रस्रवण=गीला करना, जो मुख का धर्म है उसे दर्शाया है। यह अर्थनिर्वचन है, व्युत्पत्ति नहीं है। क्योंकि आङ्पूर्वक **स्यन्दू प्रस्रवणे** से आस्य शब्द सामान्यरूप से सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार निरुक्त में दर्शाये गये निर्वचन अर्थनिर्वचन हैं। वहां धातु-निर्देश में तात्पर्य नहीं है।

---

१. केचित् तुल्यमिति गुणकल्पनया कुर्वन्ति—तुल्यमिव तुल्यम्। तत्त्वयुक्तम्। सामान्येन 'प्रय[च्छ]ते (द्र०–टि० मूलपाठः) तुल्यमित्युक्ते सर्वत्राविशेषेण सदृशे संप्रत्ययो भवति। यत्र च गौणत्वं न तत्र अन्तरेण अर्थप्रकरणशब्दान्तराभिसंबन्धात् भवति संप्रत्ययः। तस्मात् यत्प्रत्ययान्तोऽयं रूढिशब्दः सदृशसमानसदृक्पर्यायः। पृष्ठ १४१, १४२ (पूना संस्करण)।

२. धातूनामनेकार्थत्वाद् उच्चारणरूपाभिव्यक्त्यर्थात्। शिवरामेन्द्र सरस्वती, हस्तलेख, पृष्ठ ३२४; मुद्रित पृष्ठ ३६६।

इसी प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्त को न मानने से निरुक्त के ऊपर अर्वाचीन समालोचकों ने विविध आक्षेप किये हैं। निरुक्तस्थ निर्वचनों को अर्थनिर्वचन मानने से आधुनिक समालोचकों के समस्त आक्षेप निर्मूल हो जाते हैं। इस विषय के विस्तार के लिये देखिये—हमारी 'वैदिक-छन्दोमीमांसा,' पृष्ठ २०-३०। भर्तृहरि ने 'स्यन्दनार्थेऽस्यतिर्वर्तते' कहकर इस निर्वचन को अर्थनिर्वचन ही माना है। पक्षान्तर में आङ्पूर्वक स्यन्द से 'ड' प्रत्यय लिखकर व्युत्पत्तिरूप निर्वचन भी माना है।[1] कैयट ने इन निर्वचनों के प्रसंग में जातिस्फोट और व्यक्तिस्फोट को व्यर्थ में घसीटा है। कैयट के इस कथन का शिवरामेन्द्र सरस्वती ने खण्डन किया है। द्र०—हस्तलेख पृष्ठ ३२४, ३२५, मुद्रित पृष्ठ ३६६॥

लौकिकमास्यम्—लोकविदित आस्य के ग्रहण करने पर नासिका और उरःस्थान ये दोनों वर्णस्थान आस्य से बाहर रह जाते हैं। नासिका को आस्य के अन्तर्गत लेने के लिये भर्तृहरि ने क्लिष्ट कल्पना की है। उसी का कैयट ने भी आश्रयण किया है, और उरःस्थान के लिये लिखा है कि एतत्स्थानीय विसर्जनीय की सवर्ण-संज्ञा के होने में न कोई प्रयोजन हैं, और न होने में कोई दोष (द्र०–पृष्ठ १४३)। वस्तुतः मुखवाचक लौकिक आस्य के ग्रहण में क्या दोष हैं, इसके निरूपण का यहां प्रसङ्ग नहीं है। इसीलिये आस्यग्रहण प्रयत्न के विशेषण के लिये है, यह आगे कहेंगे॥

[भाष्यम्] सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्यात् ॥१॥

सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गो भवति—जबगडदशाम्। किं कारणम्? प्रयत्नसामान्यात्। एतेषां हि समानः प्रयत्नः॥

व्याख्या—**सवर्ण-संज्ञा में भिन्नस्थानवाले वर्णों में अतिप्रसक्ति होती है, प्रयत्न के समान होने से।**

सवर्ण-संज्ञा में भिन्नस्थानवाले वर्णों में अतिप्रसक्ति होती है ज ब ग ड द वर्णों में। क्या कारण है? प्रयत्न के समान होने से। इन वर्णों का समान प्रयत्न है।

विवरण—आस्य और प्रयत्न का द्वन्द्वसमास करके तुल्य शब्द के साथ बहुव्रीहि करने पर अर्थ होगा–जिनका स्थान और प्रयत्न समान है, उनकी सवर्ण-संज्ञा हो। तुल्य शब्द का स्थान और प्रयत्न के साथ सम्बन्ध होने से समान स्थानवालों प्रयत्नभिन्नों की और समान-प्रयत्नवाले स्थानभिन्नों की सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होती है।[2] इस प्रकार भिन्न-स्थानीय ज ब ग ड द

१. अन्नमेतदास्यन्दते इति आस्यमिति वा—अनेनैतदाचष्टे स्यन्दनार्थेऽस्यतिर्वर्तते। अथवा स्यन्दतेरेवैतदाङ्पूर्वस्य डप्रत्यये रूपम् इति। पृष्ठ १४२।

२. '**द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते**' न्यायानुसार द्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण पदों का ही समानरूप से सम्बन्ध होता है। अतः द्वन्द्वादि में पठित तुल्यपद का दोनों के साथ समानरूप से सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। वस्तुतः 'द्वन्द्वान्ते' न्याय एकदेशी है। भाष्यकार के इस प्रसङ्ग से यह ज्ञापित होता है कि द्वन्द्वादि में श्रूयमाण पद का भी द्वन्द्वघटित पदों के साथ

वर्णों का स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः (पा० शि० सूत्र ३।४) से स्पृष्ट प्रयत्न समान है। इनकी सवर्ण-संज्ञा होने पर तर्त्ता ऊर्जः में झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से पकार और गकार का लोप प्राप्त होगा। जबगडदशाम् में शकार प्रत्याहारसूत्र के अनुरोध से पठित है ॥

[भाष्यम्] सिद्धं त्वास्ये तुल्यदेशप्रयत्नं सवर्णम् ॥२॥

सिद्धमेतत्। कथम्? आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम्।

एवमपि किमास्योपादाने प्रयोजनम्? सर्वेषां हि तत्तुल्यम्। प्रयत्नविशेषणमास्योपादानम्। सन्ति ह्यास्याद् बाह्याः प्रयत्नाः, ते हापिता भवन्ति। तेषु सत्स्वसत्स्वपि सवर्णसंज्ञा सिद्धा भवति। के पुनस्ते? विवारसंवारौ, श्वासनादौ, घोषवदघोषता, अल्पप्राणता महाप्राणतेति।

तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च। एकेऽल्पप्राणाः, अपरे महाप्राणाः। तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः। एकेऽल्पप्राणाः, अपरे महाप्राणाः। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा आनुनासिक्यवर्जम्। आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ॥

व्याख्या—सिद्ध है, आस्य में तुल्यदेशप्रयत्नवाले सवर्ण-संज्ञक होते हैं [ऐसा कहने से]।

यह सिद्ध है। कैसे? आस्य (=मुख) में जिन वर्णों का समान देश और प्रयत्न है, वे सवर्ण-संज्ञक होते हैं, ऐसा कहना चाहिये।

इस प्रकार भी आस्य के ग्रहण करने में क्या प्रयोजन है? वह तो सब ही वर्णों का तुल्य है। प्रयत्न को विशेषित करने के लिये आस्य का उपादान है। आस्य से बाहर भी [वर्णों के] प्रयत्न हैं, वे [आस्य-ग्रहण से सवर्ण संज्ञा में] छोड़ दिये जाते हैं। उन [बाह्य प्रयत्नों] के भिन्न होते हुये भी सवर्ण-संज्ञा सिद्ध हो जाती है। वे [बाह्य प्रयत्न] कौन से हैं? विवार संवार, श्वास नाद, घोषवत्ता अघोषवत्ता, अल्पप्राणता महाप्राणता।

उनमें वर्गों के प्रथम द्वितीय वर्ण विवृतकण्ठ श्वास-अनुप्रदान और अघोष हैं। इनमें एक (=प्रथम) अल्पप्राण हैं, और अपर (=द्वितीय) महाप्राण हैं। तृतीय चतुर्थ वर्ण संवृतकण्ठ नादानुप्रदान घोषवाले हैं। इनमें एक (=तृतीय) अल्पप्राण हैं, और अपर (=चतुर्थ) महा-

---

समान सम्बन्ध होता है। अन्यथा प्रस्तुत प्रसङ्ग ही उपपन्न नहीं होता। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने भी लिखा है कि—'एतेन द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य प्रत्येकमन्वय इति नैयायिकादिवचनं न्यूनताग्रस्तम् इति स्पष्टमेव।' द्र०—हस्तलेख, पृष्ठ ३२३, मुद्रित पृष्ठ ३६६। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस पक्ष को स्वीकार करके भी कैयट के प्रकृत व्याख्यान का प्रत्याख्यान कैसे किया, यह विचारणीय है। हमारे विचार में उसके प्रतिपद कैयट व्याख्यान के प्रत्याख्यान में अभिग्रस्तमति ही कारण सम्भव हो सकता है।

प्राण हैं। जैसे तीसरे हैं, वैसे पञ्चम वर्ण हैं, आनुनासिक्य को छोड़कर। इन [पञ्चम] वर्णों का आनुनासिक्य अधिक गुण है।

विवरण—यहां भाष्यकार ने आठ बाह्य प्रयत्न लिखे हैं। ये स्पर्श व्यञ्जनों की दृष्टि से लिखे हैं। यह भाष्यकार के पाठ से ही स्पष्ट है। इनके अतिरिक्त आपिशलि और पाणिनि ने **उदात्त अनुदात्त** और **स्वरित** को भी बाह्य प्रयत्नों में गिना है। यथा—

स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता संवृतता च।
संवारविवारौ श्वासनादौ घोषवदघोषता।
अल्पप्राणमहाप्राणता उदात्तानुदात्तस्वरिताः॥

पाणिनीय-शिक्षासूत्र ८।२६॥

इनमें प्रथम चार प्रयत्न अन्तःप्रयत्न हैं, शेष ११ बाह्य प्रयत्न माने जाते हैं।

आपिशलि ने काल(=एकमात्रा द्विमात्रा त्रिमात्रा) को भी बाह्य प्रयत्नों में गिना है। उनके वचन इस प्रकार हैं—

स्पृष्टत्वमीषत्स्पृष्टत्वं संवृतत्वं तथैव च।
विवृतत्वं च वर्णानामन्तःकरणमुच्यते॥
कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता।
घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः॥

आपिशल शिक्षा ८।२५, २६॥

इन बाह्य प्रयत्नों की व्याख्या आपिशल और पाणिनीय शिक्षासूत्रों के आठवें प्रकरण में की गई है। दोनों के सूत्रों में क्वचित् शब्दभेद है, अर्थ समान है। अतः हम यहां पाणिनीय शिक्षा[1] के अनुसार बाह्य प्रयत्नों की व्याख्या लिखते हैं—

अथ बाह्यप्रयत्नः—यहां से आगे बाह्य प्रयत्न कहते हैं।

स एवेदानीं प्राणो नाभिवायुरूर्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्तो [यदा कोष्ठमभिहन्ति] **तदा कोष्ठेऽभिहन्यमाने गलबिलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्मो जायते, विवृतत्वाद् विवारः**—वही प्राण नामक नाभिस्थ वायु ऊपर उठकर मूर्धा में टकराकर जब कोष्ठ को पीडित करता है, तब कोष्ठ के पीडित होने पर गले के बिल के संकुचित होने से **संवार** नाम का वर्णधर्म उत्पन्न होता है, और गले के बिल के फैलने से **विवार** वर्णधर्म उत्पन्न होता है।

तौ संवारविवारौ—इन्हीं वर्णधर्मों को संवार विवार नाम से कहा जाता है।

तत्र यदा कण्ठबिलं संवृतं तदा नादो जायते—वहीं पर जब कण्ठबिल संकुचित होता है, तब अव्यक्तसा शब्द=**नाद** नामक प्रयत्न उत्पन्न होता है।

---

१. ये पाणिनीय शिक्षा के सूत्र काशिकावृत्ति १।१।९ की न्यासनाम्नी व्याख्या में भी उद्धृत हैं। उसके अनुसार कहीं-कहीं पाठ शोधा है।

विवृते तु कण्ठबिले श्वासोऽनुजायते—कण्ठबिल के फैलने पर **श्वास** प्रयत्न उत्पन्न होता है।

तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते—उन श्वास और नाद को कतिपय आचार्य **अनुप्रदान** कहते हैं।

[1]**अन्ये तु ब्रुवते-अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्लादवत्**—अन्य आचार्य कहते हैं कि **अनुप्रदान** अनुस्वान होता है, जैसे घण्टा के शब्द के पश्चात् ध्वनि होती है।

तत्र [2]**यदा स्थानाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते, तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते**—वहां जब स्थान में अभिघात से उत्पन्न ध्वनि में नाद का अनुप्रदान होता है, तब नादध्वनि के संसर्ग से **घोष** प्रयत्न उत्पन्न होता है।

यदा श्वासोऽनुप्रदीयते, तदा श्वासध्वनिसंसर्गाद् अघोषो जायते—जब श्वास का अनुप्रदान होता है, तब श्वासध्वनि के संसर्ग से **अघोष** प्रयत्न उत्पन्न होता है।

सा घोषवदघोषता—यही वर्णों का घोषवत्त्व और अघोषता है।

महति वायौ महाप्राणः—जब मूर्धा में प्रतिहत होकर प्रतिनिवृत्त वायु कण्ठबिल के विवृत होने से अधिक वायु का संसर्ग होता है, तब **महाप्राण** प्रयत्न उत्पन्न होता है।

अल्पे वायौ अल्पप्राणः—जब कण्ठबिल के संवृत होने से अल्प वायु का संसर्ग होता है, तब **अल्पप्राण** प्रयत्न उत्पन्न होता है।

[यत्र] महाप्राणत्वम् ऊष्माणस्ते—जहां महाप्राण प्रयत्न होता है, वे **ऊष्म** कहाते हैं। आपिशल-शिक्षा में पाठ है—**महाप्राणत्वादूष्मत्वम्**—महाप्राण होने से ऊष्मत्व होता है।

तत्र यदा [सर्वाङ्गा]नुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाल्पत्वं, स्वरस्य वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति, तमुदात्तमाचक्षते—वहां (=वर्णों के उच्चारण में) जब सब अङ्गों में होनेवाला प्रयत्न तीव्र होता है, तब गात्रों का निग्रह, कण्ठबिल की अल्पता=संकोच, स्वर और वायु की तीव्र गति होने से रूक्षता (=श्रवण में कटुता) होती है, उसको **उदात्त** कहते हैं। अर्थात् इस प्रकार के यत्न करने से उदात्त ध्वनि उत्पन्न होती है।

यदा मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्राणां संस्रवत्वं कण्ठबिलस्य च महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति, तमनुदात्तमाचक्षते—जब सर्व अङ्गों में होनेवाला प्रयत्न मन्द होता है, तब गात्रों का ढीलापन, कण्ठबिल का विकास, स्वर और वायु की मन्दगति होने से स्निग्धता (=उच्चारण में कोमलता) होती है, उस को अनुदात्त कहते हैं। अर्थात् इस प्रकार के यत्न करने से अनुदात्त ध्वनि उत्पन्न होती है।

---

१. यह पाठ न्यास के अनुसार दिया है। पाणिनीय-शिक्षा का पाठ कुछ भ्रष्ट प्रतीत होता है। पाठ है—**अन्ये श्वासनादानुप्रदानं व्यञ्जने नादवत्।**

२. न्यासानुसारी पाठ। शिक्षासूत्र में '**तत्र यदा नाभिस्थलजध्वनौ**' अपपाठ है।

उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात् स्वरितः—उदात्त और अनुदात्त स्वरों के सन्निकर्ष(=संयोग) से स्वरित-ध्वनि उत्पन्न होती है ।।

[भाष्यम्] एवमप्यवर्णस्य सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति । किं कारणम् ? बाह्यं ह्यास्यात् स्थानमवर्णस्य । सर्वमुखस्थानमवर्णमेके इच्छन्ति । एवमपि व्यपदेशो न प्रकल्पते—'आस्ये येषां तुल्यो देशः' इति । व्यपदेशिवद्भावेन व्यपदेशो भविष्यति । सिध्यति, सूत्रं तर्हि भिद्यते ।

यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तम्—"सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्यात्" इति । नैष दोषः । न हि लौकिकमास्यम् । किं तर्हि ? तद्धितान्तमास्यम्—आस्ये भवमास्यम् । 'शरीरावयवाद् यत्'[1] । किं पुनरास्ये भवम् ? स्थानं करणं च । एवमपि प्रयत्नोऽविशेषितो भवति । प्रयत्नश्च विशेषितः । कथम् ? न हि प्रयतनं प्रयत्नः । किं तर्हि ? प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः ।।

व्याख्या—इस प्रकार भी अवर्ण की सवर्ण-संज्ञा प्राप्त नहीं होती । क्या कारण है ? अवर्ण का स्थान आस्य से बाहर है [क्योंकि कुछ आचार्य अवर्ण का स्थान काकलक(=घोटू से नीचे जत्रु=हंसली)के समीप मानते हैं । यह दोष नहीं है] । कुछ आचार्य अवर्ण को सब मुख-स्थानवाला मानते हैं, अर्थात् अवर्ण की निष्पत्ति में सारा मुख व्यापृत होता है । इस प्रकार (=सर्वमुखस्थान मानने पर) भी निर्देश उपपन्न नहीं होता—'मुख में जिनका तुल्य देश है' [क्योंकि अवर्ण का आस्य ही देश है, आस्य में कोई स्थानविशेष नहीं है] । व्यपदेशिवद्भाव से सिद्ध हो जायेगा । इस प्रकार सिद्ध तो हो जाता है, परन्तु सूत्रभेद होता है ।

यथान्यास ही सूत्र होवे । अभी तो कहा है—"सवर्ण-संज्ञा में भिन्नदेशवाले वर्णों में [सवर्ण-संज्ञा की] अतिप्रसक्ति होती है, प्रयत्न के समान होने से" । यह दोष नहीं है ।[सूत्र में] लौकिक [मुखवाची] आस्य शब्द नहीं है । तो क्या है ? तद्धितान्त आस्य शब्द है—आस्य में होनेवाला आस्य । शरीरावयवाच्च[2](४।३।५५)[=शरीरावयववाची सप्तमीसमर्थ शब्द से 'तत्र भवः' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ।] से यत्प्रत्ययान्त आस्य शब्द है । आस्य (=मुख) में होनेवाला क्या है ? स्थान और करण=स्पृष्टतादि तथा जिह्वोपाग्रतादि [द्र०—पाणिनीय-शिक्षा प्रकरण २ में निर्दिष्ट करण] । इस प्रकार भी प्रयत्न [आस्य से] विशेषित नहीं होता [अर्थात् आस्य में जो प्रयत्न, ऐसा अर्थ नहीं जाना जाता है] । प्रयत्न भी विशेषित हो जाता है । कैसे ? यहां प्रयतन(=विशिष्ट यत्न)प्रयत्न नहीं है । तो क्या है ? यत्न का आरम्भ=प्रयत्न ।

१. नायं सूत्रनिर्देशः । किन्तर्हि ? अर्थतोऽनुवादः । सूत्रपाठस्तु 'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) इत्येव । यत्प्रत्ययोऽत्र पूर्वसूत्रादनुवर्तते । कैश्चित् सूत्रनिर्देशं मत्वा इतोऽग्रे ५।१।६ सूत्र-संख्या प्रत्ता । तदविचारितरमणीयम् । भाष्यकारो भवार्थे आस्यशब्दं निर्वक्ति । शरीरावयवाद् यत् (५।१।६) तु हितार्थे यतं ब्रवीति ।

२. महाभाष्य में 'शरीरावयवाद् यत्' में सूत्र-निर्देश नहीं है, अर्थतः निर्देश है । यत् प्रत्यय की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति है ।

विवरण—अवर्णस्य—अकार का स्थान 'उपजत्रु' आस्य से बाहर होने से १८ प्रकार के अवर्णों की परस्पर सवर्ण-संज्ञा नहीं होगी। अवर्ण के १८ भेद शिक्षाकार ने इस प्रकार दर्शाये हैं—ह्रस्व दीर्घ प्लुत ३ भेद। ये प्रत्येक उदात्त अनुदात्त स्वरित भेद से भिन्न होकर ९ भेद होते हैं। इन के भी सानुनासिक और निरनुनासिक भेद होने से १८ प्रकार का अवर्ण होता है—

ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च।
आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः॥ पा.शि. प्रकरण ६(वृद्धपाठ)।

सर्वमुखस्थानम्—पाणिनीय-शिक्षा में सूत्र है—**सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके** (१।६)। इसी का भाष्यकार ने अनुवाद किया है। सर्वमुखस्थान अवर्ण का होने से सवर्ण-संज्ञा सिद्ध हो जायेगी। इस सूत्र की व्याख्या जानने के लिये प्रान्तभेद से अकार के उच्चारणों पर ध्यान देना आवश्यक है। सभी लोग जानते हैं कि बंगाली (असमी-उत्कली भी) अकार का उच्चारण करते समय ओष्ठों को गोलाकार करके उच्चारण करते हैं। अतः उनका अकारोच्चारण ओकार जैसा होता है। हरियाणावासी कई शब्दों में अकार का उच्चारण तालु से करते हैं। अतः उन का पण्डित शब्द का उच्चारण 'पिण्डित' जैसा होता है। पश्चिम उत्तर प्रदेश के कुछ भाग में खच्चर शब्द का उच्चारण 'खिच्चर' और 'खुच्चर' सा होता है। इसी शिक्षासूत्र के प्रकाश में कुछ अन्य भाषाओं में अकार के हुये वर्णभेदों पर दृष्टि डालिये—

संस्कृत	**पुरानी लिथुएनियन**	**स्लैवानिक**	**लैटिन**	**ग्रीक**
अग्निः	उङ्निस्	ओग्नि	इग्निस्	
रथः	रतस्		रोथ	
पद			पेरिस्	पोद
मधु				मेथु (methu)
मथुरा				मेथोरा (methora)
अस्ति			एस्त् (est)	एस्ति (esti)
जनः			जेनुस् (jenus)	जेनोस् (jenos)

इसी प्रकार भाषान्तरों में व्यञ्जन-परिवर्तन-विषयक पाणिनीय-शिक्षा का एक सूत्र **कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके** (१।७) भी विशेष ध्यान देने योग्य है।

पाश्चात्य विद्वान् प्रसिद्ध काल्पनिक भारोपीय (इण्डोयोरोपियन) भाषा की कल्पना करके ग्रीक लैटिन प्रभृति भाषाओं में वर्तमान अर्ध एकार ओकार का आश्रय बनाकर यह कल्पना करते हैं कि मूल भारोपीय भाषा में जहां अर्ध एकार ओकार था, वह ग्रीक लैटिन प्रभृति योरोपीय भाषाओं में तो यथावत् सुरक्षित रहा, परन्तु भारतीय भाषाओं में उनकी अकाररूप में परिणति हो गई। वस्तुतः यह धारणा अशुद्ध है। ग्रीक जनों का स्वभाव बंगालियों के समान अकार को ओकार के रूप में प्रयुक्त करने का था। ग्रीकजनों ने विशुद्ध भारतीय मथुरा आदि नामों के उच्चारण में अकार को ओकार वा एकार के रूप में बदला है। यथा **'मथुरा'** का ग्रीक उच्चारण है—**'मेथोरा'** (METHORA), और **'अष्टौ'** का ओक्टो (OKTO)।

जिन पाठकों की भाषा-विज्ञान में रुचि है, उन्हें भारतीय एवं पाश्चात्य भाषा-विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के लिये पं० भगवद्दत्त कृत **'भाषा का इतिहास'** (तृ० सं०) ग्रन्थ देखना चाहिये। भारतीय भाषा-विज्ञान के चार प्रमुख आधार हैं—**शिक्षा** (वर्णोच्चारण-विषयक शास्त्र, **व्याकरण** पाणिनीयादि शब्दशास्त्र, **निरुक्त** यास्कादि विरचित अर्थनिर्वचनशास्त्र, और भरत-प्रोक्त **नाट्यशास्त्र** का कुछ भाग।

व्यपदेशिवद्भाव—जिसका व्यपदेश=कथन हो, वह व्यपदेशी कहाता है, अर्थात् वाच्य। व्यपदेशी के समान जो हो, वह व्यपदेशिवत् अर्थात् गौण कहाता है। यथा 'आदि' का प्रयोग वहीं होता है, 'जिसके आदि में कुछ न हो और आगे होवे'। इसी प्रकार अन्त का प्रयोग वहां होता है, 'जिसके पूर्व में कुछ होवे, आगे न होवे'। परन्तु एक में भी आदि-अन्त का व्यवहार होता है। सूत्रकार ने कहा है—**आद्यन्तवदेकस्मिन्** (१।१।२०)। इसे ही वार्तिककार ने **व्यपदेशिवदेकस्मिन्** वचन से स्पष्ट किया है। तदनुसार यहां भी 'आस्य' पद से 'आस्यैकदेश' का ग्रहण करने पर **'आस्ये येषां तुल्यो देशः'** निर्देश उपपन्न हो जाता है।

स्थानं करणं च—यद्यपि शिक्षा-सूत्रों के अनुसार 'करण' शब्द से द्वितीय-प्रकरण-निर्दिष्ट जिह्वा तथा जिह्वोपाग्रता आदि का ही ग्रहण होना चाहिये, तथापि यहां भाष्यकार ने स्पृष्टता आदि प्रयत्नों का भी ग्रहण माना है। यदि आस्य को तद्धितान्त मानकर स्थान और करण दोनों का ग्रहण होवे, तो सूत्र में प्रयत्न ग्रहण नहीं करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि स्थान और प्रयत्न दोनों स्वतन्त्र रूप से सवर्ण-संज्ञा में प्रयोजक न होवें, इसलिये सूत्र में प्रयत्न का उपादान किया है। इस कारण जहां स्थान और प्रयत्न दोनों तुल्य होंगे, वहीं सवर्ण संज्ञा होगी।

प्रयत्नोऽविशेषितो भवति—यदि प्रयत्न का पृथग्ग्रहण करते हैं, तो उसका आस्य (तालवादिस्थान) के साथ सम्बन्ध न होने से बाह्य प्रयत्नों का भी ग्रहण होगा। उस अवस्था में क की ख के साथ भी सवर्ण-संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि इनके बाह्य प्रयत्न भिन्न-भिन्न हैं।

प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः—प्रयत्न शब्द में 'प्र' आरम्भवाचक है। अतः अर्थ होगा आस्य (=तालवादि स्थान) और यत्न का आरम्भ जिनका समान है, उनकी सवर्ण-संज्ञा होती है। वर्ण के उच्चारण में स्पृष्टता आदि प्रारम्भिक यत्न हैं, और बाह्य प्रयत्न वर्णोच्चारण के पश्चात् वायु के तालवादि स्थान में आघात होने के पश्चात् उसके निकलते समय होते हैं। इस विषय में बाह्य प्रयत्नों की पाणिनि सूत्रानुसार व्याख्या पूर्व लिख दी है। **प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः** पर भर्तृहरि लिखता है—**एतद् भाष्यकारस्य दर्शनम्** (पृष्ठ १४५)॥

[भाष्यम्] यदि प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः, एवमप्यवर्णस्य एङोश्च सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। प्रश्लिष्टाऽवर्णावेतौ। अवर्णस्य तर्ह्यैचोश्च सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। विवृततराऽवर्णावेतौ। एतयोरेव तर्हि मिथः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। नैतौ तुल्यस्थानौ। उदात्तादीनां तर्हि सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति। अभेदका उदात्तादयः॥

व्याख्या—यदि प्रयत्न से यत्न का आरम्भ अभिप्रेत है, तो इस प्रकार भी अवर्ण और

एङ् (=ए ओ) की सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होती है [क्योंकि ए ओ के प्रथम भाग का अकार के साथ सादृश्य है]। [एङ् की अकार के साथ सवर्ण-संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि एङ्] प्रश्लिष्ट (=अत्यन्त जुड़े हुये=अविभाज्य) वर्ण हैं। अच्छा तो अवर्ण और ऐच् (=ऐ औ) की सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होती है [क्योंकि इनके प्रारम्भिक भाग का भी अकार के साथ सादृश्य है]। ये [ऐच्=ऐ औ के] अवर्ण विवृततर हैं, अर्थात् अकार का प्रयत्न विवृत है, और ऐ औ के आद्यभागस्थ अकार का प्रयत्न विवृततर है। अच्छा तो ऐ औ इन दोनों की ही परस्पर सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होती है। ये दोनों तुल्यस्थानी नहीं हैं। अच्छा तो उदात्तादि (=उदात्तादि विशिष्टों) की सवर्ण-संज्ञा प्राप्त नहीं होती। उदात्तादि स्वर अभेदक हैं।

विवरण—अवर्णस्यैङोश्च—यद्यपि अवर्ण और ए ओ का प्रारम्भिक प्रयत्न समान है, फिर भी स्थानभेद तो है ही। अतः स्थान की भिन्नता से इनकी सवर्ण-संज्ञा प्राप्त नहीं होती। फिर भाष्यकार ने सवर्ण-संज्ञा का दोष कैसे उपस्थित किया? इसका उत्तर यह है कि प्रारम्भिक प्रयत्न के समान होने पर भी सवर्ण-संज्ञा की प्राप्तिरूप दोष का समाधानान्तर देने की विवक्षा से स्थानभिन्नता की उपेक्षा की। इसी प्रकार ऐच् के विषय में भी जानना चाहिये।

विवृततराववर्णौ—यहां विवृततर से विवृततम का ग्रहण जानना चाहिये। द्र०—पूर्व पृष्ठ १४६—**यदत्रावर्णं विवृततरम्** भाष्य का विवरण। विवृततम में विवृततर शब्द का प्रयोग क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि **विवृतकरणाः स्वराः** से सामान्यरूप से स्वरों का विवृत प्रयत्न कहा है। उससे एङ् का प्रयत्न विवृततर है। परन्तु एङ् की अकार के साथ प्राप्त सवर्ण संज्ञा का निराकरण **प्रश्लिष्टावर्णावेतौ** रूप समाधानान्तर से कर दिया। अब केवल अकार और ऐच् के प्रयत्नों का तारतम्य ही विवक्षित रह गया। अतः इन दो के तारतम्य की दृष्टि से यहां ऐच् के अकार को विवृततर कहा है।

उदात्तादीनां तर्हि—पूर्व (पृष्ठ ३४-३५) पाणिनीय-शिक्षा के सूत्रों के अनुसार लिख चुके हैं कि पाणिनि के मत में उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये बाह्य प्रयत्न हैं। अतः इनके भेद होने पर भी सवर्ण-संज्ञा हो ही जायेगी। पुनः प्रकृत प्रश्न एवं उत्तर निरर्थक है? इसका समाधान यह है कि भाष्यकार किन्हीं शिक्षाकारों के मतानुसार उदात्तादि को बाह्य प्रयत्नों में नहीं मानते[1]। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने आदि पद से अनुदात्त स्वरित ह्रस्व दीर्घ प्लुतों का भी संग्रह माना है। इनमें ह्रस्वादि का संग्रह चिन्त्य है। क्योंकि यहां और **वृद्धिरादैच्** (१।१।१) के भाष्य में जो **अभेदका उदात्तादयः** उत्तर दिया है, उसमें ह्रस्वादि का समावेश नहीं है। पूर्व (पृष्ठ ३३-३५) जो बाह्य प्रयत्न दर्शाये हैं, उनमें उदात्तादि का निर्देश नहीं है। उदात्तादि को भी अन्तः प्रयत्न में मानकर सवर्ण-संज्ञा की प्राप्तिरूप दोष और **अभेदका उदात्तादयः** कहकर उसका समाधान किया है। उदात्तादि स्वर भेदक हैं अथवा अभेदक, इस विषय में **वृद्धिरादैच्**

१. उदात्तादयः सप्त (=स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता, विवृतता, संवृतता, उदात्तः, अनुदात्तः, स्वरितः) प्रयत्ना आभ्यन्तरा इति मन्यमानस्योक्तिरियम्। द्र०—शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत व्याख्या हस्तलेख, पृष्ठ ३३९; मुद्रित पृष्ठ ३७८।

(१।१।१) के भाष्य (पूर्व पृष्ठ २२८-२३२)में विस्तार से विचार करके निर्णय किया है कि उदात्तादि स्वर भेदक (=सवर्ण-संज्ञा के विघटक) नहीं हैं, अर्थात् उदात्तादि आभ्यन्तर प्रयत्न नहीं हैं। इसीलिये भर्तृहरि ने लिखा है—'**अभेदका उदात्तादय इति प्रतिपादितं लिङ्गात्। न शास्त्रे एते भेदेन व्याप्रियन्त इति, यत्समानं तदाश्रयिष्यामः**' (पृष्ठ १४५ पूना संस्क०)॥

[भाष्यम्] अथवा किं न एतेन—'प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः' इति? प्रयतनमेव प्रयत्नः, तदेव च तद्धितान्तमास्यम्। यत्समानं तदाश्रयिष्यामः। किं सति भेदे? 'सति' इत्याह। सत्येव हि भेदे सवर्णसंज्ञया भवितव्यम्। कुत एतत्? भेदाधिष्ठाना हि सवर्णसंज्ञा। यदि हि यत्र सर्वं समानं तत्र स्यात्, सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात्।

यदि तर्हि—'सति भेदे किंचित्समानम्' इति कृत्वा सवर्णसंज्ञा भविष्यति, शकारच्छकारयोः षकारठकारयोः सकारथकारयोः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। एतेषां हि सर्वमन्यत्समानं करणवर्जम्॥

व्याख्या—अथवा इस अर्थ से क्या प्रयोजन—'यत्न का आरम्भ प्रयत्न है'? प्रकर्ष यतन ही प्रयत्न होवे, और वही तद्धितान्त आस्य शब्द। इस में जो समान है, उसका आश्रयण करेंगे। तो क्या भेद होने पर [समान का आश्रयण करेंगे]? हां, 'भेद होने पर ही'। भेद होने पर ही सवर्ण-संज्ञा को होना चाहिये। यह कैसे? भेद के आधारवाली ही सवर्ण-संज्ञा है। यदि जहां सब कुछ समान होवे वहां होवे, तब तो सवर्ण-संज्ञा कहना अनर्थक होवे।

यदि—'भेद होने पर जो कुछ समान है', उसके आश्रित सवर्ण-संज्ञा होगी, तो शकार छकार की षकार ठकार की और सकार थकार की भी सवर्ण-संज्ञा होगी। इनका भी अन्य सब (=स्थान, बाह्य प्रयत्न) समान है, करण (=अन्तः प्रयत्न) को छोड़कर।

विवरण—'यत्समानम्'—स्पृष्टता आदि आभ्यन्तर प्रयत्नों की समानता को आश्रय करके सवर्ण-संज्ञा करेंगे। **सति भेदे**—यदि जहां कुछ समानता और कुछ विषमता है, वहां जो सामान्य है उसको आश्रय करके सवर्ण-संज्ञा करोगे, तो स्पृष्टतादि आभ्यन्तर प्रयत्न के भेद होने पर, और बाह्य प्रयत्न समान होने पर भी शकार छकार की षकार ठकार की और सकार थकार की सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होगी? इसका उत्तर दिया है कि भेद होने पर ही सवर्ण-संज्ञा होती है, अन्यथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।९७); **झरो झरि सवर्णे** (८।४।६४) में सवर्ण-संज्ञा की आवश्यकता नहीं। **अकोऽकि; झरो झरि** इतना ही सूत्र पर्याप्त है। सवर्ण-ग्रहण यथासंख्य की निवृत्ति के लिये है। अन्यथा **शि ण् ड् ढि** यहां डकार ढकार में भेद होने से ढकार परे डकार का लोप नहीं होगा। **अनर्थकं स्यात्**—ककार का ककार और गकार का गकार ही सवर्ण-संज्ञक होगा। इसी प्रकार सर्वत्र समझें।

शकारछकारयोः षकारठकारयोः सकारथकारयोः—निश्छद्म निष्ठुर निस्स्थान में शकार षकार और सकार का **झरो झरि** से लोप प्राप्त होगा। यदि यह कहो कि द्विर्वचन भी विकल्प से होता है, और **झरो झरि** लोप भी विकल्प से होता है; उस अवस्था में कोई भेद नहीं होगा,

अर्थात् एकशकारादि और दो शकारादि दोनों रूप होंगे। अत: झरो झरि से लोप न होने पर भी दो ही रूप होंगे, कोई भेद नहीं होगा। अच्छा तो मधुलिट् ष्ठीवनम् मधुलिट् स्थानम् में षकार ठकार की सकार थकार की सवर्ण-संज्ञा होने से लोप प्राप्त होता है॥

एवं तर्हि—प्रयतनमेव प्रयत्नः, तदेव हि तद्धितान्तमास्यम्। न त्वयं द्वन्द्वः—'आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नम्' इति। किं तर्हि? त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः—'तुल्य आस्ये प्रयत्न एषाम्' इति।

अथवा—पूर्वस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः—'तुल्य आस्ये तुल्यास्यः, तुल्यास्यः प्रयत्न एषाम्' इति।

अथवा—परस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः—'आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्नः, तुल्य आस्यप्रयत्न एषाम्' इति॥

व्याख्या—अच्छा तो प्रयतन ही प्रयत्न होवे, और वही तद्धितान्त आस्य शब्द। किन्तु यह द्वन्द्व नहीं है—'आस्य और प्रयत्न=आस्यप्रयत्न।' तो क्या है? त्रिपद बहुव्रीहि है—'तुल्य है आस्य (=तात्वादि स्थान) में प्रयत्न जिनका'।

अथवा—पहले तत्पुरुष होता है और पीछे बहुव्रीहि। [पूर्व तत्पुरुष—] 'तुल्य (=समान) आस्य में जो वह तुल्यास्य'। [पश्चात् बहुव्रीहि—] 'तुल्यास्य (=आस्य में समान) प्रयत्न है जिनका [वह तुल्यास्यप्रयत्न]।'

अथवा परला तत्पुरुष और तत्पश्चात् बहुव्रीहि। [परला तत्पुरुष—] 'आस्य में जो प्रयत्न वह आस्यप्रयत्न। [पश्चात् बहुव्रीहि—] तुल्य है आस्यप्रयत्न (=आस्य में प्रयत्न) जिनका [वह तुल्यास्यप्रयत्न]।'

विवरण—त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः—तद्धितान्त आस्य शब्द के उपादान के कारण यहां असमानाधिकरण बहुव्रीहि जानना चाहिये। तद्धितान्त आस्य शब्द नियतरूप से स्वाङ्गवाची नहीं होता। अतएव यहां **अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे** (६।३।११) से सप्तमी का अलुक् नहीं होता। यदि तद्धितान्त आस्य शब्द को तात्वादि देशवाची होने से स्वाङ्गवाची मान भी लें, तो प्रकृत सूत्र में **संज्ञायाम्** की अनुवृत्ति होने से सप्तमी का अलुक् नहीं होगा। क्योंकि यहां समास की वाच्य संज्ञा नहीं है। **आस्ये** में एकत्व की विवक्षा होने से एक तालु आदि स्थान में ही जिनका आभ्यन्तर प्रयत्न समान होगा, उनकी ही सवर्ण-संज्ञा होगी। भिन्न स्थानवाले जो समान आभ्यन्तर प्रयत्न वाले हैं, यथा ककार चकार, उनकी सवर्ण-संज्ञा नहीं होगी। भर्तृहरि ने **आस्ये** में एकत्व की विवक्षा के बिना भी भिन्नस्थानवाले समान प्रयत्नवालों की सवर्ण-संज्ञा का अभाव इस प्रकार दर्शाया है—"त्रिपद बहुव्रीहि मानने पर आस्य तुल्य से अविशेषित होता है, भिन्न विभक्ति के होने से और अप्रधान होने से। यह दोष नहीं है। जिस आधेय के प्रति जिस अधिकरण का उपादान होता है, वह आधेय की तुल्यता से ही तुल्य जाना जाता है। जैसे—'देवदत्त और यज्ञदत्त का मधुरा (मथुरा) में तुल्य भोजन होता है' ऐसा कहने पर [आधेय भोजन का आधार]

मधुरा भी उनकी तुल्य ही होती है। इसी प्रकार यहां भी 'आस्य में तुल्य प्रयत्न होता है' कहने से आस्य भी उन वर्णों का तुल्य जानना चाहिये।[1]"

तुल्य आस्ये—यहां **मयूरव्यंसकादयश्च** (२।१।७१) से सप्तम्यन्तोत्तरपद का समास होता है, यह **कैयट** और शिवरामेन्द्र सरस्वती का कथन है। हमारे विचार में यह ठीक नहीं है। समास यहां **सप्तमी शौण्डैः** (२।१।३६) में **सप्तमी** योगविभाग से करना चाहिये, और प्रकृत सूत्र में निपात-सामर्थ्य से सप्तमी का अपूर्व निपात मानना चाहिये। भर्तृहरि का भी यही मत है।

आस्ये प्रयत्नः—यहां आस्य शब्द के स्वाङ्गवाची न होने से **अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे** (६।३।११) से सप्तमी का अलुक् नहीं होता, ऐसा शिवरामेन्द्र सरस्वती का कथन है। हमारे विचार में यह ठीक नहीं है। क्योंकि **अमूर्धमस्तकात्** की प्रवृत्ति बहुव्रीहि में होती है, यह उसकी वृत्तियों में दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है। अतः यहां **हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्** (६।३।८) में संज्ञाग्रहण से सप्तमी का अलुक् नहीं होता, ऐसा जानना चाहिये॥

तस्य ॥३॥

'तस्य' इति तु वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? यो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नः स तस्य सवर्णसंज्ञो यथा स्यात्। अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञो मा भूत्।

तस्याऽवचनं वचनप्रामाण्यात् ॥४॥

'तस्य' इति न वक्तव्यम्। अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञः कस्मान्न भवति? वचनप्रामाण्यात्। सवर्णसंज्ञावचनसामर्थ्यात्। यदि हि अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञः स्यात्, सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात्॥

व्याख्या—[जो जिस का तुल्य आस्यप्रयत्नवाला होवे, वह] उसका [सवर्ण-संज्ञक होवे] ऐसा कहना चाहिये।

'तस्य' ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? जो जिस का तुल्य आस्यप्रयत्नवाला होवे, वह उसका सवर्ण-संज्ञक होवे। अन्य का तुल्य आस्यप्रयत्नवाला अन्य का सवर्ण-संज्ञक न होवे।

'तस्य' ऐसा नहीं कहना चाहिये, वचन के प्रामाण्य से।

'तस्य' ऐसा नहीं कहना चाहिये। अन्य का तुल्य आस्यप्रयत्नवाला अन्य का सवर्ण-

१. ननु चैवमास्यतुल्यत्वेन अविशेषितं भवति, विविभक्तित्वाद् अप्रधानत्वाच्च। नैष दोषः। यदाधेयं प्रति यदधिकरणमुपादीयते, तदाधेयतुल्यतयैव तुल्यमिति विज्ञायते। यथा देवदत्तयज्ञदत्तयोर्मधुरायां तुल्यं भोजनमित्युक्ते गम्यत एतन्मधुराऽपि तयोस्तुल्येति। एवमिहापि ययोर्वर्णयोः आस्ये तुल्यः प्रयत्नो भवति, आस्यमपि तयोस्तुल्यमिति। दीपिका, पृ० १४६, पूना सं.।

संज्ञक क्यों नहीं होता ? वचन के प्रामाण्य से। सवर्ण-संज्ञा कहने के सामर्थ्य से। यदि अन्य का तुल्य आस्य प्रयत्नवाला अन्य का सवर्णसंज्ञक होवे, तो सवर्ण-संज्ञा कहना अनर्थक होवे।

विवरण—'तस्य'—यत् तत् का नित्य सम्बन्ध होने से 'तस्य' ग्रहण से 'यस्य' की उपस्थिति हो जायेगी। इसे ही भाष्यकार ने **'यो यस्य'** इत्यादि से दर्शाया है। **अन्यस्य सवर्णसंज्ञो मा भूत्**—यदि 'तस्य' ग्रहण के बिना अन्य का तुल्यास्यप्रयत्न वर्ण अन्य का सवर्ण-संज्ञक हो जावे, तो फिर सूत्र क्यों बनाया ? इसका उत्तर है—रेफ और ऊष्मों की सवर्ण-संज्ञा की निवृत्ति के लिये सूत्र होगा।

तस्याऽवचनम्—'तस्य' शब्द पूर्वोच्चरित 'तस्य' का अनुकरण शब्द है। 'तस्य' इस के कहने की आवश्यकता नहीं है, यह भाव है। अथवा आपने जो शब्द (=तस्य) पढ़ा है, उसके कहने की आवश्यकता नहीं है। **वचनप्रामाण्यात्**—जो पूर्व कहा है कि 'तस्य' ग्रहण के विना सूत्र से रेफ और ऊष्मों की सवर्ण-संज्ञा नहीं होती। वह ठीक नहीं, रेफ भी रेफ का तुल्यास्यप्रयत्न होने से सवर्ण है। इसी प्रकार श ष स ह भी परस्पर सवर्ण हैं। ऐसी अवस्था में सवर्ण शब्द वर्ण का पर्याय बन जायेगा। सब ही स्व स्व के साथ तुल्यास्यप्रयत्न होने से सवर्ण हैं।

वस्तुतः 'सवर्ण' इस महती-संज्ञा के करने से अन्वर्थता जाननी चाहिये—**समानो वर्णः सवर्णः**। इसी से यह अर्थ प्रकट हो जाता है कि जो जिस का तुल्यास्यप्रयत्नवाला है, वह उसका सवर्ण होता है। जिसका कोई तुल्यास्यप्रयत्नवाला वर्ण नहीं, उसकी सवर्ण-संज्ञा नहीं होती। यथा—**रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति** (पा० शिक्षासूत्र ६।१२)। अर्थात् रेफ ऊष्म सवर्णसंज्ञक नहीं होते, क्योंकि इनका कोई अन्य वर्ण तुल्यास्यप्रयत्नवाला नहीं है॥

संबन्धिशब्दैर्वा तुल्यम् ॥५॥

संबन्धिशब्दैर्वा पुनस्तुल्यमेतत्। तद्यथा—संबन्धिशब्दाः 'मातरि वर्तितव्यम्' 'पितरि शुश्रूषितव्यम्' इति। न चोच्यते—'स्वस्यां मातरि' 'स्वस्मिन् वा पितरि' इति। संबन्धाच्चैतद् गम्यते—'या यस्य माता, यश्च यस्य पिता' इति। एवमिहापि 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इत्यत्र संबन्धिशब्दावेतौ, तत्र संबन्धादेतद् गन्तव्यम्—'यत्प्रति यत्तुल्यास्यप्रयत्नं तत्प्रति तत्सवर्णसंज्ञं भवति' इति॥

व्याख्या—**अथवा संबन्धी शब्दों के समान है।**

सम्बन्धी शब्दों के समान यह है। जैसे—सम्बन्धी शब्द—'मातरि वर्तितव्यम्, पितरि शुश्रूषितव्यम्'। **यहां यह नहीं कहते कि**—स्वस्यां मातरि वर्तितव्यम्, स्वस्मिन् पितरि शुश्रूषितव्यम्। **फिर भी सम्बन्ध से यह जाना जाता है कि जो जिसकी माता है जो जिसका पिता है। इसी प्रकार यहां भी** तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् **सूत्र में ये सम्बन्धी शब्द हैं। उनमें सम्बन्ध से यह जानना चाहिये—जिसके प्रति जो तुल्य आस्यप्रयत्नवाला है, उसके प्रति वह सवर्ण-संज्ञक होता है।**

विवरण—**मातरि वर्तितव्यम्, पितरि शुश्रूषितव्यम्** में माता और पिता शब्द सम्बन्धी

और नपुंसक की निवृत्ति के लिये प्रयुक्त नहीं होते, अपितु इन का यह स्वभाव है कि अपेक्षित स्वप्रजनन में ही इनकी प्रवत्ति होती है। इसी प्रकार सूत्रगत तुल्य शब्द भी सम्बन्धी शब्द है। **तुल्याय कन्या दातव्या** ऐसा आदेश होने पर ब्राह्मण चण्डाल को कन्या नहीं देता, अपितु अपने तुल्य अर्थात् स्व-स्व वर्ण में ही तुल्यता जानी जाती है। इसी प्रकार **अकः सवर्णे दीर्घः** का **अर्थ** होगा—तुल्यास्य-प्रयत्नवाले अक् प्रत्याहारस्थ वर्ण के परे रहने पर अक् प्रत्याहारस्थ वर्ण दीर्घ होता है। यह विवरण **भर्तृहरि** के मतानुसार है। भाष्य में **'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इत्यत्र सम्बन्धिशब्दौ एतौ'** निर्देश होने से सूत्रस्थ दोनों शब्दों को सम्बन्धी शब्द कहा है। **कैयट** ने प्रकृत सूत्रस्थ **तुल्यास्यप्रयत्नं** शब्द और सवर्णसंज्ञा प्रदेश **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।९७) में प्रयुक्त सवर्ण शब्द को सम्बन्धी शब्द माना है। **नागेश** ने **परे** त्वाहुः कहकर लिखा है कि अन्य व्याख्याकार सूत्र में द्वन्द्व निर्देश से प्राप्त **तुल्यास्य** और **तुल्यप्रयत्न** शब्दों को सम्बन्धी शब्द मानते हैं। कैयटोक्त प्रदेशस्थ सवर्ण शब्द भी संज्ञापरक ही है, न कि तुल्यास्यप्रवृत्ति निमित्तक। इसलिये प्रदेशस्थ सवर्ण पद का सम्बन्धीशब्दत्व दुरुपपाद है। उपक्रम और उपसंहार से द्वन्द्वलभ्य तुल्यास्य और तुल्यप्रयत्न शब्दों को ही सम्बन्धी शब्द मानना उचित है। उपक्रम में **तुल्यास्यं च तुल्यप्रयत्नं च सवर्णसंज्ञं भवति** ऐसा कहा है। अतः यहां उपसंहार में भी तुल्यास्य और तुल्यप्रयत्न शब्दों को ही सम्बन्धी शब्द मानना चाहिये। **शिवरामेन्द्र सरस्वती** ने कैयट का खण्डन करते हुए लिखा है—'तुल्यास्यप्रयत्न शब्द के सम्बन्धी शब्द होने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये **समानो वर्णः सवर्णः** इस अन्वर्थसंज्ञा के बल से उसका अवयव 'समान' शब्द को सम्बन्धी शब्द मानने से इष्टसिद्धि हो जाती है।' हमारे विचार में भाष्यकार का भाव **तुल्यास्यप्रयत्नं** में एकदेशभूत 'तुल्य' शब्द और सवर्णपदगत सादेश का स्थानीरूप 'समान' सम्बन्धी शब्द है, ऐसा जानना चाहिये ॥

ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः ॥६॥

ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञा विधेया। होतृ लृकारः=होतॄकार इति। किं प्रयोजनम्? 'अकः सवर्णे दीर्घः' [६।१।९७] इति दीर्घत्वं यथा स्यात्।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत्—'सवर्णदीर्घत्वे ऋति ऋ वा वचनम्'; 'लृति लृ वा वचनम्' इति। तत्सवर्णे यथा स्यात्। इह मा भूत्—दध्यॢकारः मध्वॢकार इति। यदेतत्सवर्णदीर्घत्वे 'ऋति' इति, एतदृत इति वक्ष्यामि। ततः—'लृति'। लृकारे परत लृकारो वा भवतीति। 'ऋतः' इत्येव। तन्न वक्तव्यं भवति। अवश्यं तद्वक्तव्यम्। 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञो भवति' इत्युच्यते, न च ऋकार लृकारो वाऽजस्ति। ऋकारस्य लृकारस्य चाऽच्त्वं वक्ष्यामि। तच्चावश्यं वक्तव्यम्। प्लुतो यथा स्यात्। होतृ ऋकारः=होतॄकारः, होतॄ३कार इति। होतृ लृकारः=होत्लृकारः, होत्लृ३कार इति॥

व्याख्या—**ऋकार और लृकार की सवर्ण-विधि कहनी चाहिये।**

ऋकार और लृकार की सवर्ण-संज्ञा करनी चाहिये। होतृ लृकारः=होतॄकारः। **क्या प्रयोजन है?** अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घत्व हो जावे।

यह प्रयोजन नहीं है। यह आगे कहेंगे—'सवर्ण-दीर्घत्व में ऋकार परे ऋ विकल्प से होता है', 'लृकार परे लृ विकल्प से होता है'। [फिर भी सवर्ण-संज्ञा कहनी चाहिये।] वह (=ऋति ऋ वा वचनम्, लृति लृ वा वचनम्) सवर्ण-संज्ञक [ऋकार लृकार] परे होवे। यहां न होवे—दध्य्लृकारः मध्व्लृकारः [यहां इकार उकार की और लृकार की सवर्ण-संज्ञा नहीं है। अन्यथा ऋति ऋ वा वचनम्, लृति लृ वा वचनम् इतना कहने से दध्य्लृकारः मध्व्लृकारः में भी लृकार विकल्प से प्राप्त होगा]। अच्छा तो जो यह सवर्ण-संज्ञा में ऋति (सप्तम्यन्त) है, उसे ऋतः (षष्ठ्यन्त) कह देंगे। उसके पश्चात् लृति ऐसा कहेंगे। लृकार परे होने पर लृकार विकल्प से होता है। [ऋकार लृकार की सवर्ण-संज्ञा कहने पर] वह नहीं कहना होगा। अवश्य कहना होगा। [ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१।२।२७) से] ऊकाल अच् ह्रस्व दीर्घ प्लुत-संज्ञक होता है। ऋकार लृकार अच् नहीं हैं। ऋकार और लृकार का अच्त्व कहेंगे। वह (=ऋकार लृकार का अच्त्व) अवश्य कहना होगा। इन्हें प्लुत हो जावे। होतृ ऋकारः=होतृकारः, होतृ३कारः। होतृ लृकारः=होत्लृकारः, होत्लृ३कारः।

विवरण—ऋकारलृकारयोः—यहां ऋकार लृकार की सवर्ण-संज्ञा मानकर ऋत्यकः (६।१।१२४) से प्रकृतिभाव जानना चाहिये। अथवा स्वरूपनिर्देशार्थ सन्धि का अभाव कहना चाहिये। सवर्णविधिः—इसका अर्थ है—सवर्णाश्रय कार्य की विधि कहनी चाहिये, अथवा सवर्ण-संज्ञा कहनी चाहिये। द्वितीय पक्ष में भाव में 'कि' प्रत्यय जानना चाहिये—विधानं विधिः। तत्पश्चात् षष्ठी-समास होगा। दोनों पक्षों में संज्ञाविधिर्बलीयान् (द्र०—दीपिका) न्याय से भाष्यकार ने सवर्ण-संज्ञा विधेया अर्थ किया है। ऋकार लृकार के स्थानभेद होने पर भी वार्तिक में दोनों का श्रवण होने से इनकी ही परस्पर सवर्ण-संज्ञा होती है।

होतृ लृकारः होत्लृकारः, यहां षष्ठीसमास होतुः लृकारः होत्लृकारः जानना चाहिये। अभिप्राय होगा—होता का शोभन लृकार। लृकार से लृकारोच्चारण जानना चाहिये। 'होतुः' में शोभनरूप सम्बन्ध में षष्ठी है। नागेश ने व्याख्यान्तरकार के मत में 'लृकार' को देवता-वाची कहा है—लृकारशब्दो देवतावाचीत्येके। यह क्लिष्ट कल्पनामात्र है। सम्भव है मीमांसकों के मतानुसार मन्त्रपदों को ही देवता मानकर किसी ने यह कल्पना की होगी। परन्तु इस कल्पना का क्या प्रयोजन है, यह ज्ञात नहीं होता।

लृति लृ वा वचनम्—यह वचन अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।६७) पर पढ़ा है। इस में 'वा' शब्द समुच्चयार्थक है। अतः अर्थ होगा—अक् से सवर्ण लृकार परे दीर्घ होता है और लृकार होता है। 'लृ' विधानसामर्थ्य से ह्रस्व लृकार होगा, और लृकार का दीर्घ न होने से (द्र०—'लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति' पा० शिक्षासूत्र ६।५) दीर्घ ॠकार होगा।

तत्सवर्णे यथा स्यात्—इसका तात्पर्य है कि बिना सवर्ण-संज्ञा के लृति लृ वा वचन कहोगे, तो मध्व्लृकारः में भी लृकार प्राप्त होगा। ऋत इति वक्ष्यामि—इसका भाव यह है कि ऋति के स्थान में ऋतः पढ़ देने से ऋत ऋ वा वचनम् का अर्थ होगा—ऋकार से सवर्ण परे होने पर ऋकार विकल्प से होता है, पक्ष में दीर्घ होगा। लृति लृ वा वचनम् में ऋतः की

अनुवृत्ति होने से यह वचन असवर्ण के लिये होगा। साथ ही **ऋतः** पद की अनुवृत्ति होने से **मध्व्लृकारः** में लृकार नहीं होगा। यहां ऋकार लृकार परे तीन-तीन रूप होते हैं—१. 'ऋ' वचन से **होतृकारः**, पक्ष में दीर्घ होने पर **होतॄकारः** और **ऋत्यकः** (६।१।१२४) से प्रकृतिभाव होने पर **होतृऋकारः**। इसी प्रकार **लृति लृ वा** कहने से लृ पक्ष में **होत्लृकारः**; 'वा' वचन से दीर्घ पक्ष में लृकार का दीर्घ न होने से ऋकार ही दीर्घ होगा—होतॄकारः; प्रकृतिभाव पक्ष में—**होतृलृकारः** होगा।

तत्र वक्तव्यं भवति—का अभिप्राय सभी व्याख्याकारों ने **ऋति ऋ वा लृति लृ वा** दोनों वचन नहीं कहने पड़े, ऐसा अभिप्राय लिखा है। इस व्याख्या में **ऋति ऋ वा** के न होने पर **होतृ ऋकारः=होतृकारः** ह्रस्व ऋकारवान् रूप उपपन्न नहीं होगा। अतः हमारा विचार है कि यहां 'तत्' पद से अव्यवहित पूर्व उक्त **ऋत इति वक्ष्यामि** का निर्दशक है। अतः **तत्र वक्तव्यं भवति** का अभिप्राय है—'ऋतः' ऐसा परिवर्तन कहने की आवश्यकता नहीं है।

न च ऋकार लृकारो वाऽजस्ति—इस वचन की व्याख्या में टीकाकारों ने ऋकार लृकार के अच्त्वाभाव में विविध कल्पनाएं की हैं। इन कल्पनाओं के अनुसार ऋवर्ण में रेफ की, और लृवर्ण में लकार की आधी मात्रा अधिक मानकर अच्त्वाभाव दर्शाया है।[1] भाष्यकार ने अच्त्व का निषेध लिखा है, न कि ऊकालत्व का। अच् संज्ञा अच् प्रत्याहार में पाठसामर्थ्य से होती है। उस का एकमात्रा द्विमात्रा त्रिमात्रा काल के साथ सम्बन्ध नहीं है। यदि अच् प्रत्याहार में आधी मात्रा अधिक ऋकार लृकार का पाठ माना जावे, तो उनका अच्त्व तो होगा, परन्तु लत्व का अभाव होने से ह्रस्व दीर्घ प्लुत संज्ञा नहीं होगी। अतः हमारे विचार में **न च ऋकार लृकारो वाऽजस्ति** वचन भाष्यकार ने उन वैयाकरणों के मत के अनुसार लिखा है, जो इन वर्णों का अच् प्रत्याहार में पाठ नहीं करते थे। कालभेद अच्त्व का प्रतिरोधक नहीं है, अन्यथा उत्तर भाष्य असंगत हो जायेगा। अच्त्व मान लेने पर भी ऊकालाभाव के कारण सार्धद्विमात्रिक की दीर्घ संज्ञा नहीं होगी। इसलिये कैयट को भी लिखना पड़ा—'जिनके मत में दीर्घ ऋकार अर्धतृतीयमात्रावाला है, उनके मत में अच्त्व होने पर भी द्विमात्रत्व का अभाव होने से दीर्घ-संज्ञा प्राप्त नहीं होगी। इसलिये इनको द्विमात्रिक ही जानना चाहिये।'

अच्त्वं वक्ष्यामि—का तात्पर्य है हम ऋकार लृकार को अच् प्रत्याहार में पढ़ेंगे। अन्यथा अच्त्व के अभाव में **होतॄकारः होत्लृकारः** को प्लुत (**होतृ३कारः, होत्लृ३कारः**) नहीं होगा।

किं पुनरत्र ज्यायः? सवर्णसंज्ञावचनमेव ज्यायः। दीर्घत्वं चैव हि सिद्धं भवति। अपि च ऋकारग्रहणेन लृकारग्रहणं सन्निहितं भवति। यथेह भवति। ऋत्यकः[६।१।१२४] खट्वऋष्यः मालऋष्यः। इदमपि सिद्धं भवति—खट्वलृकारो

१. वस्तुतः ऋकार में रेफ व्यञ्जन और लृकार में लकार व्यञ्जन का योग नहीं है। केवल इनमें रेफ और ल की श्रुतिमात्र है। (द्र०—'उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते—रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति। एओङ् सूत्रभाष्य)। वस्तुतः ये दोनों भी अन्य अचों के समान अखण्ड वर्ण हैं।

माललृकार इति । वा सुप्यापिशलेः [६।१।८६] । उपर्कारीयति, उपार्कारीयति । इदमपि सिद्धं भवति—उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति ।

यदि तर्हि ऋकारग्रहणेन लृकारग्रहणं सन्निहितं भवति, उरण् रपरः [१।१।५०] लृकारस्यापि रपरत्वं प्राप्नोति । लृकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि । तच्चाऽवश्यं वक्तव्यम्, असत्यां सवर्णसंज्ञायां विध्यर्थम् । तदेव सत्यां रेफबाधनार्थं भविष्यति ॥

व्याख्या—**यहां दोनों पक्षों में कौन पक्ष युक्ततर है? सवर्ण-संज्ञा कहना ही युक्ततर है । दीर्घत्व भी इस प्रकार सिद्ध होता है, और ऋकार के ग्रहण से लृकार का ग्रहण भी निकट हो** जाता है । जैसे कि यहां ऋत्यकः (६।१।१२४) [से जहां खट्वा ऋष्यः माला ऋष्यः **को प्रकृतिभाव और ह्रस्व होकर**]खट्वऋष्यः मालऋष्यः **में होता है** । [वहां] **यह भी सिद्ध हो** जाता है—खट्वलृकारः माललृकारः । वा सुप्यापिशलेः (६।१।८६) [से जहां उप ऋकारीयति **को विकल्प से वृद्धि होकर**] उपर्कारीयति–उपार्कारीयति **सिद्ध** होता है,[वहां] **यह भी सिद्ध** हो जाता है—[उप लृकारीयति=] उपल्कारीयति—उपाल्कारीयति ।

यदि ऋकार के ग्रहण से लृकार का ग्रहण सन्निहित होता है, तो उरण् रपरः (१।१।५०) **से लकार को भी रपरत्व प्राप्त होता है । लृकार को लपरत्व कह देंगे । वह (=लृकार का लपरत्व) अवश्य कहना चाहिये, सवर्ण-संज्ञा न होने पर विधि के लिये । वही सवर्ण-संज्ञा होने पर रेफ के बाधन के लिये हो जायेगा ।**

विवरण—किं पुनरत्र ज्यायः—इसके व्याख्यान में भी टीकाकारों ने बहुत सी क्लिष्ट कल्पनायें की हैं । कैयट के लेख का शिवरामेन्द्र सरस्वती ने खण्डन भी किया है । ये सब मत-मतान्तर उन-उन टीकाओं में ही देखना चाहिये । हमारे विचार में यहां इतना ही विचारणीय है कि पूर्व व्याख्यानुसार 'ऋकार लृकार की सवर्ण-संज्ञा' और **ऋति ऋ वा वचनम्, लृति लृ वा वचनम्** दोनों में कुछ कार्य समान रूप से सिद्ध होता है, और कुछ अंश में न्यूनता रहती है। ऋकार लृकार की सवर्ण-संज्ञा का विधान करने पर **ऋति ऋ वा वचनम्** के अभाव में **होतॄकार** रूप उपपन्न नहीं होता । परन्तु **लृति लृ वा वचनम्** के अभाव में भी ऋकार लृकार की सवर्ण संज्ञा होने से **होतृ लृकारः** में सवर्णदीर्घत्व प्राप्त होने पर दोनों का अन्तरतम दीर्घ न होने से दीर्घवचन सामर्थ्य से ऋ लृ के स्थान में पक्ष में ऋकार दीर्घ होगा, और पक्ष में लृकार का दीर्घ न होने से लृकार आदेश ही होगा । इसी प्रकार सवर्ण-संज्ञा के अभाव में दोनों वार्त्तिकों से **होतॄकारः** और **होत्लृकारः** रूप तो उपपन्न हो जायेंगे, परन्तु **मधु लृकारः=मध्व्लृकारः** में भी 'लृ' आदेश की प्राप्ति होगी । इस प्रकार दोनों ही पक्षों में कुछ न्यूनता रहती है । अतः प्रश्न होता है कि दोनों पक्षों में से किसे स्वीकार किया जाये, और उस पक्ष में जो न्यूनता है, उसका समाधान कैसे किया जाये ?

सवर्णसंज्ञावचनमेव ज्यायः—का तात्पर्य है कि ऋकार लृकार की सवर्ण-संज्ञा का विधान करने पर अन्य सूत्रों से ऋकार-विषयक विहित कार्य लृकार में भी हो जायेंगे। **लपरत्वं वक्ष्यामि**—इसका तात्पर्य भर्तृहरि आदि ने **लण्** (प्रत्या० ६) सूत्र में अनुनासिक

ऋकार स्वीकार करके रपरत्व में र प्रत्याहार द्वारा दोष का प्रतिविधान करेंगे, ऐसा स्वीकार किया है। 'र' प्रत्याहार की कल्पना सूत्रकार और भाष्यकार दोनों के विपरीत है, यह हम पूर्व (पृष्ठ १८२, १९५) लिख चुके हैं॥

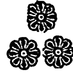
इह तर्हि—रषाभ्यां नो णः समानपदे [८।४।१] इत्यृकारग्रहणं चोदितं मातॄणां पितॄणामित्येतदर्थम्। तदिहापि प्राप्नोति—'क्लृप्यमानं पश्य' इति। अथाऽसत्यामपि सवर्णसंज्ञायामिह कस्मान्न भवति—'प्रक्लृप्यमानं पश्य' इति। 'चुटुतुलशर्व्यवाये न' इति वक्ष्यामि। अपर आह—'त्रिभिश्च मध्यमैर्वर्गैर्लशसैश्च व्यवाये न' इति वक्ष्यामीति। वर्णैकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्त इति योऽसौ लृकारे लृकारस्तदाश्रयः प्रतिषेधो भविष्यति। यद्येवं, नार्थो रषाभ्यां णत्वे ऋकारग्रहणेन। वर्णैकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्त इति, योऽसौ ऋकारे रेफस्तदाश्रयं णत्वं भविष्यति॥९॥

व्याख्या—**अच्छा तो [सवर्ण-संज्ञा में यह दोष है]**—रषाभ्यां नो णः समानपदे (८।४।१) **में ऋकार का ग्रहण करना चाहिये ऐसा कहा है,** जिससे मातॄणाम् पितॄणाम् में **भी णत्व हो जावे। वह णत्व यहां भी प्राप्त होता है**—क्लृप्यमानं पश्य। **सवर्ण-संज्ञा न होने पर भी यहां** प्रक्लृप्यमानं पश्य **में** [कृत्यचः (८।४।२८) से णत्व **क्यों नहीं होता?** 'चुटुतुलशर्व्यवाये न' (=**चवर्ग टवर्ग तवर्ग लकार और शर्** प्रत्याहारस्थ **वर्णों के व्यवधान में नकार को णकार नहीं होता) ऐसा कहेंगे। अन्य आचार्य कहते हैं—'तीन मध्यम वर्ग (=चवर्ग टवर्ग तवर्ग) और ल श स के व्यवधान में** [नकार को णकार] **नहीं होता', ऐसा कहेंगे। वर्णैकदेश वर्णग्रहण से गृहीत होते हैं** [इस पक्ष में] **जो लृकार में लकार है, उसके आश्रय से प्रतिषेध हो जायेगा। यदि ऐसा है, अर्थात् वर्णैकदेशों का वर्ण-ग्रहण से ग्रहण मानते हो, तो** रषाभ्याम् (८।४।१) **से विहित णत्व में ऋकार ग्रहण से भी कोई प्रयोजन नहीं है। जो ऋकार में रेफ है, उसके आश्रय से णत्व हो जायेगा।**

विवरण—चुटुतुलशर्व्यवाये न—इस वचन में यद्यपि शर् प्रत्याहार के ग्रहण से षकार के व्यवधान में भी णत्वाभाव की प्रतीति होती है, किन्तु णत्वविधि में षकार का साक्षात् निमित्तरूप से उपादान करने के कारण प्रतिषेध में षकार का ग्रहण नहीं होता। उक्त वचन की शौनकीय चतुरध्यायी के **व्यवाये शसलैः, चटतवर्गैश्च** (अ० ३ सूत्र ९३, ९४) के साथ तुलना करें। **त्रिभिश्च मध्यमैः** इस निर्देश में साक्षात् 'श' 'स' का ही निर्देश होने से 'षकार का णत्व में निमित्तरूप से उपादान होने से षकार का शर् में ग्रहण नहीं होता'। यह व्याख्या नहीं करनी पड़ती। केवल इतना ही दोनों लक्षणों में अन्तर है।

वर्णैकदेशाः—वर्णैकदेश वर्ण के ग्रहण से गृहीत होते हैं, इस पक्ष को मानकर समाधान किया है। सिद्धान्तपक्ष तो 'वर्णैकदेश वर्णग्रहण से गृहीत नहीं होते' यही है। इस पक्ष में **रषाभ्याम्** (८।४।१) में ऋकार का ग्रहण करना होगा। ऋकार लृकार की सवर्ण-संज्ञा का विधान करने पर **क्लृप्यमानं पश्य** में जो णत्व की प्राप्ति होती है, उसका निषेध **क्षुभ्नादिषु च** (८।४।३८) से जानना चाहिये। क्षुभ्नादि आकृतिगण है। ऋकार और लृकार की सवर्ण-संज्ञा

होने पर ऋदित् धातुओं को कहे गये कार्य लृदित् धातुओं को, और लृदित् धातुओं को कहे गये कार्य ऋदित् धातुओं को भी प्राप्त होते हैं। इस सांकर्य दोष का परिहार धातुपाठ में ऋकार और लृकार के पृथक् अनुबन्ध सामर्थ्य से, तथा **नाग्लोपिशास्वृदिताम्** (७।४।२), और **पुषादिद्युताद्यॢदितः०** (३।१।५५) सूत्रों से पृथक् अनुबन्धों के निर्देश-सामर्थ्य से जानना चाहिये ॥९॥



[भाष्यम्] नाज्झलौ ॥१।१।१०॥

विवरण—नाज्झलौ सूत्र के इस स्वरूप के विषय में शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—'इस सूत्र से अक् प्रत्याहारस्थ (अ इ उ) वर्णों, और शल् प्रत्याहारस्थ (श ष स ह) वर्णों की परस्पर प्राप्त सवर्ण-संज्ञा का निषेध किया है'। सूत्रकार ने स्पष्टता के लिये **नाक्शलौ** ऐसा ही सूत्र क्यों नहीं पढ़ा? विशेष न होने से, अर्थात् दोनों में मात्रा समान ही हैं। अक् प्रत्याहार का ग्रहण करने पर भी तदन्तर्गत उकार का ग्रहण व्यर्थ ही होता है, क्योंकि उसका शल् प्रत्याहारस्थ किसी वर्ण के साथ सावर्ण्य प्राप्त नहीं होता। **नाज्झलौ** न्यास में अचों का अचों के साथ, और हलों का हलों के साथ सावर्ण्य का प्रतिषेध क्यों नहीं होता है? उस अवस्था में **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् नाज्झलौ** ऐसा निर्देश उपपन्न नहीं होता। [क्योंकि इस प्रकार **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** सूत्र से जिनकी सवर्ण-संज्ञा कहेंगे, उनकी ही सवर्ण-संज्ञा का **नाज्झलौ** सूत्र प्रतिषेधक हो जायेगा।]

आपिशलि आचार्य ने स्वशिक्षासूत्रों में ऊष्म वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न माना है (आ० शिक्षासूत्र ३।६)। अतः उसके मत में अचों और ऊष्मों के प्रयत्नों में भिन्नता होने से इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा की प्राप्ति नहीं होती। अतः सम्भव है आपिशल व्याकरण में **नाज्झलौ** जैसा कोई सूत्र न रहा हो। पाणिनि आचार्य ने ऊष्मों का पक्षान्तर में विवृत स्वर भी माना है—**ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः, विवृतकरणा वा** (पा० शिक्षासूत्र ३।६, ७)। अतः ऊष्मों का विवृत प्रयत्न मानने पर अचों के साथ उनकी सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होती है। उसके वारण के लिये पाणिनि ने **नाज्झलौ** सूत्र पढ़ा है। इससे यह भी स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिन शिक्षासूत्रों को भाषानुवाद सहित **वर्णोच्चारणशिक्षा** के नाम से प्रकाशित किया था, वे वस्तुतः पाणिनीय-शिक्षा के सूत्र ही हैं। इससे पद्यबद्ध पाणिनीय-शिक्षा के सम्पादक मनोमोहन घोष ने स्वसम्पादित ग्रन्थ के उपोद्घात में स्वामी दयानन्द सरस्वती पर जो आरोप लगाया था कि उन्होंने स्वयं इन सूत्रों की रचना करके पाणिनि के नाम से प्रकाशित कर दिया, इस आरोप का भी खण्डन हो जाता है[1] ॥

१. मनोमोहन घोष के लेख की विस्तृत आलोचना हमने 'पटना' से प्रकाशित होनेवाली

[भाष्यम्] अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्त्वात् ॥१॥

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्नोति। किं कारणम्? अज्झल्त्वात्। अच्चैव हि शकारो हल्च। कथं तावदच्त्वम्? इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णाति, इत्येवमच्त्वम्। हल्त्वं चोपदेशाद्धल्त्वम्। तत्र को दोषः?

तत्र सवर्णलोपे दोषः ॥२॥

तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति—'परश्शतानि कार्याणि' [काठक सं० ३६।६]। 'झरो झरि सवर्णे' [८।४।६४] इति लोपो न प्राप्नोति ॥

व्याख्या—अचों और हलों के प्रतिषेध में शकार का प्रतिषेध करना चाहिये, उसके अच् और हल् होने से।

अचों और हलों के प्रतिषेध में शकार की शकार के साथ सवर्ण-संज्ञा का प्रतिषेध प्राप्त होता है। क्या कारण है? अच् और हल् होने से। शकार अच् भी है और हल् भी। [शकार का] अच्त्व कैसे है? इकार सवर्ण-ग्रहण से शकार को भी ग्रहण करता है, इससे इसका अच्त्व है। और हलों में उपदेश होने से हल्त्व है। वहां (=शकार की शकार के साथ सवर्ण-संज्ञा का निषेध होने से) क्या दोष होगा?

वहां सवर्ण के लोप में दोष होता है।

वहां सवर्ण के लोप में दोष होता है—परश्शतानि कार्याणि। यहां झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से लोप प्राप्त नहीं होता।

विवरण—**तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** में सवर्ण-संज्ञा होने पर **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६८) से इकार के ग्रहण से जैसे उसके अन्य सवर्णियों (=१८ प्रकार की इकारों) का ग्रहण होता है, वैसे ही इकार के साथ शकार का तुल्य स्थान प्रयत्न होने से सवर्ण ग्रहण से अच् के अन्तर्गत ग्रहण प्राप्त होता है। इस के पश्चात् **नाज्झलौ** सूत्र की प्रवृत्ति होने से शकार की शकार के साथ सवर्ण-संज्ञा के निषेध की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सूत्रप्रवृत्ति क्रम को ध्यान में रखकर वार्तिककार ने पढ़ा है—**अज्झलोः प्रतिषेधे**। प्रकृत भाष्य में 'शकार' का ग्रहण षकार सकार का भी उपलक्षक है, ऐसा जानना चाहिये।

परश्शतानि कार्याणि—का विग्रह है—**शतात् पराणि शतादधिकानि इत्यर्थः**। विग्रह में समान होते हुए भी समास-विधायक सूत्र के विषय में टीकाकारों का मतभेद है। भर्तृहरि

'**साहित्य**' नाम्नी-पत्रिका के सन् १९५९ के अङ्क १ में प्रकाशित की थी। पाठक उसे देखें। हमने उसे स्वसम्पादित **शिक्षा-सूत्राणि** की भूमिका में भी संक्षेप से लिखा है।

पञ्चमी योगविभाग से, अथवा **साधनं कृता** (वा० २।१।३१) वार्तिक से समास मानता है। कैयट और शिवरामेन्द्र सरस्वती **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (२।३।३१) में बहुल ग्रहण से समास मानते हैं। नागेश कैयट के व्याख्यान में लिखता है कि **मयूरव्यंसकादयश्च** (२।१।७१) अथवा **सह सुपा** (२।१।४) में सुप् के योगविभाग से समास जानना चाहिये। सभी मतों में शत शब्द का **राजदन्तादिषु परम्** (२।१।३१) से पर निपात, और पारस्करादि (६।१।१५१ गण) से सुट् का आगम। उसको **स्तोः श्चुना श्चुः** (८।४।३९) से चुत्व होता है। तत्पश्चात् **अनचि च** (८।४।४६) से पूर्व शकार को द्विर्वचन होकर **परश्श्शतानि** तीन शकार होने पर **झरो झरि सवर्णे** (८।४।६४) से जो लोप प्राप्त होता है, उसका एक शकार को अच् मानकर दूसरे शकार को हल् मानकर **नाज्झलौ** सूत्र से सवर्ण-संज्ञा का निषेध प्राप्त होने से मध्यवर्ती शकार का लोप प्राप्त नहीं होता। अतः वार्तिककार ने **नाज्झलौ** सूत्र से प्राप्त सवर्ण-संज्ञा के निषेध का प्रतिषेध किया है, यह जानना चाहिये।

परश्शतानि कार्याणि पाठ काठक संहिता ३६।६ का है। मैत्रायणी संहिता १।१०।१२ में **परःशतानि कार्याणि** पाठ है। तैत्तिरीय ब्रा० १।६।४ में **परःशतानि शमीपर्णानि** पाठ मिलता है। हमने पूर्व (पृष्ठ ४ में) भी लिखा था कि पतञ्जलि कठ शाखा के अनुयायी थे। इस की भाष्यकार द्वारा उद्धृत इस पाठ से भी पुष्टि होती है[1]।

[भाष्यम्] सिद्धमनच्त्वात् ॥३॥

सिद्धमेतत्? कथम्? अनच्त्वात्। कथमनच्त्वम्? 'स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्, ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्, विवृतमूष्मणाम्'। 'ईषद्' इत्येवानुवर्तते। 'स्वराणाञ्च विवृतम्'। 'ईषद्' इति निवृत्तम्।

वाक्याऽपरिसमाप्तेर्वा ॥४॥

वाक्याऽपरिसमाप्तेर्वा पुनः सिद्धमेतत्। किमिदं वाक्यापरिसमाप्तेरिति? वर्णानामुपदेशस्तावत्। उपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा। इत्संज्ञोत्तरकाल 'आदिरन्त्येन सहेता' [१।१।७०] इति प्रत्याहारः। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसञ्ज्ञा। सवर्णसंज्ञोत्तरकालम् 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' [१।१।६८] इति सवर्णग्रहणम्। एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनाऽन्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति। न चाऽत्रेकारः शकारं गृह्णाति॥

व्याख्या—**सिद्ध है [शकार की शकार के साथ सवर्ण-संज्ञा], शकार के अनच् होने से।**

सिद्ध है यह [शकार की शकार के साथ सवर्ण-संज्ञा]। कैसे? [शकार के] अनच् होने से। [शकार का] अनच्त्व कैसे है? 'स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्—स्पर्श वर्णों का स्पृष्ट-

---

१. हमने संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास ग्रन्थ के भाग १, पृष्ठ ३३४-३३५ (संवत् २०३०) पर अन्य कुछ पाठों की तुलना प्रस्तुत करके यही संभावना व्यक्त की है।

करण (=प्रयत्न) है, ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम् —अन्तस्थ वर्णों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है, विवृतमूष्मणाम् इस में ईषत् की अनुवृत्ति है, अर्थात् ऊष्म वर्णों का ईषद् विवृत प्रयत्न है'। 'स्वराणां च विवृतम्'—'ईषद्' की निवृत्ति हो गई। अर्थात् स्वरों का विवृत प्रयत्न है।

अथवा वाक्य की अपरिसमाप्ति होने से सिद्ध है।

अथवा वाक्य की अपरिसमाप्ति होने से सिद्ध है। यह वाक्यापरिसमाप्ति क्या है? पहले वर्णों का उपदेश होता है। वर्णों के उपदेश के पश्चात् इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञा होने पर आदिरन्त्येन सहेता(१।१।७०) [आदिवर्ण अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ मिलकर अपना और मध्यपतित वर्णों का ग्राहक होता है]इस नियम से प्रत्याहार बनता है। प्रत्याहार बनने पर सवर्ण-संज्ञा होती है। सवर्ण-संज्ञा के पश्चात् अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः(१।१।६८)से सवर्णों का ग्रहण होता है। इस सम्पूर्ण समुदित वाक्य से अन्यत्र (=अष्टाध्यायी के अन्य सूत्रों में) सवर्णों का ग्रहण होता है। यहां (=सवर्ण-संज्ञा-विषयक नाज्झलौ सूत्र में) इकार शकार को ग्रहण नहीं करता। अर्थात् अच् प्रत्याहारान्तर्गत इकार शकार को ग्रहण नहीं करता। क्योंकि प्रकृतसूत्र सवर्ण-संज्ञा का प्रतिषेधक है। अतः जब तक विधि निषेध द्वारा साङ्गोपाङ्ग सवर्ण-संज्ञा नहीं हो जाती, तब तक सवर्ण-ग्रहण की प्रसक्ति ही नहीं होती।

विवरण—विवृतमूष्मणाम्, ईषदित्येवानुवर्तते—वार्तिक का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने बताया है कि ऊष्मों का ईषद्विवृत प्रयत्न है, और स्वरों का विवृत प्रयत्न। अतः इकार शकार की सवर्ण-संज्ञा ही नहीं होगी। सवर्ण-संज्ञा न होने से इकार के द्वारा शकार का ग्रहण नहीं होगा। इस कारण शकार अच् नहीं माना जायेगा। वार्तिककार ने यह वार्तिक अन्यदीय मत के अनुसार लिखा है। आपिशल-शिक्षा में ऊष्म वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न ही माना गया है। अतः उसके व्याकरण से **नाज्झलौ** जैसा कोई सूत्र नहीं था, यह हम पूर्व (पृष्ठ ३५३ पर)लिख चुके हैं। पाणिनीय-शिक्षा में आपिशल मत को स्वीकार करते हुये भी ऊष्मों का **विवृतकरणा वा** (३।७)द्वारा मतान्तर में विवृत प्रयत्न माना है। अतः इसी मत में अचों और ऊष्मों की जो सवर्ण-संज्ञा प्राप्त होती है, उसका प्रतिषेध करने के लिये पाणिनि ने **नाज्झलौ** सूत्र पढ़ा है।

प्रस्तुत वार्तिक और भाष्य के अनुसार शकार की अनच्त्व सिद्धि के साथ ही सूत्र की अनावश्यकता भी कही गई है। परन्तु जिस पक्ष को मानकर सूत्रकार ने सूत्र पढ़ा है, उस पक्ष में तो दोष उपस्थित होगा ही। अतः वार्तिककार ने दूसरा वार्तिक पढ़ा—**वाक्यापरिसमाप्तेर्वा**। वाक्य की अपरिसमाप्ति का निदर्शन भर्तृहरि ने इस प्रकार किया है—'सवर्णग्राहक **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६८) सूत्ररूप वाक्य के **अण्** और **सवर्ण** दो पद अङ्ग हैं। अतः जब तक ये अङ्ग निर्ज्ञात नहीं हो जाते, तब तक सूत्रस्थ वाक्य उपपन्न ही नहीं होता। इसी दृष्टि से भाष्यकार ने अण् प्रत्याहार और सवर्ण-संज्ञा की क्रमिक उपपत्ति दर्शाई है। सवर्ण-संज्ञा तब तक पूर्ण नहीं होती, जब तक विधि-निषेध दोनों प्रवृत्त न हो जावें॥

[भाष्यम्] यथैव तर्हीकारः शकारं न गृह्णाति, एवमीकारमपि न गृह्णीयात्। तत्र को दोषः? कुमारी ईहते कुमारीहते, 'अकः सवर्णे'[इति] दीर्घत्वं न प्राप्नोति। नैष दोषः। यदेतद् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणं, तत्रेकार ईकारं गृह्णाति, शकारं न गृह्णाति॥

व्याख्या—जैसे इकार शकार को ग्रहण नहीं करता, इसी प्रकार ईकार का भी ग्रहण नहीं करेगा। वहां क्या दोष होगा? कुमारी ईहते=कुमारीहते, यहाँ अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से सवर्णदीर्घत्व प्राप्त नहीं होता। यह दोष नहीं है। यह जो 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र में प्रत्याहार का ग्रहण है, उसमें इकार ईकार को ग्रहण करता है, शकार को ग्रहण नहीं करता।

विवरण—पूर्व वार्तिक और उसके भाष्य का अभिप्राय न समझकर वादी कहता है—जैसे सवर्ण-संज्ञा-विधायक नाज्झलौ सूत्र में अच् प्रत्याहारस्थ वर्ण सवर्णों के ग्राहक नहीं होते, उसी प्रकार प्रदेशान्तरस्थ अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)में भी सवर्ण पद है। अतः यहां भी इकार जैसे शकार को ग्रहण नहीं करता, वैसे ही ईकार का भी ग्रहण नहीं करेगा। भाष्यकार ने नैष दोषः कहकर जो समाधान किया है, उसका अभिप्राय यह है कि पूर्व प्रवृत्ति क्रम के निर्देश के अनुसार सवर्ण-संज्ञा का अवयवरूप जो नाज्झलौ निषेध सूत्र है, उसमें अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः की प्रवृत्ति नहीं होती। सवर्ण-संज्ञा के उपपन्न हो जाने पर प्रदेशान्तरों में जहां भी सवर्ण-ग्रहण किया है, वहां सर्वत्र सवर्णग्राहक सूत्र की प्रवृत्ति होने से अक् आदि प्रत्याहारस्थ वर्ण स्व स्व सवर्णियों के ग्राहक होते हैं। कैयट ने प्रस्तुत प्रश्नोत्तरभाष्य में लिखा है—'कहां पर ग्रहणशास्त्र (अणुदित्० सूत्र) प्रवृत्त होता है कहां नहीं, इसके विषयविभाग दर्शाने के लिये यह भाष्य है।' यह चिन्त्य है। यह विषयविभाग तो पूर्व वाक्यापरिसमाप्ति-निदर्शक भाष्य से ही गतार्थ हो चुका। अतः यह भाष्य पूर्व भाष्य के तात्पर्य को न समझने-वाले व्यक्ति के प्रश्न और उत्तरपरक है, यही मानना युक्त है॥

[भाष्यम्] अपर आह—"अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽझल्त्वात्"। अज्झलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्नोति। किं कारणम्? अज्झल्त्वात्। अच्चैव हि शकारो हल्च। कथं तावदच्त्वम्? इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमच्त्वम्, हल्षु चोपदेशाद्धल्त्वम्। तत्र को दोषः? "तत्र सवर्णलोपे दोषः"। तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति। परश्शतानि कार्याणि। 'झरो झरि सवर्णे' इति लोपो न प्राप्नोति। "सिद्धमनच्त्वात्"। सिद्ध-मेतत्। कथम्? अनच्त्वात्। कथमनच्त्वम्? "वाक्यापरिसमाप्तेर्वा"। उक्ता वाक्याऽपरिसमाप्तिः।

अस्मिन् पक्षे 'वा' इत्येतदसमर्थितं भवति। एतच्च समर्थितम्। कथम्? अस्तु वा शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञा, मा वा भूत्। ननु चोक्तम्—परश्शतानि कार्याणि, 'झरो झरि सवर्णे' इति लोपो न प्राप्नोतीति? मा भूल्लोपः। ननु च भेदो भवति—सति लोपे द्विशकारकम्, असति लोपे त्रिशकारकम्। नास्ति भेदः, असत्यपि लोपे द्विशकारमेव। कथम्? विभाषा द्विवचनम्। एवमपि भेदः। असति लोपे कदाचिद् द्विशकारकम्, कदाचित्त्रिशकारकम्। सति लोपे द्विशकारकमेव। स एष कथं भेदो न स्यात्? यदि नित्यो लोपः स्यात्। विभाषा तु स लोपः। यथाऽभेद-स्तथास्तु ॥१०॥

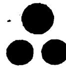
इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य
प्रथमे पादे चतुर्थमाह्निकम् ॥४॥

व्याख्या—अन्य व्याख्याकार लिखते हैं—अज्झलोः प्रतिषेधे··· । इस भाष्य की व्याख्या पूर्ववत् ही जाननी चाहिये। केवल इतना विशेष है कि पूर्व व्याख्यानुसार 'अनच्त्वात्' स्वतन्त्र हेतु था। और उस अनच्त्व की उपपत्ति के लिये प्रयत्नभेद दर्शाया था। प्रकृत व्याख्यान में 'अनच्त्वात्' अनच् होने से। अनच्त्व कैसे है ? 'वाक्यापरिसमाप्ति' से। वाक्य की अपरिसमाप्ति कह दी है।

इस पक्ष में ['वाक्यापरिसमाप्तेर्वा' वार्तिकस्थ] 'वा' पद असमर्थित रहता है। अर्थात् 'वा' पद का कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि यहां अनच्त्व में वाक्यापरिसमाप्ति का ही हेतु कहा है। यह (='वा' पद) भी समर्थित है। अर्थात् 'वा' इतना स्वतन्त्र वार्तिक है। इस का अर्थ है—शकार की शकार के साथ सवर्ण संज्ञा होवे अथवा न होवे, कोई दोष नहीं है। अभी तो कहा है कि [शकार की शकार के साथ सवर्ण-संज्ञा न होने पर] परश्शतानि कार्याणि में झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से लोप प्राप्त नहीं होता। न होवे लोप। [लोप न होने पर] भेद होता है—लोप होने पर दो शकारवाला रूप निष्पन्न होता है, और लोप न होने पर तीन शकारवाला। यह भेद नहीं है—लोप न होने पर भी दो शकारवाला ही रूप होता है। कैसे ? द्विर्वचन विकल्प से होता है। इस प्रकार भी भेद होता है—लोप न होने पर [द्विर्वचन के अभाव में] दो शकारवाला रूप होगा, और कभी (=द्विर्वचन होने पर) तीन शकारवाला। शकार का लोप होने पर दो शकारवाला ही रूप होगा। यह भेद कैसे न होवे ? यदि लोप नित्य होवे। वह (=झरो झरि) लोप तो विभाषा है। जैसे भेद न होवे, वैसे ही होवे।

विवरण—लोपो न प्राप्नोति के उत्तर में 'शकार का इकार के ग्रहण से सवर्ण-संज्ञा न होवे' इस पक्ष के अनुसार यह कहा जा सकता था कि अनचि च (८।४।४६) से प्राप्त द्विर्वचन का शरोऽचि (८।४।४८) से निषेध हो जायेगा। क्योंकि इकार का शकार से ग्रहण होने से अच्त्व है। अतः पर शकार को अच् मानने पर द्विर्वचन ही नहीं होगा। तब लोप न होने पर भी द्विशकारवाला ही रूप बनेगा। तथापि भाष्यकार ने अन्यथा अभेद दर्शाने के लिये अगला प्रश्नोत्तर पढ़ा है। इस अंश का व्याख्यान हयवरट् (प्रत्या० सूत्र ५) के भाष्य के अनुसार जानना चाहिये। हमने वहां 'यथाऽभेदस्तथास्तु' की व्याख्या भले प्रकार प्रदर्शित कर दी है ॥१०॥

इति युधिष्ठिरमीमांसककृते महाभाष्यस्यार्यभाषाव्याख्याने
प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे चतुर्थमाह्निकं
समाप्तम् ॥४॥



अथ पञ्चममाह्निकम्

[भाष्यम्] ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१।१।११॥

किमर्थमीदादीनां तपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्यते ? 'तपरस्तत्कालस्य' [१।१।६९] इति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात् । केषाम् ? उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् । अस्ति प्रयोजनमेतत्? किं तर्हीति ॥

व्याख्या—तपर ईत् ऊत् एत् की प्रगृह्य-संज्ञा किसलिये की है ? तपरस्तत्कालस्य (१।१।६९) से ईकार ऊकार एकार के समान कालवाले सवर्णों का ग्रहण हो जावे । किन का ? उदात्त अनुदात्त स्वरितों का । क्या [तपर करने का] यह प्रयोजन है ? और क्या, अर्थात् यही प्रयोजन है ।

विवरण—दीर्घ ईकार ऊकार अण्-प्रत्याहार-पठित वर्ण नहीं हैं । अत: ये अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं करा सकते । उदात्तादि भी अभेदक हैं, यह सिद्धान्त पूर्व (पृष्ठ २३०-२३१ में) स्थापित कर चुके हैं । अत: ईकार ऊकार को तपर क्यों किया, यह प्रश्न है । एकार के अण् प्रत्याहारस्थ होने से वह सवर्णियों का ग्रहण करा सकता है, अत: उसके द्वारा अन्य सवर्णियों का ग्रहण न होवे, इसलिये एकार का तपर करना युक्त है । इसके उत्तर में भाष्यकार ने दीर्घ उदात्त अनुदात्त स्वरितों के ग्रहण के लिये तपरकरण माना है । परन्तु **'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति'** (ऋलृक् सूत्र, पृष्ठ ११७) इस नियम से उदात्तादि को भेदक मानने के पक्ष में यह समाधान जानना चाहिये । वस्तुत: ईत् ऊत् में तपरकरण असन्देहार्थ ही है । शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के व्याख्यान का, जो भर्तृहरि की व्याख्या पर आश्रित है, विस्तार से खण्डन किया है (द्र०—हस्तलेख, पृष्ठ ३५६–३५८) । उसे उसी के ग्रन्थ में देखना चाहिये । भर्तृहरि के लेखानुसार यहां **उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकानाम्** पाठान्तर भी मिलता है । इसके विषय में भर्तृहरि और कैयट ने लिखा है कि यह **अनुनासिक** का पाठ गुणानुरोध से जानना चाहिये । क्योंकि अनुनासिक की प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होती, यह **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः** (८।४।५६) से ज्ञापित होता है ॥

[भाष्यम्] प्लुतानां तु प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति । किं कारणम् ? अतत्कालत्वात् । न हि प्लुतास्तत्कालाः । असिद्धः प्लुतः । तस्याऽसिद्धत्वात्तत्काला एव भवन्ति । सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु । कथं ज्ञायते—'सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु' इति ? यदयं 'प्लुतप्रगृह्या अचि' [६।१।१२१] इति प्लुतस्य प्रकृतिभावं शास्ति । कथं कृत्वा

ज्ञापकम् ? सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? 'अप्लुतादप्लुते' [६।१।१०६] इत्येतन्न वक्तव्यं भवति ।

किमतो यत्सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु संज्ञाविधावसिद्धः । तस्याऽसिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति ? संज्ञाविधौ च सिद्धः । कथम् ? "कार्यकालं हि संज्ञापरिभाषम्", यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । 'प्रगृह्यः प्रकृत्या' इत्युपस्थितमिदं भवति —'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इति ॥

व्याख्या—[तपर करने से] प्लुतों की प्रगृह्य-संज्ञा प्राप्त नहीं होती । क्या कारण है? अतत्काल होने से । प्लुत तत्काल अर्थात् द्विमात्रिक कालवाले नहीं हैं । [असिद्ध प्रकरण (८।२।१) में प्लुत का विधान होने से यहां प्रगृह्य-संज्ञा में] प्लुत असिद्ध है । उसके असिद्ध होने से तत्काल (द्विमात्रिक कालवाले) ही होते हैं । प्लुत सिद्ध है स्वरसन्धियों में । कैसे जाना जाता है कि—'प्लुत सिद्ध है स्वर-सन्धियों में' ? जो यह आचार्य प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६।१।१२१ से) प्लुत के प्रकृतिभाव का शासन करते हैं । यह ज्ञापक कैसे है ? कार्यी (=जिस को कार्य करना हो उस) के विद्यमान होने पर ही कार्य को होना चाहिये । इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है ? [प्लुत को सिद्ध मानने से] अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१०६) में अप्लुतात् अप्लुते यह नहीं कहना पड़ता ।

इससे क्या [प्रयोजन] कि=स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है, संज्ञाविधि में तो असिद्ध ही है । उस (=प्लुतत्व) के असिद्ध होने से [प्लुत] तत्काल (द्विमात्रिक कालवाले) ही होते हैं ? संज्ञाविधि में भी प्लुत सिद्ध है । कैसे ? कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् (=संज्ञा परिभाषा का वही काल है, जो उनके कार्य का काल है । अर्थात् संज्ञा और परिभाषा सूत्र कार्य-विधायक सूत्रों के पास उपस्थित होकर ही संज्ञा और नियम का विधान करते हैं) नियम से जहां कार्य होता है, वहीं [प्रगृह्य-संज्ञा विधायक सूत्र को] उपस्थित जानना चाहिये । प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६।१।१२१) से प्रकृतिभाव कहा है, वहीं ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् सूत्र उपस्थित होता है ।

विवरण—प्रकृत भाष्य के व्याख्यान में भर्तृहरि कैयट और शिवरामेन्द्र सरस्वती ने अनेक क्लिष्ट कल्पनाएं करके अत्यन्त सरल भाष्य को क्लिष्ट बना दिया है । **संज्ञाविधौ असिद्धः**—स्वरसन्धि(६।१।१०६)में तो प्लुत पद के उपादान से असिद्ध प्रकरण विहित प्लुतत्व सिद्ध है, परन्तु प्रगृह्यसंज्ञा-विधायक प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में पठित सूत्र के प्रति प्लुत असिद्ध ही है । यह **यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्** (=जिस संज्ञा और परिभाषा का जो काल वा स्थान है, वहीं स्थित होकर संज्ञासूत्र संज्ञा का और परिभाषासूत्र नियम का विधान करता है) पक्ष को मानकर प्रगृह्यसंज्ञा प्रकरण में प्लुतत्व को असिद्ध कहा है ।

शास्त्र में **यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्** और **कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्** ये दोनों नियम स्वीकृत हैं । इन परिभाषाओं के अभिप्रायों को सरलता से समझाने के लिये हम एक लौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं । लोक में नापित (=नाई) दो प्रकार के होते हैं । एक प्रकार के नापित अपनी दुकान पर बैठकर ही केश-कर्तन करते हैं । और दूसरे बगल में बाल काटने के शस्त्रों

को पेटी में रखकर पेटी लिये घूमते रहते हैं। अर्थात् बाल कटवानेवालों के गृहों पर जाकर बाल काटते हैं।[1] ठीक इसी प्रकार संज्ञा-परिभाषा सूत्रों को जानना चाहिये। यथोद्देश पक्ष में संज्ञा-परिभाषा सूत्र स्वदुकान में बाल काटनेवाले नापितों के समान स्वस्थान में जहां शास्त्रकार ने उन्हें पढ़ा वा बैठाया है, वहीं बैठकर संज्ञा और नियम का बखान करते हैं। कार्यकाल पक्ष में संज्ञा-परिभाषा सूत्र सारे शास्त्र में घर-घर जाकर बाल काटनेवाले नापितों के समान चक्कर काटते रहते हैं। जिस सूत्र में किसी संज्ञा वा नियम की आवश्यकता होती है, उसके साथ मिलकर अपना कार्य करते हैं॥

[भाष्यम्] किं पुनः प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञावचने प्रयोजनम्? प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात्। मा भूदेवम्। 'प्लुतः प्रकृत्या' [६।१।१२१] इत्येवं भविष्यति। नैवं शक्यम्। उपस्थिते हि दोषः स्यात्—'अप्लुतवदुपस्थिते' [६।१।१२५] इति। अत्र पठिष्यति ह्याचार्यः—"वद्वचनं प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम्। प्लुतप्रतिषेधे हि प्रगृह्यप्लुतप्रतिषेधप्रसङ्गोऽन्येन विहितत्वात्" इति। तस्मात् प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञैषितव्या। प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात्॥

व्याख्या—**[अच्छा तो यह बताओ कि कार्यकाल पक्ष में] प्लुतों की प्रगृह्य-संज्ञा करने में क्या प्रयोजन है? प्रगृह्य-संज्ञा होकर प्लुतों को प्रकृतिभाव हो जावे। ऐसा (=प्रगृह्याश्रय प्रकृतिभाव) न होवे। 'प्लुत प्रकृतिभाव से रहता है'** ('प्लुतप्रगृह्याऽचि नित्यम्' ६।१।१२१) **इस नियम से [प्रकृतिभाव] हो जावेगा। ऐसा नहीं हो सकता है। उपस्थित परे रहने पर दोष होगा—'अप्लुतवद् उपस्थिते'** (६।१।१२५) **[उपस्थित नाम अनार्ष इतिकरण परे रहने पर प्लुत अप्लुतवत् होता है। अर्थात्** प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६।१।१२१) **से जिस प्लुत को प्रकृतिभाव होता है, वह अप्लुतवत् होकर प्रकृतिभाव हो जाता है, वत्करण से स्वाश्रय=प्लुताश्रय प्रकृतिभाव भी होता है**=सुश्लोका३ इति=सुश्लोकेति सुश्लोका३ इति]। **यहां (६।१।१२५ में) आचार्य वार्तिककार पढ़ेंगे—'वद्'वचन प्लुत [आश्रय] कार्य के प्रतिषेध के लिये है। प्लुत के प्रतिषेध करने पर [अग्नी३इति में] प्रगृह्य प्लुत का प्रसङ्ग प्राप्त होता है [परन्तु उससे प्रकृतिभाव का प्रतिषेध नहीं होता], अन्य (=प्रगृह्याश्रय) से विहित होने से। इसलिये प्लुत की प्रगृह्य-संज्ञा जाननी चाहिये, [जिससे प्लुताश्रय प्रकृतिभाव का प्रतिषेध होने पर भी] प्रगृह्याश्रय प्रकृतिभाव हो जावे।**

विवरण—उपस्थिते हि दोषः स्यात्—उपस्थित का लक्षण काशिकाकार ने इस प्रकार लिखा है—'उपस्थित नाम अनार्ष इतिकरण का है, जिससे पद को समुदाय से विच्छिन्न करके स्वरूप में अवस्थापित किया जाता है'[2] (द्र०—का० ६।१।१२९)। अनार्ष से अभिप्राय मन्त्रपाठ से बहिर्भूत पदकारों द्वारा प्रयुक्त पद से है। यह पद 'इति' ही होता है। काशिकाकार के लक्षण में कुछ कमी है। पदपाठ में समुदाय=मन्त्रपद-समुदाय से किसी भी पद का इति

१. यद्यपि अब इस प्रकार घर-घर जाकर बाल काटनेवाले नापितों का नगरों में तो उच्छेद ही हो गया है, तथापि ग्रामों में इनकी सत्ता अभी विद्यमान है।

२. उपस्थितं नामनार्ष इतिकरणः समुदायादवच्छिद्य पदं येन स्वरूपेऽवस्थाप्यते।

के द्वारा स्वरूप में अवस्थापन नहीं होता। पदपाठ में इतिकरण का प्रयोग दो ही स्थानों में होता है। एक—जहां किसी पद में अवान्तर पदसंज्ञा दर्शानी हो, और दूसरा—जहां प्रगृह्य-संज्ञा दर्शानी हो। यथा—**प्रजावतीरिति** **प्रजा** वती:, अग्नी इति, ऊँ इति। प्रातिशाख्यों में ऐसे स्थानों के लिए दो संज्ञाएं प्रयुक्त होती हैं—**स्थित** और **उपस्थित**। इनका लक्षणबोधक वचन वाजसनेय(=शुक्लयजु:)प्रातिशाख्य १।१४८ के भाष्य में उव्वट और अनन्त भट्ट ने इस प्रकार उद्धृत किया है—

उपस्थितं सेतिकरणं केवलं तु पदं स्थितम्।
तत् स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते॥

अर्थात् इतिकरण सहित पद 'उपस्थित' कहाता है। यथा **द्वे इति**[1]। केवल पद 'स्थित' संज्ञक होता है। यथा—इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा। जहां उपस्थित और स्थित दोनों होते हैं, वे स्थितोपस्थित कहाते हैं। यथा—**प्रजावतीरिति प्रजा वती:**। इस के अनन्तर अनन्त भट्ट ने लिखा है—प्रथम=उपस्थितसंज्ञक केवल ऋग्वेदियों के पदपाठ में ही देखा जाता है। यथा—**द्वे इति**। **अग्नी इति**। क्योंकि ऋग्वेदीय पदपाठ में प्रगृह्यसंज्ञक का इतिकरण से निर्देश करके पुनः मूल पद की आवृत्ति नहीं होती[2]। शुक्लयजु:—माध्यन्दिन-काण्व की संहिताओं के पदपाठ में प्रगृह्यसंज्ञक का इति से निर्देश करके द्विरावृत्ति होती है। यथा—**द्वे इति द्वे**। **अग्नी इत्यग्नी**। इस प्रकार शुक्लयजु: और कृष्णयजुः के पदपाठों में इतिकरणान्त पदसमुदाय उपस्थित, और इतिकरण के पश्चात् पठित पद स्थित कहाता है। ऋग्वेद के प्रातिशाख्य पटल ११ के सूत्र २८—**पदं यदा केवलमाह सा स्थितिः** में केवल=इतिकरणरहित पद की **स्थिति** संज्ञा दर्शाई है। यथा—**तन्नः** (ऋ० १।१०७।३)—**तत्**। **न:**। पुन: सूत्र २९ में इतिकरणान्त पद की **उपस्थित** संज्ञा (यथा—**इन्द्राग्नी इति**) दर्शाकर ३०वें सूत्र में कहा है—

अथो विपर्ययस्य समस्य चाह ते यदा स्थितोपस्थितमाचरन्त्युत॥

अर्थात् जब वे स्थित और उपस्थितसंज्ञक पद विपरीत करके, अर्थात् पहले इतिकरणान्त पढ़कर पश्चात् केवल पद पढ़ा जाता है, वह **पद स्थितोपस्थित** अथवा **स्थित्युपस्थित** कहाता है। यथा—**विभावसो इति विभाऽवसो** (ऋ० १।४४।१०)।

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि जहां काशिकाकार की व्याख्या में पूर्वोक्त दोष हैं, वहां केवल 'इति' की उपस्थित संज्ञा मानना भी दोष है। यदि सूत्रकार को केवल अनार्ष इतिकरण मात्र का निर्देश करना इष्ट होता, तो वह **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** (१।१।१६)सूत्रवत् यहां भी **अनार्ष इतौ** अथवा **इतावनार्षे** पढ़ता। इसलिये **'अप्लुतवदुपस्थिते'** सूत्र का **अर्थ** इस प्रकार करना चाहिये—'उपस्थितसंज्ञक=अनार्ष इतिकरणसहित पद में प्लुत अप्लुवत् होता है। यथा

१. यह ऋग्वेदीय पदपाठ है। इसका आगे स्पष्टीकरण किया है।

२. साम अथर्व तैत्तिरीय मैत्रायणी संहिताओं के पदपाठ में भी ऋग्वेदवत् प्रगृह्यसंज्ञक पद का इति से ही निर्देश होता है। उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। द्र०—माध्यन्दिन पदपाठ के आदि में मुद्रित 'वैदिकपदपाठानां तुलनात्मकमध्ययनम्', पृष्ठ १४।

—सुश्लोका३ सुमङ्गला३ सत्यराजा३न् (काठक सं० ३६।४) मन्त्र के पदपाठ में सुश्लोका३ इति—सुश्लोकेति, सुमङ्गला३ इति—सुमङ्गलेति।[1] यहां यह ध्यान में रहे कि काठक-संहिता का पदपाठ अनुपलब्ध है। अतः उसमें अप्लुतवत् पक्ष का आश्रयण किया है, अथवा प्लुतवत् का, यह कहना कठिन है। सूत्रकार के मतानुसार हमने उभयथा पदपाठ दिखाया है॥

[भाष्यम्] यदि पुनर्दीर्घाणामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्येत, एवमप्येकार एव एकः सवर्णान् गृह्णीयाद्, ईकारोकारौ न गृह्णीयाताम्। किं कारणम्? अनण्त्वात्।

यदि पुनर्ह्रस्वाणामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्यते, नैवं शक्यम्। इहापि प्रसज्येत —अकुर्वहि अत्र—अकुर्वह्यत्रेति। तस्माद् दीर्घाणामेव तपराणां प्रगृह्यसंज्ञा वक्तव्या। दीर्घाणां चोच्यमाना प्लुतानां न प्राप्नोति॥

व्याख्या—**यदि दीर्घ (=ई ऊ ए) अतपरों की प्रगृह्य-संज्ञा कहें, तो इस प्रकार भी एक एकार ही सवर्णों का ग्रहण करेगा, ईकार ऊकार सवर्णों का ग्रहण नहीं करेंगे। क्या कारण है? अनण् होने से।**

यदि अतपर ह्रस्वों की प्रगृह्य-संज्ञा का विधान करें, तो ऐसा नहीं कर सकते। यहां भी [प्रगृह्य-संज्ञा] प्राप्त होवेगी—अकुर्वहि अत्र=अकुर्वह्यत्र। इसलिये दीर्घ तपरों की ही प्रगृह्य-संज्ञा कहनी चाहिये। और दीर्घ तपरों की कही प्रगृह्य-संज्ञा प्लुतों की प्राप्त नहीं होती।

विवरण—ईत् उत् एत् रूप तपरों की प्रगृह्य-संज्ञा करने पर कार्यकालपक्ष में प्लुतों की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त नहीं होगी। इष्ट है कि प्लुतों की भी प्रगृह्य-संज्ञा होवे। इस पूर्व कथन को अभिप्राय में रखकर अतपर ईकार ऊकार एकार के प्रगृह्य-संज्ञा-विधान पक्ष को उपस्थित किया है—**यदि पुनर्दीर्घाणाम्**। इस पक्ष में भी प्लुत ईकार ऊकार की प्रगृह्य-संज्ञा प्राप्त नहीं होती है, यह दोष रह जाता है।

प्रकृत भाष्य में **ह्रस्वाणाम्** बहुवचन उपपन्न नहीं होता, क्योंकि एकार ह्रस्व नहीं है? इसका उत्तर यह है कि मीमांसकों के **भूमान्याय** अथवा लोकप्रसिद्ध **छत्रिन्याय** से यहां इ उ ए

---

१. तैत्तिरीय संहिता १।८।१६ में इस मन्त्र का पाठ—**सुश्लोकाँ३ सुमङ्गलाँ३ सत्य-राजा३न्** है। पदपाठ में **सुश्लोकाँ३ इति सुमङ्गलाँ३ इति** पाठ है। यहां सानुनासिकत्व **आङो-ऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्** (६।१।१२२) में पठित बहुल वचन से जानना चाहिये। यहां जिसको अनुनासिक होता है, उसे प्रकृतिभाव होता है। यथा—**सवायँ एवा** (ऋ० १।११३।१)। अतः ऐसे स्थानों में जहां मन्त्रपाठ में साक्षात् प्रकृतिभाव का दर्शन नहीं होता, वहां पदपाठ में इति-करण द्वारा दर्शाया है। द्र०—सुश्लोकाँ३ इति। प्लुत होते हुए भी **तै० सं०** के पाठ में जो अनुनासिकत्व है, वह अप्लुतवत् होने पर भी अनुनासिकाश्रय प्रकृतिभाव के लिये है। मैसूर से प्रकाशित भट्टभास्कर भाष्यसहित तै० सं० के मन्त्र और पदपाठ दोनों में प्रथम दो पदों में प्लुतनिर्देश ४ संख्या से दर्शाया है। यथा—सुश्लोकाँ४ सुमङ्गलाँ४ सत्यराजा३न्।

तीन में दो ह्रस्व हैं, अतः दीर्घ एकार को भी उसी से उपलक्षित कर दिया है। तात्पर्य मूलरूप से अक्षरसमाम्नाय-पठित अतपरों के निर्देश से है। अतपर अक्षरसमाम्नाय-पठित वर्णों की प्रगृह्यसंज्ञा में दोष होने से प्रथम पक्ष(=अतपर दीर्घों की प्रगृह्य-संज्ञा) को उपस्थित करके उसमें दर्शाये दोष का स्मरण कराया है॥

[भाष्यम्] एवं तर्हि किं न एतेन यत्नेन यत्—'सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु' इति। असिद्धः प्लुतः। तस्याऽसिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्तीति। कथं यत्तज्ज्ञापकमुक्तम्—'प्लुतप्रगृह्या अचि' इति? 'प्लुतभावी प्रकृत्या' इत्येवमेतद्विज्ञायते। कथं यत्तत्प्रयोजनमुक्तम्? क्रियते तन्न्यास एव—'अप्लुतादप्लुते' इति। एवमपि यत्सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तत्प्लुतस्य न प्राप्नोति—'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' [८।४।५६] इति। एवं तर्हि किं न एतेन यत्नेन—'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' इति। यथोद्देशमेव संज्ञापरिभाषम्। अत्र चाऽसावसिद्धः। तस्याऽसिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति॥

व्याख्या—अच्छा तो इस यत्न से क्या लाभ कि—'स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध होता है।' प्लुत [स्वरसन्धि में] असिद्ध है। उसके असिद्ध होने से तत्काल (=द्विमात्रिक) ही हो जाते हैं। जो वह ज्ञापक कहा है—'प्लुतप्रगृह्या अचि' (=अच् परे प्लुत प्रगृह्य प्रकृतिभाव को प्राप्त होते हैं) उसका क्या होगा? वह 'प्लुतभावी प्रकृतिभाव को प्राप्त होता है', इस प्रकार जाना जायेगा। तो जो [प्लुत की प्रगृह्य-संज्ञा करने का] प्रयोजन कहा है, उसका क्या होगा? वह तो अप्लुतादप्लुते ऐसा न्यास (=सूत्रविन्यास) में किया ही है, पढ़ा ही है। इस प्रकार भी प्लुत जहां सिद्ध है, उसमें कहा प्रगृह्य-कार्य प्लुत को प्राप्त नहीं होता—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५६) [अवसान में वर्तमान अप्रगृह्य संज्ञक अण् को अनुनासिक होता है' नियम से प्रगृह्य-संज्ञक अण् को जो अनुनासिक का निषेध किया है, वह उपपन्न नहीं होगा]। अच्छा तो 'संज्ञा परिभाषाएं कार्यकाल होती हैं' इस यत्न से क्या प्रयोजन? 'संज्ञा परिभाषाएं यथोद्देश ही होती हैं' [यही पक्ष स्वीकार किया जावे]। और वहां (=यथोद्देश पक्ष में प्रगृह्य-संज्ञा विधायक सूत्र में) वह प्लुत असिद्ध है। उसके असिद्ध होने से तत्काल (=द्विमात्राकालवाले) ही होंगे। [इससे उनकी प्रगृह्य-संज्ञा हो जायेगी।]

विवरण—प्लुतभावी—जिसकी उत्तरकाल में प्लुत संज्ञा होगी। द्रष्टव्य—**इग्यणः सम्प्रसारणम्(१।१।४४)**सूत्रस्थ **'भाविनीयं संज्ञा विज्ञास्यते'** भाष्यवचन। भर्तृहरि और उसके अनुयायी कैयट ने **प्लुतो भावी यस्य** ऐसा समास मानकर विशेष ऊहापोह की है। इस का खण्डन शिवरामेन्द्र सरस्वती ने विस्तार से किया है। हमारे विचार में भाष्यकार द्वारा आश्रित भावीसंज्ञा मानकर ही जब प्रकृत प्रसङ्ग उपपन्न हो जाता है, तब क्लिष्ट कल्पना करना निरर्थक है।

सिद्धे प्रगृह्यकार्यम्—भावीसंज्ञा मानकर, और 'स्वरसन्धि में प्लुत असिद्ध होता है' इस ज्ञापक को न मानने पर कार्यकाल पक्ष में जैसे—**प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** (६।१।१२१)सूत्र काल में प्रगृह्य-संज्ञा का विधान होगा, उसी प्रकार प्रगृह्य-संज्ञासूत्र **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः** (८।४।५६)सूत्र के समीप उपस्थित होकर प्रगृह्य-संज्ञा का निर्देश करेगा। वहां प्लुत सिद्ध है,

क्योंकि त्रिपादी सूत्र पूर्व के प्रति असिद्ध होते हैं, आगे तो सिद्ध ही होते हैं। अतः **अणोऽप्रगृह्यस्य** सूत्र के प्रति प्लुतकार्य के सिद्ध होने से वहां पर प्रगृह्य-संज्ञा-निर्देश पक्ष में प्लुत की प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होगी। प्रगृह्य-संज्ञा के अभाव में अवसान में वर्तमान **अग्नी३, वायू३, पचेते३** के ईकार ऊकार एकार को अनुनासिकत्व प्राप्त होगा, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार तपर ईकार ऊकार एकार की प्रगृह्य-संज्ञा, और कार्यकाल पक्ष में दोष दर्शाकर प्रकरण का उपसंहार करने के लिये कहा है—**एवं तर्हि···कार्यकालम्**। इस प्रकार भाष्यकार ने दीर्घ तपरों की प्रगृह्य-संज्ञा और यथोद्देशपक्ष यहां निर्दुष्ट है, यह स्थापित किया है॥

[भाष्यम्] कथं पुनरिदं विज्ञायते—'ईदादयो यद् द्विवचनमिति, आहोस्विदीदाद्यन्तं यद् द्विवचनम्' इति ? कश्चात्र विशेषः ?

ईदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेदन्त्यस्य विधिः ॥१॥

इदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेदन्त्यस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया—पचेते इति, पचेथे इति। वचनाद् भविष्यति। अस्ति वचने प्रयोजनम्। किम् ? खट्वे इति, माले इति॥

व्याख्या—[ईदूदेद्द्विवचनम्] यह **निर्देश कैसा जाना जाता है—'ईकार ऊकार एकार जो द्विवचन [तदन्त], अथवा ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त जो द्विवचन ?'** [यहां येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७१) **नियम से उपस्थित 'अन्त' का सम्बन्ध विवक्षा-भेद से दोनों प्रकार सम्भव है।] यहां (=दोनों पक्षों में) क्या विशेष है ?**

ईदादि द्विवचन प्रगृह्य-संज्ञक होवें, तो अन्त्य (=ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त द्विवचन) की प्रगृह्य-संज्ञा कहनी चाहिये।

ईदादि द्विवचन प्रगृह्य-संज्ञक होवें, तो अन्त्य (=ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त द्विवचन) की प्रगृह्य-संज्ञा कहनी चाहिये। पचेते इति, पचेथे इति। [प्रगृह्य-संज्ञा] **वचन-सामर्थ्य से हो जायेगी। [प्रगृह्य-सज्ञा के] वचन में तो प्रयोजन है। क्या है ?** खट्वे इति, माले इति।

विवरण—येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७१) के नियम से जिस विशेषण को आश्रित करके विधि की जाती है, वह तदन्त का ग्राहक होता है। प्रकृत सूत्र में **ईदूदेत्** और **द्विवचन** दोनों समानविभक्तिक हैं। अतः विशेषण-विशेष्य के आश्रयण में कामचार प्राप्त होता है (द्रष्टव्य—**'द्वितीया षष्ठी प्रादुर्भाव्यते। तत्र कामचारः—गृह्यमाणेन वेकं विशेषयितुम् इका वा गृह्यमाणम्'**। भाष्य १।१।३, पूर्व पृष्ठ २५५)। कामचार होने से ईदादि को संज्ञी अर्थात् विशेष्य मानें और द्विवचन को विशेषण, तो अर्थ होगा द्विवचनान्त जो ईदादि उनकी प्रगृह्य-संज्ञा होती है। परन्तु द्विवचनान्त ईदादि के असम्भव होने से यह पक्ष उपपन्न नहीं होगा। इसलिये द्विवचनरूप जो ईदादि उनकी ही प्रगृह्यसंज्ञा होगी। यदि दूसरा पक्ष—द्विवचन संज्ञी है अर्थात् विशेष्य है, और ईदादि विशेषण हैं, तो अर्थ होगा—ईदाद्यन्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। इन दो पक्षों के सम्भव होने से प्रश्न उपपन्न होता है—**कथं पुनरिदं विज्ञायते।**

ईदादयो यद् द्विवचनम्—'अग्नि औ', 'वायु औ', यहां **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (६।१।९८) से जो उभयस्थानी पूर्वसवर्ण दीर्घ ई ऊ होंगे, वे **अन्तादिवच्च** (६।१।८२) से पर द्विवचन औकार का आदिवत् होकर द्विवचन माने जायेंगे। इसी प्रकार **अग्नी वायू** में ईकार ऊकार द्विवचन उपपन्न होते हैं। इस प्रकार इनमें द्विवचन ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा उपपन्न हो जायेगी। इस पक्ष में **पच आते पच आथे** यहां पर **आतो ङितः** (७।२।८१) से आकार को **इय्** आदेश, और **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६४) से 'य्' का लोप होकर **पच इते पच इथे** इस अवस्था में पूर्ववत् गुणरूप एकादेश और अन्त का आदिवत् होकर **एते एथे** द्विवचन होते हैं। यह द्विवचन एकाररूप नहीं है। अतः प्रगृह्य-संज्ञा कहनी पड़ेगी, यह दोष दर्शाया है—**ईदादयो द्विवचनम्** से। **वचनाद् भविष्यति** कहनेवाले का अभिप्राय है कि एकाररूप मुख्य द्विवचन के न होने से द्विवचन के अवयव में द्विवचन शब्द का प्रयोग माना जायेगा। जैसे—**लिङ्सिचावात्मनेपदेषु** (१।२।११) में सीयुट् के लिङ् का अवयव होने पर भी उसका लिङ् के ग्रहण से ग्रहण होता है, उसी प्रकार **आते आथे** में एकार द्विवचन का अवयव होते हुए भी द्विवचन शब्द से गृहीत होकर प्रगृह्य-संज्ञा हो जायेगी। **अस्ति वचने प्रयोजनम्** का तात्पर्य यह है कि मुख्य एकाररूप द्विवचन के विद्यमान होने पर गौण एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होगी। एकाररूप द्विवचन **खट्वे माले** में उपलब्ध है। यहां **खट्वा औ=खट्वा शी=खट्वा ई,** यहां **आद् गुणः** (६।१।८४) से जो गुण एकाररूप एकादेश होगा, वह भी पूर्ववत् द्विवचन ईकार का आदिवत् होकर द्विवचन माना जायेगा। इस प्रकार **ईदादयो यद् द्विवचनम्** पक्ष में दोष होता है। अतः भाष्यकार दूसरा पक्ष उपस्थित करते हैं॥

[भाष्यम्] अस्तु तर्हि—'ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनम्' इति।

ईदाद्यन्तमिति चेदेकस्य विधिः ॥२॥

'ईदाद्यन्तं द्विवचनम्' इति चेदेकस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया—खट्वे इति, माले इति।

न वाऽऽद्यन्तवत्त्वात् ॥३॥

न वैष दोषः। किं कारणम्? आद्यन्तवत्त्वात्। 'आद्यन्तवदेकस्मिन् कार्यं भवति' इत्येवमेकस्यापि भविष्यति॥

व्याख्या—**अच्छा तो 'ईदाद्यन्त जो द्विवचन' [वह प्रगृह्य-संज्ञक] होवे।**

ईदाद्यन्त द्विवचन ऐसा कहते हो, तो एक की [प्रगृह्य-संज्ञा की] विधि कहनी चाहिये।

'ईदाद्यन्त द्विवचन' ऐसा कहते हो, तो एक की प्रगृह्य-संज्ञा का विधान करना चाहिये खट्वे इति, माले इति।

[यह दोष] नहीं है, आद्यन्तवत्त्व होने से।

यह दोष नहीं है। क्या कारण है? आद्यन्तवत्त्व होने से। आद्यन्तवत् एक में कार्य होता है (द्र०—अ० १।१।२०), इससे एक की भी [प्रगृह्य-संज्ञा] हो जायेगी।

विवरण—सामान्यरूप से **ईदाद्यन्तं द्विवचनम्** ऐसा कहने पर ईकार-ऊकारविषयक **अग्नी इति, वायु इति** उदाहरण न देकर **खट्वे इति, माले इति** जो एकारान्त के उदाहरण हैं, वे दिये हैं। इसका प्रयोजन यह है कि ईकारान्त ऊकारान्त तो द्विवचन उपलब्ध नहीं होता। अतः ईकार ऊकार को ही व्यपदेशिवद्भाव से ईकारान्त ऊकारान्त मान लिया जायेगा। परन्तु एकारान्त आते आये द्विवचनों के विद्यमान होने पर **खट्वे इति, माले इति** में प्रगृह्य-संज्ञा प्राप्त नहीं होगी। इस प्रकार इस पक्ष में भी दोष होने से पक्षान्तर दर्शाते हैं—

[भाष्यम्] अथवा एवं वक्ष्यामि—'ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तम्' इति।

ईदाद्यन्तं द्विवचनान्तमिति चेल्लुकि प्रतिषेधः ॥४॥

'ईदाद्यन्तं द्विवचनान्तम्' इति चेल्लुकि प्रतिषेधो वक्तव्यः। कुमार्योरगारं कुमार्यगारम्, वध्वोरगारं वध्वगारम्। एतद्धीदाद्यन्तं च श्रूयते द्विवचनान्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन।

सप्तम्यामर्थग्रहणं ज्ञापकं प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधस्य ॥५॥

यदयम् 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' [१।१।१८] इत्यर्थग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो—'न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवति' इति।

तर्हि ज्ञापकार्थमर्थग्रहणं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। ईदादिभिर्द्विवचनं विशेषयिष्यामः, ईदादिविशिष्टेन च द्विवचनेन तदन्तविधिर्भविष्यति—'ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनं तदन्तमीदाद्यन्तम्' इति ॥

व्याख्या—अथवा इस प्रकार कहूंगा—'ईदाद्यन्त जो द्विवचनान्त' [उनकी प्रगृह्य-संज्ञा होती है]।

'ईदाद्यन्त द्विवचनान्त' कहते हो, तो लुक् में प्रतिषेध कहना चाहिये।

'ईदाद्यन्त द्विवचनान्त' ऐसा कहते हो, तो लुक् में प्रतिषेध कहना चाहिये। कुमार्योरगारम्—कुमार्यगारम्, वध्वोरगारम्—वध्वगारम् (=दो लड़कियों वा दो बहुओं का निवास स्थान)। यह (=कुमारी और वधू पूर्वपद) ईदाद्यन्त सुना जाता है, और प्रत्ययलक्षण (=प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६१) से द्विवचनान्त भी होता है।

सप्तमी में अर्थग्रहण ज्ञापक है, प्रत्ययलक्षण-प्रतिषेध का।

जो यह आचार्य 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' (१।१।१८) में अर्थग्रहण करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि—'प्रगृह्य-संज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता।'

तो क्या ज्ञापकार्थ [ईदूतौ च सप्तम्यर्थे सूत्र में] अर्थग्रहण करना चाहिये? नहीं करना चाहिये। ईदादि से द्विवचन को विशेषित करेंगे, और ईदादिविशिष्ट द्विवचन से तदन्तविधि हो

जायेगी—'ईदाद्यन्त जो द्विवचन उस अन्तवाला ईदाद्यन्त' [उसकी प्रगृह्य-संज्ञा होती है। कुमार्यगारम् वध्वगारम् में कुमारी और वधू पूर्वपद में ईदाद्यन्त द्विवचन नहीं है, अतः प्रगृह्य-संज्ञा की प्रसक्ति नहीं होगी]।

विवरण—'ईदाद्यन्त' में **येन विधिस्तदन्तस्य** (१।१।७१) के नियम से अन्त ग्रहण होगा। द्विवचन प्रत्यय है, अतः यहां **प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति** (=प्रत्यय के ग्रहण में जिसे प्रत्ययविधान किया है, उस तदन्त का ग्रहण होता है) परिभाषा से द्विवचनान्त में अन्त ग्रहण होता है। यद्यपि संज्ञाविधि में तदन्तविधि नहीं होती, पदसंज्ञा-विधायक (१।४।१४) सूत्र में ऐसा ज्ञापन किया है, तथापि यहां उसका आश्रयण न करके यह पक्ष उपस्थित किया है। अतएव अन्त में **संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं न भवति** कहकर भाष्यकार इस पक्ष को भी दूषित ठहरायेंगे।

अर्थग्रहणं ज्ञापकम्—**सोमो गौरी अधिश्रितः** (ऋ० ९।१२।३) यहां 'गौरी' शब्द से उत्पन्न सप्तमी का **सुपां सुलुक्०** (७।१।३९) से लुक् होता है। उसे प्रत्ययलक्षण मानने से 'गौरी' पद सप्तम्यन्त है, और स्वरूपतः ईकारान्त है। अतः यहां अर्थग्रहण के बिना भी **ईदूतौ च सप्तम्यर्थे** (१।१।१८) से प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध है। इस प्रकार 'अर्थ' ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता। इस प्रकार **कुमार्यगारम् वध्वगारम्** में द्विवचनान्तत्व न होने से प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होगी। व्याख्याकारों ने इस प्रसङ्ग में जो ऊहापोह वा खण्डन-मण्डन किया है, उसे उन्हीं के ग्रन्थों में देखें। यहां हमने यथाश्रुत भाष्य का व्याख्यान किया है॥

[भाष्यम्] **एवमप्यशुक्ले वस्त्रे शुक्ले समपद्येताम् शुक्ल्यास्तां वस्त्रे इत्यत्र प्राप्नोति। अत्र ह्येदादि च द्विवचनं, तदन्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन। अत्राप्यकृते शीभावे लुग्भविष्यति। इदमिह संप्रधार्यं लुक् क्रियतां, शीभाव इति। किमत्र कर्तव्यम्? परत्वाच्छीभावः। नित्यो लुक्, कृतेऽपि शीभावे प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति। अनित्यो लुग्। अन्यस्य कृते शीभावे प्राप्नोत्यन्यस्याऽकृते। शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति। शीभावोऽप्यनित्यः, न हि कृते लुकि प्राप्नोति। उभयोरनित्ययोः परत्वाच्छीभावः। शीभावे कृते लुक्।**

अथापि कथंचिन्नित्यो लुक्स्यात्, एवमपि दोषः। वक्ष्यत्येतत्—"पदसंज्ञायामन्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिप्रतिषेधार्थम्"। इति। इदं चापि प्रत्ययग्रहणम्। अयं चापि संज्ञाविधिः। अवश्यं खल्वस्मिन्नपि पक्षे आद्यन्तवद्भाव एषितव्यः। तस्मादस्तु स एव मध्यमः पक्षः॥११॥

व्याख्या—इस प्रकार भी अशुक्ले वस्त्रे शुक्ले समपद्येतां शुक्ल्यास्तां वस्त्रे (=दो अशुक्ल वस्त्र शुक्लहोवें के अर्थ में प्रयुक्त) शुक्ल्यास्तां वस्त्रे में 'शुक्ली' यहां प्रगृह्य-संज्ञा प्राप्त होती है। यहां ईदादि द्विवचन दोनों हैं, प्रत्ययलक्षण से तदन्त भी है। यहां भी 'शी' भाव

बिना किये लुक् हो जायेगा। यहां यह विचारना चाहिये कि ['औ' का] लुक् करें, अथवा 'शी' भाव करें। यहां क्या करना चाहिये ? परत्व से 'शी' भाव। लुक् नित्य है। 'शी' भाव के करने पर भी प्राप्त होता है और बिना किये भी। लुक् अनित्य है। 'शी' भाव न करने पर अन्य [औ] को प्राप्त होता है, और ['शी' भाव] करने पर अन्य [शी] को। शब्दान्तर को प्राप्त होनेवाली विधि अनित्य होती है। 'शी' भाव भी अनित्य है, ['औ' का] लुक् करने पर ['शी' भाव] प्राप्त नहीं होता। दोनों (=लुक् और 'शी' भाव) के अनित्य होने पर परत्व से 'शी' भाव होगा। और 'शी' भाव करने पर लुक् होगा। [इस प्रकार शुक्ल्यास्तां वस्त्रे में प्रगृह्य-संज्ञा प्राप्त होगी।]

और किसी प्रकार से लुक् नित्य होवे, तो इस प्रकार भी दोष होता है। [सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) में] यह कहेंगे—'पदसंज्ञा में अन्तग्रहण अन्यत्र संज्ञा-विधि में प्रत्यय के ग्रहण में तदन्तविधि के प्रतिषेध के लिये है'। यह भी प्रत्ययग्रहण है। और यह भी संज्ञा-विधि है। [इसलिये यहां 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से तदन्त का ग्रहण नहीं होगा।] इसलिये इस पक्ष में भी अवश्य आद्यन्तवद्भाव चाहने योग्य है। इसलिये वही (=ईदाद्यन्तं यद्द्विवचनम्) मध्यम (=द्वितीय) पक्ष स्वीकृत होवे।

विवरण—'**शुक्ल्यास्ताम्**' यहां शुक्ल औ इस अवस्था में **नपुंसकाच्च** (७।१।१९) से 'शी' भाव होकर **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः** (५।४।५०) से 'च्वि' प्रत्यय होता है। 'च्वि' के इकार चकार की इत्संज्ञा, और वकार का **वेरपृक्तस्य** (६।१।६५) से लोप होता है। तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक-संज्ञा होकर **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से 'शी' का लुक्, और **अस्य च्वौ** (७।४।३२) से ईकारादेश, पुनः सुप् की उत्पत्ति, **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (१।१।३७) से अव्यय-संज्ञा, **अव्ययादाप्सुपः** (२।४।८२) से 'शुक्ली' से उत्पन्न सुप् का लुक्। यहां 'शी' ईकारान्त द्विवचन है, और 'शुक्ली' रूप प्रत्ययलक्षण से द्विवचनान्त भी है। **अत्र हीदादि च द्विवचनं** यहां द्विवचन के विशेषणार्थ 'ईदादि' से ईदाद्यन्त अर्थ अभिप्रेत है।

अकृते शीभावे—इसका तात्पर्य यह है कि **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से जो सुप् का लुक् होता है, वह शीभाव से पूर्व ही हो जाता है। दूसरे शब्दों में जब सुप् का लोप ही करना है, तब 'औ' का करें अथवा 'शी' का, उभयथा समान है। अतः शीभाव से पूर्व 'औ' का ही लोप हो जाता है। 'औ' का लोप होने से शीभाव नहीं होता। इस प्रकार ईकारान्त द्विवचन यहां नहीं है। **परत्वाच्छीभावः**—इसका भाव यह है कि शास्त्रीय कार्य शास्त्र-दृष्टि से करने उचित हैं। जब 'औ' के लोप और 'शी' भाव दोनों की प्राप्ति होती है, तो परत्व से शीभाव होना चाहिये। **कृते शीभावे**—इसका तात्पर्य है कि चाहे शीभाव करके लोप करो, चाहे 'औ' का ही लोप करो, दोनों प्रकार से सुप् का लुक् प्राप्त होने से लुक् तो नित्य ही है। **पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः** परिभाषा से पर शीभाव की अपेक्षा नित्य-प्राप्त सुप्-लुक् बलवान् होने से शीभाव से पूर्व ही 'औ' का लुक् करेगा। **अन्यस्य कृते शीभावे**—शीभाव करने पर 'शी' शब्द का लुक् होता है। और शीभाव बिना किये लुक् करने पर 'औ' शब्द का लुक् होता है। इस प्रकार शब्दान्तर को लुक् की प्राप्ति होने से लुक् अनित्य है।

अथापि कथंचित्—यहां पर लुक् की नित्यता दर्शाने के लिये कैयट ने लिखा है—"स्थानिविशेष की—अर्थात् औ का लुक् होता है अथवा शी का, अपेक्षा न करके कृताकृत-प्रसङ्गमात्र से लुक्शास्त्र की प्रवृत्ति मानने पर लुक् नित्य है (क्योंकि सुप् जाति दोनों में समान है—भर्तृ०)। अथवा नित्यत्व से यदि बाधकत्व को लक्षित करें, तो **अन्तरङ्गानपि विधीन् लुक् बाधते** इस परिभाषा से अन्तरङ्ग शीभाव को बाधकर भी लुक् ही होगा"। इस पर शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है कि—"यहां यदि भू धातु से [लिट् में] विहित वुक् के समान कृताकृत-प्रसङ्गमात्र से नित्यता देखनी है (द्र०—**इन्धिभवतिभ्यां च** १।२।६ सूत्र का भाष्य) तो लुक् नित्य है। इससे कैयट का व्याख्यान उचित नहीं है। इसी प्रकार नित्य का बाधक अर्थ भी ठीक नहीं है। उक्त भाष्य का बाधकत्व अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि भाष्यकार का यहां यह भाव नहीं है, और ना ही **अन्तरङ्गानपि विधीन् लुक् बाधते** यह परिभाषा पूर्वभाष्य का शेष ही है। अतः यहां कृताकृतप्रसङ्गमात्र से ही नित्यत्व जानना चाहिये।"[1]

एवमपि दोषः—'पदसंज्ञा से अन्यत्र प्रत्ययग्रहण में तदन्त ग्रहण नहीं होता' इस ज्ञापन से अन्तग्रहण के उपस्थित न होने से **ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तम्** पक्ष उपपन्न ही नहीं होता। **अवश्यं खल्वपि**—इतना ही नहीं, द्वितीय पक्ष में आद्यन्तवद्भाव अङ्गीकार करना पड़ता है। उससे बचने के लिये आपने तृतीय पक्ष **ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनम्** पक्ष स्वीकार किया है। सो इस पक्ष में भी **अग्नी इति वायू इति** ईदाद्यन्त द्विवचन नहीं है, ईकार ऊकार ही द्विवचन है। अतः प्रकृत पक्ष में भी **अग्नी इति वायू इति** में प्रगृह्य-संज्ञा करने के लिये आद्यन्तवद्भाव स्वीकार करना ही पड़ेगा।

स एव मध्यमः पक्षः—मध्यम पद निर्देश से स्पष्ट है कि यहां भाष्यकार को तीन पक्ष ही अभिप्रेत हैं। भर्तृहरि ने चार पक्ष स्वीकार किये हैं—'१. **ईदादि द्विवचनम्**, २. **ईदाद्यन्तं द्विवचनम्**, ३. **ईदाद्यन्तः समुदायः द्विवचनान्तः**, ४. **ईदाद्यन्तं द्विवचनान्तम्**।' चार पक्षों का निर्देश करके भाष्यकार ने **मध्यमः पक्षः** की संगति लगाने के लिये कहा है कि—'**तृतीयपक्षकल्पश्चतुर्थ इति द्वितीयो मध्यमः। चतुर्णामपि द्वितीयो मध्यम एव**' (पृष्ठ १६६, पूना संस्क०)। यह भर्तृहरि की खींचातान मात्र है। कैयट शिवरामेन्द्र सरस्वती तथा नागेश तीन ही पक्ष मानते हैं। भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट तृतीय पक्ष स्वतन्त्र पक्ष नहीं है। उसे तो (भर्तृहरि उक्त चतुर्थ पक्ष) **ईदाद्यन्तं द्विवचनान्तम्** पक्ष में दोष की निवृत्ति के लिये, तथा व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत किया है। और उसमें अनुपद ही **एवमप्यशुक्ले** आदि वचन द्वारा दूषित ठहरा दिया है।

---

१. अपि कथंचिदिति–यदि भुवो वुक् इव कृताकृतप्रसंगित्वमात्रेणैव नित्यता लुक आश्रीयेतेति भावः। एतेन 'स्थानिविशेषानपेक्षायां कृताकृतप्रसङ्गित्वेन लुक्शास्त्रस्य प्रवर्तनादित्यर्थः' इति निरस्तम्। अथापि कथंचिन्नित्यो लुक् स्यादिति भाष्यस्य तदर्थकत्वाभावात्, तद्भावकत्वाभावात्, तच्छेषकत्वाभावाच्च। कृताकृतप्रसङ्गित्वमात्रेणेत्येतावानेव हि तत्र शेषोऽपेक्ष्यते। एतेन 'अथवा नित्यत्वेन बाधकत्वं लक्ष्यते, तेनान्तरङ्गानपि इति शीभावस्य लुक् बाधक इत्यर्थः' इत्यपि निरस्तम्। नित्यत्वेन बाधकत्वे लक्षितेऽपि तस्य भाष्यस्य तदर्थकत्वाभावात्। हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ३८३, ३८४; मुद्रित पृष्ठ २०।

विशेष—काशिकाकार ने इस सूत्र पर लिखा है—**ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः। मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम। दम्पतीव जम्पतीव रोदसीव।**

अर्थात्—'मणीव' आदि में प्रगृह्य-संज्ञा का प्रतिषेध कहना चाहिये। **मणीव, दम्पतीव, जम्पतीव, रोदसीव**। अर्थात् वहां ईकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य-संज्ञा न होवे, सन्धि हो जावे।

इस पर लक्षणैकचक्षुष्क भट्टोजि प्रभृति व्याख्याकारों ने लिखा है कि काशिकाकार का कथन ठीक नहीं है। **मणीव** आदि प्रयोगों में इवार्थक 'व' शब्द है। वस्तुतः भट्टोजि दीक्षित प्रभृति वैयाकरणों का ही लेख चिन्त्य है। इनकी दृष्टि सूत्रपर्यन्त ही रहती है, जब कि सूत्र लक्ष्य के लिये लिखे गये हैं। यदि लक्ष्यों में ईकारान्त द्विवचनान्त की इव पद के साथ सन्धि देखी जाती है, तो लक्ष्यानुसार लक्षण की कल्पना करना उचित ही है। वार्तिककार और भाष्यकार ने यही तो किया है।

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते वचन महाभारत शान्तिपर्व १७७।१२ में उपलब्ध होता है। शेष तीन उदाहरण काशिकाकार ने लौकिक दिये हैं अथवा वैदिक, यह उसने स्पष्ट नहीं किया। वैदिक ग्रन्थों में इव शब्द के परे ईकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा और प्रगृह्य-संज्ञा का अभाव दोनों प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं। यथा—प्रगृह्य-संज्ञा का अभाव—**दम्पतीव** (ऋ० २।३९।२), **उपधीव** (ऋ० २।३९।४), **विश्पतीव** (यजु० ३३।४४)।

इन प्रयोगों के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य (२।५) में कहा है—**त्र्यक्षरान्तास्तु नैव**। इस का अर्थ है—तीन अक्षरपर्यन्त इव के परे प्रकृतिभाव से नहीं होते, अर्थात् इनमें सन्धि ही जाती है। उदाहरण पूर्वोक्त ही जानें। अगले सूत्र में **आर्ष्यमेव** कहने से मन्त्रसंहिता में ही प्रकृत्यभाव होता है। पदसंहिता में प्रगृह्य-संज्ञा होने से सन्ध्यभाव ही होता है। यथा—**दम्पती इवेति दम्पतीऽइव, उपधी इवेति उपधीऽइव** (उक्त पदों का ऋक्पदपाठ)। यद्यपि यह ऋक्संहिता-विषयक है, तथापि शुक्लयजुःसंहिता में भी यह नियम देखा जाता है। यजुः ३३।४४ में **विश्पतीव** में प्रगृह्य-संज्ञा का अभाव देखा जाता है, परन्तु इसी के पदपाठ में **विश्पती इवेति विश्पती इव** में प्रगृह्य-संज्ञा देखी जाती है (द्र०—माध्य पदसंहिता ३३।४० हमारा संस्करण)। तैत्तिरीय संहिता १।५।१०, काठक सं० ७।३, कठ कपिष्ठल ५।२ में **वाससी इव** में प्रगृह्य-संज्ञा देखी जाती है।

इस मीमांसा से स्पष्ट है कि काशिकाकार का मणीवादि में प्रगृह्य-संज्ञा का अभाव कहना निर्मूल नहीं है, यथासम्भव लक्ष्यानुरूप है। सूत्रकार ने इस नियम का साक्षात् उल्लेख इसलिये नहीं किया कि यह प्रगृह्याभाव भी एकान्त सत्य नहीं है, प्रयोगभेद वा शाखाभेद आदि के कारण व्यवस्थित है। इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भट्टोजि दीक्षित प्रभृति का इवार्थक वकार की कल्पना करके उक्त प्रयोगों को उपपन्न करने का प्रयास वैदिक संहिता वा पदपाठों के तुलनात्मक अध्ययन के अभाव का सूचक है॥११॥



[भाष्यम्] अदसो मात् ॥ १।१।१२॥

मात् प्रगृह्यसंज्ञायां तस्यासिद्धत्वादयावेकादेशप्रतिषेधः ॥ ॥

मात् प्रगृह्यसंज्ञायां तस्य ईत्वस्य ऊत्वस्य चाऽसिद्धत्वादयावेकादेशाः प्राप्नुवन्ति, तेषां प्रतिषेधो वक्तव्यः । अमी अत्र, अमू अत्र; अमी आसते, अमू आसाते ॥

व्याख्या—मकार से परे [ईकार ऊकार की] प्रगृह्य-संज्ञा में उस (=ईत्व ऊत्व) के असिद्ध होने से [प्राप्त होने वाले] अय् आव् और एकादेश का प्रतिषेध करना चाहिये ।

मकार से परे [ईकार ऊकार की] प्रगृह्य-संज्ञा में उस ईत्व और ऊत्व के असिद्ध होने से अय् आव् और एकादेश प्राप्त होते हैं, उनका प्रतिषेध कहना चाहिये । अमी अत्र, अमू अत्र; अमी आसते, अमू आसाते ।

विवरण—'**तस्य**'—इस का व्याख्यान भाष्यकार ने **ईत्वस्य ऊत्वस्य** किया है । परन्तु भर्तृहरि और कैयट आदि ने ऊत्व के समुच्चय के लिये भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त चकार से मकार का भी ग्रहण किया है । इनका अभिप्राय है कि '**मात्**' इस सूत्र न्यास में **अदसोऽसेर्दादु दो मः; एत ईद् बहुवचने** (८।२।८०,८१) इन त्रिपादी सूत्रों से जो मकार ईत्व और ऊत्व का विधान किया है, वह सब असिद्ध है । अतः चकार से मकार का भी समुच्चय करना चाहिये । शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इसका खण्डन किया है । वह लिखता है—"**मात्** इस पञ्चमी-निर्देश से जिस '**परस्य**' की उपस्थिति होती है, उसी का निर्देश वार्तिक में '**तस्य**' पद से किया है, और वह ईत्व ऊत्व ही है" । (हस्तलेख पृष्ठ ३८५, मुद्रित पृष्ठ २३) । वस्तुतः यह लेख युक्त है । क्योंकि जिन अय् आव् और एकादेश के प्रतिषेध का विधान किया है, वे ईत्व ऊत्व के असिद्ध होने पर ए और औ के स्थान पर ही तो प्राप्त होते हैं । **अमी अत्र** में 'अदस् जस्=अद शी=अद ई=अदे=अमी' इस अवस्था में 'अत्र' के परे यदि ईकार असिद्ध होवे, तो एकार माना जायेगा । उस अवस्था में **एङः पदान्तादति** (६।१।१०५) से पूर्वरूप एकादेश की प्राप्ति होगी । **आसते** परे रहने पर अयादेश प्राप्त होता है । इसी प्रकार 'अदस् औ=अद=औ=अदौ=अमू' यहां आवादेश प्राप्त होता है । अदस् के ईत्व ऊत्व कार्य स्वपदाश्रय हैं । शास्त्र द्वारा अमी अमू पद के निष्पन्न हो जाने पर वाक्य में **अत्र आसते आसाते** पदों का प्रयोग होता है । उनको मानकर होनेवाले अय् आव् एकादेश कार्य बहिरङ्ग हैं । तब स्वपदाश्रय होनेवाले ईत्व ऊत्व असिद्ध कैसे होंगे ? इसका समाधान यह है कि पदान्वाख्यान में भी दो पक्ष हैं । एक पक्ष है—'**संस्कृत्य-संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते । तेषां यथेष्टमभिसंबन्धो भवति**'(भाष्य १।१।१, पृष्ठ २१६)। अर्थात् व्याकरण पृथक्-पृथक् पदों के साधुत्व का अन्वाख्यान करता है । उनको जानकर वक्ता वाक्य में यथेष्ट प्रयोग करता है । यह पक्ष वैयाकरणों के **पदस्फोट** पक्ष की दृष्टि से है । दूसरा पक्ष है—वाक्य में प्रयुक्त पदों के साधुत्व का ही शास्त्र अन्वाख्यान करता है । यह **वाक्यस्फोट** की दृष्टि से स्वीकार किया जाता है । अतः जब वाक्यस्थ पदों का व्याकरण अन्वाख्यान करेगा, तब **अमी अत्र वसन्ति, अमू अत्र वसन्ति, अमी आसते इह, अमू आसाते इह** में प्रयुक्त पदों के अन्वाख्यान में **अमी अमू** पदों के अन्वाख्यान के समय **अत्र आसते**

आसाते आदि परे प्रयुक्त पद भी उसकी दृष्टि में विद्यमान हैं। अतः इस पक्ष में वार्तिककार द्वारा उपस्थापित दोष उपस्थित होता है। और तभी अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभाव भी उपपन्न होता है। **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** के नियम से अन्तरङ्ग कार्य में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है। अतः अन्तरङ्ग कार्य=स्वपदाश्रय कार्य ईत्व ऊत्व बहिरङ्ग द्विपदाश्रय कार्य के प्रति असिद्ध नहीं होगा। इसका समाधान भर्तृहरि और कैयट ने इस प्रकार दिया है—'**नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः** (=अचों के आनन्तर्य में किसी कार्य की प्राप्ति में अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभाव की प्रकल्पना नहीं होती)। इस परिभाषा से अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभाव की कल्पना नहीं होगी। ईत्व ऊत्व के असिद्ध होने से अय् आव् एकादेश प्राप्त होंगे'। कुछ व्याख्याकार **नाजानन्तर्ये** परिभाषा के ज्ञापक द्वारा **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** परिभाषा के अनित्यत्व का ज्ञापन करते हैं। उभयथापि मूल तत्त्व में भेद नहीं पड़ता॥

[भाष्यम्] ननु च प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति।

वचनार्थो हि सिद्धे ॥२॥

नेदं वचनाल्लभ्यम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्? यत्सिद्धे प्रगृह्यसंज्ञाकार्यं तदर्थमेतत्स्यात्—'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' [८।४।५६] इति। नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात्, तत्रैवायं ब्रूयात्—'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकोऽदसो न' इति॥

व्याख्या—**अच्छा तो प्रगृह्य-संज्ञा के वचन-सामर्थ्य से अयादि नहीं होंगे [अर्थात् यथोद्देश पक्ष में प्रगृह्य-संज्ञा की दृष्टि से पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से जो ईत्व ऊत्व का असिद्धत्व पाता है, वह वचनसामर्थ्य=आश्रयसामर्थ्य से नहीं होगा]।**

[प्रगृह्य-संज्ञा के] वचन का प्रयोजन है सिद्ध में।

यह (=ईत्व ऊत्व के असिद्धत्व का अभाव) प्रगृह्य-वचन-सामर्थ्य से प्राप्य नहीं है। इस वचन के करने में तो अन्य प्रयोजन है। क्या है? जो सिद्ध में [अर्थात् जहां प्रगृह्य-संज्ञा सिद्ध है] प्रगृह्य-संज्ञाकार्य है, उसके लिये यह प्रगृह्यवचन होगा—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५६)। **एक प्रयोजन सूत्र बनाने को प्रयोजित नहीं करता। यदि इतना** (=अमी अमू **में प्रगृह्यसंज्ञक ईकार ऊकार को अनुनासिक न होवे) ही प्रयोजन होवे, तो वहीं यह आचार्य कह देवें**—'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकोऽदसो न' (=**अप्रगृह्य-संज्ञक अण् को अवसान में अनुनासिक होता है, अदस् के अण् को नहीं होता)।**

विवरण—नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति—इस पर कैयट लिखता है—'एक कार्य की सिद्धि के लिये संज्ञासूत्र नहीं बनाया जाता'। यही बात भर्तृहरि ने **अव्ययीभावश्च** (१।१।४०) सूत्र के भाष्य-व्याख्यान में इस प्रकार लिखी है—'**संज्ञासूत्र और परिभाषासूत्र एक प्रयोजन के लिये नहीं बनाये जाते। अन्य सूत्र बनाये जाते हैं।** यथा—**जागुरूकः** (३।२।१६५ पाठा०), **अण् कुटिलिकायाः** (४।४।१८)' द्र०—पृष्ठ २४३, पूना संस्क०। यह कथन चिन्त्य

है। 'शे' (१।१।१३) सूत्र एक प्रकृतिभाव कार्य के लिये ही बनाया है[1]। और जो यह कहा है कि—'संज्ञापरिभाषा से अन्य सूत्र एक प्रयोजन के लिये भी रचे जाते हैं' यह भी एकान्त सत्य नहीं है। भाष्यकार ने कई स्थानों पर कहा है—'**नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति** (७।१। ९६); **नैकमुदाहरणमसवर्णग्रहणं प्रयोजयति** (६।१।१२); **नैकमुदाहरणं ह्रस्वग्रहणं प्रयोजयति** (६।४।३)। भाष्यकार के '**नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति**' वचन का **अग्नेर्ढक्** (४।२।३२); **जागुरूकः** (३।२।१६५ पाठा०) आदि एकोदाहरण के लिये रचे गये सूत्रों के साथ जो विरोध आता है, उसकी निवृत्ति के लिये लिखते हैं—'**नैकमुदाहरणं सामान्यसूत्रं प्रयोजयति। यथा अग्नेर्ढक् स्थाने न इकारान्ताड् ढक् इत्येव पठ्यते।**' यह कथन पूर्वत्र उदाहृत **असवर्णग्रहणं प्रयोजयति, ह्रस्वग्रहणं प्रयोजयति** भाष्यवचनों के ही विपरीत है। अतः भाष्यवचन और पाणिनीय **अग्नेर्ढक्** आदि सूत्रों की रचना में जो विरोध भासित होता है, उसका समाधान यह है कि भाष्यकार के उक्त वचन का तात्पर्य इतना ही है कि एक-एक उदाहरणों के लिये पाणिनि सूत्र रचें, यह आवश्यक नहीं। जिन प्रयोगों का लोक में अति प्रयोग देखा जाता है, उन एक-एक के लिये सूत्रकार सूत्र पढ़ देते हैं। और जो अल्प प्रयुक्त होते हैं, उनकी उपेक्षा कर देते हैं। विशेष द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३३, संवत् २०३३।

अदसो न—इस न्यास के द्वारा **अदस्** के रूपों में अनुनासिकत्व का निषेध होने पर 'हे अमुकँ' यहां भी निषेध प्राप्त होता है। इसका उत्तर भट्टोजि दीक्षित ने दिया है कि—'**त्यदादियों का सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता**' यह सामान्य नियम है'[2] (इसी सूत्र के शब्दकौस्तुभ में, पृष्ठ १६४)। यह कथन भाष्यवचन से विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है। भाष्यकार ने **अदस औ सुलोपश्च** (७।२।१०७) के भाष्य में '**हे असौ ब्राह्मणि**' प्रयोग किया है। पं० शिवदत्त दाधिमथ का कथन है कि—"भाष्यकार के '**हे असौ**' प्रयोग से त्यदादियों के सम्बोधन के प्रयोगों के निषेध को प्रायिक जानना चाहिये[3]"। हमारा विचार है कि निरनुनासिक अच् को **वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः** (८।२।८२) के प्लुत विधान-सामर्थ्य से अवसान में सर्वत्र ही अनुनासिक का अभाव जानना चाहिये। अथवा लोक में सानुनासिक के सम्बोधन में प्रयोगाभाव के दर्शन से अनुनासिकत्व का वारण करना चाहिये। अन्यथा 'हे अमुक' में यदि अनुनासिकत्व की प्राप्ति होती, तो भाष्यकार उसका उल्लेख अवश्य करते। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने सम्बोधन में अनुनासिक को इष्ट मानकर लिखा है—'सिद्धे इस वार्तिकांश के दूषित होने से अस्वरसता से अगला वार्त्तिक पढ़ा है।[4]'

---

१. एतेन 'अनेककार्यसिद्ध्यर्थं संज्ञासूत्रं, नैकेन प्रयुज्यते इत्यर्थः' इति (कैयटोक्तं) निरस्तम्। 'शे' इति संज्ञासूत्रस्य एकेनैव प्रकृतिभावेन प्रयुक्तत्वात्। शिवरामेन्द्र सरस्वती, हस्तलेख पृष्ठ ३८८, मुद्रित पृष्ठ २४।

२. त्यदादीनां संबोधनविभक्तिविरहस्यौत्सर्गिकत्वात्। श० कौ० १।१।१२॥

३. ······शब्दकौस्तुभ औत्सर्गिकत्वं प्रायिकम्। ······सर्वत्रैव संबोधनविरहस्तु भाष्यविरोधादुपेक्ष्य एव'। नवाह्निक, निर्णयसागर संस्क०, पृष्ठ २४०, टि० ५, सन् १९१७।

४. तथा च 'वचनार्थो हि सिद्धे' इति वार्तिकांशो न दूषित एवेत्यस्वरसादाह—विप्रतिषेधाद् वा। हस्तलेख, पृष्ठ ३९०, मुद्रित पृष्ठ २५।

[भाष्यम्] विप्रतिषेधाद्वा [प्रगृह्यसंज्ञा] ॥३॥

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा क्रियतामयादयो वेति, प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति विप्रतिषेधेनेति ।

नैष युक्तो विप्रतिषेधः । 'विप्रतिषेधे परम्' इत्युच्यते । पूर्वा च प्रगृह्यसंज्ञा, परेऽयादयः । परा प्रगृह्यसंज्ञा करिष्यते । सूत्रविपर्यासः कृतो भवति । एवं तर्हि परैव प्रगृह्यसंज्ञा । कथम् ? 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' । यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । 'प्रगृह्यः प्रकृत्या' इत्युपस्थितमिदं भवति—'अदसो मात्' इति । एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । कथम् ? द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः । एचामयादयः, ईदूतोः प्रगृह्यसंज्ञा । नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः । किं तर्हि? असंभवोऽपि । स चास्त्यत्राऽसंभवः । कोऽसावत्राऽसंभवः ? प्रगृह्यसंज्ञाऽभिनिर्वर्त्तमाना अयादीन् बाधते, अयादयोऽभिनिर्वर्त्तमानाः प्रगृह्यसंज्ञाया निमित्तं विघ्नन्तीत्येषोऽसंभवः । सत्यसंभवे युक्तो विप्रतिषेधः ॥

व्याख्या—अथवा विप्रतिषेध से प्रगृह्य-संज्ञा हो जायेगी ।

अथवा प्रगृह्य-संज्ञा करें यद्वा अयादि करें, प्रगृह्य संज्ञा हो जायेगी विप्रतिषेध से ।

यह विप्रतिषेध युक्त नहीं है । 'विप्रतिषेध में पर होता है' ऐसा कहा है (१।४।२) । प्रगृह्य-संज्ञा पूर्व है, और अयादि पर हैं । प्रगृह्य-संज्ञा को पर कर देंगे । सूत्रों का विपर्यास होता है । अच्छा तो [विना सूत्रविपर्यास के भी] प्रगृह्य-संज्ञा पर ही है । कैसे ? कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् नियम से जहां कार्य होता है, वहां [प्रगृह्य-संज्ञा को] उपस्थित जानना चाहिये । प्रगृह्यः प्रकृत्या (द्र०—६।१।१२१)='प्रगृह्य-संज्ञक प्रकृतिभाव को प्राप्त होते हैं' के साथ ही अदसो मात् सूत्र उपस्थित हो जाता है [अर्थात् प्रगृह्य को प्रकृतिभाव-विधायक सूत्र के समीप में उपस्थित होकर प्रगृह्य संज्ञा करने से प्रगृह्य-संज्ञा अयादि से परे होती है] । इस प्रकार भी विप्रतिषेध अयुक्त है । कैसे ? दो कार्यों का योग जिस में हो, वह विप्रतिषेध होता है । यहां एक [अच्] द्विकार्ययोगवाला नहीं है । एचों को अयादि होते हैं, और ईकार ऊकार को प्रगृह्य संज्ञा । द्विकार्ययोगवाला ही विप्रतिषेध होता है, यह आवश्यक नहीं । तो फिर क्या ? असम्भव भी । वह असम्भव यहां विद्यमान है । वह यहां क्या असम्भव है ? प्रगृह्य-संज्ञा सिद्ध होती हुई अयादि को बाधती है और अयादि सिद्ध होते हुये प्रगृह्य-संज्ञा के निमित्त को विनष्ट करते हैं, यह असम्भव है । असम्भव होने पर विप्रतिषेध युक्त है ।

विवरण—यथास्थित सूत्रपाठ में प्रगृह्यसंज्ञा-सामर्थ्य से अयादि का प्रतिषेध हो जायेगा । इस हेतु के दूषित होने से **विप्रतिषेधाद्वा** वार्तिक में 'वा' वचन प्रथम वार्त्तिकोक्त अयादि-प्रतिषेध के साथ विकल्प दर्शाता है । अर्थात् अयादि का प्रतिषेध करो, अथवा विप्रतिषेध से प्रगृह्य-संज्ञा कहो । मध्य में पठित **'वचनार्थो हि सिद्धे'** इसे कुछ व्याख्याकार वार्तिक मानते हैं । हमारा विचार है कि यह भाष्यकार का ही वचन है । इसे वार्तिक मानने पर वार्तिकपाठ का क्रम उपपन्न नहीं होता ।

सूत्रविपर्यासः कृतो भवति—इस प्रकार का दोषनिदर्शक वचन भाष्यकार ने बहुत्र लिखा है। और सूत्रविपर्यास को महान् दोष मानकर समाधानान्तर दिया है। सूत्रविपर्यास किये गये प्रक्रियाग्रन्थों के अनुसार पढ़ने-पढ़ानेवालों को इस कथन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रक्रियाग्रन्थों से पाणिनीय-व्याकरण पढ़ने में क्या दोष है, इसके लिये हमारा सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ ५२०-५२३ (संवत् २०३०) विशेष रूप से देखना चाहिये।

द्विकार्ययोगः—'द्वयोः कार्ययोः समाहारः=द्विकार्यः' यहां **पात्रादीनां च** (वा० २।४। ५७) से स्त्रीत्व का अभाव जानना चाहिये। तत्पश्चात् 'द्विकार्याभ्यां योगः=द्विकार्ययोगः' यहां **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (२।१।३१) से समास होता है। **ईदूतोः प्रगृह्यसंज्ञा** का अर्थ नागेश ने 'ईकार ऊकार को प्रकृतिभाव' ऐसा लिखा है। प्रकृत सारा प्रयत्न ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध करने का ही है। प्रगृह्यसंज्ञा होने पर प्रकृतिभाव स्वयंसिद्ध है। **अयादीन् बाधते**—इसका भाव यह है कि प्रकृतिभाव के प्रकरण में **अदसो मात्** सूत्र की स्थिति होने से मकार और ईत्व ऊत्व का आश्रय से सिद्धत्व मानकर प्रगृह्यसंज्ञा होगी। उस अवस्था में अयादि की प्रसक्ति ही नहीं होगी। कैयट ने प्रकृतिभाव विधान से अयादि की बाधा कही है। यह ठीक नहीं है। जब तक ईत्व ऊत्व के असिद्धत्व का निवारण नहीं किया जायेगा, तब तक प्रगृह्यसंज्ञा भी नहीं होगी। उसके अभाव में प्रकृतिभाव भी नहीं होगा। अतः **'अयादीन् बाधते'** का अभिप्राय, "ईत्व ऊत्व की आश्रयत्व से सिद्धि मानने पर 'एत्व औत्व' के अभाव होने से अयादि की स्वतः प्राप्ति नहीं होगी" से ही है। इस तात्पर्य को न समझकर पूर्वपक्षी कहेगा—**न चात्रेत्वोत्वे स्तो नापि मकारः ॥**

[भाष्यम्] एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। सतोर्हि विप्रतिषेधो भवति। न चात्रेत्वोत्वे स्तः, नापि मकारः। उभयमप्यसिद्धम्।

आश्रयात् सिद्धत्वं यथा रोरुत्वे ॥४॥

आश्रयात् सिद्धत्वं भविष्यति। तद्यथा रुरुत्वे आश्रयात् सिद्धो भवति।

किं पुनः कारणं रुरुत्वे आश्रयात् सिद्धो भवति, न पुनर्यत्रैव रुः सिद्धः, तत्रैवोत्वमप्युच्यते? नैवं शक्यम्।

असिद्धे ह्युत्वे आद्गुणाऽप्रसिद्धिः ॥५॥

असिद्धे ह्युत्वे आद्गुणस्याऽप्रसिद्धिः स्यात्—वृक्षोऽत्र प्लक्षोऽत्र। तस्मात्तत्राश्रयात् सिद्धत्वमेषितव्यम्। तत्र यथाश्रयात् सिद्धत्वं भवति, एवमिहाप्याश्रयात् सिद्धत्वं भविष्यति ॥

व्याख्या—इस प्रकार भी विप्रतिषेध अयुक्त है। दो विद्यमानों में ही विप्रतिषेध होता है। यहां [प्रगृह्य प्रकृत्या (द्र०—६।१।१२१) के विषय में प्रगृह्य-संज्ञा-विधायक सूत्र के उपस्थित होने पर भी] ईत्व ऊत्व नहीं हैं, और ना ही मकार है। दोनों ही असिद्ध हैं।

आश्रय से सिद्धत्व होगा, जैसे रु का उत्व में।

[ईत्व ऊत्व और मकार का] आश्रय से सिद्ध हो जायेगा। जैसे [ससजुषो रुः (८।२।६६) से विहित] रु उत्व [अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१०९)] में आश्रय से सिद्ध होता है।

क्या कारण है कि 'रु' उत्व में आश्रय-सामर्थ्य से सिद्ध होता है। क्यों नहीं [८।२।६६ से आगे] जहां रु सिद्ध है, वहीं उत्व भी कहा जाता है ? ऐसा नहीं कर सकते।

असिद्ध प्रकरण में उत्व कहने पर आद् गुणः [से विहित गुण] की सिद्धि नहीं होवे।

असिद्ध-प्रकरण में [जहां ८।२।६६ से आगे रु सिद्ध रहता है, वहां] उत्व कहने पर [उत्व के असिद्ध होने से] आद् गुणः (६।१।८४) [से विहित गुण] की सिद्धि न होवे—वृक्षोऽत्र, प्लक्षोऽत्र। इसलिये वहां (=उत्व में रु का) आश्रय से सिद्धत्व चाहना चाहिये। जैसे वहां (=उत्व में रु का) आश्रय से सिद्धत्व होता है, उसी प्रकार (=प्रगृह्य को प्रकृति-भाव-विधान-प्रकरण में उपस्थित अदसो मात् में) भी आश्रय से [ईत्व उत्व और मत्व का] सिद्धत्व होगा।

विवरण—कार्यकालपक्ष में **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** (६।१।१२१) के समीप उपस्थित होकर **अदसो मात्** द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा-विधान स्वीकार करके वहां ईत्व ऊत्व की आश्रय से सिद्धि मानकर समाधान प्रस्तुत किया था। परन्तु साक्षात् आश्रयत्व से सिद्धि का निर्देश न करने से पूर्वपक्षी उक्त अभिप्राय को न समझकर कहता है—**एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः**। ईत्व ऊत्व की असिद्ध होने से प्रगृह्यसंज्ञा भी नहीं होती। **न चात्रेत्वोत्वे स्तः नापि मकारः** का भाव यह है—जिन ईत्व ऊत्व की प्रगृह्यसंज्ञा कही है, वे तो असिद्ध होने से हैं ही नहीं। साथ ही उनकी प्रगृह्यसंज्ञा का निमित्त मकार भी असिद्ध होने से नहीं है।

आश्रयत्वात् सिद्धत्वं भविष्यति—इसका तात्पर्य इतना ही है कि प्रकृतिभाव के प्रकरण में प्रगृह्यसंज्ञा का विधान होने पर प्रगृह्यसंज्ञा के प्रति ईत्व ऊत्व सिद्ध होंगे। उनके सिद्ध होने पर प्रगृह्यसंज्ञा, और अयादि का विप्रतिषेध होने पर प्रगृह्यसंज्ञा अयादि को बाध लेगी। यह भाष्य के प्रकरणानुसार व्याख्या है। इसी को शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार लिखा है—'ईत्वादि के अनुवाद से विधीयमान प्रगृह्यसंज्ञा के प्रति ईत्वादि **वृद्धकुमारी न्याय**[1] से सिद्ध होते हैं। इस प्रकार ईत्वादि को प्रवृत्त करके प्रगृह्यसंज्ञा हो जायेगी'। (हस्तलेख, पृष्ठ

१. वृद्धकुमारी न्याय का निर्देश भाष्यकार ने इस प्रकार किया है—'इन्द्र ने वृद्धकुमारी से कहा 'वर मांग'। उसने वर मांगा—'मेरे पुत्र कांसे के पात्र में बहुत दूध और घृत से युक्त भोजन करें'। उस वृद्धकुमारी का पहले पति ही नहीं, कहां से पुत्र, कहां से गौवें, और कहां से धान्य होवे ? परन्तु उसने एक ही वर-वाक्य से पति पुत्र गौवें और धान्य को प्राप्त कर लिया। द्र०—महा० ८।२।३॥

३९३)। कैयट ने लिखा है—'प्रगृह्यसंज्ञा में कार्यीरूप से आश्रित ईत्वादि के असिद्ध न होने से ईत्वादि और अयादि के विप्रतिषेध का वार्तिक से निरूपण किया है। क्योंकि **सतो हि विप्रतिषेधो भवति** से पूर्वपक्ष में ईत्वादि के ही विप्रतिषेध पर आक्षेप किया है।' इसका शिवरामेन्द्र सरस्वती ने खण्डन किया है—'अयादि के साथ प्रगृह्यसंज्ञा के विप्रतिषेध का ही आरम्भ में निर्देश किया है। अतः ईत्व ऊत्व की असिद्धता के द्वारा उस पर ही पूर्वपक्षी ने आक्षेप किया है। इस कारण उसी के यहां समाधान का उपपादन जानना चाहिये' (द्र०—हस्तलेख पृष्ठ ३९३, मुद्रित पृष्ठ ३२)।

यत्रैव रुः सिद्धः—इससे रु-विधायक **ससजुषो रुः** (८।२।६६) से आगे का सारा प्रकरण सामान्यरूप से लक्षित होता है। कैयट आदि ने लिखा है—**रोः सुपि** (८।३।१६) के अनन्तर **'अत उः'** ऐसा सूत्र कहना चाहिये। इस का अर्थ होगा—'अकार से परे रु को उ होता है।' इस पाठक्रम में 'अप्लुतादप्लुते' भी नहीं कहना पड़ता, क्योंकि प्लुत यहां सिद्ध है।

[भाष्यम्] [1]वचनसामर्थ्याद्वा ॥६॥

अथवा प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति।

[2]योगविभागाद्वा ॥७॥

अथवा योगविभागः करिष्यते—'अदसः'। अदस ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति। ततो—'मात्'। माच्च परे ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति, 'अदसः' इत्येव। किमर्थो योगविभागः? एको यत्तत्सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तदर्थः, अपरो यदसिद्धे। इहापि तर्हि प्राप्नोति—अमुया अमुयोरिति। किं च स्याद्यद्यत्र प्रगृह्यसंज्ञा स्यात्? प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावः प्रसज्येत। नैष दोषः। पदान्तप्रकरणे प्रकृतिभावः, न चैष पदान्तः। एवमपि 'अमुकेऽत्र' अत्रापि प्राप्नोति। 'द्विवचनम्' इति वर्त्तते। यदि द्विवचनमिति वर्त्तते, अमी अत्र, अत्र न प्राप्नोति। एवं तर्हि एदन्तमिति निवृत्तम् ॥

व्याख्या—[1]अथवा [प्रगृह्यसंज्ञा] वचन-सामर्थ्य से [अयादि नहीं होंगे]।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा वचन-सामर्थ्य से अयादि नहीं होंगे।

[2]अथवा योगविभाग से [अयादि नहीं होंगे]।

अथवा योगविभाग करेंगे—'अदसः', अदस् सम्बन्धी ईदादि प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं। उस के पश्चात् कहेंगे—'मात्'। अदस् के ही मकार से परे ईदादि प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं। योगविभाग किसलिये है? एक उसके लिये है जो सिद्ध-विषय में प्रगृह्यसंज्ञा का कार्य है, और दूसरा जो असिद्धविषय में प्रगृह्य-संज्ञा का कार्य है उसके लिये। तब तो यहां भी [प्रगृह्यसंज्ञा] प्राप्त होती है—अमुया अमुयोः। क्या होगा यदि यहां प्रगृह्यसंज्ञा होवे? प्रगृह्य-

१. इदं वार्त्तिकमिति नागेशभट्ट आह, अन्ये तु वार्त्तिकमिदं न पठन्ति।
२. नागेशभट्ट इसे वार्तिक मानते हैं, अन्य इसे नहीं पढ़ते।

संज्ञा के आश्रय प्रकृतिभाव प्राप्त होगा। यह दोष नहीं है। पदान्त के प्रकरण में प्रकृतिभाव होता है। यह (=अमुया अमुयोः) पदान्त नहीं है। इस प्रकार (=पदान्त-प्रकरण में प्रकृतिभाव होने पर) भी 'अमुकेऽत्र' यहां भी [प्रगृह्यसंज्ञा] प्राप्त होती है। द्विवचन की अनुवृत्ति आ रही है [अमुके बहुवचनान्त है]। यदि द्विवचनान्त की अनुवृत्ति है, तो अमी अत्र यहां [प्रगृह्यसंज्ञा] प्राप्त नहीं होती। अच्छा तो 'एदन्त' निवृत्त हो गया।

विवरण—कैयट ने लिखा है कि **वचनसामर्थ्याद् वा** समाधान यथोद्देश-पक्ष में है। यह ठीक नहीं है। इस से पूर्व समाधान कार्यकाल-पक्ष में है, और उत्तर समाधान **योगविभागाद्वा** भी कार्यकाल पक्ष में है, ऐसा कैयट भी मानते हैं। तब बीच में अप्रासङ्गिक यथोद्देश-पक्ष में समाधान की क्या आवश्यकता थी? इतना ही नहीं, समानपक्ष में ही समाधानान्तर मानकर 'वा' पद भी समर्थित होता है। अन्यथा पक्षान्तर में समाधान मानने पर 'वा' पद का निर्देश उपपन्न नहीं होता। यह दूसरी बात है कि यह समाधान यथोद्देश पक्ष में भी उपपन्न हो जाता है। सम्भवत: कैयट ने सोचा होगा कि भाष्य के आरम्भ में यथोद्देश पक्ष में **प्रगृह्यसंज्ञा-वचनसामर्थ्याद् अयादयो न भविष्यन्ति** कहा है। यहां भी वचनसामर्थ्य का ही निर्देश है, अत: यह भी यथोद्देश-पक्ष के लिये है। कैयट का कथन तब युक्त हो सकता था, जब यह समाधान प्रकृत कार्यकालपक्ष में उपपन्न न होता। कार्यकालपक्ष में प्रकृतिभाव सदेश में प्रगृह्यसंज्ञा वचन है। वहां भी ईत्व ऊत्व असिद्ध है। अत: प्रकृतिभाव सदेश में ही वचन-सामर्थ्य से ईत्व ऊत्व का असिद्धत्व नहीं होता, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये। नागेश ने कैयट के मतानुसार यथोद्देशपक्ष में व्याख्या करके **कार्यकालेऽपि न दोषः** कहकर कार्यकालपक्ष में भी उक्त समाधान का निर्देश कहा है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने तो कैयट के मत का साक्षात् निराकरण किया है।

अदसः—यहां सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी[1] जाननी चाहिये। ईत्व ऊत्व एत्व की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति आती है। **मात्**—इस में **अदसः** की अनुवृत्ति है। **एकः**—यहां योगविभागक्रम से प्रयोजन नहीं कहा है, अपितु व्युत्क्रम से प्रयोजन जानना चाहिये। एक शब्द अन्यपरक है। **दोनों में एक=अन्य मात्** सूत्र जहां 'म' सिद्ध होता है, वहां के लिये अर्थात्—**अणो प्रगृह्यस्यानुनासिकः**(८।४।५६)के लिये है। यहां प्रगृह्यसंज्ञा होने से अवसान में **अमी अमू** के ईकार ऊकार को अनुनासिक नहीं होता। **अपरः**—अन्य अर्थात् प्रथम **अदसः** सूत्र। छायाकार ने न **परः=अपरः**—जो पर नहीं अर्थात् प्रथम, ऐसा अर्थ किया है। वस्तुत: एक और अपर शब्द अन्यार्थ ही है।

---

१. शिवरामेन्द्र सरस्वती ने अवयवषष्ठी मानकर कैयट का खण्डन किया है। और उसके पक्ष में **गौर्यसौ** में अदस् का सामीप्य सम्बन्ध होने से **'गौरी'** में प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होगी, ऐसा दोष दिया है। छायाकार वैद्यनाथ ने शिवरामेन्द्र सरस्वती के कथन का खण्डन किया है। यह खण्डन-मण्डन उनके ग्रन्थों में देखना चाहिये।

अमुया अमुयोः—'अदस् टा' 'अदस् ओस्' इस अवस्था में **त्यदादीनामः** (७।२।१०२)से अत्व—'अद अ टा', 'अद अ ओस्' पररूप, अदन्त होने से स्त्रीलिङ्ग में टाप्—'अदा टा', 'अदा ओस्'। **आङि चापः** (७।३।१०५)से एत्व—'अदे आ' 'अदे ओः'। यहां **अदसोऽसेर्दादु दो मः**(८।२।८०) से उत्व और मकार होता है। परन्तु यह प्रगृह्यसंज्ञा के प्रति असिद्ध हैं, अतः असिद्ध विषय के लिये जो **अदसः** सूत्र है, उसमें मात् का सम्बन्ध नहीं है। इसलिये 'अदे आ', 'अदे ओः' यहां अदस् सम्बन्धी एकार के होने से उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होगी, और अयादेश प्राप्त नहीं होगा। **पदान्तप्रकरणे**—प्रकृतिभाव-प्रकरण में **एङः पदान्तादति** (६।१।१०५) से पदान्तग्रहण की अनुवृत्ति है।

एवं तर्हि एदन्तमिति निवृत्तम्—यद्यपि **'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः** (=एकसूत्र में पठित शब्दों की साथ-साथ प्रवृत्ति होती है, और साथ-साथ निवृत्ति होती है) यह साधारण नियम है, परन्तु **क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते** (=कहीं-कहीं सह निर्दिष्टों में से एकदेश की भी अनुवृत्ति होती है) नियम से एकदेश का भी अनुवर्तन होता है। कैयट आदि ने 'ईत् ऊत्' में ही स्वरितत्व प्रतिज्ञानसामर्थ्य से एत्व की निवृत्ति कही है। परन्तु यह चिन्त्य है। अधिकारनिर्देशार्थ स्वरितचिह्न समुदाय पर एक ही होता है, न कि प्रत्यवयव भिन्न-भिन्न। अतः व्याख्यान से यहां केवल ईत्व ऊत्व की अनुवृत्ति जाननी चाहिये। नागेश ने लिखा है कि—'सिद्धान्त यह है कि 'मात्' ग्रहण व्यर्थ है'। यह चिन्त्य है। 'मात्' अंश होने पर भी योगविभाग बनता है। यदि यह कहो कि एदन्त की निवृत्ति मानने से यथान्यास **अदसो मात्** एकसूत्र में 'मात्' ग्रहण व्यर्थ है। एदन्त की निवृत्ति होने से ही **अमुकेऽत्र** में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी, यह कथन भी चिन्त्य है। एकदेश अनुवृत्ति क्वचित् ही आश्रित होती है। यह परिभाषास्थ 'क्वचित्' पद से ही स्पष्ट है। इतना ही नहीं, इस पक्ष में व्याख्यानरूप गौरव होता है। इसलिये यथान्यास सूत्र में 'मात्' ग्रहण युक्त है। यदि मात् ग्रहण व्यर्थ होता, तो भाष्यकार स्वयं उसकी व्यर्थता स्पष्ट कर देते॥

[भाष्यम्] [1]माथीदीदाद्यर्थानां वा ॥८॥

अथवाऽऽहायम्—'अदसो मात्' इति। न च ईत्वोत्वे स्तः, नाऽपि मकारः। त एवं विज्ञास्यामः—'माथीदीदाद्यर्थानाम्' इति।

उक्तं वा ॥९॥

किमुक्तम्? 'अदस ईत्वोत्वे स्वरे बहिष्पदलक्षणे [सिद्धे वक्तव्ये] प्रगृह्यसंज्ञायां च' इति॥

१. नागेशभट्टः वार्तिकमिदमित्याह, अन्ये तु नैतत् पठन्ति।

व्याख्या—'[1]अथवा 'म' के लिये जो उससे परे 'ईत् आदि' के लिये जो उनकी [प्रगृह्य-संज्ञा होती है, ऐसा जाना जायेगा]।

अथवा यह सूत्रकार कहते हैं—अदसो मात्। नाही ईत्व ऊत्व हैं, और ना ही मकार। इससे ऐसा जानेंगे—म के लिये जो उससे परे ईत् आदि के लिये जो उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

अथवा कह दिया।

क्या कह दिया? अदस् के ईत्व ऊत्व बाहर के पद में व्यवस्थित स्वर के परे रहने पर [सिद्ध कहने चाहियें] और प्रगृह्यसंज्ञा में भी सिद्ध कहने चाहियें।

विवरण—'मार्थात्' इस का विग्रह इस प्रकार जानना चाहिये—**म: अर्थ:(=प्रयोजनं) यस्य स मार्थ:, तस्मात्**। इसी प्रकार **'ईदाद्यर्थानाम्'** का—**ईत् आदिर्येषां ते ईदादय:। ईदादय: अर्था:(=प्रयोजनानि) येषां ते ईदाद्यर्था:, तेषाम् ईदाद्यर्थानाम्** विग्रह होगा। पहला समाधान योगविभाग द्वारा किया था। यह समाधान एकयोगपक्ष में दिया है। यहां तादर्थ्यलक्षणा से 'म' आदेश के लिये जो स्थानी दकार उसे सूत्र में 'म' शब्द से कहा है। इसी प्रकार ईकार ऊकार एकार आदेशों के लिये जो स्थानी ईत् ऊत् एत् पद से कहा है। इस कल्पना में स्थानी की प्रगृह्यसंज्ञा होने से उनके स्थान पर होनेवाले ईत् आदि की भी स्थानिद्भाव से प्रगृह्य-संज्ञा हो जायेगी। इस से ईत्वादि के असिद्धत्व का दोष नहीं आयेगा। तथा **अमी अत्र, अमू अत्र, अमी आसते, अमू आसाते** में अय् आव् और एकादेश नहीं होंगे। **अमी अत्र** में ईत्व के असिद्ध होने से यणादेश भी नहीं होगा।

उक्तं वा—इससे **'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ'** (८।२।६) सूत्र पर कहे गये वार्तिक का निर्देश किया है। वह वार्तिक है—**अदस ईत्वोत्वे०**। 'स्वर' से यहां अच् अभिप्रेत है। बहिष्पद-लक्षणे का विग्रह इस प्रकार जानना चाहिये—**बहिश्च तत्पदं बहिष्पदम्, बहिष्पदं लक्षणम् (=आश्रयो) यस्य तत् बहिष्पदलक्षणम्, तस्मिन्**। यहां 'बहिष्पदम्' से अदस् से बहिर्भूत पद अभिप्रेत है। इस वार्तिक से अदस् से बहिर्भूत पद के आश्रित अच् के परे ईत्व ऊत्व को सिद्ध कहा है। बहिष्पदलक्षण कहने से 'अद स् टा=अद टा=अदा टा=**अदे आ**', और **अदे ओस्** में ईत्व ऊत्व असिद्ध हो जायेंगे। **प्रगृह्यसंज्ञायां च** वार्तिक से प्रगृह्यसंज्ञा में भी ईत्व ऊत्व सिद्ध होंगे। स्थानिवद्भाव से **अमी अमू** के ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा होने से **अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक:**(८।४।५६) से अवसान में अनुनासिक भी नहीं होगा॥

[भाष्यम्] तत्र सकि दोष: ॥१०॥

तत्र सककारे दोषो भवति—अमुकेऽत्र।

न वा ग्रहणविशेषणत्वात् ॥११॥

न वैष दोष:। किं कारणम्? 'ग्रहणविशेषणत्वात्'। न माद्ग्रहणेन ईदाद्यन्तं विशेष्यते। किं तर्हि? ईदादयो विशेष्यन्ते—'मात्परे ये ईदादय:' इति ॥१२॥

---

१. नागेश इसे वार्तिक मानते हैं। अन्य इसे नहीं पढ़ते।

व्याख्या—वहां (='अदसो मात्' न्यास में) सककार में दोष होता है।

वहां (='अदसो मात्' न्यास में) सककार में दोष होता है—अमुकेऽत्र।

[यह दोष] नहीं है, ग्रहण का विशेषण होने से।

यह दोष नहीं है। क्या कारण है? ग्रहण का विशेषण होने से। मात् ग्रहण से ईदाद्यन्त को विशेषित नहीं किया जाता है। तो किसे किया जाता है? ईदादि विशेषित किये जाते हैं—'म' से परे जो ईदादि उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है। [अमुकेऽत्र में मकार से परे एकार नहीं है। अतः प्रगृह्य-संज्ञा नहीं होगी।]

विवरण—पूर्वसूत्र में जैसे ईदादि से ईदाद्यन्त का ग्रहण किया है, तद्वत् यहां भी ईदाद्यन्त का ग्रहण होने से **अदसो मात्** का अर्थ होगा—'अदस्सम्बन्धी मकार से परे जो ईदाद्यन्त उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है। **अमुकेऽत्र** में मकार से परे जो 'के' भाग है, वह एकारान्त है। **ईदादयो विशेष्यन्ते**—मकार से परे ईदादि की प्रगृह्यसंज्ञा कहने पर **अमुकेऽत्र** में ककार का व्यवधान होने से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी। यद्यपि **योगविभागाद्वा** पक्ष में दोषप्रसङ्ग से **'एदन्तमिति निवृत्तम्'** कहा है, परन्तु एकयोग में उसकी अनुवृत्ति की निवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं है। **अमुकेऽत्र** में जो दोष उपस्थित होता है, उसका 'मात्' विशेषण से निवर्तन हो जाता है॥१२॥



[भाष्यम्] शे ॥१।१।१३॥

इह कस्मान्न भवति—काशे, कुशे, वंशे इति?

शेऽर्थवद्ग्रहणात् ॥१॥

अर्थवतः शे शब्दस्य ग्रहणम्, न चैषोऽर्थवान्। एवमपि 'हरिशे' 'बभ्रुशे' इत्यत्रापि प्राप्नोति। एवं तर्हि 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' इत्येवं न भविष्यति।

अथवा पुनरस्तु—'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति। कथं तर्हि—हरिशे बभ्रुशे इति? एकोऽत्र विभक्त्यर्थेनार्थवान्, अपरस्तद्धितार्थेन, समुदायोऽनर्थकः॥१३॥

व्याख्या—यहां [प्रगृह्यसंज्ञा] क्यों नहीं होती—काशे, कुशे, वंशे इति।

'शे' में अर्थवान् [शे] का ग्रहण होने से।

अर्थवान् 'शे' शब्द का ग्रहण है। यह (='काशे' आदि में श्रूयमाण 'शे') अर्थवान् नहीं है [क्योंकि यह अर्थवान् 'काशे' आदि का एकदेश है। एकदेश होने से अर्थवान् नहीं है]। इस प्रकार भी हरिशे बभ्रुशे यहां [प्रगृह्यसंज्ञा] प्राप्त होती है [क्योंकि यहां मत्वर्थक श प्रत्यय (द्र०—५।२।१००) है, और उसके साथ अर्थवान् सप्तमी विभक्ति का संयोग है]। अच्छा तो 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' (=लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है) इस नियम से [प्रतिपदोक्त 'शे' का ही ग्रहण होगा, लाक्षणिक 'शे' का] ग्रहण नहीं होगा। ['सुपां सुलुक्०' (७।१।३९) में सुबादेश 'शे' साक्षात् पठित है, और हरिशे में मत्वर्थक 'श' प्रत्यय के साथ सप्तमी का योग होकर बना हुआ लाक्षणिक 'शे' है।]

अथवा [काशे, कुशे, वंशे में] 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' (=अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता) इस नियम से [प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी। क्योंकि 'काशे' आदि में 'शे' अवयव अनर्थक है]। तो कैसे हरिशे बभ्रुशे [में प्रगृह्यसंज्ञा का वारण होगा? क्योंकि यह 'शे' अर्थवान् है]। यहां पर एक (='ङि' विभक्ति) विभक्त्यर्थ से अर्थवान् है, दूसरा (='श' प्रत्यय) तद्धितार्थ (=मत्वर्थ) से अर्थवान् है। किन्तु समुदाय 'शे' अनर्थक है [क्योंकि 'ङि' विभक्ति का सम्बन्ध पूरे 'हरिश' के साथ है, केवल मत्वर्थक 'शे' के ही साथ नहीं है। अतः अवयवरूप में 'ङि' और 'शे' के अर्थवान् होने पर भी समुदाय अनर्थक हैं]।

विवरण—इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या में भर्तृहरि कैयट एवं शिवरामेन्द्र सरस्वती ने अनेक क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं। भर्तृहरि के पदगामी कैयट की व्याख्या का शिवरामेन्द्र सरस्वती ने प्रत्यक्षर का खण्डन किया है। इसलिये हमने उनकी उपेक्षा करके साधारण सार्वजनीन अभिप्राय के अनुसार व्याख्यान किया है। विशेषार्थ के जिज्ञासु तीनों की व्याख्याओं का अनुशीलन करके यथोचित अभिप्राय ग्रहण करें॥१३॥

[भाष्यम्] निपात एकाजनाङ्॥१।१।१४॥

निपात इति किमर्थम्? चकारात्र, जहारात्र॥

व्याख्या—'निपात' का ग्रहण किसलिये किया है? चकारात्र जहारात्र [में प्रगृह्यसंज्ञा न होवे]॥

विवरण—सूत्र में 'अनाङ्' पद पढ़ा है। 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः' (=नञ् से युक्त और इव से युक्त निर्देश में जिसके साथ नञ् और इव का योग होता है, तत्सदृश में कार्य होता है) इस नियम से आङ् के निपात होने से आङ्सदृश की ही प्रगृह्यसंज्ञा होगी। इस अभिप्राय से निपातग्रहण के विषय में प्रश्न किया है। इसका उत्तर दिया

है—चकारात्र जहारात्र में प्रगृह्यसंज्ञा न होवे। इस उत्तर का अभिप्राय यह है कि आङ् का सादृश्य अनेक प्रकार से हो सकता है। आङ् एकाच् है, उसके सादृश्य को लेकर यह भी अर्थ सम्भव है कि आङ्सदृश जो एकाच् है, उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होवे। इस सादृश्य के कारण निपातग्रहण के अभाव में चकार जहार में एकाच् जो णल् (=अ)प्रत्यय है, उसकी प्रगृह्य-संज्ञा प्राप्त होगी। उसको हटाने के लिये तथा स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये निपात ग्रहण किया है॥

[भाष्यम्] एकाजिति किमर्थम्? प्रेदं ब्रह्म, प्रेदं क्षत्रम् (ऐ० ब्रा० ३।११) एकाजित्यप्युच्यमानेऽत्रापि प्राप्नोति, एषोऽपि ह्येकाच्। एकाजिति नायं बहुव्रीहिः—एकोऽज्यस्मिन् सोऽयमेकाच्, एकाजिति। किं तर्हि? तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणः—एकोऽच् एकाच् एकाजिति। यदि तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणः, नार्थ 'एक'ग्रहणेन। इह कस्मान्न भवति—प्रेदं ब्रह्म, प्रेदं क्षत्रम्? 'अजेव यो निपातः' इत्येवं विज्ञायते। किं वक्तव्यमेतत्? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते? 'अज्ग्रहण-सामर्थ्यात्'। यदि हि यत्राच्चान्यच्च तत्र स्याद्, अज्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। अस्ति ह्यन्यदज्ग्रहणस्य प्रयोजनम्। किम्? अजन्तस्य यथा स्यात्, हलन्तस्य मा भूत्। नैव दोषो न प्रयोजनम्॥

व्याख्या—एकाच् का ग्रहण किसलिये किया है? प्रेदं ब्रह्म, प्रेदं क्षत्रम् (ऐ० ब्रा० (३।११) [में 'प्र' की प्रगृह्यसंज्ञा न होवे]। एकाच् कहने पर यहां (=प्रेदम् में) भी प्राप्त होती है, यह भी एकाच् (=एक अच् जिसमें) है। एकाच् यह बहुव्रीहि नहीं है—एक अच् है जिसमें, वह एकाच्। तो क्या है? यह (=एकाच्) समानाधिकरण तत्पुरुष है—एक जो अच्, वह एकाच्, अर्थात् एक अच् रूप ही। यदि यह समानाधिकरण तत्पुरुष है, तो 'एक' ग्रहण से कोई प्रयोजन नहीं [एकाच् ग्रहण के अभाव में]। यहां किस कारण[प्रगृह्यसंज्ञा] नहीं होती—प्रेदं ब्रह्म, प्रेदं क्षत्रम्? 'अच् ही जो निपात' इस प्रकार अर्थ जाना जाता है ['प्र' में अच् और हल् दोनों हैं]। तो क्या यह (=अजेव निपातः) कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये। विना कहे [अजेव यो निपातः अर्थ] कैसे जाना जायेगा? 'अच् के ग्रहण-सामर्थ्य से'। यदि जहां अच् और अन्य (=हल्) दोनों हों वहां होवे, तो अच्ग्रहण अनर्थक होवे। अच् के ग्रहण में तो अन्य ही प्रयोजन है। क्या है? अजन्त [निपात] की [प्रगृह्यसंज्ञा] जैसे होवे, हलन्त की न होवे। [हलन्त की प्रगृह्यसंज्ञा में] न तो कोई दोष होता है, और न कोई प्रयोजन है।

विवरण—'एकाच्' पद में बहुव्रीहि और समानाधिकरण तत्पुरुष ये दो समास हो सकते हैं। अतः इन में से कौनसा समास यहां स्वीकार करना चाहिये इस दृष्टि से यह प्रश्न किया है—**एकाजिति किमर्थम्। प्रेदं ब्रह्म, प्रेदं क्षत्रम्**—'एकाच्' में समानाधिकरण तत्पुरुष स्वीकार करके सिद्धान्ती ने उत्तर दिया है। पूर्वपक्षी सिद्धान्ती के अभिप्राय को न समझकर 'एकाच्' में बहुव्रीहि समास मानकर आक्षेप करता है—एषोऽप्येकाच्।

तत्पुरुषोऽयम्—इस पर कैयट ने लिखा है—'अन्तरङ्ग होने से तथा समस्यमान पद के

अर्थ(=उत्तर पदार्थ)की प्रधानता होने से[1] एकाच् में समानाधिकरण तत्पुरुष जानना चाहिये। बहुव्रीहि में अन्य पदार्थ की प्रधानता होती है'। यह हेतु चिन्त्य है। यदि इस हेतु को स्वीकार कर लिया जाये, तो **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१) आदि अनेक सूत्रों में पठित 'एकाच्' पद में बहुव्रीहि की कल्पना उपपन्न नहीं होगी। ऐसे स्थलों में सर्वत्र शास्त्र में लक्ष्यसिद्धि के अनुरोध से समास का निर्देश किया जाता है। **इह कस्मान्न भवति**—एक ग्रहण न करने पर निपातोऽजनाङ् ऐसा सूत्र-न्यास होगा। तब अच् के निपात का विशेषण होने से **'अजन्त जो निपात'** ऐसा अर्थ होगा। उस अवस्था में 'प्र' के अजन्त निपात होने से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। **अजेव यो निपात:**—इसका तात्पर्य है कि निपात से अच् को विशेषित करेंगे। समानविभक्त्यन्तों में विशेष्य-विशेषणभाव में कामचार होता है, यह शास्त्रकार पूर्व (पृष्ठ २५५ में) कह चुके हैं।[2] तदनुसार यहां निपात से गृह्यमाण को विशेषित करेंगे। यही संकेत **अजेव** में अवधारणार्थक 'एव' शब्द के प्रयोग से भाष्यकार ने यहां किया है। अथवा **सर्वं वाक्यं सावधारणम्** न्याय से **निपातोऽच्** में वक्तृगत अवधारण अर्थ का स्पष्टीकरण किया है।

नैव दोषो न प्रयोजनम्—इस के व्याख्यान में भर्तृहरि ने **अबोऽगमन्, नमोऽकार्षीत्** उदाहरणों को, तथा कैयट ने **पुरोऽहि:** उदाहरण को उपस्थित करके लिखा है—"हलन्त की प्रगृह्यसंज्ञा होने पर प्रकृतिभाव से सस्थानीय 'रु' को **अतो रोरप्लुतादप्लुते** (६।१।१०६) से उकारादेश नहीं होगा। इसका समाधान किया है—प्रगृह्यसंज्ञा की दृष्टि में 'रु' असिद्ध है, अर्थात् 'स्' ही है। सकार को कोई ऐसा कार्यान्तर प्राप्त नहीं है, जिसमें प्रगृह्यसंज्ञा बाधक हो। 'रु' आदेश **अतो रोरप्लुतादप्लुते**(६।१।१०६) में आश्रय-सामर्थ्य से सिद्ध होता है। अतः हलन्त की प्रगृह्यसंज्ञा होने पर भी कोई दोष नहीं है"। इस व्याख्यान के खण्डन में शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—"वस्तुतः यहां उत्व के उत्वनिमित्तक कार्यरूप से प्रकृतिभाव के प्रति सिद्ध होने से उत्व के प्रति प्रकृतिभाव होगा ही [उस अवस्था में **एङः पदान्तादति** (६।१।१०५) से पूर्वरूप नहीं होगा]। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि 'रु' के असिद्ध होने से उत्व भी [प्रगृह्यसंज्ञा में] असिद्ध है। इस कारण उसको प्रकृतिभाव नहीं होता, क्योंकि ऐसा कहने पर **आद् गुण:**(६।१।८४) के प्रति भी रुत्व के असिद्ध होने से उत्व के असिद्धप्राय: होने से गुण भी न होवे। तब **शिवोऽर्च्यः** आदि रूपों की असिद्धि प्राप्त होगी। इसलिये यह (=**नैव दोषो न प्रयोजनम्**)पक्ष अयुक्त है। **'निपात से अच् विशेषित होता है'** यही पक्ष समीचीन है। इस से यथाश्रुत भाष्य के अनुयायी का कथन चिन्त्य है। यथाश्रुत-भाष्य की प्रष्टा की बुद्धि की परीक्षा के लिये प्रवृत्ति का सम्भव होने से"। द्र०—हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ४०५, मुद्रित पृष्ठ ४२।

१. कैयट के वचन का यह अनुवाद 'च' पद के निर्देश से हेतुद्वय मानकर किया है। कैयट का लेख है—'अन्तरङ्गत्वाद् वतिपदार्थप्राधान्याच्चेति भाव:।' नागेश ने वतिपदार्थ के प्राधान्य को अन्तरङ्गत्व में हेतु माना है—'अन्तरङ्गत्वे हेतुमाह।'

२. द्वितीया षष्ठी प्रादुर्भाव्यते। तत्र कामचारः—गृह्यमाणेन वैकं विशेषयितुमिका वा गृह्यमाणम् (१।१।३॥ पृष्ठ २५५)॥

हमारे विचार में 'यथाश्रुत-भाष्य (=नैव दोषो न प्रयोजनम्) प्रष्टा की बुद्धि की परीक्षामात्र के लिये है' युक्त नहीं। यदि ऐसा होता, तो प्रकरण यहीं समाप्त हो जाता। अगला प्रकरण उपर्युक्त **नैव दोषो न प्रयोजनम्** को स्वीकार करके ही उपपन्न होता है, यह **एवमपि कुत एतत्** शब्दों से स्पष्ट है ॥

[भाष्यम्] एवमपि कुत एतत्—द्वयोः परिभाषयोः सावकाशयोः समवस्थितयोः 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' [१।१।२०] इति च 'येन विधिस्तदन्तस्य' [१।१।७१] इति च, इयमिह परिभाषा भविष्यति—'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति, इयं च न भविष्यति—'येन विधिस्तदन्तस्य' इति ? आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—इयमिह परिभाषा भवति—'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति, इयं च न भवति—'येन विधिस्तदन्तस्य' इति, यदयम्—'अनाङ्' इति प्रतिषेधं शास्ति ॥

व्याख्या—**इस प्रकार भी यह कैसे होगा कि—दो सावकाश और समवस्थित (=एक स्थान पर उपस्थित)** 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (१।१।२०) **और** 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) **परिभाषाओं में से यह परिभाषा यहाँ उपस्थित होगी**—'आद्यन्तवदेकस्मिन्', **और यह नहीं होगी**—'येन विधिस्तदन्तस्य' ? **आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि यह परिभाषा यहां उपस्थित होती है**—'आद्यन्तवदेकस्मिन्', **और यह नहीं होती**—'येन विधिस्तदन्तस्य'। **जो यह आचार्य 'अनाङ्' ऐसा प्रतिषेध करते हैं।**

विवरण—**'सावकाशयोः'** कहने से निरवकाश की बाधा नहीं होती, यह स्पष्ट किया है। **आद्यन्तवदेकस्मिन्** को अवकाश है—**धातोः** (६।१।१५६) में। यहां ऊपर से अन्तग्रहण की अनुवृत्ति है। अतः जैसे **'ऊर्णुञ्'** धातु में अन्त को उदात्त होता है, उसी प्रकार **आद्यन्तवदेकस्मिन्** की प्रवृत्ति से 'इण्' आदि में भी अन्तोदात्त हो जाता है। **येन विधिस्तदन्तस्य** को अवकाश है—**एरच्** (३।३।५६) में। यहां इवर्ण धातु से अच् प्रत्यय कहा है। अतः वह जैसे **इण्—अयः** में होता है, वैसे ही **चि-चयः, जि-जयः** में भी **येन विधिस्तदन्तस्य** की उपस्थिति से हो जाता है। **समवस्थितयोः** का अर्थ भर्तृहरि ने **'इह प्राप्तयोः स्वस्वविषये वा समवस्थानात् समवस्थितयोः'** (=प्रकृतसूत्र में उपस्थित दोनों परिभाषाओं में, अथवा अपने-अपने विषय में सम्यग्रूप से अवस्थित परिभाषाओं में) किया है। **परिभाषयोः**—कैयट ने लिखा है कि संज्ञा और अतिदेश पदार्थ होते हैं, इसलिये इन्हें परिभाषा शब्द से कहा है। इसके विवरण में नागेश ने 'संज्ञा' शब्द से **येन विधिस्तदन्तस्य** का ग्रहण माना है, और अतिदेश से **आद्यन्तवदेकस्मिन्** का। वस्तुतः **येन विधिस्तदन्तस्य** परिभाषासूत्र ही है, संज्ञासूत्र नहीं है। क्योंकि जैसे **इको गुणवृद्धी** (१।१।३) परिभाषासूत्र से **मिदेर्गुणः** (७।३।८२) में **इकः** पद उपस्थित होता है, इसी प्रकार **येन विधिस्तस्तदन्तस्य** से **'अन्त'** उपस्थित होता है। **आद्यन्तवदेकस्मिन्** यद्यपि साक्षात्रूप में अतिदेश सूत्र है, परन्तु इसकी भी **अतो दीर्घो यञि, सुपि च** (७।३।१०१, १०२) आदि सूत्रों में अतः का अदन्त अर्थ करने पर **आभ्याम्** में भी दीर्घ करने के लिये उपस्थिति होती है। अथवा **परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते** (=जो शास्त्र में सर्वत्र व्यापृत होकर कार्य करे, वह

'परिभाषा' कहाती है) अथवा **अनियमप्रसङ्गे नियमकारिणी परिभाषा** (=अनियम की प्राप्ति होने पर नियम करनेवाली परिभाषा होती है) इन वचनों के अनुसार अतिदेशसूत्र परिभाषा-सूत्र ही समझे जाते हैं।

इयमिह परिभाषा भविष्यति—का तात्पर्य है कि यहां **आद्यन्तवदेकस्मिन्** परिभाषा कृतार्थ होगी। **इयं च न भविष्यति**—अर्थात् यहां **येन विधिस्तदन्तस्य** परिभाषा के प्रवृत्ति का निमित्त होने पर भी जो मुख्य अजन्त है (यथा प्र परा आदि) उन के अग्रहण से प्रवृत्ति होने पर भी तदन्त परिभाषा कृतार्थ नहीं होगी।

इयमिह परिभाषा भवति आद्यन्तवत्—इस पर कैयट ने लिखा है कि "यदि **'येन विधिस्तदन्तस्य'**(१।१।७१) से तदन्तविधि का निराकरण किया जाता है, तो **आद्यन्तवदेकस्मिन्** (१।१।२०) परिभाषा की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि तदन्तविधि होने पर ही तो अजन्त को कहा प्रगृह्यसंज्ञा कार्य अकेले अज्मात्र में करने के लिये **आद्यन्तवदेकस्मिन्** परिभाषा प्रवृत्त होती है। अत: पहले तदन्तविधि प्रसक्त होती है, पीछे **'अनाङ्'** लिङ्ग से छोड़ दिया जाता है। अथवा **'अनाङ्'** लिङ्ग से अज्ग्रहण को निपात से विशेषित किया जाता है। विशेष्य अच्मात्र में कार्य होने पर तदन्तविधि के अभाव होने से अतिदेश की प्रवृत्ति भी न होवे। फिर भी तदन्तविधि के प्रतिषेधरूप-फल-सम्पत्ति की दृष्टि से कहा है—**'इयमिह परिभाषा भविष्यति आद्यन्तवदेकस्मिन्।'**

पूर्व जो **इयमिह परिभाषा भविष्यति** तथा **इयं च न भविष्यति** का अभिप्राय व्यक्त किया है, तदनुसार यहां भी **इयमिह परिभाषा भवति** तथा **इयं च न भवति** का भी जानना चाहिये। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट की व्याख्या का खण्डन किया है। उसे उन्हीं के ग्रन्थ में देखें(पृष्ठ ४०६-४०७)। हमारे विचार में यह प्रश्नोत्तर प्रौढिवादमात्र है। **आद्यन्तवदेकस्मिन्** की उपस्थिति वहीं होती है, जहां सूत्र में साक्षात् अथवा आवृत्ति से 'अन्त' का सम्बन्ध होवे, अथवा **येन विधिस्तदन्तस्य** से अन्तग्रहण उपस्थित होवे॥

[भाष्यम्] एवं तर्हि—सिद्धे सति यदज्ग्रहणे क्रियमाणे एकग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः—'अन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवति' इति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? 'दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्' इति यदुक्तं तदुपपन्नं भवति॥

व्याख्या—**अच्छा तो—जो यह [उक्त प्रकार] सिद्ध होने पर अज्ग्रहण करने पर भी एकग्रहण आचार्य करते हैं, उससे आचार्य ज्ञापित करते हैं कि—'अन्यत्र वर्ण के ग्रहण में जाति का ग्रहण होता है।' इस के ज्ञापन में क्या प्रयोजन है? 'दम्भ से परे [झलादि सन् को कित्व] हल् ग्रहण के जातिवाचक होने से सिद्ध है' यह जो [वार्तिककार ने] कहा है, वह [विना वचन किये ही] उपपन्न हो जाता है।**

विवरण—यहां कैयट ने लिखा है—'संज्ञा के विधीयमान होने से प्राधान्य होने के कारण संज्ञी गुणभूत है। अतः **पशुना यजेत** [में जैसे विधीयमान याग के प्रति पशु के गुणभूत होने से पशुगत एकत्व विवक्षित है, उसी] के समान यहां भी संज्ञी अच्गत एकत्व की विवक्षा

सिद्ध होने पर एकग्रहण अन्यत्र जाति के सम्प्रत्यय के लिये है।' इसकी व्याख्या में नागेश ने लिखा है—'**ग्रहं संमार्ष्टि**' इत्यादि में संमार्जन ग्रह के लिये होने से ग्रह प्रधान है, अतः ग्रहगत संख्या विवक्षित नहीं होती।' शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के व्याख्यान का खण्डन करते हुए लिखा है—"ग्रह के उद्देश से विधीयमान संमार्ग का प्राधान्य नहीं है। [इसी प्रकार] संज्ञा के संज्ञी के लिये होने से संज्ञा की अपेक्षा से संज्ञियो के ही प्रधान होने से [संज्ञा भी प्रधान नहीं है]। इसीलिये **प्रधान की आवृत्ति होने पर गुण की आवृत्ति होती है,** इस [मीमांसक] न्याय से वृद्धि आदि संज्ञा की अकारादि (=आ ऐ औ) प्रत्येक के प्रति प्रवृत्ति होती है। **गुणगत संख्या अविवक्षित होती है,** ऐसा जैमिनीय शास्त्र के अध्येताओं ने कहीं नहीं कहा।" शिवरामेन्द्रसरस्वतीकृत कैयट के खण्डन को नागेशभट्ट ने **परे तु** ऐसा निर्देश करके अपने शब्दों में इस प्रकार उपस्थित किया है—"संज्ञा स्वकार्य के द्वारा संज्ञियों की उपकारिका होती है, न कि संज्ञी संज्ञा के उपकारक होते हैं। अन्यथा[**ग्रहं सम्मार्ष्टि** में]ग्रह भी कर्म होने से सम्मार्ग के लिये होगा [यथा **पशुं यजेत** में पशु याग के लिये है]। इसलिये विधेय (=पशु आदि के) विशेषण(=एकत्वादि)विवक्षित होते हैं, और अनुवाद्य(=ग्रहादि)के विशेषण (=एकत्वादि) अविवक्षित होते हैं, यह मीमांसकों की मर्यादा ही ज्यायसी है, और भाष्यसम्मत है। इसलिये [कैयट का कथन] चिन्त्य है।" नागेश के कथन की व्याख्या करता हुआ छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड लिखता है— 'गुणगत संख्या अविवक्षित है" ऐसा उन्होंने (=मीमांसकों ने) कहीं नहीं कहा। इसीलिये ग्रह के उद्देश से सन्मार्ग के विधान होने पर भी उस (=संमार्ग) का प्राधान्य नहीं है। इसीलिये वृद्धिसूत्र (१।१।१)में प्रधानों (=आ ऐ औ संज्ञियों) के अनुरोध से संज्ञा की आवृत्ति कही है।" कैयट ने इस विषय पर **समर्थः पदविधिः** (२।१।१) सूत्र के भाष्य में **सिद्धं तु समर्थानामिति वचनात्** (वा० १९) के भाष्य के व्याख्यान में भी लिखा है। वहां भी नागेश ने कैयट के विचार को अस्पष्ट शब्दों में (=**संख्याविवक्षामात्रे दृष्टान्त उक्तः** कहकर)चिन्त्य कहा है। इस विषय में हमारी भाष्यव्याख्या (भाग २, पृष्ठ ३७, ३८) द्रष्टव्य है। वहां हमने पृष्ठ ३८, पं० १२ पर **पशुना यजेत** में एकत्व क्यों विवक्षित है, उसकी व्याख्या 'पशु को करण' मानकर की है। परन्तु **पशुं यजेत** (द्र०—शाबरभाष्य ३।१। अधि० ७) वाक्य में हमारी व्याख्या युक्त न होगी। अतः वहां 'उपादेय द्रव्यगत संख्या विवक्षित होती है, उद्देशगत विवक्षित नहीं होती' ऐसा समाधान करना चाहिये। प्रकृत सम्पूर्ण विचार के लिये मीमांसा अ० ३, पा० १, अधि० ७ देखना चाहिये। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि **पशुना यजेत** में कर्म में तृतीया है, करण में नहीं। कर्म में तृतीया विधान **तृतीया च होश्छन्दसि** (२।३।३) में 'जुहोति' को देवतोद्देश से क्रियमाण त्याग का उपलक्षणार्थ जानना चाहिये। इससे **यजति** के योग में भी **पशुना यजेत, पशुं यजेत** प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं॥

[भाष्यम्] **अनाङिति किमर्थम्? आ उदकान्ताद् ओदकान्तात्। इह कस्मान्न भवति—आ एवं नु मन्यसे, आ एवं किल तदिति? सानुबन्धकस्येदमाकारस्य ग्रहणम्, अननुबन्धकश्चात्राऽऽकारः। क्व पुनरयं सानुबन्धकः, क्व निरनुबन्धकः?**

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्' ॥१४॥

व्याख्या—**'अनाङ्' का ग्रहण किसलिये किया है ? आ उदकान्तात्, ओदकान्तात् [में प्रगृह्यसंज्ञा न होवे]। तो फिर आ एवं नु मन्यसे, आ एव किल तत् में [प्रगृह्य-संज्ञा का निषेध] क्यों नहीं होता ? यह (=अनाङ्) सानुबन्धक आकार का ग्रहण है। यहां (=आ एवं में) निरनुबन्धक आकार है। कहां सानुबन्धक आकार होता है, और कहां निरनु-बन्धक ? 'ईषत् के अर्थ में, क्रिया के योग में, मर्यादा और अभिविधि में जो आकार होता है, उसको ङित् अर्थात् आङ् जानना चाहिये। वाक्य और स्मरण में जो आकार प्रयुक्त होता है, वह अङित् होता है।**

विवरण—**अनाङिति किमर्थम्**—इस पर कैयट का कथन है—"ङित् अङित् आकार के विषयभेद [जो आगे कहा जायेगा] के प्रदर्शन के लिये प्रश्न है"। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—"ङकार अनुबन्ध का प्रयोग में सम्बन्ध न होने से ङकारानुबन्ध के परिचय का कठिनता से ज्ञान होने से प्रश्न किया है। यदि कैयटोक्त व्याख्यान अभिप्रेत होता, तो **क्व पुनरयं सानुबन्धः क्व निरनुबन्धः** प्रश्न करना चाहिये।" छायाकार ने भी शिवरामेन्द्र सरस्वती का व्याख्यान ही स्वशब्दों में उपस्थित किया है। वस्तुतः यह आकार ङित् है, यह अङित् है, यह शास्त्रकारों की कल्पना स्वशास्त्रीय कार्यनिर्वाहार्थ है। लौकिक जनों की दृष्टि में तो एक ही आकार है।

इह कस्मान्न भवति—अनुबन्ध की निवृत्ति हो जाने पर ङित् अङित् का विशेष (=भेद) ज्ञान नहीं रहने से प्रश्न किया है। **आ एवं नु मन्यसे**—अन्त में वाक्य और स्मरण में आकार को अङित् कहा है। वहां भर्तृहरि ने लिखा है—"पहले कोई विधिविषय वा प्रतिषेध-विषय नियत है, उसके अन्यथाकरण(=झुठलाने)में यह वाक्य प्रयुक्त होता है—अर्थात् पहले तुम ऐसा नहीं मानते थे, अब मानते हो। दूसरे व्याख्याकार कहते हैं—वाक्य के आरम्भ में वाक्य का अवयवरूप यहां आकार पठित है। ऐसा मानने पर अनर्थक आङ् को अनुनासिक कहा है (द्र०—**आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्** ६।१।१२२)। यहां शुद्धरूप से पठित आकार का आनर्थक्य नहीं हो सकता [अतः यह व्याख्यान अशुद्ध है]।" शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—"वाक्य की अन्यार्थकता का सूचक आकार है। यथा—देवदत्त ने विष्णुमित्र से कहा—यज्ञदत्त को किसी उपाय से मारूंगा। इस समाचार को विष्णुमित्र ने स्वमित्र यज्ञदत्त को कह दिया। कुछ दिनों के पीछे देवदत्त ने यज्ञदत्त को बुलाया—आओ देवदत्त! जंगल में जाकर हम दोनों पत्ते लावेंगे। इस को सुनकर यज्ञदत्त ने देवदत्त को कहा—**आ एवं नु मन्यसे। अर्थात्** ऐसी बात नहीं है, जो तुम कह रहे हो, तुम्हारा अभिप्राय अन्य है]।" **आ एवं किल तत्**—यहां पर अभिमत (=इष्ट) अर्थ का स्मरण अभिप्रेत है। भर्तृहरि ने लिखा है—"स्मर्तव्य विषय की स्मृति को कहनेवाला आकार पहले प्रयुक्त होता है, तत्पश्चात् **एवं किल तत्** प्रयुक्त होता है। [अर्थात् **आ**=हां स्मरण आया, **एवं किल तत्**=वह वस्तु ऐसी ही है।]"

ईषदर्थे—**आ उष्णम्**=**ओष्णम्**, **आङ् ईषदर्थे** (वा० २।२।१८)। **क्रियायोगे**—**आ इतः**=**एतः**, प्रादिगण (१।४।५८) में आङ् का पाठ है। **मर्यादाभिविधौ**—वाक्य में सीमा-निदर्शक स्थान से पूर्व तक 'मर्यादा' कहाती है, और सीमा-निदर्शक सहित 'अभिविधि' कही जाती है। मर्यादा में—**आ उदकान्तम्**=**ओदकान्तं प्रियं पन्थानमनु व्रजेत** (महाभाष्य ४।१।५६ में निर्दिष्ट वचन)=ग्राम से बाहर उदकस्थानपर्यन्त (=प्रथम उदकस्थान से पूर्व तक) प्रिय पथिक को छोड़ने जावे। अभिविधि में—**आ अहिच्छत्रात्**=**आहिच्छत्राद् वृष्टो देवः** (=अहिच्छत्र सहित वर्षा हुई)। **आङ् मर्यादाभिविध्योः** (२।१।१२) से मर्यादा और अभिविधि को कहनेवाला आङ् समास को प्राप्त होता है।

मर्यादाभिविधौ—यहां **मर्यादा च अभिविधि च**=**मर्यादाभिविधि** यह समाहार में नपुंसकलिङ्ग होगा। उसका **मर्यादाभिविधिणि** प्रयोग होना चाहिये। यहां पुंल्लिङ्ग में प्रयोग है। अतः **मर्यादायुक्तोऽभिविधिः** इस प्रकार **शाकपार्थिवादीनामुत्तरपदलोपश्च** (वा० २।१।५६) से समास जानना चाहिये। अन्यथा **अभिविधौ च यः** पुंल्लिङ्गनिर्देश उपपन्न होगा (द्र०—शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत व्याख्या, हस्तलेख पृष्ठ ४११, मुद्रित पृष्ठ ४४)। हमारे विचार में यह लेख चिन्त्य है। सूत्रकार ने **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** (१।२।२७) में पुंल्लिङ्गनिर्देश से समाहारद्वन्द्वता नपुंसकता का प्रायिकत्व का ज्ञापन किया है (द्र०—हमारी महाभाष्यव्याख्या, भाग २, पृष्ठ ३६-४६)।

एतमातम्—पूर्व ईषदादि अर्थ में उक्त आकार का **एतत्** से निर्देश होने से अन्वादेश में **एनम्** निर्देश होना चाहिये। इसका समाधान नागेश ने इस प्रकार किया है—'प्रकृत में दो का विधान न होने से यहां अन्वादेश नहीं है। इस कारण **एनम्** नहीं किया, यह कतिपय व्याख्याकार कहते हैं।' इस पर छायाकार ने लिखा है—'यह शब्दकौस्तुभकार आदि का मत है। इस में अरुचि का बीज तो भाष्यकार द्वारा कथित को अनुकथनमात्र अन्वादेश कहना है।' शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—'पूर्ववाक्य में पठित **'यत्'** शब्द की नित्य उत्तर वाक्य के साथ अपेक्षा होने से [पूर्ववाक्य द्वारा] अर्धोक्तिरूप होने से उक्त की पुनरुक्ति नहीं है, इससे अन्वादेश नहीं हुआ।' (हस्तलेख, पृष्ठ ४११, मुद्रित पृष्ठ ४४)। छायाकार ने भी शिवरामेन्द्र सरस्वती के कथन को ही स्वीकार किया है। **इमकाभ्यां रात्रिरधीता अथो आभ्यामहरप्यधीतम्** में पूर्ववाक्य में अर्धोक्ति नहीं है। न्यास में **एतमाङ ङितम्** पाठ है ॥१४॥

[भाष्यम्] ओत् ॥१।१।१५॥

किमुदाहरणम्? आहो इति, उताहो इति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। निपात-

समाहारोऽयम् आह उ=आहो इति, उत आह उ=उताहो इति। तत्र 'निपात एकाजनाङ्' [१।१।१४] इत्येव सिद्धम्। एवं तर्ह्येकनिपाता इमे। अथवा प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः। ओ षु यातं मरुतः। ओ षु यातं बृहती शक्वरी च। ओ चित्सखायं सख्या ववृत्याम् (ऋ० १०।१०।१)॥

व्याख्या—[इस सूत्र का] क्या उदाहरण है? आहो इति, उताहो इति। यह प्रयोजन नहीं है। यह निपात का समाहार (=एकत्रीकरण=समुदाय) है। आह उ=आहो इति, उत आह उ=उताहो इति। वहां (=आहो उताहो में) [समाहार होने से 'उ' की] निपात एकाजनाङ् (१।१।१४) से [प्रगृह्यसंज्ञा] सिद्ध है। अच्छा तो ये एक निपात हैं [निपातों का समाहार नहीं हैं]। अथवा प्रतिषिद्ध (=आङ्) के लिये यह [प्रगृह्यसंज्ञा का] आरम्भ है। ओ षु यातं मरुतः; ओ षु यातं बृहती शक्वरी च; ओ चित्सखायं सख्या ववृत्याम् (ऋ० १०।१०।१)।

विवरण—किमुदाहरणम्—चादिगण (१।४।५८) में **उत आह उ** ये पृथक्-पृथक् भी निपात पढ़े हैं, और **आहो उताहो** ये समुदाय भी पढ़े हैं। अतः उभयथा पाठदर्शन से सन्देह होता है कि **आहो उताहो** स्वतन्त्र निपात हैं, अथवा निपातों का समुदाय है? निपातों का समुदाय मानने पर **आहो इति उताहो** इति में अन्त्य 'उ' निपात की पूर्वसूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध मानकर प्रश्न किया है, और एक निपात मानकर समाधान किया है। यह सीधीसी भाष्य की व्याख्या है। इस को टीकाकारों ने व्यर्थ क्लिष्ट बना दिया है।

अथवा प्रतिषिद्धार्थः—'दुर्जनसन्तोष न्याय' से आहो उताहो को निपात-समुदाय मानकर पूर्वसूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा की सिद्धि होने पर सूत्र का प्रयोजनान्तर देते हैं। **आ उ=ओ** ऐसा समुदाय मानने पर आङ् अनाङ् का समुदाय **अन्तादिवच्च**(६।१।८२)से पूर्व आङ् का अन्त अवयव मानने पर **अनाङ्** प्रतिषेध से प्रगृह्य का प्रतिषेध प्राप्त होता है, परन्तु यहां प्रगृह्यसंज्ञा देखी जाती है। इसलिये यह सूत्र प्रतिषेध के विषय में प्रगृह्यसंज्ञार्थ है। भाष्यकार ने जो तीन मन्त्रोदाहरण दिये हैं, उनमें संहितापाठ में प्रगृह्यसंज्ञा कार्य प्राप्त नहीं है। कैयट ने लिखा है कि किसी शाखा में **ओ अयातम्** पाठ देखा जाता है। उसमें प्रगृह्यसंज्ञाकार्य प्रकृतिभाव उपलब्ध होता है। संहितापाठ में प्रगृह्यसंज्ञा का साक्षात् प्रयोजन न होने पर भी पदपाठ में **प्रगृह्यं चर्चायामितिना** (शुक्लयजुः प्राति० ४।१८) अर्थात् 'प्रगृह्यसंज्ञक का पदपाठ में 'इति' पद से निर्देश किया जाता है' नियम से पदपाठोक्त **ओ इति** नियम के लिये सूत्रकार ने प्रतिषिद्ध विषय में भी प्रगृह्यसंज्ञा का विधान किया है।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि वैयाकरणों के मत में **उ उञ्** दो निपात माने गये हैं। ये दो भेद वैयाकरणों ने अर्थभेद की व्यवस्था दर्शाने के लिये किये हैं। प्रयोग अवस्था में तो शुद्ध 'उ' एक ही रूप उपलब्ध होता है। पदकारों ने मन्त्रपाठ के पदविभाग अवग्रह (=अवान्तर पद) निर्देश और द्विवचनान्तत्व तथा पदस्वरूप विशेष का निर्दशन कराने के लिये प्रगृह्यसंज्ञकों से इति पद का निर्देश[1] आदि विविध प्रक्रियाओं द्वारा मन्त्रार्थ ज्ञान कराने का

१. इतिकरण के विषय में पदकारों ने विभिन्न प्रक्रियाएं अपनाई हैं। इन के ज्ञान के

प्रयत्न किया है। वैयाकरणों ने भी लोक वेद में उपलभ्यमान प्रकृतिभाव तथा पदकारों द्वारा 'इति' पद के निर्देश को ध्यान में रखकर प्रगृह्यसंज्ञा का विधान किया है। **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उञ ऊँ** (१।१।१६, १७) सूत्रों से यह स्पष्ट है। पदकारों ने वेद में प्रयुक्त 'उ' कहां किस अर्थ का वाचक है, अथवा नैरुक्तों के मतानुसार अनर्थक है, इसका निदर्शन कराने के लिये 'उ' को दो विभागों में बांटा है। एक को 'उ' और दूसरे को 'उञ्' मानकर दोनों का पदपाठ में भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्देश किया है। उन्होंने जहां मन्त्रस्थ 'उ' को 'उञ्' अर्थवाला समझा, वहां उसका **ऊँ इति**[1] रूप से पदपाठ दर्शाया। और जहां उसे 'ऊञ्' से भिन्नार्थक समझा, वहां उसका मन्त्रपाठ में जिस पद के साथ उस की सन्धि हो रही थी, उसे उसी रूप में निर्दशित किया। यथा—**अथ उ=अथो इति, प्र उ=प्रो इति, या उ=यो इति**। तदनुसार भाष्यकार-निर्दिष्ट उदाहरणों का अभिप्राय उनके पदपाठ में **'ओ इति'** निर्देश में प्रगृह्यसंज्ञा स्वीकृति-विषयक जानना चाहिये। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—'शाकल्य के मत में 'उञ्' की प्रगृह्यसंज्ञा होने से स्थानिवद्भाव से उसकी (='ओ' की) प्रगृह्यसंज्ञा की प्राप्ति होने पर भी शाकल्य से भिन्न आचार्यों के मत में प्रगृह्यसंज्ञा की प्राप्ति के लिये यह सूत्र बनाया है। इस से 'ओ इति' प्रयोग उसके मत में भी सिद्ध होता है"।[2] शिवरामेन्द्र सरस्वती का यह लेख अशुद्ध है। प्रथम उसे इस बात का ज्ञान ही नहीं कि कहां पर शाकल्य 'उँ इति' निर्देश करते हैं, और कहां 'उ' का संहितापाठ में पूर्वपद के साथ हुई सन्धि को लेकर, अर्थात् पूर्वपद का अवयव मानकर अर्थात् ओकारान्त मानकर प्रगृह्यसंज्ञा करते हैं। दूसरा 'ओ' में 'उञ्' की सन्धि मानना भी चिन्त्य है। यदि शाकल्य इस मन्त्रगत 'उ' को 'उञ्' अर्थवाला मानते, तो वे यहां निश्चय ही **आ इति, ऊँ इति** ऐसा पदच्छेद करते। इतना ही नहीं **उञ ऊँ** (१।१।१७) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने स्पष्ट लिखा है—**तद्योऽननुबन्धकस्तस्यैकादेशः**, अर्थात् जो निरनुबन्धक 'उ' है, उसका एकादेश है। इससे भी शिवरामेन्द्र सरस्वती का कथन चिन्त्य है, यह स्पष्ट है। तीसरा **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** (१।१।१६) में शाकल्यग्रहण उपलक्षणार्थ है। क्योंकि वर्तमान में उपलब्ध मुद्रित पदपाठों में तैत्तिरीय संहिता को छोड़कर सभी ने उञ् का **ऊँ इति** ऐसा ही पदच्छेद दर्शाया है। वस्तुतः यहां **एकनिपाता इमे** यही सिद्धान्तपक्ष है। **प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः** पदकारों की दृष्टि से उपस्थित किया है। पूर्वसिद्धान्तानुसार यदि 'अथो प्रो यो ओ' को भी स्वतन्त्र निपात मान लें, तो इस पक्ष की आवश्यकता नहीं रहती। इस पक्ष में **आ उ=ओ** समुदाय ही नहीं होगा, तो अनाङ् प्रतिषेध की भी प्राप्ति नहीं होगी॥

लिये देखिये—हमारे द्वारा सम्पादित 'माध्यन्दिन-संहितायाः पदपाठः' के आरम्भ में 'वैदिकपदपाठानां तुलनात्मकमध्ययनम्' लेख।

१. तैत्तिरीय संहिता और सामवेद के पदपाठ में 'उ' की न प्रगृह्यसंज्ञा दर्शाई है, और नाहीं 'ऊँ' आदेश किया है।

२. शाकल्यस्य मते उञः प्रगृह्यत्वेन स्थानिवद्भावेन तस्य प्रगृह्यसंज्ञालाभेऽपि शाकल्येतरमते तस्य तत्संज्ञालाभार्थमिदम्। तेन 'ओ इति' इत्यादिप्रयोगस्तन्मतेऽपि सिद्ध्यतीति भावः। हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ४१६। मुद्रित पृष्ठ ४९।

[भाष्यम्] ओतश्च्विप्रतिषेधः ॥१॥

'ओदन्तो निपातः' इत्यत्र च्व्यन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनदः अदः अभवत्=अदोऽभवत्, अतिरः तिरः अभवत्=तिरोऽभवत्।

न वक्तव्यः। 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' इत्येवं न भविष्यति। एवमपि—अगौगौंः समपद्यत गोऽभवत्, अत्र प्राप्नोति। एवं तर्हि 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' इति। तद्यथा—'गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः' इति, न वाहीकोऽनुबध्यते। कथं तर्हि वाहीके वृद्ध्यात्वे भवतः—गौस्तिष्ठति, गामानय इति? अर्थाश्रय एतदेवं भवति। यद्धि शब्दाश्रयं शब्दमात्रे तद् भवति। शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्वे ॥१५॥

व्याख्या—ओदन्त [की प्रगृह्यसंज्ञा में] च्विप्रत्ययान्त का प्रतिषेध कहना चाहिये।

'ओदन्त निपात [प्रगृह्यसंज्ञक होता है]' में च्विप्रत्ययान्त का प्रतिषेध कहना चाहिये। अनदः अदः अभवत् (=जो वह नहीं वह वह हो गया)=अदोऽभवत्, अतिरः तिरः अभवत्=तिरोऽभवत् [यहां प्रगृह्यसंज्ञा न होवे]।

[च्विप्रत्ययान्त का प्रतिषेध] नहीं कहना चाहिये। 'लक्षणसिद्ध और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है' इस नियम से [अदोऽभवत्, तिरोऽभवत् में प्रगृह्यसंज्ञा] नहीं होगी [क्योंकि अदो तिरो रूप लाक्षणिक हैं, प्रतिपदोक्त नहीं हैं]। इस प्रकार (=लाक्षणिक की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त न होने पर) भी अगौः गौः समपद्यत (=जो गौ नहीं थी वह गौ हो गई)=गोऽभवत् यहां [प्रगृह्यसंज्ञा] प्राप्त होती है [क्योंकि यहां 'गो' ओदन्त प्रतिपदोक्त है]। अच्छा तो 'गौण और मुख्य में मुख्य में ही कार्य जाना जाता है'[इस नियम से गोऽभवत् में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी, क्योंकि यह 'गो' निपात गौण है]। जैसे—गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः (=गौ का अनुबन्धन करना चाहिये, अग्नीषोमदेवतावाले अज का अनुबन्धन करना चाहिये), ऐसा आदेश होने पर वाहीक (=वाहीक देशोद्भव व्यक्ति) को नहीं मारा जाता है। तो वाहीक [को कहनेवाले 'गो' शब्द में वृद्धि और आत्व कैसे होते हैं—गौस्तिष्ठति, गामानय? यह (=गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः) अर्थ का जहां आश्रय होता है, वहां होता है और जो शब्दाश्रय कार्य है, वह शब्दमात्र में होता है। वृद्धि और आत्व शब्दाश्रय कार्य हैं।

विवरण—अदोऽभवत्, यहां च्व्यन्त 'अदस्' की ऊर्यादिच्विडाचश्च (१।४।६०) से निपात संज्ञा होती है। 'स्' को 'रु', और अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१०९) से उत्व, तथा आद् गुणः (६।१।८४) से गुण होकर अदो ओकारान्त रूप निष्पन्न होता है। यह ओकारान्त च्व्यन्त होने से निपात है अतः ओत् सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। इसका उत्तर दिया है कि 'अदो' यह ओकारान्त रूप अतो रोरप्लुतादप्लुते तथा आद् गुणः लक्षणों से निर्वर्तित है, आहो उताहो के समान चादिगण में प्रतिपदोक्त स्वतन्त्र ओकारान्त रूप नहीं है। इस समाधान में गोऽभवत् में प्रतिपदोक्त ओकारान्त गो शब्द होने से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। इसलिये गौणमुख्ययोर्मुख्ये

कार्यसम्प्रत्ययः समाधान दिया है। इसका भाव यह है कि च्व्यन्त **अदोऽभवत् गोऽभवत्** में श्रूयमाण 'अदस्' और 'गो' शब्द मुख्यरूप निपात नहीं हैं। इनकी च्व्यन्त होने से जो निपात-संज्ञा कही है, वह गौण है। इसमें दृष्टान्त दिया है कि—**गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः, न वाहीकः**—वाहीक देशविशेष की संज्ञा है। इसका लक्षण महाभारत कर्णपर्व (४४।७)में इस प्रकार लिखा है—

पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तरा श्रिताः।
वाहीका नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत्॥

यहां सिन्धु झेलम चिनाव रावी व्यास और सतलुज इन छः नदियों के मध्य के देश को 'वाहीक' कहा है। इन देशों में रहनेवाले पुराकाल में विद्वान् शूरवीर अत्यन्त धर्मभीरू और नम्र (=सीधे) व्यक्ति थे। इनकी नम्रता अथवा सीधेपन की गौ से तुलना के कारण वाहीक-देशवासियों के लिये तद्धर्मरूप लक्षणा से गौ शब्द का प्रयोग होने लग गया था। आज भी 'यह तो गाय है' प्रयोग मे गौ शब्द सीधेपन का बोधक है। अतः **न वाहीकोऽनुबध्यते** का तात्पर्य है—**गौ** को कहा गया कार्य गौणार्थक गोरूप वाहीकदेशस्थ पुरुष में नहीं किया जाता है। क्योंकि मुख्यार्थ की बाधा होने पर ही गौणार्थ का ग्रहण होता है।

गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः—मूल श्रौतवाक्य में अनुपूर्वक 'बन्ध बन्धने' का रूप है, **अनुपूर्वक वध हिंसायाम्** का प्रयोग नहीं है। इतना ही नहीं, समस्त पशुयागों की संज्ञा भी **'पशुबन्ध'** है। पुराकाल में यज्ञों में पशुओं का वध नहीं होता था, यूप में बांधकर पर्यग्निकरण क्रिया करके छोड़ दिया जाता था। यज्ञों में पशुवध कब आरम्भ हुआ, और क्यों हुआ, तथा क्यों नहीं होता, पशुयाग सम्बन्धी क्रियायें पशु के उत्सर्जन कर देने पर कैसे पूर्ण की जाती थीं। इन सब की मीमांसा हमारे **'वैदिक सिद्धान्त मीमांसा'** नामक ग्रन्थ में **'श्रौत पशुबन्ध यज्ञ और पश्वालम्भन'** निबन्ध में देखें।[1]

कथं तर्हि वाहीके वृद्ध्यात्वे—गौण और मुख्य में यदि मुख्य का ही ग्रहण होता है, तो **गोतो णित्** (७।१।९०), तथा **औतोम्शसोः** (६।१।९०)से कहे वृद्धि और आत्व वाहीक के लिये **गौस्तिष्ठति गामानय** में कैसे होगा, यहां भी मुख्य गौ प्राणी ही लिया जायेगा? इसका उत्तर है—**अर्थाश्रय एतदेवं भवति। यद्धि शब्दाश्रयं शब्दमात्रे तद् भवति। गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः** में 'गौ' पद अर्थ की विवक्षा से प्रयुक्त है। लोक वेद में गवादि शब्द के प्रयोग होने पर उसका अर्थ गृहीत होता है। अर्थग्रहण होने पर गौण-मुख्य विचार होता है। और मुख्यार्थ की बाधा होने पर गौणार्थ लिया जाता है। व्याकरणशास्त्र में शब्द के ग्रहण से उसके रूप का ग्रहण होता है—**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा** (१।१।६७)। अतः व्याकरणशास्त्रोक्त समस्त कार्य शब्दाश्रित हैं, अर्थाश्रित नहीं हैं। अतः गोशब्दमात्र में वृद्धि और आत्त्व हो जाते हैं। इस सीधे और सरल अभिप्राय को भर्तृहरि आदि सभी टीकाकारों ने गहन विचार प्रस्तुत करके जटिल बना दिया है। और इसी जटिलता के कारण वे एक-दूसरे के खण्डन-मण्डन में भी प्रवृत्त हुये हैं।

---

१. इस विषय पर हमने विस्तृत विचार **'मीमांसा शाबर-भाष्य की व्याख्या'** के आरम्भ में किया है।

हमने यहां विना खींचातानी के भाष्यकार के अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया है। जिन्हें इससे सन्तोष न होवे, वे भर्तृहरि कैयट शिवरामेन्द्र सरस्वती नागेश भट्टोजिदीक्षित प्रभृति के ग्रन्थों में देखें ॥



उञ ऊँ ॥१।१।१७॥

विशेष—इस सूत्र में पूर्व सूत्र से शाकल्यस्य इतौ अनार्षे पदों की अनुवृत्ति आ रही है। शाकल्य-ग्रहण उन सभी पदकारों का उपलक्षक है, जो शाकल्य के समान ओकार सम्बुद्धि को पदपाठ में 'इति' का निर्देश करके स्वरूप-निदर्शनार्थ प्रगृह्यसंज्ञा मानकर प्रकृतिभाव दर्शाते हैं, तथा उञ् को ऊँ आदेश करते हैं। यह पूर्व (पृष्ठ ३९१, ३९२ में) लिख चुके हैं। अनार्ष इति का प्रयोग भी पदकारों की विशिष्ट शैली है। इसका अर्थ है—ऋषि=वेद में जो प्रयुक्त न हो ऐसा 'इति' का प्रयोग। शाकल्यादि पदकार प्रगृह्यसंज्ञक पदों के साथ प्रगृह्यकार्य निदर्शनार्थ जो पदपाठ में 'इति' शब्द का प्रयोग करते हैं, वह शास्त्र में अनार्ष इतिकरण कहा जाता है। प्रातिशाख्यकार पदपाठ-विषयक इस नियम का उल्लेख अपने-अपने शास्त्र में करते हैं। यथा—प्रगृह्यं चर्चायामितिना (शु० य० प्राति० ४।१८)।

[भाष्यम्] इह कस्मान्न भवति—आहो इति, उताहो इति ? 'उञः' इत्युच्यते न चाऽत्रोञं पश्यामः। उञोऽयमन्येन सहैकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'नोञेकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते' इति, यदयम् 'ओत्' [१।१।१५]इत्योदन्तस्य निपातस्य प्रगृह्यसंज्ञां शास्ति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। उक्तमेतत्—'प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः' इति। दोषः खल्वपि स्याद् यद्युञेकादेश उञ्ग्रहणेन न गृह्येत। जानु उ अस्य रुजति, जानू अस्य रुजति=जान्वस्य रुजति—'मय उञो वो वा' [८।३।३३] इति वत्वं न स्यात्। एवं तर्ह्येकनिपाता इमे। अथ वा द्वावुकाराविमौ। एकोऽननुबन्धकोऽपरः सानुबन्धकः। तद्योऽननुबन्धकस्तस्यैष एकादेशः॥

व्याख्या—यहां ['ऊँ' आदेश] क्यों नहीं होता—आहो इति, उताहो इति ? 'उञ् के स्थान में' [ऊँ आदेश] कहा है, यहाँ उञ् को नहीं देखते, अर्थात् यहां 'उञ्' नहीं है। उञ् का अन्य (='आह' तथा 'उताह') के साथ एकादेश है, यह [अन्तादिवच्च (६।१।८२) के नियम से उञ् का आदिवत् होने से] उञ् के ग्रहण से गृहीत होता है। आचार्य की प्रवृत्ति

ज्ञापन करती है कि उञ् का एकादेश उञ् के ग्रहण से गृहीत नहीं होता, जो ये आचार्य ओत् (१।१।१५) सूत्र से ओकारान्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा कहते हैं।

यह ज्ञापक नहीं है। यह कह चुके हैं कि ['ओत्' सूत्र] प्रतिषिद्धार्थ आरम्भ किया है। [इतना ही नहीं] दोष भी होगा, यदि उञ् का एकादेश उञ् के ग्रहण से गृहीत न होवे। जानु उ अस्य रुजति (=इसकी जानु पीडा करती है), जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति—में मय उञो वो वा (८।३।३३) से वकार नहीं होगा। अच्छा तो [आहो उताहो] ये एक निपात हैं। अथवा ये दो उकार हैं—एक निरनुबन्धक ['उ'], और दूसरा सानुबन्धक [उञ्]। जो निरनुबन्धक है, उसका यह [आहो उताहो] एकादेश है॥

विवरण—जानू अस्य—इस पर नागेश ने लिखा है कि 'उञ् का एकादेश उञ् के ग्रहण से गृहीत होता है, इसे सामान्यरूप से ज्ञापक जानना चाहिये। अन्यथा वत्व के अभावपक्ष में उञ ऊँ से ऊँ आदेश प्राप्त नहीं होगा, यह भी दोष आयेगा।' वस्तुतः नागेश का यह कथन चिन्त्य है। 'ऊँ' आदेश पदपाठ में होता है। मय उञो वो वा से विहित व अथवा उसके अभाव का क्षेत्र संहितापाठ है। अतः वत्वाभाव पक्ष में 'ऊँ' आदेश की प्राप्ति दर्शाना भूल है। इतना ही नहीं, संहिता में शम्वस्तु वेदिः (ऋ० ७।३५।७), किम्वापनं महत् (शु० य० २३।७) इत्यादि में जहां-जहां भी 'उ' को मय उञो वो वा (८।३।३३) से वकारादेश होता है, वहां सर्वत्र पदपाठ में 'ऊँ इति' आदेश देखा जाता है। वस्तुतः नागेशादि प्रायः लक्षणैकचक्षुष्क हैं। वेदविषयक ज्ञान इन्हें प्रायः नहीं है। इसीलिये नागेश ने मातरपितरावुदीचाम्; पितरामातरा च च्छन्दसि (६।३।३१, ३२) के भाष्य प्रदीपोद्योत में पदपाठ में प्रयुक्त मातरापितरा दो स्वतन्त्र पद के विषय में सम्प्रदाय-विच्छेद तक की अनर्गल कल्पना की है, जब कि पदपाठ के विषय में कोई भी वैदिक सम्प्रदाय-विच्छेद नहीं मानता। यदि सम्प्रदाय-विच्छेद हुआ होता, तो इनमें पाठान्तर उपलब्ध होते। पदपाठ पाठान्तरों में सर्वथा शून्य है। वस्तुतः इस सूत्र की वृत्तिकारों की व्याख्या, जिसमें एक पद मानकर निपातन किया है, अशुद्ध है। सूत्र द्विपद में भी यथावत् उपपन्न हो जाता है॥

[भाष्यम्] उञ इति योगविभागः॥१॥

'उञः' इति योगविभागः कर्तव्यः। 'उञः' शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भवति। उ इति, विति। ततः 'ऊँ'। उञ 'ऊँ' इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यसंज्ञकश्च। ऊँ इति। किमर्थो योगविभागः?

ऊँ वा शाकल्यस्य॥२॥

शाकल्यस्याऽऽचार्यस्य मतेन 'ऊँ' विभाषा यथा स्यात्। ऊँ इति, उ इति। अन्येषामाचार्याणां मतेन 'विति'॥१७॥

व्याख्या—'उञः' ऐसा योगविभाग करना चाहिये। 'उञः' उञ् की शाकल्य आचार्य

के मत से प्रगृह्यसंज्ञा होती है। उ इति विति। उसके पश्चात् 'ऊँ'। उञ् के स्थान में ऊँ यह दीर्घ अनुनासिक आदेश होता है शाकल्य के मत में, और वह प्रगृह्यसंज्ञक होता है। ऊँ इति। योगविभाग किसलिये है?

'ऊँ' यह शाकल्य के मत से विकल्प से होवे।

शाकल्य आचार्य के मत से 'ऊँ' विकल्प से होवे। ऊँ इति, उ इति। अन्य आचार्यों के मत से 'विति' ऐसा होवे॥

विवरण—सभी व्याख्याकारों का मत है कि यथान्यास पाणिनीय सूत्र से दो ही रूप प्राप्त होंगे—शाकल्य के मत में ऊँ इति, अन्यों के मत में उ इति। 'विति' रूप उपपन्न नहीं होता। अतः तीन प्रयोगों की सिद्धि के लिये योगविभाग करना चाहिये। **ऊँ वा शाकल्यस्य** की भाष्यकारीय व्याख्या के अनुसार शाकल्य के मत में ऊँ का विकल्प करके उसके मत में ऊँ इति —उ इति ये दो रूप दर्शाये हैं। अन्य आचार्यों के मत में विति प्रगृह्य का अभाव कहा है।

यहां यह चिन्तनीय है कि **इतौ अनार्षे** पदों की **'उञ ऊँ'** सूत्र में अथवा योगविभाग में अनुवृत्ति आती है, वा नहीं। कैयट ने **शाकल्यस्येतौ प्रगृह्यमिति चानुवर्तते** लिखकर केवल **'इतौ'** की अनुवृत्ति स्वीकार की है। **'अनार्षे'** पद की अनुवृत्ति न होने से कैयट के लेखानुसार इस योगविभागीय न्यास का सम्बन्ध वैदिक पदपाठों से हटकर लोकमात्र-विषयक रह जाता है। यदि ऐसा मानें, तो **'इतौ'** की अनुवृत्ति भी व्यर्थ है। भाष्यकारीय उदाहरणों में 'इति' निर्देश को अजादि पद का उपलक्षक मानकर सामान्य प्रगृह्यसंज्ञक व्याख्या मानना युक्त होगा। उस अवस्था में लोक में उञ् के ऊँ इति उ इति रूप शाकल्य के मत में होंगे, और **'विति'** अन्यों के मत में। लौकिक रूप मानने पर अच् सामान्य परे भी **ऊँ अपेहि, उ अपेहि वपेहि** आदि तीन-तीन रूप होंगे। सम्भवतः यही तात्पर्य स्वीकार करके, और इसी के साथ पूर्वसूत्र **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** को सम्बद्ध करके पाणिनिव्याकरण के भाषावृत्तिकार[1] पुरुषोत्तम देव ने इन्हें लोक-विषयक मानकर व्याख्या की है। तथा चन्द्र[2] आदि लौकिक भाषा के व्याकरणकारों ने भी इन दोनों सूत्रों को अपने शब्दानुशासन में स्थान दिया है। सभी ने इति परे ही प्रगृह्यसंज्ञा कही है।

उक्त अवस्था में चार बातें विचारणीय हो जाती हैं। इक—**इतौ अनार्षे** पद सूत्र में क्यों पढ़े? **'सम्बुद्धौ शाकल्यस्य'** इतने सूत्र से ही शाकल्य के मत में **भानो इति, भानो अपेहि**

१. भाषावृत्तिकार ने **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** सूत्र का व्याख्यान करते हुये **ब्रह्मबन्धो इति, ब्रह्मबन्धिवति** लौकिक उदाहरण दिये हैं। तथा **अनार्षे** पद के लिये **अनार्षे इत्येकवृत्तावुपयुक्तम्** कहकर पीछा छुड़ा लिया। अन्यों ने **उञः** और **ऊँ** की भाष्यानुसारी व्याख्या करके **ऊँ इति उ इति विति** तीनों रूप भाषा में माने हैं।

२. चन्द्राचार्य ने **सौ वै तौ, उञः, ऊँ** (५।१२९, १३०, १३१)। जैनेन्द्र ने **कौ वेतौ** (कौ=सम्बुद्धौ) **उञः, ऊँ** (१।१।२४, २५, २६)। पाल्यकीर्ति ने शाक० व्या० में **सौ वेतौ, ऊँ चोञः** (१।१।१०४, १०५)। हैम व्याकरण में **सौ न वेतौ, ऊँ चोञ्** (१।२।३८, ३९)। सरस्वती कण्ठाभरण में **सम्बुद्धावितौ वा, उञ्, ऊँ वास्य** (१।१।१०८, १०९, ११०)।

रूप, और अन्यों के मत में **भानविति भानवपेहि** रूप निष्पन्न हो जाते। परन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा, इसका कारण भी विचारणीय है। दूसरी—क्या लोक में **ऊँ इति, ऊँ अपेहि, विति, वपेहि** रूप प्रयुक्त होते हैं? लोक में **उ इति उ अपेहि** रूप नित्य इष्ट नहीं हैं? तीसरी—सूत्रकार-निर्दिष्ट पूर्वाचार्य परिभाषित **इतौ अनार्षे** की पारिभाषिक व्याख्या प्रगृह्यं **चर्चायामितिना** (शु० य० प्रा० ४।१८) को छोड़ना सूत्रकार के साथ न्याय होगा? चौथी—**जानु उ अस्य**=**जानू अस्य, जान्वस्य रुजति** के समान 'उ' की **निपात एकाजनाङ्** से प्रगृह्यसंज्ञा होने पर **उ इति**, और **मय उञो वो वा** (८।३।३३) से वकारादेश होने पर **विति** प्रयोग लोक में सिद्ध ही हैं।

यदि **इतौ अनार्षे** की **उञः ऊँ** में **अनुवृत्ति** लावें, तब यह प्रश्न होता है कि क्या पारिभाषिक अनार्ष इतिकरण के प्रयोगक्षेत्र पदपाठ में **उ इति विति** प्रयोग होते हैं? जहां तक उपलब्ध पदपाठों का सम्बन्ध है, तैत्तिरीय संहिता और साम संहिता के पदकार **'उ'** की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं मानते, और नाहीं ऊँ आदेश करते हैं। यदि 'उ' की प्रगृह्यसंज्ञा उन्हें इष्ट होती, तो वे अन्य प्रगृह्यसंज्ञकों के समान यहां भी **उ इति** निर्देश करते। प्रगृह्यरहित **विति** का प्रयोगक्षेत्र तो पदपाठ बन ही नहीं सकता। क्योंकि प्रगृह्यसंज्ञा के अभाव में अथवा पद-स्वरूप-निदर्शन के अभाव में **'इति'** का प्रयोग पदपाठों में होता ही नहीं। केवल भाष्यकार के वचन-सामर्थ्य से लुप्त संहिताओं के पदपाठों में **उ इति विति** की कल्पना करना अगतिकगति होगी। अतः वेद और व्याकरण के निष्णात विद्वानों को भाष्यकार के उक्त व्याख्यान पर गम्भीरता से विचार करना होगा।

हमारे विचार में तो पाणिनीय **'उञः ऊँ'** न्यास वैदिक परम्परा के अनुसार ठीक है। योगविभाग करके की गई व्याख्या न वैदिक परम्परा के अनुरूप है, और न लौकिक परम्परा के। भाष्यकारीय व्याख्या के सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि सम्भव है उन्होंने किसी प्राचीन लौकिक भाषा के व्याकरणानुसार पाणिनि के इस सूत्र की यह व्याख्या की होगी। पाणिनीय व्याकरण से प्राचीन किसी व्याकरण के सम्प्रति उपलब्ध न होने से यह कल्पनामात्र करनी पड़ती है। चन्द्रादि अर्वाचीन वैयाकरणों का आश्रय तो पाणिनीय व्याकरण और पातञ्जल महाभाष्य ही हैं। अतः इन अर्वाचीन व्याकरणों के आधार पर कल्पना करना अविचारितरमणीय होगा॥

विशेष—यहां पर भाष्यकार के **'उञ इति योगविभागः कर्तव्यः'** कहने से स्पष्ट है कि पाणिनीय सूत्र **उञः ऊँ** ऐसा एक ही है। वैदिक पदपाठों की दृष्टि से पाणिनीय एकसूत्रात्मक **उञः ऊँ** न्यास ही वस्तुस्थिति का बोधक है। यह हमारे ऊपर के विवरण से स्पष्ट है। अष्टाध्यायी के अनेक प्राचीन हस्तलेखों में इस प्रथम पाद के अन्त में सूत्रगणनाबोधक **'वृद्धितरप्त-मपौशि सर्वप्रत्ययलोपे चतुर्दश'** पाठ मिलता है। रामलाल कपूर ट्रस्ट से जो **अष्टाध्यायी सूत्रपाठ** छपा है, वह पाणिनीय पाठ के अनुसार है। हमने अपनी भाष्यव्याख्या में सर्वत्र इसी पाठ के अनुसार सूत्र संख्या दी है॥१७॥

★ ० ★

[भाष्यम्] ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥१।१।१८॥

'ईदूतौ सप्तमीत्येव'

'ईदूतौ सप्तमी' इत्येव सिद्धं, नार्थोऽर्थग्रहणेन।

'लुप्तेऽर्थग्रहणाद्भवेत्'।

लुप्तायां सप्तम्यां प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति। क्व? 'सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० ९।१२।३)। इष्यते चात्रापि स्यादिति। तच्चाऽन्तरेण यत्नं न सिध्यति, इत्येवमर्थमर्थग्रहणम्। नाऽत्र सप्तमी लुप्यते। किं तर्हि? पूर्वसवर्णोऽत्र भवति॥

व्याख्या—'ईदूतौ सप्तमी' (=ईकार ऊकार जो सप्तमी वह प्रगृह्यसंज्ञक होती है) इतने से ही कार्य सिद्ध हो जाता है।

'ईदूतौ सप्तमी' इतने से ही कार्य सिद्ध हो जाता है, 'अर्थ' के ग्रहण से कोई प्रयोजन नहीं है।

[सप्तमी के] लुप्त होने पर 'अर्थ' के ग्रहण से [प्रगृह्यसंज्ञा] होवे।

सप्तमी के लुप्त होने पर [प्रगृह्यसंज्ञा] प्राप्त नहीं होती है। कहां? सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० ९।१२।३) में। इष्ट यह है कि यहां [सप्तमी के लुप्त होने] पर भी [प्रगृह्यसंज्ञा] होवे। वह [अर्थग्रहणरूपी] यत्न के बिना सिद्ध नहीं होती, इसलिये 'अर्थ' का ग्रहण किया है। यहां पर सप्तमी का लोप नहीं होता है। तो क्या होता है? ['सुपां सुलुक्-पूर्वसवर्णाच्छे०' (७।१।३९) से] यहां पूर्वसवर्ण होता है।

विवरण—**ईदूतौ सप्तमीत्येव**—इसका तात्पर्य यह है कि–'ईत् ऊत् सप्तमी के विशेषण होने से ई ऊ रूप जो सप्तमी उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है' इतना कहने से कार्य चल जायेगा। आक्षेप्ता के मन में यह बात है कि गौरी इ तनू इ, यहां सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे० (७।१।३९) से सप्तमी 'ङि' के इकार का पूर्वसवर्ण होने से इ उ रूप बनने पर अकः सवर्णे दीर्घः(६।१।९७) से दीर्घ होकर अन्तादिवच्च (६।१।८२ से) दीर्घीभूत ई ऊ सप्तमी होगी। उसकी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायेगी। यहां पर कैयट ने व्यर्थ में क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने उन का खण्डन भी किया है। हमारी व्याख्या भाष्य-व्याख्यान के अनुगुण एवं भर्तृहरि और शिवरामेन्द्र सरस्वती के अनुकूल है।

लुप्तेऽर्थग्रहणात्—समाधाता ने आक्षेप्ता के अभिप्राय को न समझकर कहा है कि सुपां सुलुक्० (७।१।३९) से सप्तमी के लुप्त हो जाने पर सप्तमी नहीं रहेगी, अतः अर्थग्रहण करना चाहिये। इस पर आक्षेप्ता ने अपने मत की बात कही—पूर्वसवर्णोऽत्र भवति॥

[भाष्यम्] 'पूर्वस्य चेत्सवर्णोऽसावाडाऽऽम्भावः प्रसज्यते' ॥१॥

यदि पूर्वसवर्णः, आट् आम्भावश्च प्राप्नोति।

एवं तर्ह्याहाऽयम्—ईदूतौ सप्तमीति। न चास्ति सप्तमीदूतौ, तत्र वचनाद् भविष्यति ।।

व्याख्या—यदि [सप्तमी का] पूर्वसवर्ण होवे, तो आट् [आगम] और आम् भाव की प्राप्ति होगी।

यदि [सप्तमी का] पूर्वसवर्ण [होवे, तो सप्तमी को] आट् [आगम] और आम् भाव प्राप्त होता है।

अच्छा तो यह [सूत्रकार] कहते हैं—ईदूतौ सप्तमी। यहां ईकार ऊकार सप्तमी नहीं है, अतः वचनसामर्थ्य से [प्रगृह्यसंज्ञा] हो जायेगी।

विवरण—**आडाम्भावः**—सप्तमी को पूर्वसवर्ण मानने पर गौरी और तनू के नदी-संज्ञक होने से **आण् नद्याः** (७।३।११२)से सप्तमी को 'आट्' का आगम, और **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः** (७।३।११६)से 'आम्' आदेश प्राप्त होता है। अतः सप्तमी का लुक् मानना ही युक्त है। सप्तमी के लुक् होने पर अर्थग्रहण करना चाहिये। **वचनाद् भविष्यति**—इसका तात्पर्य कैयट ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"सर्वत्र सप्तमी का लुक् होने पर भी सप्तमी के ग्रहणसामर्थ्य से सप्तमी-सहचरित ईकारान्त ऊकारान्त का ग्रहण होगा। क्योंकि मुख्यार्थ के असम्भव होने पर गौणी कल्पना होती है।" नागेश ने किन्हीं व्याख्याकारों का मत लिखा है—**ईदूत् सप्तमी प्रगृह्यम्, अदसः, एच्च द्विवचनम्** इस लघु न्यास से सिद्ध होने पर जो स्थानान्तर में **ईदूतौ सप्तमी** पढ़ा है, उससे सप्तमीसहचरित अर्थ की कल्पना होगी। नागेश ने स्वयं इसका खण्डन कर दिया है। हमारे विचार में यहां भी आक्षेप्ता के मन में यह भाव है कि सप्तमी के लुक् हो जाने पर भी **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं भवति** नियम से 'ईकारान्त ऊकारान्त जो सप्तम्यन्त' यह अर्थ हो जायेगा। वचनसामर्थ्य से(=सूत्र व्यर्थ न होवे इस कारण) **संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं न भवति** की उपस्थिति नहीं होगी। शिवरामेन्द्र सरस्वती का भी लगभग यही मत है ।।

[भाष्यम्] 'वचनाद्यत्र दीर्घत्वम्'

नेदं वचनाल्लभ्यम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्? यत्र सप्तम्या दीर्घत्वमुच्यते—'दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्' (ऋ० ७।१०३।२) इति। सति प्रयोजने इह न प्राप्नोति—'सोमो गौरी अधिश्रितः' (ऋ० ९।१२।३) इति।

'तत्रापि सरसी यदि'

तत्रापि सिद्धम्। कथम्? यदि सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिरस्ति। अस्ति च लोके सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिः। कथम्? दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्यः' इत्युच्यन्ते।

व्याख्या—वचन-सामर्थ्य से जहां दीर्घत्व होता है [वहां प्रगृह्यसंज्ञा हो जायेगी]।

यह (=सप्तमी के लोप होने पर भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जावे) वचन-सामर्थ्य प्राप्त नहीं है। क्योंकि इस वचन का तो अन्य प्रयोजन है। क्या है? जहां सप्तमी को दीर्घत्व कहा है—

दृति न शुष्कं सरसी शयानम् (ऋ० ७।१०३।२)। प्रयोजन होने पर यहां प्राप्त नहीं होता —सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० ६।१२।३)।

वहां भी सिद्ध है, यदि सरसी शब्द है।

वहां (='गौरी' में) भी [प्रगृह्यसंज्ञा] सिद्ध है। कैसे? यदि 'सरसी' [दीर्घ ईकारान्त] शब्द की प्रवृत्ति है। और लोक में 'सरसी' शब्द की प्रवृत्ति है। कैसे? दक्षिण देश में बड़े सरों (=तालाबों) को 'सरसी' कहते हैं।

विवरण—**'सरसी शयानम्'** में 'सरस्' शब्द से सप्तमी एकवचन ङि के स्थान में **इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्** (वा० ७।१।३९) से ईकार सप्तमी मिल जाती है। यतः सूत्र यहां चरितार्थ हो जाता है, अतः वचन-सामर्थ्य से 'गौरी' में जहां सप्तमी का लुक् होता है, वहां प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी। यद्यपि सूत्र में ईत् ऊत् दो पढ़े हैं, और वचन-सामर्थ्य का प्रयोजन केवल ईत् ग्रहण में दिया है, अतः 'ऊत्' ग्रहण तो व्यर्थ ही रहता है। इसलिये ऊत् वचन-सामर्थ्य से ईत् ऊत् दोनों में प्रगृह्यसंज्ञा हो सकती है। पुनरपि ईत् ग्रहण में ही वचन-सामर्थ्य की प्रवृत्ति उत्तर भाष्य से प्रतिपादित करने की अभिलाषा से ऊत् ग्रहण पर विचार नहीं किया है। इतना ही नहीं, 'सरसी' पद अन्तोदात्त है। 'सरः' असुन् प्रत्ययान्त आद्युदात्त है। तब 'ङि' के स्थान में ईकार करने पर उसे उदात्त भी कहना पड़ेगा।

सरसी यदि—यतः लोक में 'सरसी' दीर्घ ईकारान्त पद प्रयुक्त है। अतः **सरसी शयानम्** में भी सप्तमी का लुक् ही मानना पड़ेगा। उस अवस्था में सूत्रकार के वचन-सामर्थ्य से सप्तमी के लुक् होने पर भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायेगी। 'सरसी' में स्त्री-प्रत्यय कैसे होता है, इस विषय में दो मत हैं। प्रक्रिया-सर्वस्वकार नारायणभट्ट का कहना है कि **'वर्तमाने पृषत्-बृहन्महज्जगच्छतृवच्च'** (उ० २।८१) सूत्र का क्वचित् 'जगत्सरसां शतृवच्च' पाठ भी उपलब्ध होता है। उस से वक्ष्यमाण असुनन्त सरस् शब्द को भी शतृवद्भाव का विधान करने से [**ऋन्नेभ्यो ङीप्** (४।१।५) से] ङीप् हो जाता है।[1] इस पक्ष में **शतुरनुमो नद्यजादी** (६।१।१६७) से ङीप् उदात्त हो जायेगा। दूसरा मत यह है कि गौरादि (४।१।४१) के आकृतिगण होने से ङीष् होता है। वह **आद्युदात्तश्च** (३।१।३) से उदात्त होता है।

विशेष—**दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि 'सरस्यः' इत्युच्यन्ते** इस भाष्यवचन से सिद्ध है कि प्राचीनकाल के भारतीय बड़े-बड़े बांध बनाने की कला में निपुण थे। दक्षिण में नागार्जुन सागर प्राचीन बांध का नमूना अभी विद्यमान भी है। महाभारत में नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है—

कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ सभापर्व ५।७७॥

अर्थात् तुम्हारी कृषि देव (=वर्षा) के अधीन तो नहीं है? इससे भी प्राचीनकाल में

१. 'जगत्सरसां शतृवच्चेति क्वचित्पाठः। तेन वक्ष्यमाणासुन्नन्तस्यापि सरस्शब्दस्य शतृवत्त्वान्ङीप्'। प्रक्रियासर्वस्व, उणादिखण्ड, मद्रास विश्वविद्यालय सं०, पृष्ठ ४८।

कृषि के लिये नहरें और बांध बनाने का निर्देश उपलब्ध होता है। इतना होने पर भी प्राचीन आर्यों ने दक्षिण से लेकर अरावली पर्वत श्रेणियों[1] तक तो बड़े-बड़े बांध बांधे, परन्तु हिमालय की श्रेणियों में कहीं भी कोई बांध नहीं बांधा। इससे प्रतीत होता है कि वे दक्षिण भारत और हिमालय की पर्वत श्रेणियों के भूगर्भ से भलीभांति परिचित थे। दक्षिण भारत में भूकम्प प्रायः नहीं के बराबर आते हैं। और आते भी हैं, तो वे तीव्र नहीं होते[2]। अतः वहां बांध बांधना जनहित में समझते थे। हिमालय भूकम्प पट्टी पर स्थित है। अतः यहां भूकम्प अधिक आते हैं, और बहुधा तीव्र होते हैं। इस कारण प्राचीन आर्य इस प्रदेश में बड़े बांध बांधना जनहित के विपरीत मानते थे। कल्पना करिये, यदि किसी तीव्र भूकम्प से भाखड़ा बांध टूट जाता है, तो क्या स्थिति होगी? इसके जल-प्रवाह की मार में राजस्थान तक चपेट में आ जायेगा। अतः हिमालय की श्रेणियों में बांधे गये बांधों का प्रत्यक्ष फल चाहे कितना ही अधिक क्यों न हो, परोक्ष आशङ्का भी अल्प भयङ्करी नहीं है। इसीलिये भारतीय वाङ्मय में एक बहुचर्चित वाक्य है--'परोक्षप्रिया हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः।'

[भाष्यम्] 'ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे'

एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः—'न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवति' इति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? कुमार्योरगारं कुमार्यगारम्, वध्वोरगारं वध्वगारम्। प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्यसंज्ञा न भवति।

'मा वा पूर्वपदस्य भूत्' ॥२॥

अथ वा 'पूर्वपदस्य मा भूद्' इत्येवमर्थमर्थग्रहणम्। वाप्यामश्वो वाप्यश्वः, नद्यामातिर्नद्यातिः।

अथ क्रियमाणेऽप्यर्थग्रहणे कस्मादेवात्र न भवति? 'जहत्स्वार्था वृत्तिः' अथाऽजहत्स्वार्थायां वृत्तौ दोष एव? अजहत्स्वार्थायां च न दोषः। समुदायार्थोऽभिधीयते।

'ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद्भवेत्।
पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते ॥१॥
वचनाद्यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसो यदि।
ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत् ॥२॥ १८॥

व्याख्या—[अर्थग्रहण] ज्ञापक होगा, तदन्तत्व के विषय में।

अच्छा तो [अर्थ-ग्रहण से] आचार्य ज्ञापन करते हैं कि—'प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण

१. यथा राजस्थान में 'राजसमुद्र' आदि।
२. इसमें राजकीय १५०-२०० वर्षों का निदर्शन (=रिकार्ड) प्रमाण है।

नहीं होता।' इसके ज्ञापन में क्या प्रयोजन है ? कुमार्योरगारं कुमार्यगारम्, वध्वोरगारं वध्वगारम्, यहां प्रत्ययलक्षण से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती।

अथवा पूर्वपद की [प्रगृह्यसंज्ञा] न होवे, [इसके लिये अर्थग्रहण है]।

अथवा पूर्वपद की [प्रत्ययलक्षण से प्रगृह्यसंज्ञा] न होवे, इसके लिये अर्थग्रहण है। वाप्यामश्वो वाप्यश्वः, नद्यामातिर्नद्यातिः।

अर्थग्रहण के करने पर भी यहां (=वाप्यश्वः, नद्यातिः में [प्रगृह्यसंज्ञा] क्यों नहीं होती ? [यहां भी सप्तम्यर्थ विद्यमान है, और ईदन्त भी है।] वृत्ति=समासवृत्ति स्वार्थ को छोड़नेवाली होती है। [अर्थात् समास में पूर्वोत्तर पद अपने-अपने विशिष्ट अर्थों को छोड़ कर नये अर्थ को कहते हैं।] वृत्ति=समासवृत्ति स्वार्थ को छोड़नेवाली नहीं होती, [इस पक्ष] में तो दोष ही होगा ? [अर्थात् वाप्यश्वः नद्यातिः में प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होगी ?] अजहत्स्वार्था वृत्ति में भी दोष नहीं है। समुदाय का अर्थ वृत्ति से कहा जाता है।

अब पूर्वखण्डशः व्याख्यात श्लोकवार्तिक के अंशों को सामूहिकरूप में पढ़ते हैं— ईदूतौ···भूत्॥

विवरण—**कुमार्यगारम् वध्वगारम्** में षष्ठीसमास है। यहां षष्ठी के द्विवचन का **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (२।४।७१) से लुक् हो गया है। यदि यहां प्रत्ययलक्षण मानें, तो **कुमारी वधू** पूर्व पद ईकारान्त ऊकारान्त द्विवचनान्त होंगे। उस अवस्था में **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** (१।१।११) से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। अतः अर्थग्रहण इसका ज्ञापक है कि प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता। अर्थग्रहण करने पर गौरीपद में ईकारान्त सप्तम्यर्थ में वर्तमान होने से प्रगृह्यसंज्ञा हो जायेगी।

वाप्यश्वः, नद्यातिः—यहां **संज्ञायाम्** (२।४।४३) से सप्तमीसमास होता है। ऐसा भर्तृहरि और कैयट का कथन है। संज्ञा में समास मानने पर इनका किस विशिष्ट अर्थ में प्रयोग लोक में होता है, इसका निर्देश न तो इन टीकाकारों ने ही किया है, और नाही लोक से ज्ञात होता है। अतः यह कथन केवल लक्षणैकचक्षुष्ट्व को दर्शाता है। इतना ही नहीं, संज्ञा होने पर ये शब्द रूढ होंगे। उस अवस्था में भाष्य में आगे उपस्थित किया गया **अजहत्स्वार्था वृत्तिः** पक्ष उपपन्न ही नहीं होगा। क्योंकि नागेश ने लिखा है—**'जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढिविरोधिनी'**। यहां एवकार भिन्नक्रम है—जहत्स्वार्थैव ऐसा अन्वय जानना चाहिये।[1] तदनुसार जहां **रूढ्यर्थ** जाना जाता है, वहां विरोधिनी जहत्स्वार्था वृत्ति ही होती है। इसलिये **जहत्स्वार्था वृत्तिः**—**अजहत्स्वार्था वृत्तिः** का तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिये—**जहत्स्वार्था** पक्ष में समास के पूर्वोत्तर पद अपने-अपने पदों के अर्थों को छोड़कर विशिष्टार्थ को कहते हैं। यथा **ब्राह्मणकम्बलमानय** यहां न ब्राह्मण का आनयन होता है, और न कम्बल का। इस पक्ष में समास-

१. एवकारो भिन्नक्रमः—'तत्र जहत्स्वार्थैव' इति वास्तविकोऽर्थः, इति शिवदत्तो दाधिमथः। निर्णय सागर सं०, पृष्ठ २५८, टि० १।

घटित पद पदघटित वर्णों के समान अनर्थक होते हैं। वर्णसमुदाय के समान पदसमुदाय ही अर्थ का वाचक माना जाता है। अजहत्स्वार्था पक्ष में समास के पूर्वोत्तर पदों का अर्थ अप्रधान होता है, समुदित अर्थ प्रधान होता है। प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसंप्रत्ययः नियम से अप्रधान ब्राह्मणमात्र का अथवा कम्बलमात्र का आनयन नहीं होता। इस पक्ष में समासघटित पद सर्वथा स्वार्थरहित नहीं माने जाते। इसलिये ब्राह्मणविशिष्ट कम्बलार्थ जाना जाता है। इसी बात को भाष्यकार ने कहा है—**समुदायार्थोऽभिधीयते**। इस प्रकार जहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में षष्ठी द्विवचनान्त वापी नदी का अर्थ न होने से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती, और अजहत्स्वार्था वृत्ति मानने पर वापी नदी पदों के अर्थ होने पर भी उनके गौण होने से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है। जहां ईदूदन्त द्विवचन मुख्य होते हैं, वहीं प्रगृह्यसंज्ञा होती है। यहां शिवरामेन्द्र सरस्वती की व्याख्या द्रष्टव्य है ॥१८॥

⁂

[भाष्यम्] दाधा घ्वदाप् ॥ १। १। १९ ॥

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम् ॥१॥

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। 'दाधाप्रकृतयो घुसंज्ञा भवन्ति' इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? आत्वभूतानामियं संज्ञा क्रियते। साऽऽत्वभूतानामेव स्याद्, अनात्वभूतानां न स्यात्। ननु च भूयिष्ठानि घुसंज्ञाकार्याण्यार्द्धधातुके, तत्र चैत आत्वभूता दृश्यन्ते। 'शिदर्थम्'। शिदर्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। शित्यात्वं प्रतिषिध्यते, तदर्थम्। प्रणिदयते प्रणिद्यति प्रणिधयतीति ॥

व्याख्या—घुसंज्ञा में प्रकृति का ग्रहण करना चाहिये शित् के लिये।

घुसंज्ञा में प्रकृति का ग्रहण करना चाहिये। 'दा और धा की प्रकृतियां घुसंज्ञक होती हैं' ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? आत्व को प्राप्त हुओं की यह संज्ञा की जाती है। वह आत्वभूतों की ही होवे, जो आत्व को प्राप्त नहीं हुये, उनकी नहीं होवे। बहुत से घुसंज्ञा के कार्य आर्धधातुक प्रत्ययों के परे होते हैं, वहां (=आर्धधातुक परे) ये (दा धा) आत्वभूत ही देखे जाते हैं। 'शित् के लिये'। शित् के लिये प्रकृति का ग्रहण करना चाहिये। शित् परे आत्व का प्रतिषेध किया है (=आदेच उपदेशेऽशिति ६।१।४४), उसके लिये। प्रणिदयते प्रणिद्यति प्रणिधयति ॥

विवरण—दा रूप चार धातुएं हैं-डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दो अवखण्डने, देङ् रक्षणे।

धा रूप दो धातुएं हैं—डुधाञ् धारणे, धेट् पालने। दाधाप्रकृतयः—इसका तात्पर्य शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार प्रकट किया है—"दाश्च धौ च प्रकृतयश्च=दाधाप्रकृतयः, अर्थात् दा धा और प्रकृतियों की घुसंज्ञा होती है। किन की प्रकृति? ऐसी जिज्ञासा होने पर उपस्थित 'दा धा' ही सम्बद्ध होंगे। अर्थात् दा धा की प्रकृति" (हस्तलेख पृष्ठ ४३२; मुद्रित पृष्ठ७०)। आत्वभूतानाम्='आत्वं प्राप्तानाम्'। चौरादिक भू प्राप्तावात्मनेपदी (धातु० १०।२७१) का का प्रयोग है। आधृषाद्वा (धातु० १०।२३०) के प्रकरण से णिच् का विकल्प होने से णिच् के अभाव में कर्ता वा कर्म में 'क्त' प्रत्यय जानना चाहिये। आत्वं भूताः=प्राप्ताः, आत्वेन वा भूताः=प्राप्ताः अर्थात् आकारान्त। शिदर्थं प्रकृतिग्रहणम्—आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४४) से जब शित् में आत्व नहीं होता 'प्रणिदयते, प्रणिधयति' तब इन धातुओं के आकारान्त न होने से घुसंज्ञा प्राप्त नहीं होती है। इष्ट है कि यहां भी घुसंज्ञा होकर नेर्गदनदपतपदघुमा० (८।४।१७) से 'नि' को णत्व होवे॥

[भाष्यम्] भारद्वाजीयाः पठन्ति—

'घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।'

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं क्रियते। किं प्रयोजनम्? शिदर्थं विकृतार्थं च। शित्युदाहृतम्। विकृतार्थं खल्वपि—प्रणिदाता प्रणिधाता। किं पुनः कारणं न सिध्यति? 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव', इति प्रतिपदं ये आत्वभूतास्तेषामेव स्यात्, लक्षणेन ये आत्वभूतास्तेषां न स्यात्॥

व्याख्या—भारद्वाजीय आचार्य पढ़ते हैं—

घुसंज्ञा में प्रकृति का ग्रहण करना चाहिये, शित् और विकृत के लिये।'

घुसंज्ञा में प्रकृति का ग्रहण किया जाता है। क्या प्रयोजन है? शित् के लिये और विकृत के लिये। शित् परे उदाहरण दिये जा चुके हैं। विकृत के लिये भी—प्रणिदाता प्रणिधाता। क्या कारण है कि [प्रणिदाता प्रणिधाता में घुसंज्ञा] सिद्ध नहीं होती? 'लक्षण से उक्त और प्रतिपद से उक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है', इससे प्रतिपदोक्त जो [धातुपाठ में] आत्वभूत हैं, उनका ही ग्रहण होगा, लक्षण (६।१।४४) से जिनको आत्व हुआ है, उनका ग्रहण नहीं होगा।

विवरण—भारद्वाजीयाः—भारद्वाजेन प्रोक्तानि वार्तिकानि भारद्वाजीयानि, तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१) से वृद्ध से यथाविहित 'छ' प्रत्यय होता है। भारद्वाजीयानि वार्तिकान्यधीते वेद वा भारद्वाजीयाः—यहां तदधीते तद्वेद (४।२।५८) से अध्येतृवेदितृ विषय में अण् प्रत्यय होता है। उसका—प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६३) से लुक् हो जाता है। अतः भारद्वाजीय वार्तिकों के पढ़नेवाले भारद्वाजीय कहाते हैं। भारद्वाज गोत्रप्रत्ययान्त शब्द है। भारद्वाजीय वार्तिकों के प्रवक्ता का मूल नाम अज्ञात है। महाभाष्य में उद्धृत भारद्वाजीय वार्त्तिकों से विदित होता है कि भारद्वाजीय वार्त्तिक कात्यायनीय वार्त्तिकों से कुछ वृद्ध(=बड़े)हैं। यदि भारद्वाजीय वार्त्तिक

पाणिनीय तन्त्र पर नहीं लिखे गये, तब इन का सम्बन्ध किस व्याकरण से रहा होगा, यह अज्ञात है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि जिस तन्त्र पर ये भारद्वाजी वार्तिक रचे गये थे, उस तन्त्र का पाणिनीय तन्त्र से पर्याप्त सादृश्य था।

प्रणिदाता—यह दो अवखण्डने और देङ् रक्षणे का रूप है। **प्रणिधाता**—यह धेट् पाने का रूप है। इनका दा धा रूप प्रतिपदोक्त नहीं है, एच् को आत्व होकर बनने से लाक्षणिक है। **प्रकृतिवद् विकृतिर्भवति** न्यास से अथवा स्थानिवद्भाव से लाक्षणिक दा धा का भी प्रकृति-ग्रहण से ग्रहण होने से घुसंज्ञा हो जायेगी॥

[भाष्यम्] अथ क्रियमाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे कथमिदं विज्ञायते—दाधाः प्रकृतय इति, आहोस्विद् दाधां प्रकृतय इति ? किं चातः ? यदि विज्ञायते—'दाधाः प्रकृतयः' इति, स एव दोषः—आत्वभूतानामेव स्याद्, अनात्वभूतानां न स्यात्। अथ विज्ञायते—'दाधां प्रकृतयः' इति, अनात्वभूतानामेव स्याद्, आत्वभूतानां न स्यात्। एवं तर्हि, नैवं विज्ञायते—'दाधाः प्रकृतयः' इति, नापि 'दाधां प्रकृतयः' इति। कथं तर्हि ? 'दाधा घुसंज्ञा भवन्ति, प्रकृतयश्चैषाम्' इति॥

व्याख्या—प्रकृति ग्रहण करने (='दाधा प्रकृतयः' ऐसा पढ़ने) पर भी यह कैसे जाना जाता है कि—'दा धा जो प्रकृतियां [कर्मधारय समास] अथवा 'दा धा की प्रकृतियां' [षष्ठी समास] ? इससे क्या ? यदि 'दा धा जो प्रकृतियां' ऐसा जाना जाता है, तो वही दोष होगा—आत्वभूत दा धा की ही [घुसंज्ञा] होगी, अनात्वभूत की नहीं होगी। यदि 'दा धा की प्रकृतियां' ऐसा जाना जाता है, तो जिनको आत्व नहीं हुआ है, उनकी ही [घुसंज्ञा] होगी, आत्वभूतों की नहीं होगी। अच्छा तो न इस प्रकार जाना जाता है कि—'दा धा जो प्रकृतियां' और नाही इस प्रकार जाना जाता है कि—'दा धा' की प्रकृतियां'। तो कैसे जाना जाता है? 'दा और धा घुसंज्ञक होते हैं, और इनकी प्रकृतियां भी [घुसंज्ञक होती हैं]।'

विवरण—अनात्वभूतानां न स्यात्—प्रणिदयते प्रणिद्यति में घुसंज्ञा नहीं होगी। क्योंकि यहां अशिति (द्र०—६।१।४४) से आत्व का निषेध होता है। **आत्वभूतानां न स्यात्**—दाण् दाञ् धाञ् की घुसंज्ञा नहीं होगी। क्योंकि 'दाधा की प्रकृतियों की घुसंज्ञा होती है' ऐसा कहने से देङ् दो धेट् धातुओं को जो, आत्व की प्रकृतियां हैं, उन को जहां आत्व नहीं होता, वहां घुसंज्ञा होगी। और स्थानिवद्भाव से इन्हीं को आत्व हो जाने पर भी घुसंज्ञा होगी। दाण् दाञ् धाञ् आत्व की प्रकृतियां नहीं हैं। **प्रकृतयश्चैषाम्**—सामीप्य से **एषाम्** अर्थात् 'दा धा की' उपस्थिति होती है॥

[भाष्यम्] तर्त्तहि प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम्। इदं प्रकृतमर्थग्रहण-मनुवर्तते। क्व प्रकृतम् ? 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' [१।१।१८] इति। ततो वक्ष्यामि—'दाधा घ्वदाप्' 'अर्थे' इति। नैवं शक्यम्। ददातिना समानार्थान् रातिरासतिदास-

तिमंहतिप्रीणातिप्रभृतीनाहुः । तेषामपि घुसंज्ञा प्राप्नोति । तस्मान्नैवं शक्यम् । न चेदेवम्, प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यमेव ॥

व्याख्या—तो क्या प्रकृतिग्रहण करना चाहिये । नहीं करना चाहिये । यह प्रकृत अर्थ-ग्रहण आ रहा है । कहां प्रकृत है ? 'इदूतौ च सप्तम्यर्थे' । उसके बाद कहूंगा—'दाधा घ्वदाप्' 'अर्थे' [यह आ रहा है] । ऐसा नहीं कर सकते । 'ददाति' के समानार्थक राति रासति दासति मंहति प्रीणाति प्रभृतियों को कहा है । उनकी भी घुसंज्ञा प्राप्त होती है । इसलिये ऐसा (='अर्थे' की अनुवृत्ति) नहीं कर सकते । जब ऐसा नहीं है, तो प्रकृतिग्रहण करना ही चाहिये ।

विवरण—वक्ष्यामि—का तात्पर्य है—'अर्थे' की अनुवृत्ति कहूंगा । 'अर्थे इति'—यह द्वितीय वाक्य है । यहां सन्निधान के बल से पूर्व वाक्यस्थ दा धा सम्बद्ध होंगे । इसका अर्थ होगा—'दा धा के अर्थ में जो वर्तमान उनकी घुसंज्ञा होती है ।' यह व्याख्या कैयट के मतानुसार है । शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—"दाधा घ्वदाबर्थे इति 'दा धा' ये और 'अदाप्' यहां लुप्तषष्ठीक पद हैं । इससे 'दाप् से भिन्न दाधा के अर्थ में वर्तमान घुसंज्ञक होता है' । अर्थ का लाभ होने से दाधा की और उन की प्रकृतियों की घुसंज्ञा सिद्ध होती है । इससे 'अर्थे यह द्वितीय वाक्य है, और सन्निधान से दाधा के अर्थ में जो वर्तमान है, वह घुसंज्ञक होता है । इससे प्रकृतियों की भी घुसंज्ञा होती है' । यह [कैयट का व्याख्यान] निरस्त हो जाता है । एक वाक्य सम्भव होने पर वाक्यभेद के आश्रयण के अनुचित होने से ।" (द्र०—हस्तलेख, पृष्ठ ४३६, मुद्रित पृष्ठ ७१) । आहुः 'पूर्वाचार्याः' इति शेषः । पूर्वाचार्यों ने ददाति की समानार्थक राति आदि धातुओं को पढ़ा है । तुलना करो—यास्कीय निघण्टु (३।२०)—दाति, दाशति, दासति, राति, रासति, पृणक्षि, पृणाति, शिक्षति, तुञ्जति, मंहते, इति दश दानकर्माणः । इसी प्रकार कौत्सव्य निघण्टु (खण्ड १३) में १०–११ ददात्यर्थक धातुएं पढ़ी हैं ॥

[भाष्यम्] न कर्तव्यम् । शिदर्थेन तावन्नार्थः प्रकृतिग्रहेन । अवश्यं तत्र माऽर्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् । प्रणिमयते प्रण्यमयतेत्येवमर्थम् । तत्पुरस्तादपक्ष्यते—घुप्रकृतौ माप्रकृतौ चेति ।

यदि प्रकृतिग्रहणं क्रियते—प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति, अत्रापि प्राप्नोति । अथाऽक्रियमाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे इह कस्मान्न भवति—प्रनिमाता प्रनिमातुं प्रनिमातव्यमिति ? आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञायते । यथैव तर्ह्यक्रियमाणे प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञायते, एवं क्रियमाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञास्यते ।

विकृतार्थेन चाऽपि नार्थः । दोष एवैतस्याः परिभाषाया 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' इति—'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इति ॥

व्याख्या—नहीं करना चाहिये । शित् के लिये तो [प्रकृतिग्रहण का] कोई प्रयोजन

नहीं है। अवश्य ही वहां (=नेर्गदनदपत···घुमा० ८।४।१७ में) 'मा' के लिये प्रकृति का ग्रहण करना चाहिये—प्रणिमयते प्रण्यमयत के लिये। उसे पहले (=घु के प्रति) अपकृष्ट कर लेंगे, [अर्थ होगा]—घु की प्रकृति परे रहने पर, मा की प्रकृति परे रहने पर।

यदि ['नेर्गदनद०' ८।४।१७ में] प्रकृति ग्रहण किया जाता है, तो प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति, यहां भी [णत्व] प्राप्त होता है। अच्छा तो प्रकृतिग्रहण विना किये भी यहां [णत्व] क्यों नहीं होता—प्रनिमाता, प्रनिमातुम्, प्रनिमातव्यम्। ['घुमा' में] आकारान्त ङित् [माङ्] का ग्रहण जाना जाता है। अच्छा तो जैसे प्रकृतिग्रहण बिना किये आकारान्त ङित् का ग्रहण जाना जाता है, इसी प्रकार प्रकृतिग्रहण करने पर भी आकारान्त ङित् का ग्रहण जाना जायेगा।

विकृत के लिये भी [प्रकृतिग्रहण का] प्रयोजन नहीं है। 'लक्षण और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है' इस परिभाषा का यह दोष ही है—'गा मा दा के ग्रहण में सामान्य का ग्रहण होता है।' [अर्थात् लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त दोनों का ग्रहण होता है ।।]

विवरण—'**मार्थं प्रकृतिग्रहणम्**'—इसका तात्पर्य है—'**नेर्गदनद०**' (८।४।१७) सूत्र में '**घुमास्यति**' ग्रहण है। इस में 'मा' के आगे प्रकृतिग्रहण करना चाहिये, '**घुमाप्रकृतिस्यति**' ऐसा पढ़ना चाहिये। इससे 'मा' की जो प्रकृति 'मेङ्' उसके परे भी णत्व हो जावे—**प्रणिमयते**। इसी प्रकृतिग्रहण का पूर्वत्र अपकर्ष करेंगे, अर्थात् 'घु' के साथ भी जोड़ेंगे। कैयट आदि ने **घुमा** के मध्य में प्रकृतिग्रहण कहा है—'**घुप्रकृतिमा**', वह देहली दीप न्याय से घु और मा दोनों के साथ सम्बद्ध हो जायेगा। परन्तु यह व्याख्या भाष्य के शब्दों के अनुकूल नहीं है, 'घुमा' के मध्य में 'प्रकृति' का पाठ होने पर अपकर्ष की जो बात कही है, वह उपपन्न नहीं होती। भर्तृहरि ने लिखा है—'यहां प्रकृतिग्रहण करने पर भी णत्व में पुनः प्रकृतिग्रहण करना पड़ता है, वही दोनों के लिये हो जायगा'[1] यह मानकर कहा—**तत्र मार्थं प्रकृतिग्रहणम्**।

अत्रापि प्राप्नोति—'मीनाति' और 'मिनोति' दोनों को एच् के विषय में **मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च** (६।१।४६) से आत्व का विधान करने से ये भी मा' की प्रकृतियां हैं। अतः इनका ग्रहण भी प्राप्त होगा। **आकारान्तस्य ङितः**, यहां **ग्रहण विज्ञास्यते** का अर्थ इष्ट है, 'मा के ग्रहण में आकारान्त ङित् माङ् का ग्रहण होता है,' ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये। यह व्याख्यान प्रकृतिग्रहण करने पर भी सम्भव है। अतः कहा—**क्रियमाणेऽपि वै प्रकृतिग्रहणे**।

'**अदाप्**' प्रतिषेध तभी उपपन्न होता है, जब दाप् के ग्रहण से **दैप्** (=दाप्) शोधने (धातु० १।६५८) का भी प्रतिषेध होवे। अन्यथा 'दा' के ग्रहण से **निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्** (=निरनुबन्धक के ग्रहण में सानुबन्धक का ग्रहण नहीं होता) नियम से ही **दाप् लवने** (धातु० २।५२) का घुसंज्ञा में ग्रहण ही नहीं होगा, फिर अदाप् प्रतिषेध की क्या

१. भवति कृत्वापि इह प्रकृतिग्रहणं णत्वे पुनः कर्तव्यम्, तदेव चोभयकारि भविष्यति। दीपिका, पृष्ठ १८२, पूना संस्करण।

आवश्यकता है ? अतः 'अदाप्' प्रतिषेध ज्ञापन करता है कि 'दा' के ग्रहण में **लक्षणप्रतिपदोक्त** न्याय नहीं लगता। इसी ज्ञापक को **गामादाग्रहणेष्वविशेषः** परिभाषा से कहा जाता है। यह लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा का दोष है, अर्थात् इन के ग्रहण में लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा व्यापृत नहीं होती।

शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—"**दोष एवैतस्याः**—एवकार भिन्नक्रमवाला 'अपि' के अर्थ में है। **अस्या अप्ययं निषेध इत्यर्थः**=इसका भी यह निषेध है यह अर्थ है। **गामादाग्रहणेषु**, यहां **गामादाधाग्रहणेषु** ऐसा पाठ न्याय्य है। किसी पुस्तक में 'धा' शब्द छूट गया, उस मूलवाली =उससे प्रतिलिपि की गई पुस्तकों में वही पाठ (='धा' रहित पाठ) अन्धपरम्परा से सब ने आदृत कर लिया। **अविशेषः**—लक्षण[1]-लुग्विकरण-अननुबन्धक-सहचरित परिभाषाओं से निर्दिशित विशेष का आश्रय नहीं किया जाता है। इन सब की यहां निवृत्ति होती है। लक्षण-सहचरित-लुग्विकरण परिभाषा[2] से **डुदाञ् दाने** का ग्रहण प्राप्त होता है। अननुबन्धक और लुग्विकरण परिभाषाओं से **दो खण्डने** का, लक्षण तथा लुग्विकरण परिभाषाओं से **दाण् दाने** का, और लुग्विकरणमात्र से **देङ् रक्षणे** का और **दैप् शोधने** का, लक्षणपरिभाषामात्र से **दाप लवने** इसका, लक्षणसहचरित परिभाषाओं से **डुधाञ् धारणपोषणयोः** का। **धेट् पाने** का तो किसी भी परिभाषा से ग्रहण प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार स्थिति होने पर **गामादाधाग्रहणेषु** वचन से विशेषों का आश्रयण नहीं होता। ऐसा बोध कराने पर आत्व की गई दो देङ् धेट् की और सिद्धात्ववाली दाण् दाञ् धाञ् की घुसंज्ञा सिद्ध होती है। वहां सूत्र में **अदाप्** ग्रहण दाधा ग्रहणांशकृत सूत्रापेक्ष सामान्य की अपेक्षा विशेष का ज्ञापक है। यदि प्रकृत सूत्र में लक्षणप्रतिपदोक्त से कहे गये विशेष का आश्रयण होवे, तो लक्षण-लुग्विकरण-सहचरित परिभाषाओं से **दाञ्** का ही 'दा' शब्द से ग्रहण होवे, **दो देङ् दाण् दाप् दैप्** इनका ग्रहण न होवे। इस अवस्था में **अदाप् प्रतिषेध** व्यर्थ होवे। पर सूत्रकार ने **अदाप्** प्रतिषेध किया है। वह लक्षणप्रतिपदोक्त आदि परिभाषाकृत विशेष के अनाश्रयण को ज्ञापित करता है" (द्र०—हस्तलेख पृष्ठ ४३६–४३८; मुद्रित पृष्ठ ७१)। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने 'गामादा' परिभाषा में 'धा' का पाठ भी माना है। कैयट 'धा' के सामान्य ग्रहण में ज्ञापन करते हैं—**दो दद् घोः** (७।४।४६) सूत्र में 'दद् घोः' (=घुसंज्ञक को दद् आदेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय परे रहने पर) इतने से ही सिद्ध था, क्योंकि घुसंज्ञा दा धा की कही है। प्रतिपदोक्त के ग्रहण से 'दा' के साथ डुधाञ् की ही घुसंज्ञा होगी (धेट् की नहीं होगी)। डुधाञ् को अगले सूत्र से 'हि' आदेश कहा है। इस प्रकार केवल 'दा' का ही ग्रहण होगा। फिर 'दा' ग्रहण धेट् की निवृत्ति के लिये होता हुआ, दाधा के अविशेष ग्रहण का ज्ञापक होता है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के व्याख्यान का विस्तार से खण्डन किया है॥

---

१. इन परिभाषाओं का स्वरूप—लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्। लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्। निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्। सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्। २. 'श्लु' को लुग्विकरण न मानने से।

[भाष्यम्] समानशब्दप्रतिषेधः ॥२॥

समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः । प्रनिदारयति प्रनिधारयति । दाधा घुसंज्ञा भवन्ति, इति घुसंज्ञा प्राप्नोति ।

समानशब्दाऽप्रतिषेधोऽर्थवद्ग्रहणात् ॥३॥

समानशब्दानामप्रतिषेधः, अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः । घुसंज्ञा कस्मान्न भवति ? 'अर्थवद्ग्रहणात्' । अर्थवतोर्दाधोर्ग्रहणम् । न चैतावर्थवन्तौ ।

अनुपसर्गाद्वा ॥४॥

अथवा यत्क्रियायुक्ताः प्रादयः, तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति । न चैतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः ॥

व्याख्या—समान शब्दों का प्रतिषेध कहना चाहिये ।

समान [श्रुतिवाले] शब्दों का प्रतिषेध कहना चाहिये । प्रनिदारयति प्रनिधारयति । दाधा की घुसंज्ञा होती है, ऐसा कहने से यहां भी घुसंज्ञा प्राप्त होती है ।

समान शब्दों का प्रतिषेध नहीं कहना चाहिये, अर्थवान् [दा धा] के ग्रहण होने से ।

समान शब्दों का अप्रतिषेध है, अनर्थक प्रतिषेध=अप्रतिषेध । [प्रनिदारयति प्रनिधारयति में] घुसंज्ञा क्यों नहीं होती है ? 'अर्थवान् के ग्रहण से' । [सूत्र में] अर्थवान् दा धा का ग्रहण होने से । ये (=दारयति धारयति के दा धा) अर्थवान् नहीं हैं ।

अथवा [प्र नि के] अनुपसर्ग होने से [णत्व नहीं होगा] ।

अथवा जिस क्रिया से युक्त प्रादि होते हैं, उसी के प्रति उनकी गति और उपसर्ग संज्ञा होती है । इन (=प्र नि) का [प्रनिदारयति प्रनिधारयति में] दा धा के प्रति क्रिया का योग नहीं है [किन्तु 'दार्' 'धार्' के प्रति योग है । अतः उपसर्ग संज्ञा न होने से प्रनिदारयति प्रनिधारयति में णत्व नहीं होता] ॥

[भाष्यम्] यद्येवम्, इहापि तर्हि न प्राप्नोति—प्रणिदापयति प्रणिधापयतीति । अत्रापि नैतौ दाधावर्थवन्तौ, नाप्येतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः ।

न वाऽर्थवतो ह्यागमस्तद्गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते, यथाऽन्यत्र ॥५॥

न वैष दोषः । किं कारणम् ? अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते । 'यथान्यत्र' । तद्यथा—अन्यत्राप्यर्थवत आगमोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते । क्वान्यत्र ? लविता चिकीर्षितेति ॥

व्याख्या—यदि ऐसा है (=अनर्थक का ग्रहण नहीं होता है), तो यहां भी [घुसंज्ञा] प्राप्त नहीं होती—प्रणिदापयति प्रणिधापयति। यहां भी ये दा धा अर्थवान् नहीं हैं, और नाहीं इन दा धा के प्रति क्रिया का योग है।

यह दोष नहीं है, अर्थवान् को कहा गया आगम उस (=अर्थवान्) का गुणीभूत होकर उस (=अर्थवान्) के ग्रहण से गृहीत होता है, जैसे अन्यत्र।

यह दोष नहीं है। क्या कारण है? अर्थवान् को कहा गया आगम उस अर्थवान् का गुणीभूत होकर उस अर्थवान् के ग्रहण से गृहीत होता है। 'यथा अन्यत्र'। जैसे अन्यत्र भी अर्थवान् को कहा गया आगम अर्थवान् के ग्रहण से गृहीत होता है। कहां अन्यत्र? लविता चिकीर्षिता। [यहां अर्थवान् तृच् प्रत्यय को कहा गया इट् का आगम प्रत्यय के ग्रहण से गृहीत होता है। इस से 'लविता' में सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से अङ्ग को गुण और 'चिकीर्षिता' में अतो लोपः (६।४।४८) से अङ्ग के अकार का लोप होता है। अन्यथा अङ्ग और आर्धधातुक प्रत्यय के मध्य इट् का व्यवधान होने से अङ्ग को गुण और अकारलोप कार्य नहीं होते।]

विवरण—'समानशब्दप्रतिषेधः' इसकी उत्थानिका में शिवरामेन्द्र सरस्वती का कथन है कि **'गामादाग्रहणेष्वविशेषः'** नियम **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य** का भी बाधक हो जायेगा। ऐसी शंका को ध्यान में रखकर यह प्रतिषेध कहा है। वस्तुतः यह उत्थानिका ठीक नहीं है, क्योंकि **गामादाग्रहणेष्वविशेषः** का निर्देश तो यहां भाष्यकार ने प्रसङ्गवश किया है। और **समानशब्द-प्रतिषेधः** वार्तिक है कात्यायन का, जो भाष्यकार से पूर्वभावी है। अतः समानश्रुतिमात्र से घुसंज्ञा की प्राप्ति की आशंका को ध्यान में रखकर **समानशब्दप्रतिषेधः** वार्तिक का प्रवचन है, यही मानना युक्त है। **न चैतावर्थवन्तौ**—'दारयति' 'धारयति' में 'दृ' 'धृ' की धातुसंज्ञा है। उनके ऋकार को वृद्धि और रपर होने से 'दार्' 'धार्' तो अर्थवान् हैं, परन्तु उनके अवयव 'दा' 'धा' अर्थवान् नहीं हैं। अतः इनकी 'घु' संज्ञा नहीं होगी। घुसंज्ञा न होने से **प्रनिदारयति प्रनिधारयति** में णत्व नहीं होगा। अभ्युपगम सिद्धान्त से घुसंज्ञा स्वीकार करके समाधानान्तर दिया है—**अनुपसर्गाद्वा। न चैतौ दाधौ प्रति** का अभिप्राय यह है कि **प्र नि** का दा धा के प्रति क्रियासम्बन्ध नहीं है, क्योंकि दा धा क्रियावाचक नहीं हैं। 'दार्' 'धार्' के क्रिया के वाचक होने से **प्र नि** का योग दार् धार् के प्रति है। इस प्रकार दा धा के प्रति उपसर्ग संज्ञा न होने से घुसंज्ञा होने पर भी **नेर्गदनद०** (८।४।१७) से णत्व नहीं होगा।

इहापि तर्हि न प्राप्नोति—**प्रणिदापयति प्रणिधापयति** में दा धा को **अर्तिह्रीव्ली**(७।३।३६) इत्यादि से **'पुक्'** का आगम होता है। अतः यहां **दाप् धाप्** अर्थवान् हैं, **दा धा** एकदेश अर्थवान् नहीं हैं। तथा **प्रनि** का योग भी **दाप् धाप्** के प्रति है, न कि **दा धा** के प्रति। अतः यहां भी घुसंज्ञा प्राप्त नहीं होती है। यह उपर्युक्त समाधानों में दोष उपस्थित होता है। **लविता चिकीर्षिता**—इसका स्पष्टीकरण भाष्य-व्याख्या में कर दिया है॥

[भाष्यम्] युक्तं पुनर्यन्नित्येषु नाम शब्देष्वागमशासनं स्यात् ? न नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः ? आगमश्च नामाऽपूर्वः शब्दोपजनः । अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः ? बाढं युक्तम् । शब्दान्तरैरिह भवितव्यम् । तत्र शब्दान्तरे शब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता । आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति, अनागमकानां सागमकाः । तत्कथम् ?

'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥'

व्याख्या—क्या यह युक्त है कि नित्य शब्दों में आगम का शासन होवे ? क्या नित्य शब्दों में वर्णों को कूटस्थ अविचाली और अपाय-उपजनरहित नहीं होना चाहिये? आगम नाम अपूर्व शब्द के उपजन का है । तो क्या नित्य शब्दों में आदेशों का होना युक्त है ? हां, युक्त है । यहां (=आदेश पक्ष में) शब्दान्तरों को होना है । वहां शब्दान्तर के स्थान में शब्दान्तर की प्रतिपत्ति युक्त है । अच्छा तो ये आदेश हो जायेंगे । आगमरहितों के स्थान में आगमसहित हो जायेंगे । यह कैसे ? दाक्षीपुत्र पाणिनि के मत में सब सब पदों के आदेश हैं । एकदेश में विकार स्वीकार करने पर शब्दों का नित्यत्व उपपन्न नहीं होता ।

विवरण—'**अर्थवतो ह्यागमः**' परिभाषा से प्राप्त दोष का निवारण किया है । अतः प्रसङ्गप्राप्त आगम के सम्बन्ध में विचार करते हैं कि शब्दों को नित्य मानने के पक्ष में क्या आगम-विधान युक्त है ? यदि आगम-विधान युक्त नहीं है, तो **अर्थवतो ह्यागमः** परिभाषा से जो समाधान किया, उसके निराकृत हो जाने पर वही दोष होगा कि—**प्रणिदापयति प्रणिधापयति** में घुसंज्ञा नहीं होगी । यहां नागेश ने लिखा है—'**कूटस्थैः**' शब्द का ही व्याख्यान है—'**अविचालिभिः**' । और '**अविचालिभिः**' का विवरण है—'**अनपायोपजनविकारिभिः**' । हमारे विचार में यह व्याख्या उचित नहीं है । वृक्ष कूटस्थ है, अपने स्थान पर नियत है, परन्तु वायु से उसकी शाखाओं में विचालिता=गति होती है । अतः यहां अभिप्राय इस प्रकार जानना चाहिये कि—**देवदत्तः** में जितने वर्ण हैं, उतने ही उस समुदाय में रहना कूटस्थता है । **देवदत्तः** के नियत वर्णों का उसी में आगे-पीछे होना विचालिपन है । नियत वर्णों की कूटस्थता और अविचालिता होते हुये किसी वर्ण का अपाय उपजन अथवा विकार होने का प्रतिषेध करने के लिये **अनपायोपजनविकारिभिः** पदों का निर्देश है । कूटस्थ आदि पदों का व्याख्यान पूर्व पस्पशाह्निक (पृष्ठ ५०) में कर चुके हैं ।

पाणिनीय शास्त्र में आगम और आदेश दोनों का विधान मिलता है । यदि शब्द के नित्यत्व की दृष्टि से आगम का विधान युक्त नहीं है, तो आदेश का विधान भी युक्त नहीं है । यह विचार मन में रखकर पूछता है—**युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः ?** आदेशपक्ष में आदेश के स्वरूप का निर्देश करता है—**शब्दान्तरैरिह भवितव्यम्** । **अस्तेर्भूः** (२।४।५२) से आर्धधातुक-विषय में अस् के स्थान में भू आदेश कहा है । उसका अभिप्राय यह है कि—आर्धधातुक के विषय में अस् के स्थान में भू का प्रयोग करना चाहिये । इस पर आगमवादी कहता

है कि आगम विधान भी ठीक है। आगमरहित भू तृ के स्थान में आगमसहित भू इ तृ आदेश होगा। इस प्रकार आगम आदेशविधान से व्याकरणशास्त्र से शब्दनित्यत्व पक्ष में कोई दोष नहीं आता।

सर्वपदादेशा:—यहां पद शब्द से शास्त्रीय **सुप्तिङन्तं पदम्** (१।४।१४) पद संज्ञा अभिप्रेत नहीं है, अपितु कार्यरूप से प्रतिपद्यमान वा प्रतीयमान प्रकृति प्रत्यय आदि सभी पद कहे गये हैं।

दाक्षीपुत्रस्य पाणिने:—दक्ष गोत्रजा कोई दाक्षी पदवाच्या पाणिनि की माता थी, यह इस वचन से व्यक्त होता है। संग्रहकार व्याडि के लिये दाक्षि और दाक्षायण दोनों प्रयोग ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। दाक्षायण में **वृद्धस्य च पूजायाम्** (वा० ४।१।१६५) के नियम से युव अर्थ में फक् होता है। तदनुसार दाक्षि की भगिनी दाक्षी पाणिनि की माता होने से संग्रहकार व्याडि पाणिनि के मामा थे। व्याडि=दाक्षि की भगिनी का एक नाम व्याड्या भी था। इस प्रकार पाणिनि के पिता 'पणिन्', माता 'दाक्षी' अपरनाम 'व्याड्या', नाना 'व्यड', और मामा 'व्याडि'=दाक्षि=दाक्षायण संग्रहकार थे। द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ १८२–१८४ (पाणिनि-प्रकरण), तथा पृष्ठ २७७–२७९ (संग्रहकार व्याडि-प्रकरण) संवत् २०३३ का संस्करण।

एकदेशविकारे—यह उपलक्षणार्थ है। इससे एकदेशविकार एकदेश-अपाय एकदेशोपजन आदि का भी संग्रह जानना चाहिये[1]। (ऋ०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदनित्यत्वविचार, ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३६, रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण)॥

[भाष्यम्] दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्वे ॥६॥

दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्वे वक्तव्यः। उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्येति। 'मीनातिमिनोति' [६।१।४९] इत्यात्वे कृते 'स्थाघ्वोरिच्च [१।२।१७] इतीत्वं प्राप्नोति।

कुतः पुनरयं दोषो जायते—किं प्रकृतिग्रहणाद्, आहोस्विद् रूपग्रहणात्? रूपग्रहणादित्याह। इह खलु प्रकृतिग्रहणाद् दोषो जायते—उपदिदीषते। 'सनि मीमाघुरभलभ' [७।४।५४] इति। नैष दोषः। 'दाप्रकृतिः' इत्युच्यते। न चेयं दाप्रकृतिः। आकारान्तानामेजन्ताः प्रकृतयः, एजन्तानामपीकारान्ताः, न च प्रकृतेः प्रकृतिः प्रकृतिग्रहणेन गृह्यते।

स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः? न वक्तव्यः। घुसंज्ञा कस्मान्न भवति? 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इत्येवं न भविष्यति॥

---

१. 'एकदेशविकारे च' इत्युपलक्षणम्। नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारे सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमनुपपन्नं भवति।' दयानन्दीय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदनित्यत्वप्रकरण।

व्याख्या—दीङ् का प्रतिषेध स्था घु के इत्त्व में कहना चाहिये।

दीङ् का प्रतिषेध [स्थाघ्वोरिच्च १।२।१७ सूत्रविहित] स्था घु के इत्त्व में कहना चाहिये। उपादास्ताऽस्य स्वरः शिक्षकस्य, यहां मीनातिमिनोति० (६।१।४९) से आत्व करने पर [घुसंज्ञा होने से] स्थाघ्वोरिच्च (१।२।१७) से इत्त्व प्राप्त होता है।

यह दोष कैसे होता है—क्या प्रकृतिग्रहण किया है उससे, अथवा [दा धा] रूपग्रहण से? रूपग्रहण से [दोष प्राप्त होता है]। यहां तो प्रकृतिग्रहण से दोष उत्पन्न होता है—उपदिदीषते। सनि मीमाघुरभलभ० (७।४।५४) [से इस् आदेश और अभ्यास का लोप प्राप्त होता है]। यह (='उपदिदीषते' में उक्त) दोष नहीं है। 'दाप्रकृतिः' ऐसा कहा है। यह (=दीङ्) दा की प्रकृति नहीं है। आकारान्तों की एजन्त प्रकृतियां हैं [क्योंकि आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४४) से एच् को आकार कहा है]। एजन्तों की भी ईकारान्त प्रकृतियां हैं [क्योंकि ईकारान्त को गुण होकर एकार होता है]। प्रकृति की प्रकृति (=आकारादेश की प्रकृति एजन्त, और एजन्त की प्रकृति ईकारान्त) प्रकृति (=आकारान्त की प्रकृति) के ग्रहण से गृहीत नहीं होती।

तो क्या वह प्रतिषेध कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये। [उपादास्त में] घुसंज्ञा किस कारण नहीं होती? 'सन्निपातलक्षण विधि उसके विघात का कारण नहीं होती' इस नियम से [आकारान्त को निमित्त मानकर घुसंज्ञा] नहीं होगी।

विवरण—दीङः प्रतिषेधः—मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च (६।१।४९) से आत्व होने पर उपादास्त में 'दा' रूप मानकर घुसंज्ञा प्राप्त होती है। और घुसंज्ञा होने पर स्थाघ्वोरिच्च (१।२।१७) से इत्त्व प्राप्त होता है। प्रकृतिग्रहण से 'दा' की प्रकृति दीङ् की घुसंज्ञा होने से उपदिदीषते में सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस्(७।४।५४)से 'इस्' आदेश और अभ्यास-लोप प्राप्त होता है। सन्निपातलक्षणो विधिः—यहां 'दा' आकारान्त के सन्निपात से होनेवाली घुसंज्ञा होने पर इत्त्व होकर घुसंज्ञा के निमित्त आत्व का ही व्याघात प्राप्त होता है। कैयट और शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है कि सिच् के अकित्व को मानकर ही आकार होता है, और आकार घुसंज्ञा द्वारा सिच् के अकित्व का ही नाशक होता है। अतः 'दा' की घुसंज्ञा नहीं होती। हमारे विचार में उक्त व्याख्या भाष्य के अनुरूप नहीं है। भाष्य में कित्वं प्राप्नोति दोष नहीं दिया है, अपितु इत्वं प्राप्नोति कहा है। इसलिये हमारी व्याख्या भाष्य के अनुसार है। इस व्याख्या में 'घु' संज्ञा इत्त्व का निमित्त नहीं होती। ऐसा मानने पर घुसंज्ञा की बाधा नहीं होती, घुसंज्ञा तो हो ही जाती है। अतः घुसंज्ञा कस्मान्न भवति का तात्पर्य 'घुसंज्ञा-निमित्तक इत्व क्यों नहीं होता' में है। दीङ् धातु के प्रणिदाता में घुसंज्ञा होती है, अतः घुसंज्ञा की बाधा यहां अभिप्रेत नहीं है॥

[भाष्यम्] दाप्प्रतिषेधे न दैप्यनेजन्तत्वात् ॥७॥

दाप्प्रतिषेधे दैपि प्रतिषेधो न प्राप्नोति—'अवदातं मुखम्'। ननु चाऽऽत्त्वे कृते भविष्यति। तद्धचात्त्वं न प्राप्नोति। किं कारणम्? अनेजन्तत्वात्।

सिद्धमनुबन्धस्याऽनेकान्तत्वात् ॥८॥

सिद्धमेतत् । कथम् ? 'अनुबन्धस्यानेकान्तत्वात्' । अनेकान्ता अनुबन्धाः ।

पित्प्रतिषेधाद्वा ॥९॥

अथ वा 'दाधा घ्वपित्' इति वक्ष्यामि । तच्चाऽवश्यं वक्तव्यम् । 'अदाप्' इति ह्युच्यमाने इहापि प्रसज्येत—'प्रणिदापयति' इति ।

शक्यं तावदनेनाऽदाबिति ब्रुवता बान्तस्य प्रतिषेधो विज्ञातुम् । सूत्रं तर्हि भिद्यते । यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं—'दाप्प्रतिषेधे न दैपि' इति । परिहृतमेतत् —'सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वात्' इति । अथैकान्तेषु दोष एव । एकान्तेष्वपि न दोषः । आत्वे कृते भविष्यति । ननु चोक्तं—'तद्धयात्वं न प्राप्नोति । किं कारणम्? अनेजन्तत्वात्' इति । पकारलोपे कृते भविष्यति । नह्ययं तदा दाब्भवति । भूतपूर्वगत्या भविष्यति । एतच्चात्र युक्तम्—यत्सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु भूतपूर्वगतिर्विज्ञायते । अनैमित्तिको ह्यनुबन्धलोपस्तावत्येव भवति ।

अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्' इति । यदयमुदीचां माङो व्यतीहारे [३।४।१९] इति मेङः सानुबन्धकस्याऽऽत्वभूतस्य ग्रहणं करोति ।

अथवा दाबेदायं, न दैबस्ति । कथम्—'अवदायति' इति ? श्यन्विकरणो भविष्यति ॥१९॥

व्याख्या—'दाप्' के प्रतिषेध में 'दैप्' में प्रतिषेध प्राप्त नहीं होता, एजन्त न होने से।

'दाप्' के प्रतिषेध में 'दैप्' का प्रतिषेध प्राप्त नहीं होता। अवदातं मुखम् (=धुला हुआ मुख) । [ऐकार को] आत्व कर लेने पर प्रतिषेध हो जायेगा । वही तो आत्व प्राप्त नहीं होता । क्या कारण है ? एजन्त न होने से।

[आत्व] सिद्ध है, अनुबन्ध के अवयव न होने से ।

यह (=आत्व) सिद्ध है। कैसे ? अनुबन्ध के अनेकान्त (=अनवयव) होने से। अनुबन्ध अवयव नहीं होते ।

अथवा पित् के प्रतिषेध करने से ['घु' संज्ञा का प्रतिषेध हो जायेगा] ।

अथवा 'दाधा घ्वपित्' ऐसा सूत्र कहेंगे । वह (=अपित्) अवश्य कहना चाहिये । 'अदाप्' ऐसा कहने पर यहां भी ['घु' संज्ञा का प्रतिषेध] प्राप्त होगा—प्रणिदापयति ।

अच्छा तो 'अदाब्' ऐसा कहते हुए से बान्त का प्रतिषेध जाना जा सकता है [अर्थात् सूत्रपाठ में बान्त का प्रतिषेध करते हुये धातुपाठ में भी दाब् लवने, दैब् शोधने ऐसा पढ़ेंगे।

इस प्रकार तो सूत्र भिन्न हो जाता है। जैसा [सूत्र का] न्यास है, वैसा रहे। अभी तो कहा है कि—'दाप् के प्रतिषेध में दैप् में प्रतिषेध प्राप्त नहीं होता है'। इसका परिहार कर दिया है—'सिद्ध हो जाता है, अनुबन्ध के अवयव न होने से'। अच्छा तो [अनुबन्धों के] एकान्त (=अवयव) होने पर तो दोष है ही। अवयव होने पर भी दोष नहीं है। आकार कर लेने पर प्रतिषेध हो जायेगा। अभी तो कहा है कि—'वही आत्व प्राप्त नहीं होता है। क्या कारण है? एजन्त न होने से'। पकार का लोप करने पर [आत्व] हो जायेगा। उस समय(=पकार का लोप करके आत्व करने पर) यह 'दाप्' नहीं होता है। भूतपूर्व गति से (=आत्व करके पूर्व विद्यमान पकार का विशेषण करने से 'दाप्') हो जायेगा। यही यहां (=शास्त्र में)युक्त है कि—जो सब सानुबन्धों के ग्रहण में भूतपूर्व गति जानी जाये। अनुबन्ध का लोप अनैमित्तिक (=बिना किसी निमित्त के) होता है।

अथवा आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—'अनुबन्धों के कारण एजन्तत्व का अभाव नहीं होता'। जो ये आचार्य उदीचां माङो व्यतीहारे (३।४।१९) **में अनुबन्धसहित कृत-आत्व का निर्देश करते हैं।**

अथवा यह दाप् ही है, दैप् नहीं है। **कैसे रूप** होगा—अवदायति। **श्यन् विकरण हो जायेगा॥**

विवरण—अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिः—इस पर कैयट लिखता है—अनुबन्धों के एकान्त पक्ष में दाप् का प्रतिषेध दैप् को प्राप्त नहीं होता है, इसलिये ज्ञापक पढ़ते हैं। शिवरामेन्द्र सरस्वती का कथन है कि—"[भूतपूर्वगति रूप] न्याय के साथ ज्ञापक का विकल्प दर्शाने के लिये 'अथवा' शब्द का ग्रहण है। क्योंकि एकान्त पक्ष में भी दोष का अभाव आचार्य पूर्व दर्शा चुके हैं। **अतः कैयट** का व्याख्यान चिन्त्य है" (द्र०—हस्तलेख पृष्ठ ४५४, मुद्रित पृष्ठ ८१)। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने पुन: लिखा है—"व्यतीहार पर्यायवाची प्रणिदान का पाणिनि ने **मेङ् प्रणिदाने** में निर्देश किया है इसलिये **'उदीचां माङो व्यतीहारे'** (३।४।१९) सूत्र में मेङ् का ग्रहण ही उचित है। धातुओं के अनेकार्थत्व की कल्पना करके **माङ् माने** का ग्रहण नहीं होता, यह भाष्यकार का भाव है। यदि कहो कि सूत्र में 'माङ्' निर्देश के अनुसार **माङ् माने** के व्यतीहार **अर्थ** की कल्पना नहीं करनी चाहिये, **इसमें क्या प्रमाण है?** इसका समाधान किया है—**प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः** इस परिभाषा से मेङ् का ही ग्रहण होगा, माङ् का ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि शब्द और अर्थ में अर्थ की ही प्रधानता होती है। इसमें प्रकृत भाष्य ही प्रमाण है। इसी से जो लोग '**भू सत्तायाम्** इत्यादि में अर्थनिर्देश आधुनिक है, पाणिनिकृत नहीं है' कहते हैं उनका खण्डन हो जाता है। धात्वर्थनिर्देश को आधुनिक मानने में धातुपाठ में साक्षात् पठित 'माङ्' का परित्याग सम्भव नहीं होने से प्रकृत ज्ञापकपरक भाष्य असङ्गत हो जाता है। **भूवादयो धातवः** (१।३।१) सूत्र में पठित **समानशब्दप्रतिषेधः** और **परिमाणग्रहणं च** दोनों वचन धातुपाठ के स्वरूप को जाननेवाले के हैं[1], यह हम वहीं (=धातुसंज्ञा सूत्र में) स्पष्ट करेंगे।' इसी से कैयट का 'मेङ् का

१. हमारे मत में पाणिनि ने धातुपाठ का दो प्रकार का प्रवचन किया था। लघुपाठ में

ग्रहण है, माङ् का नहीं। 'मेङ्' का व्यतिहार के साथ नित्य योग है। माङ् का तो विवक्षा-वश व्यतिहारयोग के कादाचित्क होने से। 'प्रणिदान और व्यतिहार का एक ही अर्थ है' कथन चिन्त्य है" (द्र०—हस्तलेख पृष्ठ ४३४-४३६; मुद्रित पृष्ठ ८१)।

श्यन्विकरणो भविष्यति—**दैप् शोधने** को भ्वादिगण में न पढ़कर 'दाप्' ऐसा दिवादिगण में पढ़ने से **अवदायति** रूप उपपन्न हो जाता है। **दायति** में शप् होने पर शप् और तिप् के पित् होने से दोनों का अनुदात्तत्व होने पर धातुस्वर से आद्युदात्तत्व होता है, और श्यन् पक्ष में नित् होने से। इस प्रकार स्वरभेद भी नहीं होता। ताच्छीलार्थक चानश् के **दायमानः** रूप में यदि शप् पक्ष में चानश् का स्वर और श्यन् पक्ष में नित्वादाद्युदात्तत्व होने से स्वरभेद होगा, तो यह शंका भी निराधार है, क्योंकि श्यन् पक्ष में भी सतिशिष्ट विकरण स्वर से सार्वधातुकस्वर की बाधा नहीं होती है। यह बात **आत्ममाने खश् च** (३।२।८३) सूत्र के भाष्य से स्पष्ट है। अतः दोनों पक्षों में चानश् का चित्स्वर अन्तोदात्तत्व ही होगा ॥१६॥



[भाष्यम्] आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥१।१।२०॥

विशेष—इस सूत्र के शब्दार्थ में व्याख्याकारों का मतभेद है। शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है—"आदि और अन्त विद्यमान हैं जिसके, वह आद्यन्त शब्द से अभिप्रेत है। अर्शादि (द्र०—५।२।१२७) से यहां मत्वर्थ में अच् प्रत्यय है। उस (=आदि अन्तवाले) में जैसे आदि अन्त का व्यवहार होता है, तद्वत् एक में भी आदि अन्त का व्यपदेश (=कथन) होता है" (द्र०—हस्तलेख, पृष्ठ ४५६-४५७; मुद्रित पृष्ठ ८८)। कैयट ने लिखा है—"एक शब्द यहां असहायवाची है, संख्यावाची नहीं है। बहुतों में भी एक संख्या के विद्यमान होने से **'एकस्मिन्'** कहने से क्या लाभ होगा? उपमेय **एकस्मिन्** में सप्तमी के निर्देश से आद्यन्तवत् में भी सप्तम्यर्थ में **वति** प्रत्यय जाना जाता है।" शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के इस कथन का विस्तार से खण्डन किया है।[1] परन्तु हमारे विचार में शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत कैयट व्याख्यान का खण्डन उसकी अभिनिवेश बुद्धि का परिचायक है। छायाकार

धातुमात्र पठित थे, और वृद्धपाठ में प्रत्येक धातु के अर्थों का निर्देश था। इस विषय में **भूवादयो धातवः** (१।३।१) सूत्र-भाष्य की हमारी व्याख्या भाग २, पृष्ठ २३७ देखें। इस विषय में विशेष विचार हमने स्वसम्पादित 'क्षीर-तरङ्गिणी' के आरम्भ में पृष्ठ ६-१४ तक, तथा संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ ५१-६४ (संवत् २०३० का संस्करण) में किया है।

१. द्र०—हस्तलेख पृष्ठ ४५७-४६१; मुद्रित पृष्ठ ८९॥

वैद्यनाथ पायगुण्ड ने शिवरामेन्द्र सरस्वती के कैयट व्याख्यान के प्रत्याख्यान का खण्डन किया है।[1] इनका विस्तार उन्हीं के ग्रन्थों में देखें॥

[भाष्यम्] किमर्थमिदमुच्यते ?

सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम् ॥१॥

सत्यन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति, स आदिरित्युच्यते। सत्यन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति पूर्वमस्ति, सोऽन्त इत्युच्यते। 'सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावात्', एतस्मात् कारणादेकस्मिन्नाद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि न सिध्यन्ति। इष्यन्ते च स्युरिति। तान्यन्तरेण यत्नं न सिध्यन्ति, इत्येकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम्। एवमर्थमिदमुच्यते। अस्ति प्रयोजनमेतत् ? किं तर्हीति॥

व्याख्या—यह [सूत्र] किसलिये कहा है ?

अन्य के होने पर आदिवत् अन्तवद्भाव के होने से एक में आदिवत् अन्तवत् का कथन है।

अन्य के होने पर जिससे पूर्व नहीं है परे है, वह आदि कहा जाता है। अन्य के होने पर जिससे परे नहीं है पूर्व है, वह अन्त कहा जाता है। 'अन्य के होने पर आदिवत् और अन्तवत् भाव के होने से', इस कारण से एक में आदि और अन्त से कहे गये कार्य सिद्ध नहीं होते। इष्ट यह है कि [एक में भी आदि अन्त को कहे कार्य] हो जावें। यह विना प्रयत्न के सिद्ध नहीं होते, इसलिये एक में आद्यन्तवत् वचन है। इसीलिये यह सूत्र कहा जाता है। तो क्या [सूत्र का] यह प्रयोजन है ? और क्या।

विवरण—यहां कैयट का व्यपदेशिवद्भाव से सिद्धि मानकर आदि अन्त में गौण मुख्य द्विविध प्रयोग की कल्पना करके व्याख्यान करना उचित नहीं है। क्योंकि सूत्र के होने पर भी व्यपदेशिवद्भाव के विधान का आगे उल्लेख किया है। हमारे विचार में एक भी अपने आप में आदि भी है और अन्त भी। इस प्रकार एक में भी आदि अन्त के कार्य हो सकते हैं। इस भाव को मन में रखकर प्रष्टा ने सूत्र बनाने का प्रयोजन पूछा है। उसके उत्तर में आदि और अन्त शब्द के अर्थ को बताकर सूत्र रचने का प्रयोजन कहा है—**सत्यन्यस्मिन्**। इसका तात्पर्य यही है कि आदि अन्त का प्रयोग वहीं होता है, जहां एक से अधिक हों। इसलिये एक में आदि अन्त के सम्भव न होने से एक में आद्यन्तवद्भाव का विधान किया है॥

[भाष्यम्] तत्र व्यपदेशिवद्वचनम् ॥२॥

तत्र व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। 'व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवति' इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम् ?

1. द्र०—नवाह्निक निर्णयसागर सं०, पृष्ठ २६८, टि० ६।

एकाचो द्वे प्रथमार्थम् ॥३॥

वक्ष्यति—'एकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देशः' इति। तस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात्—पपाच पपाठ। इयाय आर इत्यत्र न स्यात्। 'व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवति' इत्यत्रापि सिद्धं भवति।

षत्वे चाऽऽदेशसम्प्रत्ययार्थम् ॥४॥

वक्ष्यति—'आदेशप्रत्यययोरित्यवयवषष्ठ्येषा' इति। एतस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात्—करिष्यति हरिष्यति। इह न स्यात्—'इन्द्रो मा वक्षत्'; 'स देवान्यक्षत्' (ऋ० ३।४।३)। 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्कार्यं भवति' इत्यत्रापि सिद्धं भवति॥

व्याख्या—वहां व्यपदेशिवद्वचन कहना चाहिये।

वहां व्यपदेशिवद्भाव कहना चाहिये। व्यपदेशी के समान एक में कार्य होता है, ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है?

एकाचो द्वे प्रथम के लिये।

आगे कहेंगे—एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) में बहुव्रीहि निर्देश है, अर्थात् एक अच् है जिसमें ऐसे प्रथम एकाच् को द्विर्वचन होता है। उस (=बहुव्रीहि निर्देश) के करने पर यहीं [द्विर्वचन] होगा—पपाच पपाठ। इयाय आर में नहीं होगा। 'व्यपदेशिवत् एक में कार्य होता है' इससे यहां (=इयाय आर) में भी [द्विर्वचन] सिद्ध हो जाता है।

और षत्व में आदेश के संप्रत्यय (=ज्ञान) के लिये।

आगे कहेंगे—आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) यह अवयवषष्ठी है, अर्थात् आदेश और प्रत्यय का अवयव जो सकार उसको इण् कवर्ग से परे मूर्धन्य होता है। इस (=अवयवषष्ठी रूप) वचन के करने पर यहीं होगा—करिष्यति हरिष्यति [यहां 'स्य' प्रत्यय का एकदेश सकार है]। यहां नहीं होगा—इन्द्रो मा वक्षत्, स देवान् यक्षत् (ऋ० ३।४।३)। 'व्यपदेशिवत् एक में कार्य होता' इससे यहां भी [षत्व] सिद्ध हो जाता है।

विवरण—'तत्र' का निर्देश सूत्र के पूर्वोक्त प्रयोजन के लिये है। अर्थात् **आद्यन्तवदेकस्मिन्** सूत्र का जो प्रयोजन है, उसी विषय में **व्यपदेशिवद् एकस्मिन्** ऐसा निर्देश करना चाहिये। इस निर्देश से **आद्यन्तवदेकस्मिन्** का कार्य भी सिद्ध हो जायेगा, तथा अन्य कार्य भी सिद्ध हो जायेंगे। **व्यपदेशिवत्**—व्यपदेश नाम है कथन का व्यवहार का। जिस निमित्त को स्वीकार करके जिस अर्थ में शब्द का मुख्यवृत्ति से प्रयोग होता है, वह व्यपदेशी कहाता है। तद्वत् अर्थात् मुख्यार्थ में प्रयुक्त शब्द के समान=जहां उसके प्रयोग का निमित्त न हो वहां भी उस शब्द का प्रयोग होना व्यपदेशिवत् अर्थात् उसके तुल्य प्रयोग कहाता है। आदि और अन्त शब्दों का जिस निमित्त को लेकर प्रयोग होता है, तद्वत् उस निमित्त के अभाव में भी एक में

आदि अन्त का प्रयोग व्यपदेशिवद्भाव से हो जायेगा। कार्यं भवति—कार्य के लिये जो व्यपदेश=कथन होता है, उसे यहां कार्य शब्द से कहा है। अर्थात् एक में भी आद्यन्त का व्यपदेश उपपन्न हो जाता है। किं प्रयोजनम्—का तात्पर्य है कि व्यपदेशिवद्वचन का प्रयोजन यदि इतना ही है, जितना आद्यन्तवदेकस्मिन् का, तब तो व्यपदेशिवद्भाव कहो चाहे आद्यन्तवद्भाव, समान ही होगा। यदि व्यपदेशिद्वचन का अन्य प्रयोजन है, तो वह क्या है? अतः वार्तिककार व्यपदेशिवद्वचन का अन्य प्रयोजन दर्शाते हैं—**एकाचो द्वे प्रथमार्थम्**। यहां **एकाचो द्वे प्रथमस्य** (६।१।१) सूत्र की प्रतीक के निर्देश के लिये 'एकाचो द्वे प्रथम' का ग्रहण करके उसके साथ 'अर्थ' शब्द का समास किया है। **इहैव स्यात् पपाच पपाठ**—पच् और पठ् धातु में बहुव्रीहि का अर्थ—'एक है अच् जिसमें' मुख्य रूप से उपपन्न हो जाता है, क्योंकि इनमें एक अच् के साथ दो हल् भी हैं। **इयाय आर इत्यत्र न स्यात्**—इण् और ऋ धातु में अकेला अच् ही है। इस प्रकार यहां बहुव्रीह्यर्थ के उपपन्न न होने से यह एकाच् नहीं है। एकाच् न होने से यहां द्विर्वचन नहीं होगा। **व्यपदेशिवदेकस्मिन्** कहने से एक अच् के लिये भी बहुव्रीह्यर्थक एकाच् शब्द का प्रयोग उपपन्न हो जायेगा।

वक्ष्यति—**आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५९) में पठित वार्तिकांश का निर्देश है। **वक्षत् यक्षत्** में क्रमशः वच और यज धातु से लेट् लकार में प्रथम पुरुष एकवचन तिप्, **इतश्च लोपः परस्मैपदेषु** (३।४।९७) से इकार का लोप, **लेटोऽडाटौ** (३।४।९४) से अट् का आगम, **सिब्बहुलं लेटि** (३।१।३४) से सिप् विकरण। वच् के चकार और यज् के जकार को **चोः कुः** (८।२।३०) से कुत्व 'च्' और 'ज्', 'ज्' को **खरि च** (८।४।५४) से ककारादेश। **आदेशप्रत्यययोः** (८।३।५९) में अवयवषष्ठी होने से सकारमात्र प्रत्यय को मूर्धन्य प्राप्त नहीं होता था, व्यपदेशिवद् वचन से हो जाता है॥

[भाष्यम्] स तर्हि व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः? न वक्तव्यः।

अवचनाल्लोकविज्ञानात् सिद्धम्॥५॥

अन्तरेणैव वचनं लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत्। तद्यथा लोके—'शालासमुदायो ग्रामः' इत्युच्यते। भवति चैतदेकस्मिन्नपि—'एकशालो ग्रामः' इति। विषम उपन्यासः। ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते। तद्यथा—'ग्रामो दग्धः' इति। अस्ति वाटपरिक्षेपे वर्तते। तद्यथा—'ग्रामं प्रविष्टः' इति। अस्ति च मनुष्येषु वर्तते। तद्यथा—'ग्रामो गतः' 'ग्राम आगतः' इति। अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते। तद्यथा—'ग्रामो लब्धः' इति। तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते। तमभिसमीक्ष्यैतत् प्रयुज्यते—'एकशालो ग्रामः' इति।

यथा तर्हि—'वर्णसमुदायः पदम्' 'पदसमुदाय ऋक्' 'ऋक्समुदायः सूक्तम्' इत्युच्यते। भवति चैतदेकस्मिन्नपि—'एकवर्णं पदम्', 'एकपदा ऋक्' 'एकर्चं सूक्तम्' इति। अत्राऽप्यर्थेन युक्तो व्यपदेशः। पदं नामाऽर्थः, ऋङ् नामार्थः, सूक्तं नामार्थ इति।

यथा तर्हि—बहुषु पुत्रेष्वेतदुपपन्नं भवति—'अयं मे ज्येष्ठः, अयं मे मध्यमः, अयं मे कनीयान्' इति। भवति चैतदेकस्मिन्नपि—'अयमेव मे ज्येष्ठः, अयमेव मे मध्यमः, अयमेव मे कनीयान्' इति। तथाऽसूतायामसोष्यमाणायां च भवति—'प्रथमगर्भेण हता' इति। तथाऽनेत्याऽनाजिगमिषुराह—'इदं मे प्रथममागमनम्' इति॥

व्याख्या—तो क्या वह व्यदेशिवद्भाव कहना चाहिये ? नहीं कहना चाहिये। बिना कहे लोकविज्ञान से सिद्ध है।

विना वचन के ही यह लौकिक ज्ञान से सिद्ध है। जैसे लोक में—'शालाओं का समूह ग्राम' कहा जाता है। [इस ग्राम का प्रयोग] एक शाला में भी होता है—'एक शालावाला यह ग्राम है'। यह दृष्टान्त विषम है। यह ग्राम शब्द बह्वर्थक है। कहीं शालासमुदाय में वर्तमान होता है। जैसे—'गांव जल गया'। वाट-परिक्षेप (=ग्राम की चारदिवारी अथवा गांव के बाहर चिह्न के लिये रखा गया पाषाण=गांव भाटा (राजस्थानी शब्द) अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—'गांव में प्रविष्ट हुआ'। मनुष्यों के समुदाय अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—'गांव[उठकर]चला गया, गांव आ गया'। अरण्यसहित सीमासहित और स्थण्डिल (=ग्राम की सीमा के निर्धारण के लिये बनाया गया चबूतरा आदि) सहित अर्थ में भी ग्राम शब्द वर्तमान है। जैसे—'मैंने ग्राम [दान में] पाया'। जो यह अरण्यसहित सीमासहित और स्थण्डिलसहित अर्थ में ग्राम शब्द वर्तमान है, उसको स्वीकार करके यह प्रयोग किया जाता है—'एकशालो ग्रामः'।

अच्छा तो जैसे—'वर्णसमुदाय पद' कहा जाता है, 'पदसमुदाय' ऋक् कही जाती है, और 'ऋक्समुदाय' सूक्त कहा जाता है। परन्तु यह एक में भी प्रयोग होता है—'एकवर्णवाला पद', 'एकपदा ऋक्' और 'एकर्च सूक्त'। यहां भी [पदादि शब्दों के] अर्थ की दृष्टि से कथन युक्त है। 'पद' नाम अर्थविशेष का है, ऋक् नाम अर्थविशेष का है, और सूक्त नाम अर्थविशेष का है। अर्थात् किन्हीं अर्थविशेषों में इन शब्दों का व्यवहार होता है, वह अर्थ उक्त प्रयोगों में विद्यमान है।

अच्छा तो जैसे—बहुत पुत्र होने पर यह कथन उपपन्न होता है—'यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र हैं, यह मेरा मध्यम पुत्र है, यह मेरा छोटा पुत्र है'। परन्तु यह एक पुत्र होने पर भी प्रयोग होता है—'यही मेरा ज्येष्ठ पुत्र है, यही मेरा मध्यम पुत्र है, और यही मेरा छोटा पुत्र है'। तथा जिस स्त्री ने पहले पुत्र उत्पन्न नहीं किया, और नाही आगे उत्पन्न करेगी, ऐसी स्त्री के विषय में प्रयोग होता है—'प्रथम गर्भ से ही मारी गई।' तथा पहले न आकर, और आगे न आने की इच्छावाला कहता है—'यह मेरा पहला आना है'।

विवरण—अवचनाल्लोकविज्ञानात्—का अर्थ शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रकार किया है—"जिसको कहनेवाला वचन नहीं है, उस लोकविज्ञान साधन से, अर्थात् लोकव्यवहाररूप दृष्टान्त से इस शास्त्र में भी इष्ट सिद्ध हो जाता है।" शालासमुदायो ग्रामः—'इसी अर्थ में ग्राम शब्द की शक्ति के ग्रहण होने से' यह भाव समझकर दृष्टान्त उपस्थित

किया है। **ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः**—यह सन्दर्भ पूर्व **हलोऽनन्तराः संयोगः** (१।१।७) सूत्र के भाष्य में भी प्रयुक्त हुआ है। **एकशालो ग्रामः**—यहां **ग्रामो दग्धः** के समान **एकशालोऽयं ग्रामो दग्धः** प्रयोग भी होता है, यह आशय जानना चाहिये।

पदसमुदाय ऋक्—इस पर कैयट ने लिखा है कि—'यहां पद पाद का पर्यायवाची है। इसलिये **एकपदा ऋक्** का अभिप्राय एकपादवाली **ऋचा** जानना चाहिये। क्योंकि कोई भी ऋक् एकपदवाली नहीं है। इस पर टिप्पणी में पं० शिवदत्त दाधिमथ ने कतिपय एकपदवाली ऋचाओं का निर्देश किया है। हमारे विचार में यह व्याख्या प्रक्रम के विरुद्ध है। जब **वर्णसमुदायः पदम्** में सुप्तिङन्त पद ही विवक्षित है, तब **पदसमुदाय ऋक्** में प्रयुक्त पद शब्द पाद का पर्यायवाची कैसे लिया जा सकता है? कैयट ने जो हेतु दिया है कि एकपदवाली कोई ऋक् नहीं है, यह हेतु भी चिन्त्य है। अथर्व २०।१२९।९ की ऋक् है—**पृदाकवः**। यह एक पदवाली ऋक् प्रत्यक्ष उपलब्ध होती है। इतना ही नहीं, ऋक्प्रातिशाख्य (१७।१७), निदान-सूत्र (१।५, पृष्ठ ५), उपनिदान सूत्र (पृष्ठ ६), ज्ञानाश्रयी छन्दोविचिति (१।२,३), भरत नाटचशास्त्र (१४।४६) में प्राग्गायत्री छन्द के ४, ८, १२, १६ अक्षरोंवाले पांच छन्दों का उल्लेख किया है[1]। भरत नाटचशास्त्र ज्ञानाश्रयी छन्दोविचिति में उक्त ४, ८, १२, १६ अक्षरों वाले छन्दों में क्रमशः १, २, ३, ४ अक्षरों के पादों का उल्लेख किया है। इस पादविभाग से स्पष्ट है कि पादबद्ध छन्द होने से ये ऋचाएं हैं। इस प्रकार **पृदाकवः** यह १६ अक्षरोंवाले प्राग्गायत्री छन्द का चार अक्षरों के एक पादवाली एक पद की ऋचा है, यह स्पष्ट है। अतः प्रकरणानुसार **एकपदा ऋक्** में **एकं पदं यस्यां सा** एकपदा **ऋक्** अर्थ ही उपयुक्त है। इसमें एकपद शब्द से स्त्रीलिङ्ग में **अजाद्यतष्टाप्** (४।१।४) से टाप् जानना चाहिये, न कि **एकः पादो यस्यां सा एकपदा**। इस प्रकार पाद को समासान्त अन्त्य लोप (५।४।१३६), **पादः पत्** (६।४।१३०) से पदादेश, तथा **टाबृचि** (४।१।९) से टाप् प्रत्ययान्त का रूप नहीं जानना चाहिये। इतना ही नहीं 'ओम्' यह भी एकाक्षर एक पदवाली ऋक् का उदाहरण जानना चाहिये। यह पूर्व निर्देशानुसार चतुरक्षरा ऋचा का एकाक्षर रूप पाद है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने भी कैयट के 'एकपदा ऋक्' में पद शब्द पाद का पर्याय है, इस कथन का खण्डन किया है।[2] **एकर्चं सूक्तम्**—एक ऋगात्मक सूक्त यथा **जातवेदसे सुनवाम सोमम्**(ऋ० १।९९)।

पदं नामार्थः—पद का अर्थ संज्ञी है, सुबन्त और तिङन्त (**सुप्तिङन्तं पदम्** १।४।१४)। पद यह महती अन्वर्थ संज्ञा है। इसका अर्थ है—**पद्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेन**=जिससे कोई अर्थ जाना

१. इस विषय के विवेचन के लिये देखिये–हमारी 'वैदिक छन्दोमीमांसा' पृ० ८६-८८।

२. यत्तूक्तं पादपर्यायोऽत्र पदशब्दः। तथा चैकपदा ऋगिति पाद एव विवक्षितः, न तु ऋचः कस्याश्चिद् एकमेव पदं भवतीति। तन्न। सुप्तिङन्तान्यतरस्यैव पदस्य प्रसिद्धस्य तत्र ग्रहीतुमुचितत्वात्। एकर्णात्मकस्य पादस्येव एकपादाया ऋच इव एकपदात्मिकाया अपि ऋचः सद्भावे बाधकाभावात्। हस्तलेख, पृष्ठ ४६३; मुद्रित पृष्ठ ६०।

जाये। इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार जिस सुबन्त तिङन्त से कोई अर्थ जाना जाता है, वह पद कहाता है। वह एकवर्णात्मक भी होता है। यथा एकवर्ण निपात। शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार निपात भी सुबन्त है। इसलिये शास्त्रीय लक्षण से तथा अन्वर्थता से एकवर्णात्मक निपात भी पद होते हैं। **ऋङ्नामार्थः**—ऋक् का अर्थ है—**अर्च्यते स्तूयतेऽर्थोऽनया सा ऋक्**= जिससे किसी अर्थ की स्तुति की जाये, गुणवर्णन किया जाये, वह ऋक् होती है। ऋक् का शास्त्रीय लक्षण जैमिनि ने इस प्रकार दर्शाया है—**यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्** (मीमांसा २।१।३५)। अर्थात् जहां अर्थ के अनुसार पादव्यवस्था होवे, वे मन्त्र ऋक् कहाते हैं[1]। इस प्रकार ऋक् शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तथा मीमांसोक्त लक्षण एकपदात्मक मन्त्र में भी उपपन्न होने से एकपदात्मिका भी ऋक् होती है। **सूक्तं नामार्थः**—सूक्त यह भी वैदिकों की अन्वर्थ-संज्ञा है। तदनुसार जितने मन्त्र से कोई विशिष्ट अर्थ अच्छे प्रकार कहा जावे, वह सूक्त कहाता है। यथा अग्नि को कहनेवाला **अग्निमीळे** नवर्च सूक्त। जब कोई अर्थ एक मन्त्र से ही कथित होता है, तब एकर्च भी सूक्त होता है। यथा—**जातवेदसे सुनवाम सोमम्** (ऋ० १।९९)।

कैयट ने **पदं नामार्थः** आदि में पद ऋक् सूक्त संज्ञाओं के संज्ञीरूप अर्थों का ग्रहण न कर पदादि के वाच्य अर्थ का निर्देश मानकर लिखा है—'पदादि का जो अर्थ है, वह अन्य पदार्थ है। इसलिये ['एकवर्णं पदम्' आदि में] अभेदोपचार से इनका अर्थ ही पदादि शब्दों से कहा जाता है।' इस पर नागेश ने लिखा है—"अर्थ का पदत्व कैसे है, इसलिये कहा है—'अभेदोपचार से'। पद और अर्थ का अभेदोपचार शब्द अर्थ दोनों के अनादि होने से है।" शिवरामेन्द्र सरस्वती ने पद और अर्थ के अभेदोपचार को स्वीकार न करके पदादि शब्दों का वाच्य ही अर्थ बनाने के लिये **'पद्यते यत् तत्पदम्'** (=जो जाना जाता है, वह पद) घञर्थ में 'क' प्रत्यय का विधान है। **'अर्च्यते स्तूयते या सा ऋक्'** (=जिसकी स्तुति की जाती है) कर्म में क्विप् प्रत्यय है। **'सुष्ठु उक्तम्=सूक्तम्'** (=अच्छे प्रकार कहा गया है) कर्म में 'क्त' है, ऐसा लिखकर कैयटोक्त अभेदोपचार का खण्डन करने के लिये लिखा है—प्रयोग की औपचारिकता का निराकरण करने के लिये प्रवृत्त भाष्यकार का पुनः औपचारिकता का

---

१. जैमिनि के उक्त लक्षण को शबर स्वामी ने प्रायिक कहकर "छन्दोऽनुरोध से भी जहां पादव्यवस्था होती है, उसे भी ऋक् कहा है। तथा **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः** (ऋ० (१।१।२) (द्र०—मीमांसाभाष्य २।१।३५)। यहां **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः** इस पाद में क्रिया का निर्देश न होने से अर्थ अपरिसमाप्त रहता है। अतः जैमिनि का लक्षण यहां उपपन्न नहीं होता। पर छन्दोऽनुरोध से पाद बन जाने से इसे भी ऋक् कहा जाता है।" यह शबरस्वामी का अभिप्राय है। वस्तुतः शबर स्वामी का जैमिनि के लक्षण में न्यूनता दर्शाना चिन्त्य है। यहां 'ईड्यः' पर्यन्त दशाक्षर प्रथम पाद है, और **नूतनैरुत** यह षडक्षर द्वितीय पाद है। वैदिक छन्दों के वास्तविक पादविभाग का ज्ञान न होने से शबरस्वामी ने भूल की है। इस विषय की हमने 'वैदिक-छन्दोमीमांसा' में विस्तृत विवेचना की है (द्र०—पृष्ठ ६९-७३, तथा पृष्ठ २०९-२११)। जिज्ञासु पाठक इस विषय को वहीं देखे। अथवा हमारे 'मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या' (२।१।३५) में देखें। यहां विस्तरभिया संकेत ही किया है।

आश्रयण करना अनुचित होने से अभेदोपचार कहना अशुद्ध है[1]। हमारा व्याख्यान शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत व्याख्यान से सरल और प्रकरणानुगत अधिक है।

ज्येष्ठोऽयम्, मध्यमोऽयम्, कनिष्ठोऽयम्—ज्येष्ठ मध्यम और कनिष्ठ पद सापेक्ष हैं। अतः इनका प्रयोग अभिधावृत्ति से वहीं होता है, जहां सापेक्षार्थ (=बहुत्व) विद्यमान होता है। परन्तु जिसके एक ही पुत्र हो, उससे यदि कोई वस्तुस्थिति को न जाननेवाला व्यक्ति उसके ज्येष्ठ मध्यम और कनिष्ठ पुत्रों के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करे, तो वह एकपुत्रवाला व्यक्ति कहता है—**अयमेव मे ज्येष्ठः अयमेव मे मध्यमः अयमेव मे कनिष्ठः**। इस प्रकार जैसे अनेक पुत्र होने पर प्रयुक्त होनेवाले ज्येष्ठ मध्यम कनिष्ठ शब्दों को एक के लिये ही व्यवहार करना है, इस लोकव्यवहार के समान ही **एकवर्णं पदम् एकपदा ऋक् एकर्चं सूक्तम्** का प्रयोग है। और इसी प्रकार **एकशालो ग्रामः** का प्रयोग जानना चाहिये। प्रयोग में लोक ही प्रमाण है। भाष्यकार के शब्दों में यही कहा जा सकता है—'**तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्, स्वाभाविकमेतत्**' (हयवरट् पृष्ठ १७८)। **असूतायाम्—न सूतं पुत्रं यया तस्याम्**=जिसने पुत्र उत्पन्न नहीं किया। **असोष्यमाणायाम्**—जो पुत्र को भविष्य में उत्पन्न नहीं करेगी, ऐसी स्त्री प्रथम गर्भ से मारी गई। इसका भाव यह है कि प्रथम पद सापेक्ष है, द्वितीय आदि के होने पर ही '**प्रथम**' शब्द का प्रयोग होता है। असूता—जिसने पहले गर्भ धारण करके पुत्र नहीं जना, और आगे भी जनने की सम्भाना न होने पर जिस गर्भ से वह मारी गई, उसके लिये प्रथम शब्द का जैसे लोक में प्रयोग होता है, वैसे ही उक्त प्रयोगों में एक शब्द का प्रयोग जानना चाहिये। इसी प्रकार **अनेत्यानाजिगमिषुः** में जानना चाहिये। कैयट ने भाष्यकार के उक्त तीनों समाधानों के व्याख्यान में सीधे-साधे लौकिक व्यवहार का प्रामाण्य न स्वीकार करके उनकी उपपत्ति के लिये अनेक क्लिष्ट कल्पनायें की हैं। और शिवरामेन्द्र सरस्वती ने उनका विस्तार से खण्डन किया है। यह लेखा-लेखी उन्हीं के ग्रन्थों में देखनी चाहिये॥

[भाष्यम्] आद्यन्तवद्भावश्च शक्योऽवक्तुम्। कथम्?

अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादाद्यन्तयोः सिद्धमेकस्मिन् ॥६॥

अपूर्वलक्षण आदिः, अनुत्तरलक्षणोऽन्तः। एतच्चैकस्मिन्नपि भवति। 'अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वात्'। एतस्मात् कारणादेकस्मिन्नप्याद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि भविष्यन्ति, इति नार्थ आद्यन्तवद्भावेन।

---

१. पदं नामार्थ इति—पद्यते यत्तत्पदम्, घञर्थे कविधानमिति कः। एवम् ऋच्यते स्तूयत इति कर्मणि क्विप्। सुष्ठूक्तं सूक्तमिति कर्मणि क्त इति मन्यते। एतेनाभेदोपचारादर्थ एव पदादिभिरभिधीयते इति निरस्तम्। औपचारिकतां प्रयोगस्य निराकर्तुं प्रवृत्तस्य पुनरौपचारिकताश्रयणानौचित्यात्। हस्तलेख, पृष्ठ ४६४; मुद्रित पृष्ठ ६०।

गोनर्दीयस्त्वाह—सत्यमेतत्, 'सति त्वन्यस्मिन्' इति ॥

व्याख्या—आद्यन्तवद्भाव बिना कहे कार्य चल सकता है। कैसे ?

आदि और अन्त के अपूर्वलक्षण और अनुत्तरलक्षणवाला होने से एक में सिद्ध है।

अपूर्वलक्षणवाला आदि होता है, और अनुत्तरलक्षणवाला अन्त होता है। यह आदि अन्त का लक्षण एक में भी होता है। 'आदि और अन्त के अपूर्वलक्षण और अनुत्तरलक्षण वाला होने से'। इस कारण एक में भी आदि और अन्त को कहे गये कार्य एक में भी हो जाते हैं, इसलिये आद्यन्तवद्भाव की आवश्यकता नहीं है।

गोनर्दीय आचार्य कहते हैं—यह सत्य है, [परन्तु अपूर्व-अनुत्तरलक्षण के साथ] 'अन्य के होने पर' [यह आवश्यक है]।

विवरण—अपूर्वलक्षणः—सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुये आदि और अन्त के लक्षण में से **सति त्वन्यस्मिन्** अंश को छोड़कर केवल 'जिसके पूर्व में अन्य नहीं है वह आदि', और 'जिसके उत्तर में अन्य नहीं है वह अन्त' इतना ही आदि अन्त का लक्षण स्वीकार करके वार्तिककार ने आद्यन्तवद्भाव का प्रत्याख्यान किया है। क्योंकि एकवर्णरूप धातु-प्रत्यय आदि में भी न तो उससे पूर्व अन्य-वर्ण होता है और ना ही उत्तर। अतः एक वर्ण में भी आदि अन्त का लक्षण उपपन्न होने से सूत्र की आवश्यकता नहीं है।

गोनर्दीय आचार्य का कहना है कि आदि अन्त के लक्षण में **सति त्वन्यस्मिन्** अंश आवश्यक है। क्योंकि बिना किसी की अपेक्षा के आदि अन्त व्यवहार कैसे हो सकता है? गोनर्दीय शब्द का अर्थ है—गोनर्ददेश में होनेवाला आचार्य। गोनर्द प्रदेश कश्मीर के अन्तर्गत है। अन्यों का कहना है—सम्प्रति 'गोंडा' नाम से प्रसिद्ध प्राच्य प्रदेश गोनर्द है। कश्मीर में भी गोनर्द प्रदेश के होने पर भी गोनर्दीय प्रयोग प्राच्य-प्रदेश में कथित गोनर्द से ही उपपन्न होता है। क्योंकि **एङ् प्राचां देशे** (१।१।७४) से प्राग् देशवाची शब्द की ही वृद्धसंज्ञा होती है, और वृद्धसंज्ञा होने पर ही **वृद्धाच्छः** (४।२।११३) से छ=ईय प्रत्यय सम्भव है। **वा नामधेयस्य** (वा० १।१।७२) में तो मनुष्य नाम ही अभिप्रेत हैं, देश नाम अभिप्रेत नहीं हैं, यह इस सूत्र के भाष्य-व्याख्यान से स्पष्ट है। हां, महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत शिवसहस्रनाम के अनुसार गोनर्द शिव का एक नाम है। उससे **वा नामधेयस्य** वार्तिक से वृद्धसंज्ञा होकर गोनर्दीय प्रयोग उपपन्न हो जाता है। उस अवस्था में गोनर्दीय देशसम्बन्धी नाम न होकर शिवसम्प्रदाय से सम्बद्ध होगा, अर्थात् गोनर्दीय का अर्थ होगा—शैवमतानुयायी आचार्य। भर्तृहरि कैयट और शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इसी प्रसङ्ग में तथा राजशेखर ने काव्यमीमांसा में गोनर्दीय को महाभाष्यकार पतञ्जलि का वाचक माना है। वैजयन्ती कोष में भी गोनर्दीय को पतञ्जलि का पर्यायवाची लिखा है। महाभाष्य (१।४।५१) में **गोणिका पुत्र** का मत उद्धृत किया है—**उभया गोणिकापुत्रः**। इस पर नागेश ने लिखा है कि **गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः**, अर्थात् कुछ व्याख्याता गोणिकापुत्र से भाष्यकार का निर्देश मानते हैं। इससे

पतञ्जलि की माता का नाम 'गोणिका' प्रतीत होता है। कोशकार इस नाम को पतञ्जलि के पर्याय में नहीं लिखते। उधर वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में गोनर्दीय और गोणिकापुत्र के भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि दोनों नाम एक व्यक्ति के नहीं हैं। सम्भव है नागेश ने भी आहुः पद का निर्देश करके गोणिकापुत्र के भाष्यकार का नाम मानने में शंका प्रकट की हो। हमारे विचार में गोनर्दीय और गोणिकापुत्र भाष्यकार से भिन्न आचार्यों के नाम हैं। विशेष द्रष्टव्य—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास', भाग १ पृष्ठ ३१९-३२२, तथा २३४ (संवत् २०३३ सं०)॥

[भाष्यम्] कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि?

आदिवत्त्वे प्रयोजनं प्रत्ययञ्नितोराद्युदात्तत्वे ॥७॥

प्रत्ययस्यादिरुदात्तो भवतीति। इहैव स्यात्—कर्तव्यम्, तैत्तिरीयः। औपगवः, कापटवः इत्यत्र न स्यात्। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' [६।१।१९१] इतीहैव स्यात्—अहिचुम्बकायनिः, आग्निवेश्यः। गार्ग्यः, कृतिः इत्यत्र न स्यात्॥

व्याख्या—इस सूत्र के क्या प्रयोजन हैं?

आदिवत्त्व में प्रयोजन है, प्रत्यय और ञित् नित् के आद्युदात्तत्व में।

प्रत्यय को आद्युदात्त होता है (=आद्युदात्तश्च ३।१।३ से)। यह यहीं होगा—कर्त्तव्यम्, तत्तिरीयः [जहां तव्य और छ=ईय में अनेक अच् हैं]। औपगवः, कापटवः यहां [एक अच्रूप अण् के होने से] नहीं होगा। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) [से ञित् नित् प्रत्यय परे] यहीं [आद्युदात्त] होगा—अहिचुम्बकायनिः, आग्निवेश्यः। गार्ग्यः, कृतिः यहाँ [आद्युदात्त] नहीं होगा।

विवरण—आद्युदात्तश्च (३।१।३)='प्रत्ययः आद्युदात्तः' में प्रत्यय शब्द प्रथमान्त है, और ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) में 'ञ्निति' सप्तम्यन्त है। इन भिन्न-विभक्त्यन्तों का द्वन्द्वसमास कैसे होगा? इसका समाधान कैयट ने इस प्रकार किया है—"प्रत्यय का जो आद्युदात्तत्व है, उसका प्रत्यय भी विषय है। इसलिये वह प्रत्यये (विषयसप्तमी—प्रत्ययविषय में) कहा जाता है। अथवा ञ्निति (ञित् नित् परे) जो आद्युदात्तत्व है, वह ञित्नित् सम्बन्धी भी है। अतः प्रत्यये ञ्निति सप्तम्यन्तों का द्वन्द्व होगा, अथवा प्रत्ययस्य ञ्नितः षष्ठ्यन्तों का"। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट की क्लिष्ट कल्पना का निराकरण करते हुये लिखा है—'प्रत्यय और ञित् नित् सम्बन्धी आद्युदात्तत्व प्रयोजन में, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये' (हस्तलेख ११५-११६; मुद्रित पृष्ठ ९६)। तदनुसार प्रत्ययश्च ञ्निच्च प्रत्ययञ्नितौ, तयोराद्युदात्तत्वे ऐसा विग्रह होगा। शिवरामेन्द्र सरस्वती की व्याख्या सरल होते हुये युक्तियुक्त भी है।

अहिचुम्बकायनिः—यहां प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम् (४।१।१६०) से अपत्यार्थ में फिन्

प्रत्यय होता है। **आग्निवेश्यः** में **गर्गादिभ्यो यञ्** (४।१।१०५) से यञ् होता है। **संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** (=संज्ञा का निर्देश करके कही गई विधि अनित्य होती है) इस परिभाषा से **अग्निवेश्यः** शब्द भी उपपन्न होता है। 'अग्निवेश्य' नाम तै० प्रा० ६।४, तथा मैत्रायणी प्रातिशाख्य ६।४ में उपलब्ध होता है। **अग्निवेश्य** के नाम से गृह्यसूत्र प्रसिद्ध है। इसी प्रकार पौष्करसादि आचार्य के लिये **पुष्करसदि** का प्रयोग हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र १।६।८, तथा अग्नि-वेश्य गृह्यसूत्र १।१ (पृष्ठ ६) में मिलता है। **सातिभ्यां मनिन्मनिणौ** (उणादि ४।१५४) से अत धातु से मनिण् प्रत्यय होने पर 'आत्मन्' शब्द निष्पन्न होता है। परन्तु उक्त नियम से वृद्ध्यभाव में **अत्मन्** भी साधु होता है। इस का प्रयोग **गूढोऽत्मा न प्रकाशते** (कठोप० १।३। १२) इस औपनिषद श्रुति में मिलता है। इस सामान्य नियम को न जानकर **गूढोऽत्मा** सन्धि को कई चिन्त्य मानते हैं, और कई छान्दस अथवा आर्ष सन्धि कहकर दबी जबान से इसे अशुद्ध कहते हैं।

गार्ग्यः—सौवर्यः सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यो भवन्ति (=स्वरप्रकरण सम्बन्धी सप्तमियां तदन्त सप्तमियां होती है) परिभाषा से **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६।१।१६१) का अर्थ होता है— 'ञित् नित् प्रत्ययान्तों में नित्य आद्युदात्त होता है।' इस अर्थ को मानने पर भाष्यकारोक्त **गार्ग्यः कृतिः** उदाहरण उपपन्न नहीं होते। अतः यहां भाष्यकार ने उक्त-परिभाषा-लभ्य अर्थ की अपेक्षा न करके यथाश्रुत अर्थ 'ञित् नित् प्रत्यय के परे आद्युदात्त होता है' मानकर प्रयोजन दिया है।

'गर्ग+यञ्' इस अवस्था में परत्व से **यस्येति च** (६।४।१४८) से अकार का लोप होने पर 'गर्ग' में एक ही अच् शेष रहता है। **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (१।१।५६) से अकारलोप को स्थानिवद् भी नहीं होता। क्योंकि **न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर०** (१।१।५७) इत्यादि सूत्र से स्वर-विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया है। **स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्** परिभाषा से व्यञ्जन अविद्यमानवत् माने जाते हैं। **कृतिः**—इस पर कैयट ने लिखा है— "क्तिन् का नित्करण **तादौ च निति कृत्यतौ**(६।२।५०) से समास में विहित पूर्वपद प्रकृतिस्वर-विषय में, जहां अनेक अच् हैं, चरितार्थ हो जाने से 'कृति' में **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** की प्रवृत्ति प्राप्त नहीं होती है। अतः यह नित् में आद्युदात्त का उदाहरण भाष्यकार ने दिया है। इस पर नागेश लिखता है कि **चिरि जिरि** प्रभृति अनेकाच् धातुओं से क्तिन् नहीं होता, यह कैयट का अभिप्राय है। शिवरामेन्द्र सरस्वती अनेकाच् धातुओं से क्तिन् की उत्पत्ति मानता है। अतः उसने **ऊर्णुतिः** में नित् करण को सावकाश कहकर कैयट का खण्डन किया है॥

[भाष्यम्] वलादेरार्द्धधातुकस्येट् ॥८॥

वलादेरार्द्धधातुकस्येट् प्रयोजनम्। 'आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः' [७।२।३५] **इहैव स्यात्—करिष्यति, हरिष्यति। 'जोषिषत्, मन्दिषत्' इत्यत्र न स्यात्।**

यस्मिन्विधिस्तदादित्वे ॥९॥

यस्मिन्विधिस्तदादित्वे प्रयोजनम्। वक्ष्यति—'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे'

इति। तस्मिन् क्रियमाणे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' [६।४।७७] इहैव स्यात्—श्रियः भ्रुवः। श्रियौ भ्रुवौ इत्यत्र न स्यात्।

अजाद्याट्त्वे ॥१०॥

अजाद्याट्त्वे प्रयोजनम्। 'आडजादीनाम्' [६।४।७२] इहैव स्यात्—ऐक्षिष्ट, ऐहिष्ट। ऐष्ट, अध्यैष्टेत्यत्र न स्यात्॥

व्याख्या—वलादि आर्धधातुक को इट् प्रयोजन है।

वलादि आर्धधातुक को इट् प्रयोजन है। 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) से इट् यहीं होगा—करिष्यति, हरिष्यति। जोषिषद्, मन्दिषत् में नहीं होगा। [क्योंकि यहां सकार मात्र (=सिप्) प्रत्यय है।]

जिसके परे विधि कही है, उसके आदित्व में प्रयोजन है।

जिसके परे विधि कही है, उसके आदित्व में प्रयोजन है। [वार्तिककार] कहेंगे—'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' (महा० १।१।७१)। अर्थात् जिसके परे विधि कही है, उसके अल् का ग्रहण होने पर, वह अल् जिसके आदि में होता है, उसके परे रहने पर विधि होती है। इस नियम के करने पर 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) [से अजादि परे कहा हुआ इकार उकार को इयङ्-उवङ् कार्य] यहीं होगा—श्रियः, भ्रुवः। [क्योंकि यहां 'अस्' प्रत्यय अजादि है।] श्रियौ, भ्रुवौ में नहीं होगा। [क्योंकि यहां अज्मात्र 'औ' प्रत्यय है। यह प्रयोजन, स्वस्य च रूपस्य पदों की १।१।६७ से अनुवृत्ति नहीं आती है, ऐसा मानकर दिया है।]

अजादि के आट्त्व में प्रयोजन है।

अजादि के आट्त्व में प्रयोजन है। 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) से [अजादि अङ्ग को कहा हुआ आट्] यहीं होगा—ऐक्षिष्ट, ऐहिष्ट। ऐष्ट, अध्यैष्ट यहां [इकारमात्र धातु होने से] नहीं होगा। यह प्रयोजन सूत्रपाठ की दृष्टि से है। वार्तिककार तो अजादि अङ्गों से सामान्य विहित अट् से ही कार्यसिद्धि कहेंगे।]

विवरण—ये सब प्रयोजन यथान्यास सूत्र को स्वीकार करके आदिवद्भाव के उपस्थित किये गये हैं॥

[भाष्यम्] अथान्तवत्त्वे कानि प्रयोजनानि ?

अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे ॥११॥

अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे प्रयोजनम्। 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' [१।१।११] इहैव स्यात्—पचेते इति, पचेथे इति। खट्वे इति, माले इतीत्यत्र न स्यात्।

मिदचोऽन्त्यात् परः ॥१२॥

'मिदचोऽन्त्यात् परः' प्रयोजनम् । ['नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) इहैव स्यात्—कुण्डानि, वनानि । तानि, यानीत्यत्र न स्यात् ।

अचोऽन्त्यादि टि ॥१३॥

'अचोऽन्त्यादि टि' प्रयोजनम् । 'टित आत्मनेपदानां टेरे' [३।४।७६] इहैव स्यात्—कुर्वाते, कुर्वाथे । कुरुते, कुर्वे इत्यत्र न स्यात् ।]

व्याख्या—अच्छा तो अन्तवद्भाव के क्या प्रयोजन हैं ?

अन्तवद् का द्विवचनान्त के प्रगृह्यत्व में [प्रयोजन] है।

[जो] अन्तवद् [है उसका] द्विवचनान्त के प्रगृह्यत्व में प्रयोजन है। इदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (१।१।११) से [ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त द्विवचन को कही गई प्रगृह्यसंज्ञा] यहीं होगी—पचेते इति, पचेथे इति। खट्वे इति, माले इति, यहां [एकारमात्र के द्विवचन होने से] नहीं होगी।

अन्त्य अच् से परे मित् प्रयोजन है।

अन्त्य अच् से परे मित् प्रयोजन है। [नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२) से अनेकाच् होने से मित्=नुम् अन्त्य अच् से परे] यहीं होगा—कुण्डानि, वनानि। तानि, यानि में [एकाच् अङ्ग के होने से] नहीं होगा।

अन्त्य अच् जिसके आदि में है, उसकी टिसंज्ञा भी प्रयोजन है।

अन्त्य अच जिसके आदि में है, उसकी टि संज्ञा भी प्रयोजन है। टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७६) से [टि संज्ञक को एकार] यहीं होगा—कुर्वाते, कुर्वाथे [क्योंकि यहां आताम् आथाम् अनेकाच् आत्मनेपद हैं]। कुरुते, कुर्वे में [तिप् इट्रूप एकाच् आत्मनेपद होने से टिसंज्ञा नहीं होगी। अतः उकार आदेश भी] नहीं होगा।

विवरण—कुरुते—इस पर कैयट ने लिखा है—"व्यपदेशिवद्भाव अर्थवत् में ही होता है। 'ते' में एकाररूप एकदेश अनर्थक है। इसलिये यह प्रयोजन दिया है।" इस पर नागेश ने लिखा है—"कैयट का यह कथन उसके 'यद्यपि व्यपदेशिवद्भाव से कार्य सिद्ध हो जाता है, तथापि गौण होने से व्यपदेशिवद्भाव की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसी जिसकी भ्रान्ति है, उसके प्रति सूत्रारम्भ किया है। इस स्व पूर्व ग्रन्थ से विरोध होने से तथा व्यपदेशिवद्भाव के सूत्रकार द्वारा अज्ञात (=प्रयुक्त न) होने से उक्त उद्धरण की सम्भावना से चिन्त्य है।" शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट का खण्डन करते हुये लिखा है—'प्रकृत सूत्र का व्यपदेशातिदेश एकत्व को ही स्वीकार करना चाहिये रूप वार्तिक के साथ ही उस (=व्यपदेशिवद्भाव) का

प्रत्याख्यान होने पर भी लोकसिद्ध व्यपदेशिवद्भाव के अर्थवत् और अनर्थकरूप से साधारण होने से शास्त्र में भी व्यपदेशिवद्भाव का साधारण रूप से ही आश्रयण उचित है' ॥

[भाष्यम्] अलोऽन्त्यस्य ॥१४॥

'अलोऽन्त्यस्य' प्रयोजनम् । 'अतो दीर्घो यञि'; 'सुपि च' [७।३।१०१; १०२] इहैव स्यात्—पटाभ्याम्, घटाभ्यामिति । आभ्याम्, इत्यत्र न स्यात् ।

येन विधिस्तदन्तत्वे ॥१५॥

येन विधिस्तदन्तत्वे प्रयोजनम् । 'अचो यत्' [३।१।९७] इहैव स्यात्—चेयम्, जेयम् । एयम्, अध्येयमित्यत्र न स्यात् ।

'आद्यन्तवदेकस्मिन्' कार्यं भवति इत्यत्रापि सिद्धं भवति ॥२०॥

व्याख्या—अन्त्य अल् को आदेश होना प्रयोजन है ।

अन्त्य अल् को आदेश होना प्रयोजन है । अतो दीर्घो यञि; सुपि च (७।३।१०१, १०२) से [दीर्घत्व अनेकाच् अङ्ग होने से] यहीं होगा—पटाभ्याम्, घटाभ्याम् । आभ्याम्, यहां [एक अच् रूप अङ्ग होने से] नहीं होगा ।

जिससे विधि कही है, उसके तदन्तत्व में प्रयोजन है ।

जिससे विधि कही है, उसके तदन्तत्व में प्रयोजन है । 'अचो यत् (३।१।९७) से [यत्] यहीं होगा—चेयम्, जेयम् [क्योंकि यहां पूर्व में चकार जकार व्यञ्जन होने से तदन्तत्व = अजन्तत्व उपपन्न होता है] । एयम्, अध्येयम् में [एकमात्र इकार के होने से तदन्तत्व] नहीं होगा ।

[उक्त सभी प्रयोजनों में] 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' कहने से कार्य सिद्ध होता है ॥

विवरण—'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) का ग्रहण केवल साहचर्य से किया है । प्रयोजनवान् सूत्र 'सुपि च' (७।३।१०२) ही है । एयम्—यह इङ् का रूप है । इण् से एति-स्तुशास्वृ० (३।१।१०९) से क्यप् होता है । काशकृत्स्न व्याकरण के अनुसार यत् ण्यत् और क्यप् प्रत्यय धातुमात्र से होते हैं, ऐसा काशकृत्स्न धातु-व्याख्याता चन्नवीरकविकृत कन्नड टीका में यत्र तत्र इन प्रत्ययान्तों के सामान्यरूप से उदाहरण देने से विदित होता है । द्र०—हमारे द्वारा संकलित एवं व्याख्यात 'काशकृत्स्न-व्याकरणम्'[1] पृष्ठ ६० पर (४) से संकेतित सन्दर्भ ॥२०॥



१. यह 'काशकृत्स्न-व्याकरणम्' चन्नवीर कृत धातुपाठ की कन्नड टीका के हमारे द्वारा किये गये संस्कृत-रूपान्तर 'काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्' के आदि में मुद्रित है, और पृथक् स्वतन्त्ररूप से भी छपा है ।

[भाष्यम्] तरप्तमपौ घः ॥१।१।२१॥

विशेष—कैयट प्रभृति व्याख्याकारों का कहना है कि—"आतिशायनिक प्रकरण में **'तादी घः'** (=तकारादि प्रत्यय 'घ' संज्ञक होते हैं, अथवा **'पितौ घः'** (=दोनों पित् प्रत्यय 'घ' संज्ञक होते हैं) कहने से कार्य चल सकता था, फिर यहां (=आतिशायनिक प्रकरण से अन्यत्र) **'तरप्तमपौ घः'** सूत्र करना इस बात का ज्ञापक है कि तरप् स्वार्थ में भी होता है। इससे **'अल्पाच्तरम्'** (२।२।३४) प्रयोग उपपन्न हो जाता है"। भट्टोजिदीक्षित ने **'सामान्यापेक्षम् ज्ञापकम्'** कहकर इसुनन्त **अहो महीयस्तव साहसिक्यम्** प्रयोग का साधुत्व भी समर्थित किया है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने लिखा है—"आतिशायनिक-प्रकरण के उत्कर्ष से 'घ' संज्ञा करना ज्ञापन करता है कि धर्मपरक तद्धित केवल प्रकृति के **अर्थ** में भी होते हैं, जिससे **अल्पाचतरम्** (२।२।३४), **अल्पीयान् प्रयोगविषयः** (महा० १।१। प्र० सू० २), **एकैकशो दत्वा** (महा० १।१। प्र० सू० १) इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं" (हस्तलेख, पृष्ठ ४७४; मुद्रित पृष्ठ १००)॥

[भाष्यम्] घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिषेधः ॥१॥

घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिषेधो वक्तव्यः। नद्यास्तरो=नदीतरः।

घसंज्ञायां नदीतरेऽप्रतिषेधः ॥२॥

घसंज्ञायां नदीतरेऽप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः। घसंज्ञा कस्मान्न भवति?

तरब्ग्रहणं ह्यौपदेशिकम् ॥३॥

औपदेशिकस्य तरपो ग्रहणम्, न चैष उपदेशे तरप्शब्दः॥

व्याख्या—घसंज्ञा में नदीतर में प्रतिषेध कहना चाहिये।

घसंज्ञा में नदीतर में ['घ' संज्ञा का] प्रतिषेध कहना चाहिये। नद्यास्तरो=नदीतरः (=नदी का तैरना अथवा तैरने का साधन)। [यहां भाव अथवा करण में ॠदोरप् (३।३।५०) से अप् प्रत्यय होता है। घसंज्ञा होने से घरूपकल्प० (६।३।४२) से ह्रस्वत्व प्राप्त होता है।]

घसंज्ञा में नदीतर में प्रतिषेध नहीं कहना चाहिये।

घसंज्ञा में नदीतर में प्रतिषेध अनर्थक है। अनर्थक प्रतिषेध=अप्रतिषेध जानना चाहिये। घसंज्ञा क्यों नहीं होती?

तरप् का ग्रहण औपदेशिक है।

उपदेशावस्था में जो 'तरप्' उसका ग्रहण किया है। यह (='नदीतर' का एकदेश 'तर') उपदेश अवस्था में तरप् शब्द नहीं है। [यह तो तॄ=तर् धातु और अप् प्रत्यय का संयोग है।]

विवरण—'नदीतर' में तॄ प्लवनसंतरणयोः धातु से **ॠदोरप्** (३।३।५०) से अप् प्रत्यय होता है। 'तॄ' को गुण होकर तर्+अप्=तरप् मानकर घसंज्ञा प्राप्त होती है। अनुबन्धों के ग्रहण में 'भूतपूर्व गति जानी जाती है' यह पूर्व सूत्र में कहा है (पृष्ठ ४१५)। तदनुसार अप् प्रत्यय के लुप्त पकार का आश्रयण करने से यह तरप् रूप बन जाता है। यद्यपि **सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्** न्याय से तमप् सहचरित तरप् प्रत्यय का ही ग्रहण होगा, अतः 'नदीतर' में घसंज्ञा की प्राप्ति ही नहीं होती। इसका उत्तर कैयट ने यह दिया है कि—"**द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे** (८।३।४३) में '**कृत्वोऽर्थे**' ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि साहचर्य-परिभाषा सर्वत्र आश्रित नहीं की जाती है। अन्यथा कृत्वोऽर्थ द्विस् त्रिस् के साहचर्य से चतुर् भी कृत्वोऽर्थ ही गृहीत होगा, और कृत्वोऽर्थग्रहण व्यर्थ होगा। इसी प्रकार **प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव कार्यसंप्रत्ययः** का भी आश्रयण न करके वार्तिककार ने प्रतिषेधक वार्तिक पढ़ा है।" हमारा विचार है कि नदीतर में समाधानान्तर को दिखाने के लिये ही उक्त परिभाषाओं का अनाश्रयण करके वार्तिककार ने प्रस्तुत प्रकरण उपस्थित किया है।

अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः यह तो तात्त्विक अर्थ है। **अप्रतिषेधः** में नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ है—**प्रतिषेधो न वक्तव्यः** यह तात्पर्य है॥

[भाष्यम्] किं वक्तव्यमेतत्? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते? इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु रूपमाश्रीयते—यत्रास्यैतद्रूपमिति। रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम्। तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानुबन्धकानां प्रयोगो नास्ति। इति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते। कोऽसौ? उपदेशो नाम। न चैष उपदेशे तरप्शब्दः॥

अथवाऽस्त्वस्य घसंज्ञा, को दोषः? 'घादिषु नद्या ह्रस्वो भवति' इति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत। 'समानाधिकरणेषु घादिषु' इत्येवं तत्। यदा तर्हि सैव नदी, स एव तरस्तदा प्राप्नोति। 'स्त्रीलिङ्गेषु घादिषु' इत्येवं तत्। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। 'समानाधिकरणेषु घादिषु' इत्युच्यमान इह प्रसज्येत—महिषी रूपमिव, ब्राह्मणी रूपमिवेति॥२१॥

व्याख्या—क्या यह (=औपदेशिक ग्रहण) कहना चाहिये। नहीं कहना चाहिये। बिना कहे कैसे जाना जायेगा? यहां व्याकरणशास्त्र में सभी सानुबन्धकों के ग्रहण में रूप का आश्रयण किया जाता है—जहां इसका यह रूप है। शब्द के रूप का निश्चित ग्रहण बिना लौकिक प्रयोग के नहीं होता। और उस लौकिक प्रयोग में सानुबन्धकों का प्रयोग नहीं है। इसलिये दूसरा प्रयोग आश्रित किया जाता है। वह कौनसा? उपदेश नामवाला। यह (=नदीतर में श्रूयमाण) उपदेश में तरप् नहीं है।

अथवा इस (='नदीतर' में श्रूयमाण 'तर') की 'घ'संज्ञा हो जावे, क्या दोष होगा?

'घादि के परे रहने पर नदी को ह्रस्वत्व होता है' (द्र०—६।३।४२), इससे ह्रस्व प्राप्त होता है। वह 'समानाधिकरण घादि में होता है'। अच्छा तो जब 'वही नदी वही तर' होवे, तब [ह्रस्वत्व] प्राप्त होता है। 'स्त्रीलिङ्ग घादि परे रहने पर [ह्रस्वत्व] होता है'। यह अवश्य जानना चाहिये। 'समानाधिकरण घादि परे रहने पर ह्रस्व होता है', ऐसा कहने पर यहां प्राप्त हो जायेगा—**महिषीरूपमिव**=महिषी के समान रूप (=आकृति), **ब्राह्मणी रूपमिव**=ब्राह्मणी के समान रूप।

विवरण—**'सानुबन्धकग्रहणेषु'** यह वचन प्रकृत प्रसङ्ग के अनुरूप है। वैसे व्याकरण-शास्त्र में शब्दमात्र के स्व रूप का ही ग्रहण होता है—**स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा** (१।१।६७)। **न चैष**—'नदीतर' में श्रूयमाण तरप् (=तृ=तर्+अप्) काल्पनिक है, **ऋदोरप्** (३।३।५७) के पर्यालोचन से जाना जाता है, साक्षात् निर्दिष्ट नहीं है।

घादिषु नद्याः—**घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः** (६।३।४२) से नदीतर में नदी को ह्रस्वत्व प्राप्त होता है। **समानाधिकरणेषु**—पूर्व सूत्र ६।३।३३ से समानाधिकरण की अनुवृत्ति है। यह समानविभक्त्यन्त होने से घादि का विशेषण होगा। आतिशायिक प्रत्यय स्वार्थिक होने से उनमें समानाधिकरणता होती है। **सैव नदी सैव तरः**—'तीर्यते इति तरः' कर्म में अप्। **घञबन्तः** इस लिङ्गानुशासनीय सूत्र से वह पुंलिङ्ग है। इन दोनों का समानाधिकरण समास दर्शाया है। यद्यपि 'तीर्यते' क्रिया का नदी कर्म है, और उसके कर्म होने पर क्तिन् प्रत्ययान्त **तीर्णि** पद का प्रयोग होना चाहिये—**नद्यास्तीर्णिः**, तथापि 'तरः' पद का सामान्य रूप से स्वतन्त्र संस्कार करके **सैव नदी स एव तरः** का प्रयोग भाष्यकार ने किया है। **महिषी रूपमिव**—यह समस्त रूप है अथवा असमस्त, इस विषय में व्याख्याकारों का मतभेद है। कैयट नागेश असमस्त रूप **महिषी रूपमिव** मानते हुए इव का प्रयोग भिन्नक्रम में स्वीकार करते हैं—**महिषी इव रूपम्** यह तात्पर्य है। यहां रूप शब्द आकृति का वाचक है—'भैंस के समान आकृति' अर्थ अभिप्रेत है। इस विग्रह में **सह सुपा** (२।१।४) के योग-विभाग से समास होने पर **महिषी रूपम्** रूप में **स्त्रियां** की अनुवृत्ति न आने पर ह्रस्वत्व प्राप्त होता है। नागेश ने यहां समास-विषय में जो विचार किया है, वह प्रायः क्लिष्ट है। शिवरामेन्द्र सरस्वती का कहना है कि **महिषीरूपमिव** यह समस्त पद है। और कैयट के मत में भी इसे समस्तपद समझकर उसने कैयट के 'इव' शब्द के भिन्नक्रमत्व पर आक्षेप किया है कि समस्तपद से परे उच्चरित 'इव' का समस्त पद के प्रथम पद से उत्तर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, विशेषणसमास के सम्भव होने पर 'सुप्सुपा' से समास मानने में कोई प्रमाण न होने से, तथा 'सह सुपा' के केवल अधिकारसूत्र रूप से ही भाष्यकार के अभिप्रायानुसार सिद्ध होने से चिन्त्य है। **महिष्यात्मकं रूपमाकृतिः तद्वदेव किञ्चिद् वर्तते इत्यर्थः** अर्थात् महिषी (=भैंसरूप) आकृति के समान कुछ है, अर्थ है। यहां रूप शब्द प्रधान होने से स्वार्थपरक है, न कि पूर्वपदार्थपरक। इसीलिये घरूपकल्प प्रत्ययों के समान स्त्रीलिङ्ग नहीं होता। हमारे विचार में प्रकृत भाष्य प्रौढोक्ति रूप है[1]। इसलिये व्याख्याकारों की क्लिष्ट कल्पनाएं करना, वा परस्पर खण्डन-मण्डन करना व्यर्थ है॥२१॥



१. तुलना करो—'प्रौढ्या तस्य तरशब्दस्य घसंज्ञामभ्युपेत्यापि समाधातुं शक्यत इत्याह—'अथवेति'। शिवरामेन्द्र सरस्वती, हस्तलेख, पृष्ठ ४७७; मुद्रित पृष्ठ १०१।

[भाष्यम्] बहुगणवतुडति सङ्ख्या ॥१।१।२२॥

सङ्ख्यासंज्ञायां सङ्ख्याग्रहणं सङ्ख्यासंप्रत्ययार्थम् ॥१॥

सङ्ख्यासंज्ञायां सङ्ख्याग्रहणं कर्तव्यम्। 'बहुगणवतुडतयः सङ्ख्यासंज्ञा भवन्ति, सङ्ख्या च सङ्ख्यासंज्ञा भवति' इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? 'सङ्ख्यासम्प्रत्ययार्थम्'। एकादिकायाः सङ्ख्यायाः सङ्ख्याप्रदेशेषु सङ्ख्येत्येष संप्रत्ययो यथा स्यात्।

ननु चैकादिका सङ्ख्या लोके सङ्ख्येति प्रतीता। तेनास्याः सङ्ख्याप्रदेशेषु सङ्ख्यासंप्रत्ययो भविष्यति। एवमपि कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्?

इतरथा ह्यसंप्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद्यथा लोके ॥२॥

अक्रियमाणे हि सङ्ख्याग्रहण एकादिकायाः सङ्ख्यायाः सङ्ख्येत्येष संप्रत्ययो न स्यात्। किं कारणम्? 'अकृत्रिमत्वात्'। बह्वादीनां कृत्रिमा संज्ञा। "कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो भवति"। 'यथा लोके'। तद्यथा लोके—'गोपालकमानय', 'कटजकमानय' इति यस्यैषा संज्ञा भवति स आनीयते, न यो गाः पालयति, यो वा कटे जातः॥

व्याख्या—संख्या संज्ञा में संख्या का ग्रहण करना चाहिये, संख्या के ज्ञान के लिये।

संख्या संज्ञा में संख्या का ग्रहण करना चाहिये। 'बहु गण वतु डति संख्यासंज्ञक होते हैं, और संख्या संख्यासंज्ञक होती है', ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? 'संख्या के ज्ञान के लिये'। एकादि संख्या का संख्याप्रदेशों में जिससे 'संख्या' रूप से ज्ञान होवे। अर्थात् संख्यासंज्ञा से एकादि संख्या का भी ग्रहण होवे।

एकादिक संख्या तो लोक में संख्या नाम से ज्ञात है। उसी से संख्याप्रदेशों में संख्या का ज्ञान हो जायेगा। इस प्रकार भी करना चाहिये। क्या प्रयोजन है?

अन्यथा [संख्याप्रदेश में एकादि का संख्या से] परिज्ञान नहीं होगा, अकृत्रिम [संज्ञा] होने से, जैसे लोक में।

संख्याग्रहण न करने पर एकादि संख्या का [संख्याप्रदेश में] संख्यारूप से परिज्ञान नहीं होगा। क्या कारण है? 'अकृत्रिम [संज्ञा] होने से'। 'बहु' आदि की कृत्रिम [संख्या] संज्ञा कही है। "कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों [संज्ञाओं] की उपस्थिति होने पर कृत्रिम में कार्य की प्रतीति होती है", 'जैसे लोक में'। जैसे लोक में—'गोपाल को लाओ' 'कटजक को लाओ', ऐसा कहने पर जिस व्यक्ति की यह [गोपालक और कटजक] संज्ञा होती है, उसे लाया जाता है, न कि जो गौवों का पालन करता है, अथवा जो चटाई पर उत्पन्न हुआ है [उसे लाया जाता है]।

विवरण—'ननु चैकादिका' इसका अभिप्राय यह है कि जैसे हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ (३।२।२५); तस्यापत्यम् (४।१।९२); सास्य देवता (४।२।२३) इत्यादि सूत्रों में पशु

अपत्य देवता आदि शब्दों से लोकप्रसिद्ध अर्थ गृहीत होता है, वैसे ही **दिक्संख्ये संज्ञायाम्** (२।२।४६) आदि में संख्या शब्द से लोकप्रसिद्ध संख्यावाची एक दो आदि शब्दों का भी ग्रहण हो जायेगा। लोकप्रसिद्ध संख्यावाची शब्दों के लिये वचन करना व्यर्थ है। इसका उत्तर दिया है—**कृत्रिमाकृत्रिमयोः०** यह लोक और शास्त्र-विषयक सामान्य न्याय है। इसमें लौकिक उदाहरण भाष्यकार ने स्वयं दिये हैं। शास्त्र में भी अभ्यास आम्रेडित आदि संज्ञाओं के विषय में **अत्र लोपोऽभ्यासस्य** (७।४।५८); **आम्रेडितं भर्त्सने** (८।२।६५) आदि में कृत्रिम संज्ञाओं का ही ग्रहण होता है॥

[भाष्यम्] यदि तर्हि कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो भवति, 'नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः' [५।४।११०] इत्यत्रापि प्रसज्येत। पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति। तद्विशेषेभ्यस्तर्हि प्राप्नोति गङ्गा यमुनेति। एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'न तद्विशेषेभ्यो भवति' इति। यदयं विपाट्शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति। इह तर्हि प्राप्नोति—नदीभिश्च [२।१।१६] इति। बहुवचननिर्देशान्न भविष्यति। स्वरूपविधिस्तर्हि प्राप्नोति। बहुवचननिर्देशादेव न भविष्यति। एवं च न चेदमकृतं भवति—'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः' इति। न च कश्चिद् दोषो भवति।

उत्तरार्थं च ॥३॥

उत्तरार्थं च सङ्ख्याग्रहणं कर्तव्यम्। 'ष्णान्ता षट्' [१।१।२३] षकारनकारान्तायाः सङ्ख्यायाः षट्संज्ञा यथा स्यात्। इह मा भूत्—पामानो विप्रुष इति॥

व्याख्या—यदि [यह कहते हो कि] कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों [संज्ञाओं] में से कृत्रिम में ही कार्य की प्रतीति होती है, तो नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः (५।४।११०) में भी यही न्याय प्राप्त होता है। [इससे नदी शब्द से यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३) सूत्रविहित ईकारान्त ऊकारान्त नदीसंज्ञकों का ही ग्रहण होगा, लौकिक नदी शब्द का ग्रहण नहीं होगा।] पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्दों के ग्रहणसामर्थ्य से नहीं होगा [क्योंकि पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्द भी तो नदीसंज्ञक हैं। इस प्रकार इनका ग्रहण व्यर्थ होगा]। तो उस (=नदी) के विशेषवाची [गङ्गा आदि] से [टच् प्रत्यय] प्राप्त होता है। अच्छा तो आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—'नदीविशेषवाचियों से [टच्] नहीं होता है।' जो यह आचार्य शरत्प्रभृतिगण (५।४।१०७) में विपाट् शब्द को पढ़ता है [अर्थात् यदि नदी शब्द से नदीविशेषवाचियों का ग्रहण होता, तो नदीविशेषवाची विपाट् शब्द से भी टच् प्रत्यय हो जायेगा, उसे शरत्प्रभृतिगण (५।४।१०७) में पढ़ने का क्या प्रयोजन? इस प्रकार विपाट् शब्द का पाठ व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि नदीविशेषवाचियों से टच् नहीं होता]। अच्छा तो यहां [नदीसंज्ञक ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों का ग्रहण] प्राप्त होता है—नदीभिश्च (२।१।१६)। बहुवचननिर्देश सामर्थ्य से [नदीसंज्ञकों का ग्रहण] नहीं होगा। [अर्थात् नदीसंज्ञकों का ग्रहण इष्ट होता, तो एकवचनान्त से सूत्र का निर्देश करते। अच्छा तो स्वरूप की विधि (=नदी

शब्द का ही ग्रहण) प्राप्त होता है। [स्वरूपविधि भी] बहुवचननिर्देश से ही नहीं होगी। इस प्रकार यह **अकृत** (=व्यर्थ) नहीं होता—'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्', और न कोई दोष होता है।

उत्तर सूत्र के लिये भी [संख्या का ग्रहण करना चाहिये]।

उत्तर सूत्र के लिये भी संख्या का ग्रहण करना चाहिये। ष्णान्ता षट् (१।१।२३) में जिससे षकारान्त नकारान्त संख्या की षट् संज्ञा होवे। यहां [षट्संज्ञा] न होवे—पामानः, विप्रुषः।

विवरण—'तद्विशेषवाचिभ्यः'—इसका यह तात्पर्य है कि यदि **नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यश्च** (५।४।११०) सूत्र में नदी शब्द से नदीविशेषवाची गङ्गा आदि शब्दों से टच् प्रत्यय होवे, तो **अपगङ्गम् परियमुनम्** में टच्समासान्त होने से अन्तोदात्तत्व होवे। नदीविशेषवाचियों का ग्रहण न होने से टच् नहीं होगा, तो उक्त उदाहरणों में **परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु** (६।२।३३) से पूर्वपदप्रकृतिस्वर होता है। इतना ही नहीं, कावेरी गोदावरी में तो टच् होने पर **अपकावेरम्, परिगोदावरम्** रूप प्राप्त होगा। परन्तु इष्ट रूप है—**अपकावेरि, परिगोदावरि**। **यमुनेति** में इति शब्द प्रकारार्थक है। इस से कृष्णा कावेरी गोदावरी आदि का भी ग्रहण जानना चाहिये। **यदयं विपाट्शब्दम्—नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यश्च** (५।४।११०) में पूर्व सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति होने से विपाट् शब्द का शरत्प्रभृतिगण में पाठ नित्यार्थ है। इस प्रकार शरत्प्रभृतिगण में विपाट् शब्द का पाठ ज्ञापकार्थ नहीं रहता। इसका उत्तर नागेश ने इस प्रकार दिया है—"**नदीपौर्णमासी॰** सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति होने पर भी व्यवस्थित विभाषा मानकर विपाट् शब्द से नित्य ही टच् होगा। इस प्रकार शरत्प्रभृति में पाठ व्यर्थ होकर ज्ञापकार्थ ही है। किन्हीं का मत है कि इस भाष्य-वचन से **नदीपौर्णमासी॰** सूत्र में **अन्यतरस्याम्** की निवृत्ति हो जाती है।" छायाकार इस पर लिखता है—'व्यवस्थितविभाषा लक्ष्यैकचक्षुष्क पुरुषों द्वारा ही ज्ञेय है, हमारे जैसों से ज्ञेय नहीं है। अतः व्यवस्थितविभाषा से समाधान करना युक्त नहीं है। महाभाष्य के सम्पादक पं॰ शिवदत्त दाधिमथ ने लिखा है कि प्रस्तुत भाष्य से **अनश्च** (५।४।१०८) सूत्र से पूर्व **नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः** (२।४।११०) सूत्र की रचना ज्ञापित होती है (द्र॰—नवा॰ निर्णय॰ सं॰ पृष्ठ २७६, टि॰ २ के अन्त में)। **बहुवचननिर्देशात्**—यदि नदीसंज्ञक का ग्रहण इष्ट होता, तो यहां भी **आण् नद्याः** (७।३।११२) के समान एकवचन का ही प्रयोग होता। **बहुवचननिर्देशादेव न**—का भाव है कि यदि नदी शब्द का स्वरूप ग्रहण इष्ट होता, तो एकवचन का ही प्रयोग होना चाहिये। अतः बहुवचननिर्देश से स्वरूपविधि भी नहीं होती। **अकृतम्**—हमने 'कृ' धातु का सामान्य अर्थ स्वीकार करके 'व्यर्थ-नहीं होता' व्याख्या की है। कैयट प्रभृति ने धातुओं का अनेकार्थत्व स्वीकार करके 'अनाश्रित नहीं होता' अर्थात् आश्रययोग्य ही होता है, व्याख्यान किया है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने दो नञ् के निर्देश से अवधारण अर्थ माना है। अर्थात् यह लोकसिद्ध न्याय आश्रययोग्य ही है।[1]

१. नञ्द्वयेनावधारणं गम्यते। तथा चाश्रितमेवेदं लोकसिद्धन्यायमूलकं वचनमित्यर्थः। शिवरामेन्द्र सरस्वती, हस्तलेख ४८५; मुद्रित पृष्ठ १०५।

उत्तरार्थं च—पूर्व वार्तिक में उपात्त संख्या शब्द संख्यासंज्ञापरक है, और उत्तर सूत्र में यही वार्तिकोपात्त संख्या शब्द संज्ञी के विशेषणार्थ है। बहुगणवतुडति संख्या सूत्र में पठित संख्या शब्द संज्ञावाचक है वह उत्तर सूत्र में संज्ञी का विशेषण नहीं बन सकता। अतः उत्तर सूत्र के लिये भी 'संख्या' का ग्रहण करना चाहिये।[1] पामानः, विप्रुषः—यहां पामन् नकारान्त और विप्रुष् षकारान्त शब्द है। यदि उत्तरसूत्र में ष्णान्ता का विशेषण संख्या न होवे, तो इनकी भी षट् संज्ञा हो जायेगी, और षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) से विभक्ति का लुक् प्राप्त होगा॥

[भाष्यम्] इहार्थेन तावन्नार्थः सङ्ख्याग्रहणेन। ननु चोक्तम्—"इतरथा ह्यसंप्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद्यथा लोके' इति? नैष दोषः। अर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो भवति। अर्थो वाऽस्यैवंसंज्ञकेन भवति, प्रकृतं वा तत्र भवति—'इदमेवंसंज्ञकेन कर्तव्यम्' इति। आतश्चाऽर्थात्प्रकरणाद्वा। अङ्ग! हि भवान् ग्राम्यं पांशुलपादमप्रकरणज्ञमागतं ब्रवीतु—'गोपालकमानय' 'कटजकमानय' इति। उभयगतिस्तस्य भवति। साधीयो वा यष्टिहस्तं गमिष्यति॥

व्याख्या—इस सूत्र के लिये संख्याग्रहण से कोई प्रयोजन नहीं है। अभी तो कहा है—"अन्यथा [लोकप्रसिद्ध संख्यावाची शब्दों का] परिज्ञान नहीं होगा, अकृत्रिम [संज्ञा] होने से, जैसे लोक में।" यह दोष नहीं है। लोक में अर्थ से (=प्रयोजनवश) अथवा प्रकरण से कृत्रिम अकृत्रिम की प्रसक्ति में कृत्रिमसंज्ञा में कार्य का ज्ञान होता है। [प्रयोक्ता का] प्रयोजन उस प्रकार के [कृत्रिम संज्ञावाले] व्यक्ति से होता है, अथवा प्रकृत (=प्रकरणनिर्दिष्ट) वहां होता है—'इस संज्ञावाले को यह कार्य करना चाहिये।' निश्चय ही प्रयोजनवश अथवा प्रकरण से ही यह जाना जाता है। प्रिय! निश्चय ही आप किसी ग्रामीण धूली से सने पैरवाले, प्रकरण से अनभिज्ञ, उपस्थित हुये व्यक्ति से कहें—'गोपालक को लाओ, कटजक को लाओ'। उसे दोनों अर्थों की प्रतीति होगी। [अथवा वह] हाथ में लाठी लिये [गौवों का पालक=चरवाहे) के प्रति सीधा [बुलाने के लिये] जायेगा।

विवरण—इहार्थेन—वार्तिकोपात्त संख्या शब्द के ग्रहण का खण्डन करता हुआ सिद्धान्ती कहता है—इस सूत्र के लिये संख्या के ग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं है। **अर्थात्**—'अर्थ' का अभिप्राय व्याख्याकारों ने सीधा-साधा 'प्रयोजन' अर्थ स्वीकार न करके सामर्थ्य किया है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने उदाहरण दिया है—'गोपाल को लाओ, मैं पढ़ाऊंगा'। यहां कृत्रिम संज्ञावाले अर्थात् जिसका माता-पिता ने गोपालक नाम रखा है, उसका आनयन होगा, क्योंकि अकृत्रिम गोपालक चरवाहे में अध्ययनसामर्थ्य नहीं है। प्रकृत-प्रकरण का उदाहरण है—'सैन्धव लाओ'। यदि भोजन करता हुआ व्यक्ति 'सैन्धव लाओ' कहता है, तो वहां नमक का आनयन अभीष्ट है, यह जाना जाता है। और यदि कोई व्यक्ति ग्रामान्तर जाने को

१. [सूत्रोपात्तस्य] संज्ञास्वरूपपरतया निर्दिष्टस्य संख्याशब्दस्योत्तरत्रानुवृत्तावपि संज्ञिसमर्पकत्वं न युज्यते। अतस्तत्र संज्ञिसमर्पकतया कृतं संख्याग्रहणमिति। शिवरामेन्द्र सरस्वती, हस्तलेख ४८६; मुद्रित पृष्ठ १०५।

तैयार खड़ा है, और उस समय यदि 'सैन्धव लाओ' कहा जाता है, तो उस से 'घोड़ा लाओ' अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार कृत्रिम अकृत्रिम अर्थों का अर्थ (=प्रयोजन) वा सामर्थ्य तथा प्रकरण से ही निश्चय होता है। **आतश्च**—'आतः' यह अव्यय निश्चयार्थक है। कैयट ने इसका अभिप्राय 'इतश्च' (=इस से भी) शब्द से दर्शाया है। **पांशुलपादम्**—'पांशुः अनयोरस्ति' (=धूल इन पर है) इस अर्थ में **सिध्मादिभ्यश्च** (५।२।९७) से मत्वर्थ में लच् प्रत्यय होता है। **पांशुलौ पादौ अस्य स पांशुलपादः** (बहुव्रीहि समास)। इसका अभिप्राय है—ग्रामान्तर से आया हुआ, धूलिधूसरित पैरवाला व्यक्ति। **अप्रकरणज्ञम्**—इसके निर्देश का अभिप्राय है—जिसे पूर्व कथानक का परिज्ञान नहीं है, अर्थात् अचानक उपस्थित हुआ व्यक्ति। **उभयगतिस्तस्य भवति साधीयो वा**—इसका तात्पर्य यह है कि यदि उसे दोनों प्रकार के गोपालकों का ज्ञान होगा, तो उसे सन्देह होगा कि वक्ता को कौनसा गोपालक इष्ट है—गोपालक नामवाला अथवा चरवाहा। उस अवस्था में वह वक्ता से पूछेगा कि किस गोपालक को लाऊं? यदि उसे दोनों का ज्ञान नहीं है, तो उसे सन्देह ही नहीं होगा, और वह सीधा चरवाहे को बुलाने चला जायेगा। वस्तुतः यहां भाष्य का तात्पर्य इतना ही है कि बिना प्रकरणादि के ज्ञान के लोक में या तो सन्देह होगा, अथवा अकृत्रिम अर्थ का परिज्ञान होगा।

[भाष्यम्] यथैव तर्ह्यर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो भवति, एवमिहापि प्राप्नोति। जानाति ह्यसौ बह्वादीनामियं संज्ञा कृतेति। न यथा लोके तथा व्याकरणे। उभयगतिः पुनरिह भवति। अन्यत्रापि, नावश्यमिहैव। तद्यथा—'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' [१।४।४९] इति कृत्रिमा कर्मसंज्ञा। कर्मप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। 'कर्मणि द्वितीया' [२।३।२] इति कृत्रिमस्य ग्रहणम्, 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' [१।३।१४] इत्यत्राऽकृत्रिमस्य। तथा 'साधकतमं करणम्' [१।४।४२] इति कृत्रिमा करणसंज्ञा। करणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति—'कर्तृकरणयोस्तृतीया' [२।३।१८] इति कृत्रिमस्य ग्रहणम्, 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' [३।१।१७] इत्यत्राऽकृत्रिमस्य। तथा 'आधारोऽधिकरणम्' [१।४।४५] इति कृत्रिमाऽधिकरणसंज्ञा। अधिकरणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति—'सप्तम्यधिकरणे च [२।३।३६] इति कृत्रिमस्य ग्रहणं, 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि' [२।४।१३] इत्यकृत्रिमस्य॥

व्याख्या—जैसे लोक में अर्थ से अथवा प्रकरण से कृत्रिम और अकृत्रिम संज्ञाओं में कृत्रिम में कार्य का परिज्ञान होता है, उसी प्रकार यहां (=शास्त्र में) भी प्राप्त होता है। यह (=शास्त्र का अध्येता) जानता ही है कि यह (=संख्या) संज्ञा बहु आदि शब्दों की हुई है। जैसा लोक में होता है, वैसा व्याकरण में नहीं होता। यहां (=शास्त्र में) दोनों (=कृत्रिम और अकृत्रिम संज्ञाओं) का ज्ञान होता है। यह [उभयगति] अन्यत्र भी [शास्त्र में देखी जाती है], यहीं (=प्रकृत सूत्र में ही) नहीं। जैसे—कर्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४९) में कृत्रिम कर्म संज्ञा [कही है]। कर्मग्रहणवाले सूत्रों में दोनों का परिज्ञान होता है—कर्मणि द्वितीया (२।३।२) में कृत्रिम संज्ञा का ग्रहण है, और कर्तरि कर्मव्यतिहारे

(१।३।१४) में अकृत्रिम [कर्म=क्रिया] का। तथा साधकतमं करणम् (१।४।४२) में कृत्रिम संज्ञा [कही है]। करणग्रहणवाले सूत्रों में दोनों का परिज्ञान होता है—कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) में कृत्रिम-संज्ञा का ग्रहण है, और शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे (३।१।१७) में अकृत्रिम [करण=क्रिया] का। तथा आधारोऽधिकरणम् (१।४।४५) में कृत्रिम अधिकरण संज्ञा [कही है]। अधिकरण ग्रहणवाले सूत्रों में दोनों का परिज्ञान होता है—सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६) में कृत्रिम संज्ञा का ग्रहण है, और विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि (२।४।१३) में अकृत्रिम [अधिकरण=द्रव्य] का।

विवरण—'पुनरिह भवति'—शिवरामेन्द्र सरस्वती ने वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा (३।३।१३१) से भविष्यत् अर्थ में भवति निर्देश माना है—भवति=भविष्यतीत्यर्थः। अन्यत्रापि—आग्रह से ही हम नहीं कह रहे हैं कि संख्याग्रहणवाले प्रदेशों में ही उभयगति होती है, अपितु अन्यत्र भी उभयगति होती है। कहीं पर कृत्रिम संज्ञा का ग्रहण होता है, तो कहीं अकृत्रिम का, इस अभिप्राय से अगले उदाहरणों में 'उभयगति' का अभिप्राय जानना चाहिये।

कर्मणि द्वितीया—इसकी व्याख्या कैयट ने इस प्रकार की है—ङ्याप्प्रातिपदिक से अनभिहित कर्मगत [एकत्वादि] संख्या में द्वितीया का विधान किया है[1]। क्रिया का संख्या से सम्बन्ध नहीं होता, इस सामर्थ्य से कर्मकारक का ही ग्रहण होता है। कर्तरि कर्मव्यतिहारे (१।३।१४) में [अनुवृत्तभाव] धातु की साक्षात् क्रिया में वृत्ति होने से क्रिया का ही ग्रहण होता है। इस पर नागेश लिखता है—'क्रिया के द्रव्य न होने से द्रव्य धर्म लिङ्ग संख्या का क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं होता। प्रशंसायां रूपप् (५।३।६६) सूत्रस्थ भाष्य से यद्यपि क्रिया में एकत्व होता है[2], तथापि द्वितीयादि संख्या संज्ञा नहीं होती। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के व्याख्यान का खण्डन किया है। उसे उसके व्याख्यान में ही देखें। खण्डन अस्पष्ट होने से हमने उसे नहीं लिखा।

[भाष्यम्] अथ वा—नेदं संज्ञाकरणम्। तद्वदतिदेशोऽयम्—'बहुगणवतुडतयः संख्यावद्भवन्ति' इति। स तर्हि वतिनिर्देशः कर्तव्यः? न कर्तव्यः। न ह्यन्तरेण वतिमतिदेशो गम्यते। अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद्यथा—'एष ब्रह्मदत्तः'। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। ते मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति। एवमिहाप्यसङ्ख्यां संख्येत्याह, सङ्ख्यावदिति गम्यते।

---

१. द्रष्टव्य—'वाक्यैकवाक्यत्वे सति महावाक्यं सम्पद्यते—कर्मण्यनभिहिते यदेकत्वं तत्रैकवचनमिति'। कैयट १।४।२१।। यहीं पर नागेश की टीका भी द्रष्टव्य है—'भाष्ये—कर्मादयो निमित्तत्वेनेति विशेष्यत्वेनेत्यर्थः।'

२. क्रियाप्रधानमाख्यातम् एकाच् क्रिया। महा० ५।३।६६।। इस पर कैयट ने लिखा है—'आख्यात शब्द से क्रिया के भेद का ज्ञान न होने से क्रिया का एकत्व कहा है। भवद्भिरास्यते आदि में केवल क्रियावचन में द्विवचन बहुवचन के दिखाई न पड़ने से क्रिया का एकत्व जानना चाहिये।

अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्येकादिकायाः सङ्ख्यायाः सङ्ख्याप्रदेशेषु संप्रत्यय इति, यदयं 'सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन्' [५।१।२२] इति तिशदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? न हि कृत्रिमा त्यन्ता शदन्ता वा सङ्ख्याऽस्ति। ननु चेयमस्ति डतिः। यर्त्ताह शदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति। यच्चापि त्यन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति। ननु चोक्तं—'डत्यर्थमेतत् स्याद्' इति। 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इत्यर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणम्। न च डतेस्तिशब्दोऽर्थवान्।

अथवा महतीयं सञ्ज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायाः करण एतत् प्रयोजनम्—अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत—संख्यायतेऽनया संख्येति। एकादिकया चापि संख्यायते।

व्याख्या—अथवा यह संज्ञाकरण नहीं है, अर्थात् संख्या संज्ञा का विधान नहीं है। यह तो तद्वत् अतिदेश है—'बहुगणवतुडति संख्यावत् होते हैं'। तो क्या उस वति का निर्देश करना चाहिये? नहीं करना चाहिये। बिना वति-निर्देश के अतिदेश नहीं जाना जायेगा। बिना वति के भी अतिदेश जाना जाता है। जैसे—'यह ब्रह्मदत्त है'। अब्रह्मदत्त को ब्रह्मदत्त कहा है। उससे माना जाता है कि यह ब्रह्मदत्तवत् है। इसी प्रकार से यहां भी [बहु आदि] असंख्या को संख्या कहा है, संख्यावत् ऐसा जाना जाता है।

अथवा आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापन करती है कि—एकादि संख्या का [भी][1] संख्याग्रहण वाले सूत्रों में परिज्ञान होता है। जो ये आचार्य सख्याया अतिशदन्तायाः कन् (५।१।२२) में ति अन्तवाली और शत् अन्तवाली का प्रतिषेध करते हैं। किस प्रकार ज्ञापक है? कोई भी कृत्रिम त्यन्त और शदन्त संख्या नहीं है। यह जो है—डति। अच्छा तो जो शदन्त संख्या का प्रतिषेध कहते हैं [उससे ज्ञान हो जायेगा]। और जो त्यन्त संख्या का भी प्रतिषेध कहते हैं [वह भी ज्ञापकार्थ है]। अभी तो कहा है कि—'यह डति के लिये है'। 'अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता' इससे अर्थवान् 'ति' शब्द का ही ग्रहण होगा। डति का 'ति' शब्द अर्थवान् नहीं है।

अथवा यह [संख्या] महती संज्ञा की है। संज्ञा वह होती है, जिससे और लघीय न होवे। यह कैसे? लघुता के लिये ही संज्ञाएं की जाती हैं। वहां (=संज्ञाकरण में) महती संज्ञा करने का यह प्रयोजन है कि—अन्वर्थ संज्ञा जानी जाये—जिससे संख्यान (=गिनती) की जाये, वह संख्या होती है। एक आदि से भी गिनती की जाती है॥

विवरण—'तद्वदतिदेशोऽयम्'—का भाव कैयट ने इस प्रकार प्रकट किया है—'संख्या यह

१. यहां कृत्रिम संख्या के साथ अकृत्रिम का भी ग्रहण ज्ञापक से अभिप्रेत है। 'भवत्येकादिकाया इति, अपीति शेषः'। शिव० हस्तलेख, पृष्ठ ४६३; मुद्रित पृष्ठ १११।

कार्यातिदेश[1] है। यदि संज्ञा अभिप्रेत होती, तो टि घु भ आदि संज्ञाओं के समान एकाक्षरासंज्ञा की जाती। इसलिये लौकिक अर्थवाले संख्या शब्द का उपादान इसके अतिदेशत्व को बोधित करता है। इस पर शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"तत् शब्द से संख्या शब्दलक्षित एकादिक शब्दों का निर्देश है। इस कारण एकादि शब्द जैसे संख्या शब्द से कहे जाते हैं, उसी प्रकार बहु आदि का भी कथन जानना चाहिये। इस प्रकार यह **व्यपदेशातिदेश**[2] है। सामान्य के अतिदेश कहने पर विशेष का अतिदेश नहीं होता, इसलिये [एकत्वादि में] सर्वसाधारण संख्यात्व है, उसी का व्यपदेशातिदेश होगा। इसलिये एकादि विशेष संख्यागत जो सर्वनामत्व आदि है, उसका अतिदेश नहीं होगा। इस से 'गण' आदि शब्दों से 'ङे' आदि विभक्ति को 'स्मै' आदि आदेश नहीं होंगे"।[3] इसके अनन्तर कैयट की व्याख्या को उद्धृत करके खण्डन किया है कि—"**व्यपदिश्यते** इस शब्द के अध्याहार से व्यपदेशातिदेश का औचित्य होने से **कार्यातिदेश** रूप क्लिष्ट कल्पना को स्वीकार करना अयुक्त है। कार्यविशेष की समर्पकता होने पर ही कार्यातिदेश को स्वीकार करना उचित है। कोई कार्यविशेष इस अतिदेश से जाना नहीं जाता, जिससे कार्यातिदेश युक्त होवे। और जो कहा है कि—'संज्ञा अभिप्रेत होती तो घु भ आदि संज्ञाओं के समान एकाक्षर होती।' यह भी ठीक नहीं। **वृद्धिरादैच्, अदेङ् गुणः** (१।१।१,२); **हलोऽनन्तराः संयोगः** (१।१।७)इत्यादि में लौकिकार्थाभिधायी संज्ञाविधान के विषय में भगवान् भाष्यकार आगे अन्वर्थसंज्ञा-विज्ञान के विषय में कहेंगे[4] (अर्थात् महती संज्ञा अन्वर्थ होती है)।" शिवरामेन्द्र सरस्वती की इस

१. कार्यातिदेश—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१।१।५५)—स्थानिकार्यमादेशेऽतिदिश्यते। यथा गुरुवद् गुरुपुत्रे (द्र०—महा० १।१।५५)।

२. व्यपदेशातिदेश—आद्यन्तवदेकस्मिन् (१।१।२१)—एक में भी आदि अन्त का व्यवहार। लौकिक उदाहरण—अब्रह्मदत्तं इत्याह (इसी प्रकरण में)।

३. तच्छब्देन संख्याशब्दलक्ष्यैकादयः शब्दाः परामृश्यन्ते। तेनैकादयो यथा व्यपदिश्यन्ते, तथा बह्वादयोऽपि व्यपदेश्या इति व्यपदेशातिदेशोऽयमित्यर्थः सिद्धः। सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेश इत्येकादिसर्वसाधारणसंख्येत्यस्यैव व्यपदेशातिदेशः, न तु एकादिविशेषगत-सर्वनामत्वादेः। तेन गणादिभ्यो ङे प्रभृतेः स्मायादयो न। शि०स० हस्तलेख पृष्ठ ४६१-४६२; मुद्रित पृष्ठ १११।

४. एतेन संख्याकार्यातिदेशोऽयमित्यर्थं इति निरस्तम्। व्यपदिश्यत इतिशब्दाध्याहारेण व्यपदेशातिदेशस्यैवौचित्येन क्लिष्टकल्पनया कार्यातिदेशपरताभ्युपगमायोगात्। सत्येव कार्य-विशेषसमर्पकत्वे कार्यातिदेशस्य स्वीकर्तुमुचितत्वाच्च। नहि कश्चित्कार्यविशेषस्तेनातिदेशेन गम्यते, येन तदतिदेशो युज्येत। यदप्युक्तम्—यदि हि संज्ञा स्यात् टिघुभादिसंज्ञावदेकाक्षरा संज्ञा क्रियेत। तस्माल्लौकिकार्थाभिधायी संख्याशब्द उपादीयमानोऽतिदेशार्थत्वमस्य बोधयतीति। तदपि न, वृद्धिरादैच्, अदेङ् गुणः, हलोऽनन्तराः संयोगः इत्यादौ लौकिकार्थाभिधायिनां वृद्ध्यादिशब्दानामुपादानेऽपि अतिदेशाऽदर्शनात्। लौकिकार्थाभिधायिसंख्याशब्दोपादानफलस्यान्वर्थ-संज्ञाविज्ञानस्य भगवतैव वक्ष्यमाणत्वात्। शिवरामेन्द्र सरस्वती, हस्तलेख, पृष्ठ ४६२; मुद्रित पृष्ठ १११।

आलोचना का खण्डन छायाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड ने किया[1]। द्र०—नवाह्निक निर्णयसागर पृष्ठ २७८, टि० ६)। वस्तुतः कैयट के व्याख्यान की अपेक्षा शिवरामेन्द्र सरस्वती का व्याख्यान उचित है। इसी प्रसङ्ग में अब्रह्मदत्त के विषय में ब्रह्मदत्त के व्यवहार के विषय में लौकिक उदाहरण देकर जो **असख्यां संख्येत्याह** कहा है, वह व्यपदेशातिदेश में ही घटता है, कार्यातिदेश में नहीं घटता।

अथवाऽचार्य०—से भाष्यकार आचार्य की प्रवृत्ति से संख्याग्रहणवाले सूत्रों में लौकिक संख्या के ग्रहण के विषय में ज्ञापक करते हैं। कैयट ने लिखा है कि—"गुरु संज्ञाकरण से एकादि शब्दों का संख्याग्रहणवाले सूत्रों में त्याग नहीं होता, यह लिङ्ग से भी अनुमित होता है (जाना जाता है)"। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट का खण्डन करते हुए लिखा है—"कृत्रिम और अकृत्रिम के प्रसङ्ग में कृत्रिम संज्ञा का ही ग्रहण होता है, इस परिभाषा का आश्रयण करते हुए ज्ञापक से संख्या ग्रहणवाले सूत्रों में लौकिक सख्या का भी ग्रहण सिद्ध करने के लिये कहा है—**अथवेति**। इस से 'गुरु संज्ञाकरण से···लिङ्ग से भी अनुमित होता है' यह [कैयट-व्याख्यान] चिन्त्य है। क्योंकि गुरु-संज्ञाकरण से एकादि का ग्रहण होता है, यह **'अथवा महतीयं संज्ञा'** से आगे कहेंगे। इससे उस हेतु का यहां कथन करना उचित नहीं है" (हस्तलेख, पृष्ठ ४६३; मुद्रित पृष्ठ १११)। छायाकार ने शिवरामेन्द्र सरस्वती के हेतु का खण्डन किया है (द्र०—नवा० निर्णयसागर, पृष्ठ २७८, टि० ११)। वस्तुतः शिवरामेन्द्र सरस्वती का कथन प्रकरणसङ्गत होने से युक्त है। **अर्थवतस्तिशब्दस्य**—संज्ञाकरणसामर्थ्य से बहु आदि का ग्रहण होने पर भी अर्थवद्ग्रहण परिभाषा से **'अतिशदन्तायाः'** प्रतिषेध में डत्यन्त का प्रतिषेध न होने से ज्ञापक युक्त है। इस पर कैयट की व्याख्या बहुत जटिल है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने उसका खण्डन किया है (द्र०—हस्तलेख, पृष्ठ ४६३, ४६४; मुद्रित पृष्ठ १११)।

अथवा महतीयम्—इस अन्वर्थसंज्ञा के निर्देश से संख्याग्रहणवाले **संख्याया अतिशदन्तायाः कन्** (५।१।२२) इत्यादि सूत्रों में कृत्रिम संख्यासंज्ञकों के साथ अकृत्रिम संख्यासंज्ञक एकादि का भी ग्रहण होता है। इतना ही भाष्यकार का तात्पर्य है। कैयट और शिवरामेन्द्र सरस्वती के पक्ष-विपक्ष उनके व्याख्यानों में देखें॥

[भाष्यम्] उत्तरार्थेन चापि नाऽर्थः संख्याग्रहणेन। इदं प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते। इदं वै संज्ञार्थम्, उत्तरत्र च संज्ञिविशेषणेनार्थः। न चाऽन्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवति। न खल्वप्यन्यत्प्रकृतमनुवर्तनादन्यद्भवति। न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति।

यत्तावदुच्यते—'न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवति' इति। अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद्यथा—शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृ-

---

१. एतेन वृद्ध्यादौ तथा सत्त्वेऽप्यतिदेशादर्शनादिदं चिन्त्यमित्यास्तम्। अन्वर्थसंज्ञावदेतस्यापि तत्फलत्वस्य सुवचत्वाच्च। व्याख्यानयुक्त्यपेक्षया सुन्दरत्वाच्च। नवा० निर्णयसागर, पृष्ठ २७८, टि० ६।

श्यते च, शालयश्च भाव्यन्ते। यदप्युच्यते—'न खल्वप्यन्यत्प्रकृतमनुवर्तनादन्यद्भवति, नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति' इति। भवेद्—द्रव्येष्वेतदेवं स्यात्। शब्दस्तु खलु येन येन विशेषेणाभिसम्बध्यते, तस्य तस्य विशेषको भवति।

अथवा—सापेक्षोऽयं ['ष्णान्ता' इति] निर्देशः क्रियते। न चाऽन्यत्किञ्चिदपेक्ष्यमस्ति। तेन सङ्ख्यामेवापेक्षिष्यामहे॥

व्याख्या—और उत्तरसूत्र के लिये भी संख्याग्रहण से प्रयोजन नहीं है। यही किया हुआ [संख्याग्रहण] उत्तर सूत्र में भी अनुवर्तित होगा। यह (=संख्याग्रहण) निश्चय से संज्ञा के लिये है, और अगले सूत्र में संज्ञी के विशेषण से प्रयोजन है। अन्य कार्य के लिये किया हुआ अन्य के लिये नहीं होता है। निश्चय से ही अन्य के लिये प्रकृत अनुवर्तन से अन्य नहीं होता है। गोह सर्पण करती हुई सर्पण से सर्प नहीं हो जाती है।

जो यह कहते हो कि—'अन्य के लिये प्रकृत अन्यार्थ नहीं होता'। अन्य के लिये भी प्रकृत अन्य के लिये होता है। जैसे—धान [को पानी देने] के लिये नालियां बनाई जाती हैं, उनसे पानी पीया जाता है, और स्नान[1] भी किया जाता है, तथा धान भी उत्पन्न किया जाता है। और जो यह कहते हो कि—'निश्चय से अन्य के लिये प्रकृत अनुवर्तन से अन्य नहीं होता है, गोह सर्पण करती हुई सर्पण से सर्प नहीं हो जाती है।' होवे ऐसा, पर यह द्रव्य में ऐसा होता है। शब्द तो निश्चय से जिस-जिस के विशेषण से सम्बद्ध होता है, उस-उसका विशेषक होता है।

अथवा—यह [ष्णान्ता षट्] सापेक्ष निर्देश किया है। और कोई इसका अपेक्ष्य (=अपेक्षा करने योग्य) है नहीं। इससे संख्या की ही अपेक्षा करेंगे।

विवरण—'उत्तरत्र'—ष्णान्ता षट् (१।१।२२) में [षकारान्त नकारान्त] संज्ञियों को विशेषित करना प्रयोजन है। **न चान्यार्थः**—एक ही शब्दरूप से पूर्व प्रकृत उत्तरत्र अन्यार्थ नहीं होता। यथा **गौर्देवदत्ताय देया विष्णुमित्राय च** में देवदत्त से सम्बद्ध पशुवाची गोशब्द विष्णुमित्र से सम्बद्ध होता हुआ पृथिवीवाचक नहीं बनता। **न खल्वपि**—यह 'प्रतिसम्बन्ध शब्दभेद' को मानकर दोष दिया है। **नहि गोधा**—गोह सर्पण=देशान्तर गमनमात्र से गोधात्व को नहीं छोड़ती, इसी प्रकार शब्द भी अनुवर्तन से रूपान्तर को धारण नहीं करता।

अन्यार्थमपि—पदार्थों में विविध प्रकार की शक्ति होती है। इसी कारण शाल्यर्थ जलप्रणालियों से पानी का पीना, नहाना और धान उत्पन्न करना सभी कार्य हो जाते हैं। **शब्दस्तु**—स्वरूपपरक निर्दिष्ट शब्द जिस-जिस शब्दान्तर के साथ-साथ सम्बद्ध होता है, उस-उस के

१. उपस्पर्शोऽत्राचमनादिः। छायाटीका। आचमन में जल का पान होता है, यह पूर्व पानीयं पीयते से गतार्थ होने से हमने 'स्नान' अर्थ किया है। अथवा छायाकार के 'आदि' पद से स्नानार्थ का सम्बन्ध जानना चाहिये।

सम्बन्ध का निर्वाहक वहां-वहां हो जाता है। कैयट का कहना है—स्वरित धर्म से वाक्यान्तर में वाक्यार्थानुग्राही वस्तु के प्रतिपादन योग्य शब्दान्तर का अनुमान होता है। सादृश्य से एकत्व की प्रतीति होती है।

अथवा—'षकारान्ता नकारान्ता' इस स्त्रीलिङ्ग निर्देश के सापेक्ष होने से 'संख्या' पद का अध्याहार करके अपेक्षा की पूर्ति कर देंगे।

[भाष्यम्] अध्यर्द्धग्रहणं च समासकन्विध्यर्थम् ॥४॥

अध्यर्द्धग्रहणं च कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? 'समासकन्विध्यर्थम्'। समासविध्यर्थं कन्विध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्—अध्यर्द्धशूर्पम्। कन्विध्यर्थम्—अध्यर्द्धकम्।

लुकि चाऽग्रहणम् ॥५॥

लुकि चाध्यर्द्धग्रहणं न कर्तव्यं भवति। 'अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' [५।१।२८] इति। 'द्विगोः' इत्येव सिद्धम् ॥

व्याख्या—'अध्यर्ध' का भी ग्रहण करना चाहिये, समास और कन् की विधि के लिये।

अध्यर्ध का भी ग्रहण करना चाहिये। क्या प्रयोजन है? 'समास और कन् की विधि के लिये'। समास की विधि के लिये, और कन् की विधि के लिये। समास की विधि के लिये —अध्यर्धशूर्पम् [यहां अध्यर्धेन शूर्पेण क्रीतम्[1] **अर्थ में संख्या की अनुवृत्ति होने पर** तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०) **से समास हो जावे]। कन् की विधि के लिये —अध्यर्धकम्** [यहां संख्याया अतिशदन्तायाः कन् (५।१।२२) **से क्रीताद्यर्थ में कन् प्रत्यय हो जावे]।**

और लुक् में ग्रहण नहीं करना होता है।

और [अध्यर्ध की संख्या संज्ञा होने पर] लुक् में अध्यर्ध का ग्रहण नहीं करना होता है—अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८) **[इस सूत्र में]। 'द्विगु' ग्रहण से ही [प्रत्यय का लुक्] सिद्ध होता है॥**

विवरण—अध्यर्धग्रहणं च—यहां 'च' शब्द पूर्व **संख्याग्रहणं कर्तव्यम्** वचन की दृष्टि से समुच्चय के लिये है। **अध्यर्धशूर्पम्** यहां अध्यर्ध का **आर्हीय क्रीताद्यर्थ में तद्धितार्थविषय में** समास होकर **शूर्पादञ् अन्यतरस्याम्** (५।१।२६) से अञ् अथवा ठञ् प्रत्यय होता है। उसका **अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्** से अध्यर्धग्रहण के बिना किये भी द्विगु ग्रहण से ही लुक् हो जाता

---

१. अर्थात् डेढ़ शूर्प भरकर व्रीहि वा धान से खरीदा। प्राचीनकाल में शूर्प परिमाण अर्थ में भी प्रयुक्त होता था।

है। द्वितीय वार्तिक की दृष्टि से समासकन्विध्यर्थम् में सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी जाननी चाहिये। अतः समास के विधान में और समासनिमित्तक अन्य कार्य के विधान में दोनों अर्थों की संगति जाननी चाहिये। समास-विधान से तात्पर्य तत्पुरुष और द्विगु समास से जानना चाहिये। कैयट ने लिखा है कि—"अन्य व्याख्याता कहते हैं कि अध्यर्ध शब्द संख्यावाची ही है। यथा एकः, अध्यर्धः (=डेढ़), द्वौ, अर्धत्रयः (=ढाई)। उनके मत में यह वार्तिक नियमार्थ होगा—अध्यर्ध का ही संख्यारूप से ग्रहण होवे, सार्ध आदि शब्दों का संख्या के ग्रहण से ग्रहण न होवे। वाक्यभेद से दूसरा नियम होगा—समास और कन्विधि के लिये ही संख्यात्व जाना जाये, कार्यान्तर के लिये नहीं।" शिवरामेन्द्र सरस्वती ने कैयट के मत का खण्डन करते हुए लिखा है—अङ्कों के १-९ नौ रूप में ही प्रसिद्ध होने से अध्यर्ध आदि के संख्या शब्द का अभावत्व ही कहना उचित है (हस्तलेख पृष्ठ ४९९; मुद्रित पृष्ठ ११७)। छायाकार ने कैयट के ग्रन्थ अन्ये त्वाहुः में 'आहुः' पद को अरुचिसूचक माना है। इसमें हेतु दिया है, लोकप्रसिद्धि का विरोध॥

[भाष्यम्] अर्द्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः ॥६॥

अर्द्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः सङ्ख्यासंज्ञो भवति, इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? 'समासकन्विध्यर्थमेव'। समासविध्यर्थं कन्विध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्—अर्धपञ्चमशूर्पम्। कन्विध्यर्थम्—अर्धपञ्चमकम्।

अधिकग्रहणं चाऽलुकि समासोत्तरपदवृद्ध्यर्थम् ॥७॥

अधिकग्रहणं चाऽलुकि कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? 'समासोत्तरपदवृद्ध्यर्थम्।' समासविध्यर्थमुत्तरपदवृद्ध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्—अधिकषाष्टिकः, अधिकसाप्ततिकः। उत्तरपदवृद्ध्यर्थम्—अधिकषाष्टिकः, अधिकसाप्ततिकः। अलुकीति किमर्थम्? अधिकषाष्टिकः। अधिकसाप्ततिकः।

बहुव्रीहौ चाऽग्रहणम् ॥८॥

बहुव्रीहौ चाऽधिकशब्दस्य ग्रहणं न कर्तव्यं भवति—'संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' [२।२।२५] इति। 'संख्या' इत्येव सिद्धम्॥

व्याख्या—अर्धपूर्वपदवाले पूरणप्रत्ययान्त शब्द की भी संख्या संज्ञा कहनी चाहिये।

अर्ध पूर्वपद में है जिस पूरणप्रत्ययान्त शब्द के, उसकी भी संख्या संज्ञा कहनी चाहिये। क्या प्रयोजन है? 'समास और कन् विधि के लिये ही'। समास की विधि के लिये, और कन् की विधि के लिये। समास की विधि के लिये—अर्धपञ्चमशूर्पम् (=आधा है पांचवां जिस में, अर्थात् साढ़े चार शूर्पों से खरीदा गया)। कन् की विधि के लिये—अर्धपञ्चमकम्।

[संख्या संज्ञा में] अधिक का ग्रहण लुक्विषय को छोड़कर करना चाहिये, समासविधि और उत्तरपद की वृद्धि के लिये।

[संख्या संज्ञा में] अधिक का ग्रहण लुक्विषय को छोड़कर करना चाहिये। क्या प्रयोजन है? 'समासविधि और उत्तरपद की वृद्धि के लिये'। समास की विधि के लिये, और उत्तरपद की वृद्धि के लिये। समास की विधि के लिये—अधिकषाष्टिकः, अधिकसाप्ततिकः (=अधिक है जिससे ऐसे साठ से, अधिक है जिससे ऐसे सत्तर से खरीदा पदार्थ)। उत्तरपद की वृद्धि के लिये—अधिकषाष्टिकः, अधिकसाप्ततिकः [यहां संख्या संज्ञा करने से संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च (७।३।१५) से उत्तरपद को वृद्धि होती है। अलुकि किसलिये कहा है? अधिकषाष्टिकः, अधिकसाप्ततिकः [यहां अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८) से लुक् करने में संख्या संज्ञा न होवे]।

और बहुव्रीहि में [अधिक शब्द का] ग्रहण नहीं करना होता है।

[अधिक की संख्या संज्ञा करने से] बहुव्रीहि में अधिक शब्द का ग्रहण नहीं करना पड़ता—संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये (२।२।२५) सूत्र में। [वहां] संख्या-ग्रहण से ही [समास] सिद्ध हो जाता है।

विवरण—'**अर्धपञ्चमशूर्पम्**—इसका विग्रह है—**अर्धः पञ्चमो येषु तैः शूर्पैः क्रीतम्**। यहां पूर्ववत् क्रीताद्यर्थ में **शूर्पादञन्यतरस्याम्** (५।१।२६) से उत्पन्न अञ् अथवा ठञ् का **संख्याया अतिशदन्तायाः कन्** (५।१।२२) से लुक् होता है। **अधिकषाष्टिकः** का विग्रह है—**अधिकया षष्ट्या क्रीतः**। यह अधिक चाहे चौथा आधा पौना कोई भी अंश हो सकता है। लौकिक भाषा के अनुसार 'साठ से कुछ अधिक' अभिप्राय होगा। 'लगभग साठ से खरीदा' वाक्य से 'साठ से कुछ न्यून अथवा कुछ अधिक' दोनों अर्थों का बोध होता है। **अधिकषाष्टिकः** में **तेन क्रीतम्** (५।१।३६) से यथाप्राप्त (५।१।१८) ठञ् प्रत्यय होता है, और लुक्विषय में संख्या संज्ञा का निषेध करने से **अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्** (५।१।२८) से ठञ् का लुक् नहीं होता। **संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च** (७।३।१५) से उत्तरपदवृद्धि होती है। यदि कहो कि उत्तरपदवृद्धि के सामर्थ्य से ठञ् का लुक् नहीं होगा, **अलुकि** ग्रहण व्यर्थ है। यह ठीक नहीं, क्योंकि अर्ह अर्थ से आगे के अर्थों में जहां लुक् का विधान नहीं है, वहां उत्तरपदवृद्धि का विधान सार्थक है॥

[भाष्यम्] बह्वादीनामग्रहणम् ॥९॥

बह्वादीनां ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। केनेदानीं सङ्ख्याप्रदेशेषु सङ्ख्यासंप्रत्ययो भविष्यति?

ज्ञापकात् सिद्धम् ॥१०॥

ज्ञापकात् सिद्धम्। किं ज्ञापकम्? यदयं—'वतोरिड् वा' [५।१।२३] इति सङ्ख्याया विहितस्य कनो वत्वन्तादिटं शास्ति। वतोरेव तज्ज्ञापकं स्यात्। नेत्याह। योगापेक्षं ज्ञापकम् ॥२२॥

व्याख्या—बहु आदि का ग्रहण नहीं करना चाहिये।

बहु आदि का [संख्या संज्ञा के लिये] ग्रहण बिना किये कार्य चल सकता है। [बहु आदि की बिना संख्या संज्ञा किये] संख्याग्रहणवाले सूत्रों में [इनका] संख्यारूप से ज्ञान कैसे होगा ?

ज्ञापक से [ग्रहण] सिद्ध है।

यह ज्ञापक से सिद्ध हो जायेगा। ज्ञापक क्या है ? जो यह आचार्य वतोरिड् वा (५।१।२३) सूत्र से संख्या से विहित कन् को वत्वन्त से परे इट् का [विकल्प से] विधान करते हैं। [यदि वत्वन्त की संख्या संज्ञा न हो, तो उससे कन् की प्राप्ति ही नहीं होती। फिर कन् का इडागम विधान व्यर्थ होता है। यदि ऐसा है, तो] यह वतु [विषयक संख्या संज्ञा] का ही ज्ञापक होगा। नहीं। [बहुगणवतुडति संख्या] सूत्र की अपेक्षा से ज्ञापक है।

विवरण—योगापेक्षं ज्ञापकम्—भाष्य के व्याख्यान में व्याख्याकारों का मतभेद है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने **योगापेक्षम्** का भाव प्रकृत सूत्रापेक्ष ही लिया है। नागेश ने किन्हीं प्राचीन व्याख्याकारों का जो मत उद्धृत किया है, तदनुसार योग शब्द प्रयोग का वाचक है। तदनुसार जिनकी संख्या संज्ञा न होने पर भी संख्याकृत कार्य देखे जाते हैं, उनकी अपेक्षा से ज्ञापक है। कैयट ने **योगापेक्षम्** का अर्थ **योगान् अपेक्षत इति योगापेक्षम्** लिखकर **बहुपूगगण-संघस्य तिथुक्**(५।२।५२); **वतोरिथुक्** (५।२।५३); **षट्कतिकतिपयचतुरां तिथुक्** (५।२।५१) सूत्रों का निर्देश किया है। अर्थात् संख्या से विहित डट् (द्र०—५।२।४८) परे रहने पर जो इन सूत्रों से आगमों का विधान किया है, यह ज्ञापन करता है कि बहु आदि में संख्या का कार्य होता है। इस पर नागेश ने लिखा है—'**बहुगण०** सूत्र करने पर भी पूगादियों की संख्या संज्ञा का विधान आवश्यक है, यह कैयट का भाव है'। भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में लिखा है—'पूग संघ की संख्या संज्ञा का ज्ञापन होने पर संख्यासंज्ञकों से विहित धा शस् कृत्वसुच् आदि प्रत्ययों की भी प्राप्ति होती है। बहुगण की सामान्य की अपेक्षा से, और पूग संघ की डट् विशेष विषयक ही संख्या संज्ञा का विधान कहना भी ठीक नहीं। एकसूत्र पठित किन्हीं के विषय में सामान्यापेक्ष ज्ञापक हो, और किन्हीं के विषय में विशेषापेक्षा से, यह विषमता युक्त नहीं।' इस दोष का निराकरण यद्यपि दीक्षित ने यह कह कर किया है कि लक्ष्य के अनुरोध से यह वैषम्य भी सहने योग्य है। परन्तु यह सब कुसृष्टि को सहन न करते हुए सूत्रकार ने सूत्र बनाया, यही परमार्थतः युक्त है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने भी कैयट के व्याख्यान का प्रतिख्यान किया है, और उसने प्रकृत सूत्र के प्रत्याख्यान को अयुक्त माना है। छायाकार ने शिवरामेन्द्र सरस्वती के मत का प्रत्याख्यान किया है। यह सब खण्डन-मण्डन उनके ग्रन्थों में ही देखें। हमने **योगापेक्षम्** के भाष्याक्षरानुसारी शिवरामेन्द्र सरस्वती प्रतिपादित अभिप्राय को ही ठीक समझा है। क्योंकि **योगापेक्षं ज्ञापकम्** पाठ महाभाष्य ५।१।११८ में भी आता है। वहां **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (४।१।८७) से **तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः** (५।१।११४) इत्याद्यर्थ में भी वति के प्रसङ्ग से नञ् स्नञ् प्रत्यय प्राप्त

होते हैं। उनके प्रतिषेध के लिये उक्त **स्त्रीपुंसाभ्यां वत्युपसंख्यानम्** वार्तिक के खण्डन के लिये **स्त्रियाः पुंवत्०** (६।३।३३) सूत्रस्थ पुंवत् शब्द का ज्ञापक दिया है। इस ज्ञापक पर प्रश्न-कर्ता ने कहा है—पुंवत् का निर्देश होने पर भी स्त्रीवत् के लिये तो वार्तिक करना ही चाहिये। इसका समाधान भाष्यकार ने किया है—**योगापेक्षं ज्ञापकम्**। यहां योग से **स्त्री-पुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (४।१।८७) सूत्र का ग्रहण इष्ट है। इसी प्रकार यहां भी वत्वन्त से कन् को इट् का विधान भी वतुशब्द जिसमें पठित है, उस सूत्र का ही निर्देशक होना चाहिये, न कि कैयटोक्त सूत्रान्तरों का ॥२२॥

[भाष्यम्] **ष्णान्ता षट् ॥१।१।२३॥**

षट्संज्ञायामुपदेशवचनं शताद्यष्टनोर्नुम्नुडर्थम् ॥१॥

षट्संज्ञायामुपदेशग्रहणं कर्तव्यम्। 'उपदेशे षकारनकारान्ता सङ्ख्या षट्संज्ञा भवति' इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? 'शताद्यष्टनोर्नुम्नुडर्थम्'। शतानि सहस्राणि। नुमि कृते 'ष्णान्ता षट्' इति षट्संज्ञा प्राप्नोति। उपदेशग्रहणान्न भवति। अष्टानामित्यत्राऽऽत्वे कृते षट्संज्ञा न प्राप्नोति। उपदेशग्रहणाद्भवति।

उक्तं वा ॥२॥

किमुक्तम्? इह तावच्छतानि सहस्राणीति 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति। अष्टनोऽप्युक्तम्। किमुक्तम्? 'अष्टनो दीर्घग्रहणं षट्संज्ञा-ज्ञापकमाकारान्तस्य नुडर्थम्' इति॥

व्याख्या—षट् संज्ञा में उपदेश वचन कहना चाहिये, शतादि और अष्टन् को नुम और नुट् के लिये।

षट् संज्ञा में उपदेश का ग्रहण करना चाहिये। 'उपदेश में जो षकारान्त और नकारान्त संख्या वह षट्संज्ञक होती है', ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? 'शतादि और अष्टन् के नुम और नुट् के लिये'। शतानि सहस्राणि। यहां नुम कर लेने पर (='शतन् शि', 'सहस्रन् शि' नान्त रूप बन जाने पर) ष्णान्ता षट् सूत्र से षट्संज्ञा प्राप्त होती है। उपदेश का ग्रहण कर देने पर नहीं होती [क्योंकि शतन् सहस्रन् नान्तरूप उपदेश अवस्था में नहीं है]। अष्टानाम्, यहां [अष्टन् को] आत्व कर लेने पर [नान्त न होने से] षट्संज्ञा प्राप्त नहीं होती। उपदेशवचन से हो जाती है [क्योंकि उपदेश अवस्था में 'अष्टन्' नान्त ही है]।

अथवा कह चुके ।

क्या कह चुके ? यहां शतानि सहस्राणि में **'सन्निपातलक्षण विधि उसी के विघात करने में निमित्त नहीं होती, [जिसके कारण वह रूप निष्पन्न होता है।']** यहां शत शि, सहस्र शि इस **अवस्था में 'शि' सर्वनामस्थान को मानकर** नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२) **से नुम् होता है । नुम् होने पर शतन् सहस्रन् नान्तरूप बनकर षट्संज्ञा होवे, तो** षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) **से 'शि' का लुक् हो जावे ।] अष्टन् के विषय में भी कह दिया । क्या कह दिया?** '[अष्टनो दीर्घात् (६।१।१६६ में)] **अष्टन् के दीर्घ का ग्रहण षट्संज्ञा का ज्ञापक है, और आकारान्त के नुट् के लिये' । [अन्यथा दीर्घपक्ष में षट्संज्ञा न होने से** षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः (६।१।१७३) **से विहित षट् स्वर प्राप्त ही नहीं होता । इस प्रकार दीर्घग्रहण ज्ञापन करता है कि आत्त्व होने पर भी 'अष्टा' की षट् संज्ञा होती है] ।**

विवरण—'उपदेश' से धातु-प्रातिपदिक आदि का आदि-निर्देश अभिप्रेत है। इससे यहां प्रातिपदिक संज्ञाकाल में जो षकारान्त नकारान्त संख्या, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये। **नुमनुडर्थम्**—इसका विग्रह इस प्रकार जानना चाहिये—**नुम् च नुट् च=नुमनुटौ, नुमनुटोरर्थः प्रयोजनं यस्य** अर्थात् नुम् और नुट् में प्रयोजन है जिसका। **शतानि सहस्राणि** में नुम् में (=नान्त बनने पर) प्रयोजन है, षट् संज्ञा की निवृत्ति, और नुट् के विधान में षट्संज्ञा की प्रवृत्ति प्रयोजन है। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने नुम् नुट् का शतादि-अष्टन् के साथ सापेक्षता होने से छान्दस समास माना है। नुम् शब्द को नुमनिमित्तक अतिप्रसक्ति का लक्षक, और नुट् शब्द को नुड्-उपयोगी अति व्याप्ति का लक्षक मानकर कैयट के व्याख्यान (जो हमने लिखा है) का खण्डन किया है। **आत्वे कृते**—अन्तरङ्गविधियों को तन्निमित्तविघाती बहिरङ्ग विधि भी बाध लेती है। इससे षट्संज्ञा की बाधा प्राप्त होती है। कैयट ने लिखा है—'परत्व से और नित्यत्व से आत्त्व करने पर नुट् की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु कार्यकाल पक्ष में संख्या-विधायक सूत्र की नुट् के साथ उपस्थिति होने से संख्या संज्ञा का अन्तरङ्गत्व नहीं है'। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है—''षट्संज्ञा के बिना नुट् की प्राप्ति ही न होने से नुट् को बाधकर आत्त्व की प्रवृत्ति में परत्व और नित्यत्व हेतु देना ही असंगत है। कार्यकाल पक्ष के आश्रयणमात्र से षट् संज्ञा के अन्तरङ्गत्व का निराकरण असम्भव होने से प्रकृतभाष्य का उपपादन असम्भव होने से, तथा यथोद्देश पक्ष में ही भाष्य के उपपन्न हो जाने से चिन्त्य है''। **उक्तं वा**—परिभाषाओं के सूत्र ज्ञापित होने से **शतानि सहस्राणि** में सूत्रकार द्वारा उक्तत्व जानना चाहिये। अष्टन् के विषय में वार्तिककार का वार्तिकोक्त वचन जानना चाहिये ॥

[भाष्यम्] अथवाऽऽकारोऽप्यत्र निर्दिश्यते—षकारान्ता नकारान्ता आकारान्ता च सङ्ख्या षट्संज्ञा भवतीति । इहापि तर्हि प्राप्नोति—'सधमादो द्युम्न एकास्ताः' एका इति । नैष दोषः । एकशब्दोऽयं बह्वर्थः । अस्त्येव सङ्ख्यापदम् । तद्यथा—एको द्वौ बहव इति । अस्त्यसहायवाची । तद्यथा—एकाग्नयः, एकहलानि,

एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमिति। असहायैरित्यर्थः। अस्त्यन्यार्थे वर्त्तते। तद्यथा—'प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका' [काठक सं० ३९।१०] इति। अन्येत्यर्थः। 'सधमादो द्युम्न एकास्ताः'। अन्या इत्यर्थः। तद्योऽन्यार्थे वर्त्तते तस्यैष प्रयोगः।

इह तर्हि प्राप्नोति—'द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च' [यजुः २७।३३] इति।

एवं तर्हि सप्तमे योगविभागः करिष्यते—'अष्टाभ्य औश्'। ततः 'षड्भ्यः'। षड्भ्यश्च यदुक्तमष्टाभ्योऽपि तद्भवति। ततो 'लुक्'। लुक् च भवति षड्भ्य इति।

अथवा—उपरिष्टाद् योगविभागः करिष्यते—'अष्टन आ विभक्तौ'। ततो 'रायः'। रायश्च विभक्तावाकारादेशो भवति। 'हलि' इत्युभयोः शेषः॥

व्याख्या—अथवा यहां (='ष्णान्ता' में ष् न् आ अन्ता) आकार का निर्देश भी किया जाता है—षकारान्त नकारान्त और आकारान्त जो संख्या वह षट्संज्ञक होती है। [आकार का निर्देश मानने पर] यहाँ भी [षट्संज्ञा] प्राप्त होती है—सधमादो द्युम्न एकास्ताः[1]। 'एकाः' [यहां षट्संज्ञा होने से विभक्ति का लुक् प्राप्त होगा]। यह दोष नहीं है। यह एक शब्द बहुत अर्थों का वाचक है। संख्यावाची है। जैसे—एकः द्वौ बहवः। असहायवाची भी है। जैसे—एकाग्नयः, एकहलानि(=अकेली अग्नियां, अकेले हल), एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् (=असहाय=दूसरों की सहायता न लेते हुए अकेले क्षुद्रक-क्षत्रियों ने जीता)। अन्य अर्थ में भी वर्तमान है। जैसे—प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका (काठक सं० ३९।१०)। 'अन्या' यह अर्थ है। सधमादो द्युम्न एकास्ताः। 'अन्याः' यह अर्थ है। इसलिये जो अन्यार्थ में वर्तमान एक शब्द है, उसका यह प्रयोग है।

अच्छा तो यहां [षट्संज्ञा] प्राप्त होती है—द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च (यजुः २७।३३) [यहां 'द्वाभ्याम्' में षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः (६।१।१७३) से षट्स्वर प्राप्त होता है]।

अच्छा तो सातवें अध्याय में योगविभाग करेंगे—अष्टाभ्य औश् (७।१।२१)। उस के पश्चात् 'षड्भ्यः'। षट्संज्ञकों से जो कार्य कहा है, वह 'अष्टा' (=कृतात्व) से भी होता है। उसके पश्चात् 'लुक्'। षट्संज्ञकों से लुक् होता है।

अथवा—आगे योगविभाग किया जावेगा—अष्टन आ विभक्तौ (७।२।८४)। उस के पश्चात् 'रायः'। 'रै' शब्द को भी विभक्ति परे रहने पर आकारादेश होता है। हलि (=हल् परे आकारादेश होता है) यह दोनों सूत्रों का शेष है।

विवरण—'द्वाभ्यामिष्टये'—यहां आकारान्त की षट्संज्ञा कहने से षट्संज्ञा प्राप्त होती है। और षट्संज्ञा होने से षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः (६।१।१७३) से षट्स्वर प्राप्त होता है। षड्भ्यश्च यदुक्तम्—षट्संज्ञकों से लुक् और आम् को नुट् कहा है, वह 'अष्टा' से भी हो

---

१. तुलना करो—सधमादो द्युम्न्या ऊर्जा एकाः। मै० सं० २।६।८॥ काठक सं० १५।६॥ यहां संख्यावाची एकशब्द को मानकर दोष दिया है। असहायवाची मानकर उत्तर देंगे।

जाता है। 'अष्टा' कृतात्व से औश् विधान निरवकाश होने से लुक् का बाधक होता है। 'हलि' **इत्युभयोः शेषः**—अर्थात् अष्टन् और रै को आत्त्व हलादि विभक्ति परे ही होता है। इस प्रकार **अष्टानाम्** में आम् को नुट् करने के पश्चात् आत्व हो जायेगा। यदि कहो कि 'अष्टन्' के नान्तत्व के सन्निपात से नुट् का विधान होने से नुट् होकर हलादित्व होने से नकार के स्थान में जो आत्त्व होता है, वह नहीं होगा, क्योंकि वह नान्तत्व को नष्ट करता है। तो यह ठीक नहीं। नुट् नान्तत्व के सन्निपात से नहीं होता, अपितु षट्त्व-सन्निपात (=षट्संज्ञा) के कारण होता है। आत्व उस सन्निपात (=षट्संज्ञात्व) का विघातक नहीं है, और नाही न-लोप उसका विघातक है। आत्व और न लोप करने पर भी स्थानिवद्भाव से षट्संज्ञात्व रहता है॥

[भाष्यम्] यद्येवम्—'प्रियाष्टौ' 'प्रियाष्टाः' इति न सिध्यति, 'प्रियाष्टानौ' 'प्रियाष्टानः' इति च प्राप्नोति। 'यथालक्षणमप्रयुक्ते' ॥२३॥

व्याख्या—यदि ऐसा है (='हलि' दोनों का शेष है), तो प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः **ये सिद्ध नहीं होते [अर्थात् विभक्ति के हलादि न होने से आत्व प्राप्त नहीं होता है]।** प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः **रूप प्राप्त होते हैं। 'अप्रयुक्त शब्दों में यथालक्षण=जैसा सूत्रों से रूप प्राप्त होता है, वैसा रूप जानना चाहिये'।**

विवरण—'यद्येवम्' कहनेवाले का तात्पर्य यह है कि **अष्टन आ विभक्तौ** (७।२।८४) सूत्र में **पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च** (द्र०—भाष्य १।१।७१) वचन से अङ्गाधिकार में गृहीत शब्द का, और तदन्त शब्द का ग्रहण होता है। इसलिये अष्टार्थ के गुणभूत होने पर भी **प्रियाष्टन्** शब्द से आत्व होगा, और रूप **प्रियाष्टौ** प्रियाष्टाः बनेंगे। यदि 'हलि' का सम्बन्ध **अष्टन आ विभक्तौ** से भी जोड़ते हैं, तो हलादि विभक्ति न होने से आत्व नहीं होगा। **यथालक्षणमप्रयुक्ते**—इसके व्याख्यान में व्याख्याकारों का मतभेद है। कैयट ने इसकी दो प्रकार से व्याख्या की है। प्रथम—जिस शब्द का विशिष्ट प्रयोग उपलब्ध नहीं होता, और ना ही प्रयोगनिषेध-विषयक स्मृति उपलब्ध होती हैं, ऐसे शब्दों का स्वरूप यथालक्षण=जैसा व्याकरणशास्त्र से निष्पन्न हो, वैसा जानना चाहिये। दूसरा—अप्रयुक्त में लक्षण प्रवृत्त ही नहीं होता। इसकी व्याख्या नागेश ने इस प्रकार की है—लक्षण का अभाव अलक्षण, इसका योग्यता अर्थ में यथा के साथ अव्ययीभाव समास=**यथाऽलक्षणम्**। तदनुसार अर्थ होता है—अप्रयुक्त में लक्षण के अभाव की योग्यता है, न कि लक्षण की (उद्योत)। नागेश ने इसी द्वितीय व्याख्या को उचित कहा है। शिवरामेन्द्र सरस्वती **प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः** प्रयोग ही यथालक्षण साधु मानते हैं। काशिकाकार ने ७।२।८४ में **प्रियाष्टन्** शब्द से तदन्तविधि से आत्व और औश् भाव का विकल्प मानकर **प्रियाष्टानः प्रियाष्टौ** दो रूप स्वीकार किये हैं। हरदत्त ने वहीं काशिकाकार की पुष्टि की है, पर नागेश ने इसी प्रसंग में हरदत्त के कथन का खण्डन किया है[1]।

---

१. एव च हरदत्तादीनां प्रियाष्टन्शब्दादिषु आत्वादिप्रवृत्तिविचारोऽन्यश्च तत्प्रयोग-विचारः प्रामादिक एव इत्यवधेयम्।

हमारा विचार **यथालक्षणमप्रयुक्ते** के विषय में इस प्रकार है—भाष्यकार ने ऐसा ही वचन महाभाष्य १।१।२२; २।४।३४; ६।१।६८; ६।४।२; ६।४।१६; ६।४।१६३; ७।२।१०६ इन ८ स्थानों पर उद्धृत किया है। साथ ही इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि भाष्यकार ने **अप्रयुक्ते** शब्द का प्रयोग किया है। इसका यदि यथाश्रुत अर्थ समझा जाये, तो प्रथम आह्निक में उक्त **'सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते—उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्'** भाष्य से विरुद्ध होगा। अतः इस वचन का तात्पर्य भाष्यकार के समय में अप्रयुक्तत्वमात्र से है, न कि सर्वथा प्रयोग के अभाव से। यदि ये कभी भी प्रयुक्त न होते, तो भाष्यकार इन स्थलों पर **अनभिधानान्न भवति** वाक्य का प्रयोग करते। अतः इस वाक्य की व्याख्या प्रथमाह्निकस्थ **अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्** वार्तिक की भाष्यकार ने जो व्याख्या की है (द्र०—पृष्ठ ६२) उसके अनुसार करनी चाहिये। तब अर्थ होगा—यद्यपि ये शब्द पुराकाल में प्रयुक्त थे, पाणिनि आदि के काल में अप्रयुक्त हो जाने पर भी शास्त्रकार ने 'सम्प्रति अप्रयुज्यमान दीर्घसत्रों के विधान के समान' इन शब्दों का विधान किया है। इसी दृष्टि से **यथालक्षणमप्रयुक्ते** का भाव होगा—जैसे शास्त्रकार के लक्षणों से शब्द का स्वरूप गम्यमान होता है, वैसा शब्दस्वरूप जानना चाहिये। इस व्याख्यान के अनुसार यह चिन्तनीय है कि **'हलि'** का योगविभाग भाष्यकार ने दर्शाया है। अतः सूत्रकार की दृष्टि से **प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः** प्रयोग ही साधु जानने चाहियें ॥२३॥



[भाष्यम्] डति च ॥१।१।२४॥

इदं डतिग्रहणं द्विः क्रियते—संख्यासंज्ञायां, षट्संज्ञायां च। एकं शक्यमकर्तुम्। कथम्? यदि तावत् संख्यासंज्ञायां क्रियते, षट्संज्ञायां न करिष्यते। कथम्? 'ष्णान्ता षट्' इत्यत्र 'डति' इत्यनुवर्तिष्यते। अथ षट्संज्ञायां क्रियते, संख्यासंज्ञायां न करिष्यते। 'डति च' इत्यत्र संख्यासंज्ञाऽप्यनुवर्तिष्यते ॥२४॥

व्याख्या—यह डति का ग्रहण दो बार किया जाता है—संख्यासंज्ञा में, और षट्संज्ञा में। एक का ग्रहण बिना किये कार्य चल सकता है। कैसे? यदि तो संख्या संज्ञा में करते हैं, तो षट्संज्ञा में नहीं करेंगे। कैसे? ष्णान्ता षट् (१।१।२३) में 'डति' का अनुवर्तन करेंगे। और यदि षट्संज्ञा में करते हैं, तो संख्यासंज्ञा में नहीं करेंगे। 'डति च' (१।१।२४) में संख्या संज्ञा का भी अनुवर्तन करेंगे।

विवरण—यद्यपि **'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः'** (=साथ-साथ प्रयुक्तों की साथ-साथ प्रवृत्ति होती है, और साथ-साथ ही निवृत्ति होती है) इस न्याय से

'बहुगण०' (१।१।२२) सूत्रस्थ एकदेशरूप 'डति' की ष्णान्ता षट् (१।१।२३) सूत्र में अनुवृत्ति नहीं हो सकती है. तथापि क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते (=कहीं-कहीं एकदेश का अनुवर्तन भी होता है) इस नियम से जैसे—दामहायनान्ताच्च (४।१।२७) में संख्याव्ययादेर्ङीप् (४।१।२६) से सहनिर्दिष्ट संख्या और अव्यय में से संख्या की अनुवृत्ति होती है, उसी प्रकार 'डति' की अनुवृत्ति भी 'ष्णान्ता षट्' में हो जायेगी। अथवा डति च सूत्र में डति का ग्रहण करने पर पूर्व सूत्र में अनुवर्तमान 'संख्या' की यहां अनुवृत्ति करेंगे, और चकार से षट्संज्ञा और संख्या संज्ञा दोनों हो जायेंगी। यह विचार तद्धितप्रत्ययान्त डति शब्द के विषय में ही है, औणादिक पातेर्डतिः (उ० ४।५८) के विषय में नहीं है। इसमें प्रधान कारण है—संख्या अन्वर्थ संज्ञा का करना। औणादिक डत्यन्त 'पति' शब्द से संख्यान असम्भव है। अथवा औणादिक शब्दों को अव्युत्पन्न मानकर समाधान किया जा सकता है। नागेश ने अन्वर्थता हेतु को चिन्त्य कहा है। क्योंकि संख्यायतेऽनया अर्थ डत्यन्त कति आदि में नहीं है। अतः औणादिक शब्दों को अव्युत्पन्न मानकर समाधान करना युक्त है। औणादिकों के व्युत्पत्तिपक्ष में भी पति शब्द 'पा' धातु से कति प्रत्यय से भी सिद्ध हो सकता है, डति ही हो ऐसा आवश्यक नहीं। इसलिये औणादिक डति का ग्रहण नहीं होगा। शिवरामेन्द्र सरस्वती ने इस प्रत्याख्यान को प्रौढि-उक्तिमात्र माना है, और सूत्र प्रत्याख्यान को अनुचित कहा है (द्र०—हस्तलेख, पृष्ठ ५०६; मुद्रित पृष्ठ १२७) ॥२४॥



[भाष्यम्] क्तक्तवतू निष्ठा ॥१।१।२५॥

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दप्रतिषेधः ॥१॥

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। लोतो गर्त इति।

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दाऽप्रतिषेधः [अनुबन्धोऽन्यत्वकरः] ॥२॥

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दानामप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधोऽप्रतिषेधः। निष्ठासंज्ञा कस्मान्न भवति? 'अनुबन्धोऽन्यत्वकरः'। अनुबन्धः क्रियते, सोऽन्यत्वं करिष्यति।

अनुबन्धोऽन्यत्वकर इति चेन्न लोपात् ॥३॥

अनुबन्धोऽन्यत्वकर इति चेत्, तन्न। किं कारणम्? 'लोपात्'। लुप्यतेऽत्रानुबन्धः। लुप्ते चानुबन्धे नान्यत्वं भवति। तद्यथा—'कतरद् देवदत्तस्य गृहम्'? 'अदो यत्रासौ काकः' इति। उत्पतिते काके नष्टं तद् गृहं भवति। एवमिहापि लुप्तेऽनुबन्धे नष्टः प्रत्ययो भवति। यद्यपि लुप्यते, जानाति त्वसौ—'सानुबन्धकस्येयं संज्ञा कृता' इति। तद्यथा—इतरत्रापि 'कतरद् देवदत्तस्य गृहम्?' 'अदो यत्रासौ काकः' इति। उत्पतिते काके यद्यपि नष्टं तद् गृहं भवति, अन्ततस्तमुद्देशं जानातीति।

सिद्धविपर्यासश्च ॥४॥

सिद्धश्च विपर्यासः। यद्यपि जानाति, सन्देहस्तु तस्य भवति—'अयं स तशब्दो लोतो गर्तः' इति, 'अयं स तशब्दो लूनो गीर्णः' इति। तद्यथा—इतरत्रापि 'कतरद् देवदत्तस्य गृहम् ?' 'अदो यत्रासौ काकः' इति। उत्पतिते काके यद्यपि तमुद्देशं जानाति, सन्देहस्तु तस्य भवति—'इदं तद् गृहमिदं तद् गृहम्' इति ॥

व्याख्या—निष्ठासंज्ञा में समान शब्दों का प्रतिषेध कहना चाहिये।

निष्ठासंज्ञा में समान शब्दों का प्रतिषेध कहना चाहिये। लोतः गर्तः।

निष्ठासंज्ञा में समान शब्दों का प्रतिषेध नहीं कहना चाहिये।

निष्ठासंज्ञा में समान शब्दों का प्रतिषेध व्यर्थ है। अनर्थक (=अप्रयोजनीय=व्यर्थ) प्रतिषेध=अनर्थक प्रतिषेध जानना चाहिये। [समान शब्दों की] निष्ठासंज्ञा क्यों नहीं होती ? अनुबन्ध अन्यत्व का करनेवाला है। जो अनुबन्ध किया जाता है, वह अन्यत्व करेगा, अर्थात् भेदक हो जायेगा।

अनुबन्ध यदि अन्यत्व का करनेवाला है ऐसा कहो, तो ठीक नहीं, उसके लोप हो जाने से।

अनुबन्ध यदि अन्यत्व का करनेवाला है ऐसा कहो, तो वह ठीक नहीं है। क्या कारण है ? 'लोप होने से'। यहां अनुबन्ध का लोप हो जाता है। अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर अन्यत्व नहीं होता। जैसे—'कौनसा देवदत्त का घर है' ? 'वह जहां कौवा [बैठा] है'। कौवे के उड़ जाने पर वह गृह नष्ट (=अज्ञात) हो जाता है। इसी प्रकार यहां भी अनुबन्ध के लोप हो जाने पर [कौनसा 'त' है, यह] ज्ञान नष्ट हो जाता है। यद्यपि [अनुबन्ध] लुप्त हो जाता है, फिर भी वह जानता तो है कि—'यह सानुबन्धक की संज्ञा की है'। जैसे—अन्यत्र (=लोक में) भी 'कौनसा देवदत्त का घर है' ? 'वह जहां वह कौवा [बैठा] है'। कौवे के उड़ जाने पर यद्यपि वह गृह नष्ट (=अज्ञात) हो जाता है, फिर भी उस स्थान को [जहां कौवा बैठा था] जानता है।

विपर्यास तो सिद्ध है।

विपर्यास तो सिद्ध है। यद्यपि जानता है, फिर भी सन्देह तो उसे होता है—"यह वह 'त' शब्द है लोतः गर्तः [वाला], अथवा यह वह 'त' शब्द है लूनः गीर्णः [वाला]। जैसे—अन्यत्र भी 'कौनसा देवदत्त का घर है ?' 'वह जहां वह काक [बैठा] है'। कौवे के उड़ जाने पर यद्यपि उस स्थान को [जहां वह कौवा बैठा था, वह देवदत्त का घर है, ऐसा] जानता है, फिर भी सन्देह तो उसे होता ही है कि—'वह यह घर है, वा यह [जहां कौवा बैठा था] घर है'।

विवरण—'समानशब्दप्रतिषेधः'—अनुबन्ध शास्त्रीय कार्य के लिये प्रयुक्त होते हैं, अतः प्रयोगकाल में लुप्त हो जाते हैं। अनुबन्धों के लुप्त हो जाने पर भुक्त पीत के क्त, और

औणादिक लोत गर्त में श्रूयमाण तन् के 'त' में समानता होने से, उसकी भी निष्ठा संज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि व्याकरण शब्दस्वरूप का आश्रयण करके ही अन्वाख्यान करता है। **लोतः गर्तः**—यहां हसिमृग्रिण्० उणादिसूत्र (३।८६) से तन् प्रत्यय होता है। यद्यपि इस दोष का समाधान **उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि** नियम से किया जा सकता है, पुनरपि समाधानान्तर देने के लिये इसकी उपेक्षा की है। **नष्टं गृहम् भवति**—इसका अभिप्राय है कि काक के उड़ जाने पर संकेत के नष्ट हो जाने से गृह अज्ञात हो जाता है। **नष्टः प्रत्ययः**—अनुबन्ध के लोप हो जाने पर अनुबन्ध-सहचरित ज्ञान नहीं होता=अज्ञातानुबन्ध=प्रत्यय ज्ञान होता है। **अन्ततः**=तथापि (शिव० छाया)। **उद्देशम्**—जहां काक बैठा हुआ था, उस स्थान को। कैयट का 'ऊर्ध्वदेश' निर्देश काक के बैठनेवाले ऊंचे स्थान के लिये है। उद्देश का उर्ध्वदेश अर्थ नहीं है। **सिद्धविपर्यासः**—का विग्रह **सिद्धश्चासौ विपर्यासः** जानना चाहिये। शिवरासेन्द्र सरस्वती ने विपर्यास के साथ सिद्ध शब्द का बहुव्रीहि समास माना है—**सिद्धो विपर्यासो यस्य**। आगे लिखा है—**सिद्धश्च विपर्यासः** से समानाधिकरण्यमात्र दर्शाया है। बहुव्रीह्यर्थ को भी भाष्यकार दिखाते हैं—उसको सन्देह होता है (द्र०—हस्तलेख पृष्ठ ५११; मुद्रित पृष्ठ १३०)। **सिद्धश्च**—'च' शब्द का अर्थ यहां तु=तो है। **विपर्यासः**—विपर्यास भ्रामक निश्चय का बोधक होता है, तथापि अयथार्थज्ञानसाम्य से यहां संशय को कहता है। **इदं तद् गृहम्, इदं तद् गृहम्**—यहां वीप्सादि अर्थ में द्विर्वचन नहीं है, अपितु सन्देह का प्रकटीकरण है॥

[भाष्यम्] एवं तर्हि—

कारककालविशेषात् सिद्धम् ॥५॥

कारककालविशेषावुपादेयौ। भूते यस्तशब्दः कर्तरि कर्मणि भावे चेति। तद्यथा—इतरत्रापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति, सोऽध्रुवेण निमित्तेन ध्रुवं निमित्तमुपादत्ते—वेदिकां पुण्डरीकं वा॥

व्याख्या—इसलिये—

कारक और कालविशेष से सिद्ध है।

कारक और कालविशेष का ग्रहण करना चाहिये। भूतकाल जो त शब्द, और कर्म कर्ताभाव में [जो त शब्द]। जैसे अन्यत्र (=लोक में) भी जो यह मनुष्य बुद्धिपूर्वक कार्य करनेहारा होता है, वह अध्रुव (काकादि) निमित्त से [घरसम्बन्धी] ध्रुव निमित्त वेदि वा पुण्डरीक (=कमल) चिह्न को ग्रहण कर लेता है। [अर्थात् बैठे हुए कौवे के द्वारा गृहविशेष का निर्देश करने पर बुद्धिमान् व्यक्ति यह सोचकर कि जब तक मैं उस घर के पास पहुंचूंगा, कौवा उड़ जायेगा। अतः वह उसी समय गृह पर बनाये वेदी के पुण्डरीक चिह्न को उपलब्ध कर लेता है। जिससे कौवे के उड़ जाने पर भी उस घर को पहचान ले। इसी प्रकार कारक काल जो स्थायीरूप से 'त' शब्द के साथ रहते हैं, को जान लेना चाहिये।]

विवरण—**कारककालविशेषात् सिद्धम्**—इसका भाव है कि कारकविशेष और काल-

विशेष के योग से जाना जायेगा कि यहीं 'त' शब्द निष्ठासंज्ञक होता है। कारक शब्द कारकार्थपरक है। उससे नपुंसक और भाव का भी संग्रह जानना चाहिये। **भूते यस्तशब्दः**—यहां **भूते** शब्द **वर्तमाने** का उपक्षणार्थ है॥

[भाष्यम्] एवमपि 'प्राकीर्ष्ट' इत्यत्रापि प्राप्नोति।

लुङि सिजादिदर्शनात् ॥६॥

लुङि सिजादिदर्शनान्न भविष्यति। यत्र तर्हि सिजादयो न दृश्यन्ते—प्राभित्तेति? दृश्यन्तेऽत्रापि सिजादयः। किं वक्तव्यमेतत्? न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते? यथैवायमनुपदिष्टान् कारककालविशेषानवगच्छति, एवमेतदप्यवगन्तुमर्हति—'यत्र सिजादयो न' इति ॥२५॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे पञ्चममाह्निकम् ॥५॥

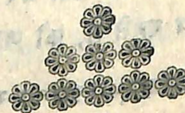
व्याख्या—इस प्रकार (=भूत आदि कालविशेष और कारक का उपादान करने पर) भी 'प्राकीर्ष्ट' में भी ['त' शब्द के भूतकाल में होने से निष्ठासंज्ञा] प्राप्त होती है।

लुङ् में सिच् आदि के दर्शन से [निष्ठासंज्ञा नहीं होगी]।

लुङ् में सिच् आदि के दर्शन से [निष्ठासंज्ञा] नहीं होगी। अच्छा तो जहां सिजादि दिखाई नहीं पड़ते—प्राभित्त? यहां भी सिजादि दिखाई देते हैं। तो क्या यह (=यत्र सिजादयो न दृश्यन्ते) कहना चाहिये? नहीं कहना चाहिये। बिना कहे जैसे जाना जायेगा? जैसे यह अनुपदिष्ट कारक कालविशेष को जान लेता है, वैसे ही यह भी जानने में समर्थ हो सकता है—'जहां सिजादि न हो' [ऐसे और भूत में जो 'त' शब्द, उसकी निष्ठासंज्ञा होती है]॥

विवरण—'प्राकीर्ष्ट'—इस पर नागेश लिखता है कि—"प्राकीर्ष्ट में 'प्र' निपात से परे 'अकीर्ष्ट' **तिङ्ङतिङः** (८।१।२८) से निघात होगा। उस अवस्था में निष्ठासंज्ञाकृत वैशिष्ट्य गम्यमान नहीं होगा। अतः यह **'यन्मा प्राकीर्ष्ट'** का उपलक्षक है। **यन्मा प्राकीर्ष्ट** में 'मा' के योग में अट् का अभाव होता है, और **निपातैर्यद्यदिहन्त०** (८।१।३०) सूत्र से 'यत्' के योग में निघाताभाव होने से यदि यहां (=कीर्ष्ट) निष्ठासंज्ञा हो जाये, तो **निष्ठा च द्व्यजनात्** (६।१।१९९) से आद्युदात्तत्व प्राप्त होगा। **दृश्यन्तेऽत्रापि** का अभिप्राय है कि वैयाकरणों द्वारा यहां सिजादि जाने जाते हैं॥२५॥

इति युधिष्ठिरमीमांसककृते महाभाष्यस्यार्यभाषाव्याख्याने प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे पञ्चममाह्निकं समाप्तम्॥५॥



[illegible]